प्रमुख राजनीतिक चिन्तक

डॉ० गंगादत्त तिवारी
एम० ए० पी एच० डी०
डी० एस० बी० यूनिवर्सिटी कालिज नैनीताल।

मीनाक्षी प्रकाशन
मेरठ ✦ नयी दिल्ली

प्रस्तावना

निश्चित रूप से यह बता सकना कठिन है कि राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ कहाँ से हुआ। परन्तु जब से मानव राजनीतिक समाज के रूप में संगठित होकर रहने लगे, तभी से किसी न किसी रूप में राजनीतिक चिन्तन भी होता आया होगा। पाश्चात्य जगत में एक क्रमबद्ध शास्त्र के रूप में राजनीतिक चिन्तन की परम्परा ईसा की चार-पाँच शताब्दी पूर्व यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिकों प्लेटो तथा अरस्तू से प्रारम्भ हुई। भारतीय संस्कृति के आदि ग्रन्थ वेद हैं। वेद, वेदोत्तर-कालीन-साहित्य, महाकाव्य, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि में यत्र-तत्र राजनीतिक संस्थाओं तथा परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। इनमें से कुछ ग्रन्थ अथवा उनके कोई अंश विशुद्ध रूप से राजनीतिक चिन्तन की रचनाएँ हैं। राजनीतिक समाजों के विकास के साथ साथ संसार के विभिन्न भागों में विभिन्न युगों में अनेक विद्वानों, दार्शनिकों तथा राजनयिकों ने राज्य सम्बन्धी समस्याओं पर चिन्तन-मनन किया है। इस प्रकार उनके विचारों का क्रमिक ऐतिहासिक विकास राजनीतिक-चिन्तन के इतिहास का निर्माण करता है। इसके अध्ययन से विभिन्न युगों की राजनीतिक परम्पराओं, विचारधाराओं एवं दर्शन का ज्ञान होने के साथ साथ राजनीतिक व्यवहार के निमित्त सिद्धान्त निरूपण करने में भी सहायता मिलती है।

प्रस्तुत पुस्तक में यूरोप तथा भारत के कुछ प्रमुख राजनीतिक चिन्तकों के विचारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यूरोपीय राजनीतिक चिन्तकों के अन्तर्गत उन प्रमुख मनीषियों का चयन किया गया है। जिनके विचारों का अध्ययन राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के विभिन्न युगों के अन्तर्गत विशिष्ट विचारधाराओं को समझने में सहायक हो सकता है। इनके साथ कौटिल्य, मनु, गांधी, तथा नेहरू को शामिल करके प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विशेषताओं का भी ज्ञान हो जायेगा।

भारत के अनेक विश्वविद्यालयों की स्नातक कक्षाओं के राजनीति विज्ञान के *पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत कुछ प्रमुख राजनीतिक चिन्तकों के विचारों का अध्ययन* शामिल किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना में सम्बन्धित चिन्तकों के राजनीतिक विचारों का विवेचन करने में विषय-वस्तु को स्नातक स्तर तक के छात्रों की आवश्यकता तक ही सीमित रखने का ध्यान रखा गया है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि पुस्तक अपना उद्देश्य प्राप्त करने के समर्थ होगी।

—गंगादत्त तिवारी

विषय-सूची

प्लेटो

(427 ई० पू०–347 ई० पू०)

यूनान के सुप्रसिद्ध तथा सर्वप्रथम राजनीतिक चिन्तक प्लेटो का जन्म ईसा से 427 वर्ष पूर्व यूनान के एथेन्स नामक नगर-राज्य मे हुआ था। एक अभिजात-वर्गीय परिवार मे जन्म लेने के कारण प्लेटो की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा भली-भांति हुई थी। उस युग मे एथेन्स मे बच्चो की शिक्षा के लिए विद्यालय नही होते थे; बल्कि धनी परिवारो के लोग वैयक्तिक ढग से अपने बच्चो को विद्वान् शिक्षको द्वारा शिक्षित कराते थे। प्लेटो को आठ वर्ष तक सुकरात सदृश महान् शिक्षक से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला था। जब सुकरात को फासी का दण्ड दिया गया, तो प्लेटो के ऊपर इस घटना का बहुत बडा प्रभाव पडा। प्लेटो ने अनुभव किया कि लोकतन्त्र मे शासन-सत्ता अनभिज्ञो के हाथ मे रहने से जो कानून बनते हैं उनमे विवेक नही होता। यही कारण है कि एथेन्स के लोकतन्त्री कानूनो के अन्तर्गत सुकरात सदृश विद्वान् को फासी की सजा दी गयी। अत प्लेटो की निष्ठा ऐसे लोकतन्त्र से हट गयी। इसके पश्चात् प्लेटो ने कई वर्षों तक इटली, मिस्र आदि देशो का भ्रमण किया। वापस आने पर उसने एथेन्स मे अपने एक विद्यालय (Academy) की स्थापना की (388 ई० पू०)। वही उसने अध्यापन, चिन्तन, लेखन आदि का कार्य किया। 347 ई० पू० मे उसकी मृत्यु हो गयी।

प्लेटो के दार्शनिक विचार

प्लेटो ने अनुभव किया कि उस युग मे यूनान के नगर-राज्य पतन की दिशा मे जा रहे हैं। उनके मध्य पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा तथा युद्धो ने नगर-राज्यों के जीवन को पतित कर दिया है। अत उन्हे बचाने के लिए प्लेटो ने चिन्तन किया। उसका दर्शन सुकरात के इस कथन पर आधारित है कि 'सद्गुण ही ज्ञान है'।

प्लेटो के अनुसार ज्ञान का तात्पर्य मस्तिष्क मे कुछ तथ्यो का सग्रह कर लेना मात्र नही है। उसके दर्शन का सार 'वास्तविकता' है, जिसका अर्थ है, 'उन वस्तुओ का विचार जो पूर्ण, स्थायी तथा स्वय अपना अस्तित्व रखती हैं।'[1] मानव जिस ज्ञान को प्राप्त कर लेने की कल्पना करते हैं वह वास्तव मे ज्ञान नही है, बल्कि वे केवल दूसरो की राय अथवा विश्वास हैं। प्लेटो का विश्वास था कि ज्ञान प्राप्त करने की

[1] 'Reality inheres in the idea of things—perfect, permanent, self-existing entities.'

सर्वोत्तम विधि वैज्ञानिक विधि है। गणित तथा रेखागणित का ज्ञान व्यक्ति को वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने मे सहायक सिद्ध होता है। गणित के सिद्धान्त व्यक्ति मे स्थायी सत्य का ज्ञान करने की टेव उत्पन्न करते है, क्योकि गणित के नियम सर्व सत्य होते हैं। अत ऐसी ही अध्ययन विधि अन्य शास्त्रो के ज्ञान के लिए भी अपनायी जानी चाहिए। दार्शनिको का कार्य ऐसी ही पद्धतियो का सृजन करना है। राजनीति तथा विधि-निर्माण के कार्यो मे भी यही पद्धति उचित है।

प्लेटो के मत से वास्तविक ज्ञान की निदेशक शक्ति प्रत्यय (idea) है। दर्शन के वास्तविक ज्ञान की विषय वस्तु सामान्य पर्यवेक्षण हेतु प्रस्तुत की गयी वस्तुएँ नही हैं, बल्कि वे वस्तुएँ है जो भावात्मक प्रत्यय के रूप मे प्रस्तुत होती हैं। उदाहरणार्थ, 'घोडा' का वास्तविक ज्ञान करना है तो यह, वह या अन्य कोई घोडा-विशेष उसका ज्ञान नही करा सकता, अपितु सामान्य अर्थ मे 'घोडा' का विचार वास्तविक घोडा है। इसी प्रकार यह, वह या अन्य कोई राज्य-व्यवस्था विशेष नही, अपितु सामान्य अर्थ मे राज्य-व्यवस्था का विचार (प्रत्यय) राजनीति विज्ञान का वास्तविक विषय है।

प्लेटो के ऐसे प्रत्यय-मूलक एव यथार्थता से रहित विचारो के कारण मैक्सी ने उसे सबसे पहला स्वप्नलोकी विचारक (the first utopian) कहा है। उसके अनुसार, "प्लेटो के विचार अपने युग के चिन्तन मे समस्त पक्षो को समाविष्ट करते हैं और वे यूनान के ज्ञान तथा सस्कृति का प्रभावकारी सारांश प्रस्तुत करते हैं।" राजनीतिक धारणाओ के सम्बन्ध मे प्लेटो अपने आदर्श 'सत्य की खोज' का अनुगमन करते हुए राज्य के आदर्श की खोज करता है। उसका आदर्श किसी सर्वोत्तम या अनेको मे से सर्वाधिक सन्तोषजनक का चयन करना नही था, अपितु राज्य के ऐसे *पूर्ण आदर्श का प्रतिपादन करना था, जिसकी पुष्टि शास्त्रीय ज्ञान की प्रक्रियाओ,* तुलना, आलोचना आदि सभी दृष्टियो से की जा चुकी हो, वह तर्क, चिन्तन, ज्ञान आदि सभी दृष्टियो से पूर्ण हो। ऐसा आदर्श सार्वभौम सत्य होगा। 'सामान्यीकरण हेतु केवल ऐसे ही निरपेक्ष आदर्शों का उपभोग किया जाना चाहिए और केवल इन्ही आदर्शो के आधार पर राजनीतिक चिन्तन तथा राजनीतिक कार्यकलापो की आधार-शिला निर्मित करनी चाहिए।'[1]

प्लेटो की रचनाएँ—जहां तक प्लेटो के राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध है, उसकी सबसे महान् रचना रिपब्लिक (The Republic) है। इसे प्लेटो ने 40 वर्ष की अवस्था मे लिखा था। इसके पश्चात् उसने स्टेट्समैन (The Statesman) लिखा, और अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे लॉज (The Laws) लिखा, जिसे वह पूरा नही कर पाया। सम्भवत उसका अन्तिम भाग (बारहवी पुस्तक) उसके कुछ शिष्यो ने पूरा करके प्रकाशित कराया था। इन तीन रचनाओ से पूर्व वह अनेक रचनाओ को लिख चुका था। परन्तु उसके राजनीतिक विचारो का ज्ञान करने के

[1] 'Only absolute ideas such as these should be used as bases for generalisation and upon such ideas alone should be laid the foundations of political thought and the principles of political science' —Maxey

लिए रिपब्लिक, स्टेट्समैन तथा लॉज ही प्रमुख ग्रन्थ हैं, इनमे भी रिपब्लिक तथा लॉज का विशेष महत्त्व है।

रिपब्लिक की विशेषताएँ Republic

(1) रिपब्लिक की विषय-वस्तु व्यापक है—रिपब्लिक प्लेटो की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसे उसने अपने जीवन की परिपक्व अवस्था मे लिखा था, जबकि उसके जिसमे मे पूर्ण ओज तथा उत्साह था। इसमे प्लेटो की सर्वोच्च प्रतिभा परिलक्षित होती है। यह केवल राजनीतिक दर्शन का ग्रन्थ नहीं है, बल्कि इसमे युग-युगो के प्राचीन तथा नूतन विचार भरे पडे हैं। सैबाइन के मत से 'रिपब्लिक किसी निश्चित प्रकार का ग्रन्थ नही है, यह मात्र राजनीति का या नीतिशास्त्र का या अर्थशास्त्र का या मनोविज्ञान का ही ग्रन्थ नही है, यद्यपि यह इन सबका समावेश करता है, या और अधिक विषयो का भी क्योकि उसमे कला, साहित्य तथा दर्शन को भी छोडा नही गया है।'

(2) यह सम्पूर्ण मानव दर्शन का विवेचन करता है—रिपब्लिक मे प्लेटो ने मानव-जीवन का मनोवैज्ञानिक एव दार्शनिक विवेचन किया है। विभिन्न सामाजिक सस्थाएँ, धर्म, कला, कानून आदि सब मानव मन की उपज है। अत इस ग्रन्थ मे मानव के नैतिक एव नागरिक जीवन का अध्ययन किया गया है, और यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि मानव अपने सच्चे रूप को कैसे समझ सकता है, और किस प्रकार उत्तम जीवन की प्राप्ति कर सकता है। सत् का ज्ञान (the idea of the good) मानव आत्मा के विकास की अन्तिम मजिल है। यही रिपब्लिक के विचारो का अन्तिम उददेश्य है। प्लेटो की यह धारणा थी कि मानव अपनी आत्मा का विकास राज्य मे रहकर ही कर सकता है। अत प्लेटो राज्य का ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है, जिसमे व्यक्ति को अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने का अवसर मिले। ज्ञान वह सदगुण है जो इस उद्देश्य की प्राप्ति करा सकता है। अत राज्य का सचालन ज्ञान के द्वारा होना चाहिए और ज्ञान के मार्ग की बाधाओ का निराकरण होना चाहिए। इन्ही उददेश्यो को लेकर 'रिपब्लिक' म राज्य के सगठन तथा सचालन के विविध सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है।

(3) राजनीति तथा नैतिकता के मध्य भेद नहीं करता—सुकरात तथा प्लेटो राजनीति एव नीतिशास्त्र के मध्य भेद नही करते। उनके मत से 'राजनीति नैतिक नियमो का ही विशद रूप है।' नैतिकता का सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन से ही नहीं है, बल्कि सामाजिक जीवन से भी है। प्लेटो मानव आत्मा तथा राज्य म समान गुणो (तत्वो) के अस्तित्व को मानता है। वह राज्य को व्यक्ति का ही विस्तृत रूप कहता है। मानव के समस्त व्यापार उसकी राज्य की नागरिकता स सम्बद्ध हैं। एक उत्तम व्यक्ति को उत्तम नागरिक भी होना चाहिए। जो बात राज्य के लिए हितकर है वह व्यक्ति के लिए भी हितकर है। अत नैतिक एव राजनीतिक समस्याओं का पारस्परिक विवेचन रिपब्लिक की मुख्य विषय वस्तु ह। प्लेटो के मत स राजनीति सम्पूर्ण समाज की नैतिकता है, इस दृष्टि से रिपब्लिक राजनीति एव नीतिशास्त्र दोनो का ग्रन्थ है।

(4) इसमे अर्थशास्त्र का भी विवेचन किया गया है—रिपब्लिक अर्थशास्त्र का भी ग्रन्थ है। राजनीति का आधार आर्थिक होता है, इस तथ्य को प्लेटो ने रिपब्लिक मे पूर्णतया अपनाया है। उसके मत से व्यक्तियो की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के उद्देश्य से राज्य का निर्माण होता है। आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर राज्य मे ही व्यक्ति उत्तम जीवन की प्राप्ति कर सकता है। प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों का आधार भी आर्थिक है। उसके मत से नगर-राज्यो की सरकारों के अस्थायी रहने का कारण सम्पत्तिहीनो तथा सम्पत्तिशालियो के मध्य हितो [illegible] था, जिसके [illegible]रण दलबन्दी, स्वार्थ आदि को बढ़ावा [illegible] से [illegible] निर्बल हो जाते थे। प्लेटो का कथन है कि 'प्रत्येक राज्य मे दो पृथक् राज्य होते है। उनमे से किसी एक को राज्य नही कहना चाहिए, बल्कि कई राज्य कहना चाहिए, क्योंकि राज्य चाहे कितना ही छोटा क्यो न हो, वास्तव मे दो राज्यो मे विभक्त रहता है—एक निर्धनो का राज्य तथा दूसरा धनिको का राज्य—और वे एक दूसरे के साथ युद्ध-रत रहते हैं।' प्लेटो की इस उक्ति के दो निष्कर्ष हैं, प्रथम, व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा धनी तथा निर्धन वर्गों की सृष्टि करती है जिसके कारण समाज मे व्यक्तियों के मध्य कलह तथा सघर्ष उत्पन्न होते हैं, जो राज्य की एकता के मार्ग मे बाधक हैं। अत व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा का अन्त किया जाना चाहिए, अथवा अधिकतम और न्यूनतम सम्पत्ति की सीमा निर्धारित की जानी चाहिए। दूसरा निष्कर्ष यह है कि प्लेटो तत्कालीन यूनान के नगर-राज्यो की शासन-व्यवस्थाओ मे इन दो तत्त्वो मे से एक की प्रधानता को अवाछनीय मानता है। स्पार्टा मे धनिकतन्त्र (oligarchy) था। एथेन्स मे लोकतन्त्र था, जिसमे सत्ता निर्धनो के हाथ मे थी। दोनो पद्धतियो मे शासन की कुशलता का अभाव था। ऐसे राज्यो मे नागरिको को उत्तम जीवन की प्राप्ति तथा सत् का ज्ञान सुलभ नही हो सकता था। इन राज्यो के मध्य भी परस्पर सघर्ष तथा प्रतियोगिता की भावना बनी रहती थी। बार्कर का मत है कि 'प्लेटो का एक राज्य के अन्दर ऐसे दो राज्यो का विचार स्वभावत डिजराइली के 'दो राष्ट्र' का तथा आधुनिक समाजवादी 'वर्ग-सघर्ष' की धारणा का आभास कराता है।' सैबाइन के अनुसार एक राज्य के अन्दर धनिको तथा निर्धनो के दो पृथक् राज्यो के अस्तित्व की धारणा यह भी प्रदर्शित करती है कि राज्य मे धनिक वर्ग शासन से अपने ही हितो की पूर्ति की अपेक्षा करेगा चाहे उससे निर्धनो को कितनी ही हानि हो। दूसरी ओर निर्धन वर्ग यह प्रयत्न करेगा कि धनिको पर अधिकाधिक करारोपण करके निर्धन वर्गों हेतु सार्वजनिक कार्य किये जायें। इस प्रकार धनिको तथा निर्धनों के मध्य निरन्तर सघर्ष की स्थिति बनी रहने से राज्य की एकता तथा शान्ति नहीं बनी रह सकती। रिपब्लिक मे प्लेटो ने इस तथ्य का पर्याप्त विवेचन करके आदर्श राज्य के निर्माण हेतु सम्पत्ति के साम्यवाद, श्रम-विभाजन तथा कार्यों के विशेषीकरण पर बल दिया है।

(5) यह शिक्षा-शास्त्र की एक महान् रचना है—शिक्षा ज्ञान-प्राप्ति का साधन है। राज्य का शासन ज्ञान द्वारा सचालित होना चाहिए। प्लेटो ने रिपब्लिक म इस तथ्य को बहुत महत्त्व दिया है। उसकी शिक्षा-योजना इतनी पूर्ण तथा पर्याप्त है

कि रिपब्लिक को 'शिक्षा शास्त्र की महानतम रचना' माना जाता है। यूनानी लोग राज्य तथा समाज में भेद नहीं करते थे। प्लेटो ने रिपब्लिक मे जिस आदर्श व्यवस्था का विवेचन किया है वह वास्तव मे एक आदर्श समाज की व्यवस्था है। उसने सामाजिक जीवन के विविध पक्षो पर विचार किया है। इस दृष्टि से रिपब्लिक समाजशास्त्र की भी एक अनुपम रचना सिद्ध होती है। सक्षेप मे ज्ञान के क्षेत्र मे जितने भी शास्त्र होते हैं उनमे से कोई भी ऐसा नही है जिसके सम्बन्ध मे रिपब्लिक म विचार न किया गया हो।

(6) **रचना शैली सवादो के रूप मे है**—प्लेटो के समस्त ग्रन्थ वर्णनात्मक न होकर सवादो के रूप मे हैं। सवादो के पात्रो मे सुकरात मुख्य हैं। प्रश्न तथा समस्याएँ अन्य पात्रो के द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं, उनका समाधान सवादो द्वारा सुकरात से करवाया गया है। प्लेटो पर सुकरात की शिक्षा का इतना अधिक प्रभाव था कि उसने अपने गुरु के विचारो को उसी के मुँह से व्यक्त करवाया है। मैक्सी ने उचित ही कहा है कि 'प्लेटो म सुकरात पुन जीवित हुआ है।'[1] वास्तव मे सुकरात की शिक्षा का प्लेटो पर इतना अधिक प्रभाव था कि उसकी सभी रचनाओ मे 'उसके गुरु की प्रतिमा उसके मस्तिष्क से कभी भी द्युतिहीन नही हुई।' मैक्सी ने लिखा है कि 'प्लेटो ने अपनी रचनाओ म जितना भी सुकरात से कहलाया है, वह सचमुच मे सुकरात के मौलिक विचार हैं।'

प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त

प्लेटो की रचना 'रिपब्लिक' को इसके शाब्दिक अर्थ 'गणतन्त्र' के रूप से नहीं लिया जाना चाहिए। इस ग्रन्थ का नाम 'न्याय का विषय' (Concerning Justice) भी रखा गया है। ग्रन्थ के सम्वाद न्याय के विवेचन से प्रारम्भ होते हैं। सवाद के पात्र सुकरात, थ्रेसीमेकस, सिफेलस, ग्लॉकन, पोलमारकस आदि हैं। वाद-विवाद 'न्याय' शब्द की व्याख्या पर चलता है। न्याय क्या है, इस सम्बन्ध मे जो विभिन्न दृष्टिकोण पात्रो द्वारा व्यक्त किये गये थे उनका समाधान सुकरात के मुख से करवाया गया है। जो निष्कर्ष अन्त मे निकाला गया है वही प्लेटो का न्याय-सम्बन्धी सिद्धान्त है।

सर्वप्रथम प्रश्न उठाया गया कि 'क्या सच बोलना तथा अपने ऋणो को चुकाना' न्याय है? सिफेलस के इस प्रश्न का सुकरात निषेधात्मक उत्तर देता है। इस पर पोलमारकस अपने विचार रखते हुए कहता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को अपना समुचित प्राप्य मिल जाना' न्याय है। सुकरात इस परिभाषा से भी सन्तुष्ट नहीं होता। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि किसी हत्यारे को उसके मानसिक सन्तुलन बिगड जाने पर भी उसके घातक हथियार वापस दे देना न्याय ही होगा। परन्तु ऐसी स्थिति म वह दूसरो को या स्वय अपने को हानि पहुँचा सकता है। यह न्याय की समुचित व्याख्या नही है। फिर प्रश्न उठाया गया कि न्याय एक ऐसी कला है, जिसके द्वारा अपने मित्रो को लाभ पहुँचाया जाय तथा शत्रुओ को हानि'।

[1] 'In Plato Socrates lived again '—Maxey

सुकरात उससे भी सन्तुष्ट नही होता। इसका यह अर्थ होगा कि शत्रु को हानि पहुँचाने से उसका और अधिक नैतिक पतन किया जाये। इसके पश्चात् थ्रॅसीमेकस (Thrasymacus) के क्रान्तिकारी विचारो से न्याय की परिभाषा व्यक्त करायी गयी है कि 'न्याय शक्तिशाली का हित है।' इसका यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि इस धारणा के अनुसार समाज मे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होगी। न्याय की इस व्याख्या को राज्य के सम्बन्ध मे लागू करने का अर्थ होगा शासको की स्वेच्छाचारिता। वे अपने स्वार्थ-हित के कानून निर्मित करेंगे, और उसी को न्याय माना जाने लगेगा। इस पर यह दृष्टान्त दिया जाता है कि एक चिकित्सक किसी रोगी हेतु जिस औषधि का निर्धारण करता है उसमे उसका हित यह है कि उसे तो पारिश्रमिक मिलता है। रोगी का हित यह है कि चिकित्सक की आज्ञा मानने से उसका रोग दूर होगा। इसी प्रकार शासक जिन कानूनो को बनायेंगे उनका पालन करने मे ही शासितो का हित है। अत अन्याय न्याय से उत्तमतर होगा और शासक की स्वार्थमयी आज्ञा का पालन करना ही शासित के लिए न्याय होगा। प्लेटो थ्रॅसीमेकस के इस तर्क से भी सहमत नही होता। उसके मत से न्याय शक्तिशाली का हित नही हो सकता। सत्ता एक प्रकार की न्यास है (Power is a trust), जिसका दुरुपयोग नही किया जाना चाहिए।

प्लेटो के मत से न्याय के निम्नाकित तत्त्व है

(1) न्याय मानवीय सद्गुण का एक अग है। मानव मे सद्गुणो (virtue) का अस्तित्व वह विशेषता है जो उसे एक मानव बनाती है और उसे उत्तमता प्रदान करती है मानवीय सद्गुण मनुष्य के व्यवसायगत सद्गुण से भिन्न हैं। कोई व्यक्ति एक उत्तम कारीगर हो सकता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह एक उत्तम मानव भी हो। अत मानवीय सद्गुण वह है जो किसी मानव को उत्तमोत्तम मानव बनाता है। प्लेटो के मत से मानवीय सद्गुण (human virtue) म चार तत्त्व विद्यमान रहते है—(i) बुद्धि या विवेक (wisdom), (ii) साहस (courage), (iii) निग्रह या आत्म-सयम (temperance or self-control), तथा (iv) न्याय (justice)। एक पूर्णता प्राप्त उत्तम व्यक्ति मे यह चारो तत्त्व विद्यमान होते है।

(2) न्याय मानवो में वह गुण है जो उन्हे एक दूसरे के मध्य राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता प्रदान करता है और जिसके कारण राजनीतिक समाजो का निर्माण होता है। यह वह सूत्र है जो कि मानवो को राज्यो के रूप मे सगठित किये रखता है। इसी के कारण मानव सामाजिक एव उत्तम प्राणी बनते हैं। बार्कर के मत से 'राज्य के सद्गुण उसके सदस्यों के सद्गुण हैं जबकि वे राज्य *के सदस्यों के रूप में कार्य करते हैं।' इस दृष्टि से बुद्धि या विवेक राज्य के शासको* का सद्गुण है, उत्साह सैनिक वर्ग का गुण है तथा आत्म-सयम उत्पादक वर्ग का। इन तीनो तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्ग जब अपने-अपने निर्दिष्ट क्षेत्रो मे कार्य करते हुए एक दूसरे के हित मे कार्य करन की भावना रखते हैं तो वही सामाजिक न्याय है। इस प्रकार मानवीय सद्गुण एव राज्य के सद्गुण समान हैं। प्लेटो के न्याय की धारणा के सम्बन्ध मे सैबाइन ने कहा है कि 'न्याय वह बन्धन

(bond) है जो समाज के व्यक्तियो को एक सम-रूप सगठन मे बाँधकर रखता है, जिसमे विविध तत्वो का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति अपनी नैसर्गिक योग्यता तथा दीक्षा के अनुसार अपने जीवन भर का कार्य ढूंढ कर उससे जीवन-यापन करते हैं।' प्लेटो के मत से 'न्याय वह सद्गुण है जो राज्य मे तब भी विद्यमान रहता है जब कि बुद्धि, उत्साह तथा आत्म-सयम के सद्गुण उसमे पृथक् हो जाते हैं और अन्ततोगत्वा न्याय ही अन्य तीन सद्गुणो के अस्तित्व का कारण रहता है।' न्याय वैयक्तिक एव सार्वजनिक सद्गुण है, क्योकि यह व्यक्ति एव राज्य दोनों की उच्चतम अच्छाई को बनाये रखता है। व्यक्ति के लिए सर्वोत्तम बात यही है कि वह अपना निर्दिष्ट कार्य करे और उसे करने के योग्य सिद्ध हो सके। राज्य म प्रत्येक व्यक्ति का कार्य-क्षेत्र निर्धारित करन का नियम यही है कि प्रत्येक व्यक्ति जिस कार्य के लिए सर्वाधिक योग्य हो उसी को करे। यही न्याय है। इस प्रकार राजनीतिक समाज (राज्य) म उसके निर्माताओ के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहेगा। ईबन्स्टीन (Ebenstein) ने कहा है कि 'न्याय का विवेचन करने मे प्लेटो के राजनीतिक दर्शन के समस्त तत्त्व शामिल हैं। उसके न्याय सिद्धान्त के अन्तर्गत मानव के प्रकृति के साथ, राज्य के साथ तथा अपने अन्य साथियो के साथ जिन सम्बन्धो का निरूपण किया गया है, वे एक कौशलपूर्ण ढग से बन भव्य भवन का निर्माण करते हैं।' राज्य के अन्दर व्यक्ति की स्थिति का जो चित्र अपने न्याय-सिद्धान्त के द्वारा प्लेटो ने दर्शाया है, वह इस बात का द्योतक है कि प्लेटो व्यक्तिवाद का विरोधी है और व्यक्ति को राज्य का अभिन्न अग मानता है। बार्कर ने कहा है कि प्लेटो की धारणा मे 'व्यक्ति का स्व कोई पृथक् इकाई नहीं है, प्रत्युत् वह एक व्यवस्था का अग है और उस व्यवस्था के अन्तर्गत उसका निश्चित स्थान है, अभिव्यक्ति की पूर्णता तथा सुख की सच्ची चेतना (व्यक्ति को) तभी प्राप्त हो सकती है जबकि वह अपन निर्धारित स्थान पर अपन कर्त्तव्य को सम्पन्न करता है।'

(3) प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के अनुसार राज्य व्यक्ति का विशाल रूप है, दोनो के सद्गुण तथा चेतना समान हैं। दोनो मे समान तत्त्व हैं। प्लेटो ने कहा है कि 'राज्य ओक के वृक्ष या चट्टान से उत्पन्न नही होते, बल्कि उनका उद्गम स्थान उनमे निवास करने वाले व्यक्तिया के आचरण है।'[1] अत व्यक्ति के आचरण का अध्ययन करन के लिए राज्य का अध्ययन आवश्यक है। मानव सस्थाएँ मानव मस्तिष्क की अभिव्यक्ति हैं। न्याय उसके मस्तिष्क का स्वभाव है। राज्य मानव आत्मा की उपज है। विवेक (reason), उत्साह (spirit), तथा तृष्णा (appetite) मानव आत्मा के तीन अग हैं। यही तीन तत्त्व राज्य में भी विद्यमान हैं। शासक विवेक का, सैनिक उत्साह का तथा उत्पादक वर्ग तृष्णा तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं। न्याय राज्य के अन्तर्गत इन कार्यों के मध्य सामजस्यपूर्ण सन्तुलन बनाये रखता है, जिसके अनुसार सारे समाज को उपर्युक्त तत्त्वो के आधार पर तीन वर्गों मे विभाजित किया जाता है। न्याय वह सिद्धान्त है जो इस आधार पर राज्य को

[1] 'States do not come out of an oak or a rock, but from the characters of the men that dwell therein'

नीव खड़ी करता है कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति केवल उसी कार्य को करे जिसके लिए प्रकृति ने उसे सर्वोत्तम योग्यता प्रदान की है। इस दृष्टि से प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्धारित कर्त्तव्य को ही करे और दूसरो के क्षेत्र मे प्रविष्ट न हो। अत न्याय का निवास-स्थान प्रत्येक नागरिक की अन्तरात्मा मे है, जिसके अनुसार वे अपने निर्दिष्ट स्थान पर अपना कर्त्तव्य करते हैं। राज्य के सम्बन्ध मे न्याय का अर्थ है 'नागरिको मे कर्त्तव्य की भावना का होना।' यही भावना मनुष्य को सामाजिक बनाती है जिसके कारण वह अपने पृथक् व्यक्तिगत अस्तित्व की अपेक्षा अपने को समाज के एक आवश्यक तथा अभिन्न अग के रूप मे मानता है। बार्कर के मत से 'इस प्रकार सामाजिक न्याय समाज का वह सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत समाज मे शासक, सैनिक एव उत्पादक वर्ग एक दूसरे के हित मे अपनी आवश्यकता की भावना से सयुक्त हो, और एक ही समाज मे अपने इस सयोग तथा अपने-अपने निर्दिष्ट कार्य मे अपने को केन्द्रीभूत करते हुए एक सम्पूर्ण की रचना करें, जो कि हर प्रकार से पूर्ण हो, क्योंकि वह सम्पूर्ण समाज समूचे मानव मस्तिष्क की उपज तथा प्रतिबिम्ब होगा।'

(4) *न्याय समाज मे नैतिक जीवन हेतु एक अपरिहार्य गुण है।* यह सिद्धान्त व्यक्ति के अधिकारो की धारणा की अपेक्षा उसके कर्त्तव्यो को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। सैबाइन के मत से प्लेटो की न्याय की परिभाषा 'किसी भी अर्थ मे विधिशास्त्रीय परिभाषा नही है।' इसके अन्तर्गत मनुष्यो के कार्यों का सरक्षण कानून द्वारा होने तथा उनका समर्थन राज्य की सत्ता द्वारा किये जाने की धारणा नही है। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि राज्य की सृष्टि व्यक्तियो की पारस्परिक आवश्यकताओ के कारण हुई है। अत न्याय शक्ति की अपेक्षा सेवा की भावना का द्योतक है। शासक भी इसमे अपवाद नही हैं। उनका केवल यही कार्य है कि वे अपने विवेक तथा बुद्धि के आधार पर अपना निर्दिष्ट कार्य करें। प्लेटो की विचारधारा मे शासक की सत्ता या सम्प्रभुता जैसी कोई धारणा नही है। दार्शनिक राजा बुद्धि तथा विवेक तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। उसे यह देखना चाहिए कि विशिष्टता के आधार पर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य करे और शासक उनके मध्य सामजस्य स्थापित करे। चूंकि राज्य का निर्माण करने वाले तत्त्व व्यक्ति हैं जिनमें वही सब गुण विद्यमान रहते हैं जो कि राज्य मे हैं, अत इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक न्याय (Justice of the state) तथा वैयक्तिक न्याय (Justice of the individual) दोनो की अभिव्यक्ति व्यक्ति के द्वारा की जायेगी। इस प्रकार सामाजिक न्याय के सम्बन्ध मे व्यक्ति समाज के एक अग के रूप मे न्याय की अभिव्यक्ति करेगा अर्थात् समाज मे वह उन्ही कार्यों को करेगा जिनके लिए वह स्वाभाविक योग्यता रखता हो। वैयक्तिक न्याय के सम्बन्ध मे, चूंकि स्वय उसकी आत्मा मे भी उपर्युक्त तत्त्व विद्यमान हैं, अत वह अपने मन (mind) से न्याय का प्रदर्शन करेगा, अर्थात् वह अपनी आत्मा मे विद्यमान तीनो तत्त्वो के मध्य सामजस्य स्थापित रखने का प्रयास करेगा। इस प्रकार प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त के अन्तर्गत कार्य-विभाजन तथा कार्यों के विशेषीकरण का अर्थ सामाजिक

सहयोग होगा। दार्शनिक राजा का कर्त्तव्य यह है कि वह इन व्यवस्थाओं को अधिकाधिक लाभ की दृष्टि से नियमित करता रहे।

(5) प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त सार्वभौम न्याय (universal justice) की धारणा का सूचक है। यह कानूनी न्याय (legal justice) से भिन्न है। जिस राज्य का आधार कानून होता है, उसी में कानूनी न्याय विद्यमान रहता है। यह सार्वभौम न्याय के समान पूर्ण नहीं है। सार्वभौम न्याय एक आदर्श राज्य में ही विद्यमान रहता है। वितरणात्मक न्याय (distributive justice) के सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा यह है कि राज्य में व्यक्तियों को उनकी योग्यता तथा राज्य के प्रति किये गये कर्त्तव्यों के अनुसार पद प्राप्त हों। योग्यता के निर्धारण का आधार नैतिक तथा बौद्धिक योग्यता होगा। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था के अन्तर्गत यह समस्या आयगी कि दार्शनिक राजा ऐसी व्यवस्था को किन साधनों द्वारा स्थापित करेगा और ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत सामंजस्य स्थापित करने हेतु वह क्या साधन अपनायेगा। सैबाइन के विचार से 'इसके दो उपाय हो सकते हैं—या तो उत्तम नागरिकता के मार्ग की बाधाओं को दूर किया जाय, अथवा उत्तम नागरिकता के विकास हेतु विध्यात्मक परिस्थितियों का सृजन किया जाय।'[1] प्लेटो ने स्वयं इन दोनों पक्षों का विवेचन किया है। उसके द्वारा प्रतिपादित सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद का सिद्धान्त बाधाओं के निराकरण का तथा शिक्षा योजना विध्यात्मक परिस्थितियों के सृजन का आयोजन करती है।

आलोचना—प्लेटो का न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त व्यक्तिगत तथा सामाजिक नैतिकता का परिचायक है। परन्तु अनेक दृष्टियों से इसकी आलोचना की जाती है:

(1) प्लेटो का सिद्धान्त भावनामूलक धारणाओं पर आधारित है। इसके अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्यक्षेत्र में ही सीमित रहने की बात कही गयी है। ऐसा कोई समाधान नहीं बताया गया है कि व्यक्तिगत इच्छाओं के मध्य संघर्ष की स्थिति आने पर क्या युक्ति काम में लायी जायेगी। विविध क्षेत्रों में कार्य करने वाले व्यक्तियों के हितों में संघर्ष हो सकता है। प्लेटो के अनुसार आत्म-संयम का गुण इसका समाधान होगा। परन्तु आत्म-संयम तो एक नैतिक सिद्धान्त है न कि कानूनी। वह व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है न कि समाज में व्यक्ति के आचरण को निर्देशित करने वाली बाह्य परिस्थितियाँ। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त नैतिक कर्त्तव्य तथा कानूनी दायित्व के मध्य स्पष्ट भेद नहीं करता।

(2) प्लेटो की न्याय की धारणा न्याय शब्द की विधिशास्त्रीय व्याख्या नहीं करती। वह सामाजिक नैतिकता की धारणा है। यह समाज को एक एक सावयव के रूप में मानती है, जिसमें व्यक्ति सम्पूर्ण का एक अभिन्न अंग है और अपना निर्धारित कार्य करता है। राज्य में व्यक्ति के राजनीतिक अधिकारों जैसी कोई न्यायिक धारणा इस परिभाषा में नहीं है। अतः नैतिकता के नाम पर व्यक्ति के अधिकारों की धारणा का बलिदान कर दिया गया है।

(3) यह सम्भव है कि विवेक का शासन सत्ताधारी वर्ग की तानाशाही में

[1] G H Sabin, *A History of Political Theory*, 61

परिणत हो जाय। सत्ताधारी वर्ग अपने वर्गगत हितो को सार्वजनिक हितो से समीकृत करने लगेंगे। प्लेटो को जनतन्त्र से सहानुभूति नही थी, अतएव वह राजनीतिक सत्ता के सम्बन्ध मे उत्पादक वर्ग की, जो कि राज्य के विशाल *अग का निर्माण करते हैं,* उपेक्षा करके उनके दायित्वो पर ही बल देता है न कि अधिकारो पर।

(4) विशेषीकरण के आधार पर सामाजिक वर्गो का विभाजन सामाजिक सरचना का सही समाधान नही है। प्लेटो कार्य-विभाजन तथा कार्यों के विशेषीकरण के सिद्धान्त को सामाजिक न्याय की वास्तविक अभिव्यक्ति समझता है। वह विशेषीकरण की बुराइयो का ध्यान नही रखता। यह निर्धारित करना सरल कार्य नही है कि किस मनुष्य मे कौन-सा तत्त्व प्रमुख है। व्यक्ति को एक ही कार्य करने के लिए कहना उचित नही है। हो सकता है कि एक ही व्यक्ति मे अनेक तत्त्व हो। मानव अपने पूर्ण विकास हेतु विविध व्यवसाय करना चाहता है। विशेषीकरण का सिद्धान्त उसकी आत्मा मे विद्यमान अन्य तत्वो के समुचित विकास को अवरुद्ध कर देगा।

सम्पत्ति तथा परिवार का साम्यवाद

अपने न्याय-सिद्धान्त के आधार पर प्लेटो ने जिस आदर्श समाज अथवा राज्य की कल्पना की है, उसकी समुचित व्यवस्था के लिए उसने निषेधात्मक साधन के रूप मे सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। प्लेटो का साम्यवाद राजनीतिक सत्ता एव आर्थिक प्रलोभन के सम्मिश्रण की बुराइयों को दूर करने का एक साहसपूर्ण उपचार है। साम्यवाद के द्वारा प्लेटो शासक वर्ग को व्यक्तिगत सम्पत्ति एव पारिवारिक जीवन की चिन्ताओ से मुक्त रखना चाहता है। प्लेटो न्याय को मानव मस्तिष्क की उपज मानता है। उसके विचार से न्याय की सच्ची अभिव्यक्ति के लिए मानव म उत्तम आदतो का सृजन किया जाना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जबकि मनुष्य भौतिक चिन्ताओ से मुक्त रहे। प्लेटो बुद्धि तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्ग को समाज के शासन-सचालको की स्थिति प्रदान करता है। अतएव जब तक वे व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा पारिवारिक जीवन की चिन्ताओ से मुक्त नही रहेगे, तब तक वे सामाजिक व्यवस्था का सचालन तथा निदेशन उचित रूप से नही कर पायेंगे। प्लेटो के आदर्श राज्य की व्यवस्था म शासक वर्ग सम्पूर्ण राज्य के हित मे तभी अपने निर्दिष्ट कार्य क्षेत्र मे रत रह सकते हैं जबकि उनकी अपनी कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति न हो और न वे कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करें। इस प्रकार प्लेटो दो प्रकार की साम्यवाद की व्यवस्था बताता है—

(1) शासक तथा सैनिक वर्ग जिन्हे वह सरक्षक (guardians) कहता है किसी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति नही रख सकेंगे। न उनके निजी मकान होंगे, न निजी भूमि, न अन्य प्रकार की कोई भौतिक सम्पत्ति। वे राज्य द्वारा व्यवस्थित बैरेको (barracks) मे निवास करेंगे और राज्य की ओर से सार्वजनिक भोजनालयो म उनके खाने-पीने की व्यवस्था की जायेगी। यह सम्पत्ति का साम्यवाद है।

(2) उपर्युक्त वर्ग के लिए दाम्पत्य जीवन व्यतीत करना वर्जित होगा। उनके

लिए स्थायी वैवाहिक जीवन एव परिवार मे पृथक् रूप से रहना भी वर्जित होगा।

1. सम्पत्ति का साम्यवाद

आधुनिक युग मे समस्त समाजवादी विचारधाराओ का उद्देश्य आर्थिक समानता लाना तथा आर्थिक शोषण का अन्त करना है। सैबाईन ने कहा है, 'यूनानी लोग इस तथ्य को निष्पक्ष रूप से मानते थे कि राजनीतिक कार्य-कलापो तथा राजनीतिक सान्निध्य को निर्धारित करने मे आर्थिक उद्देश्य बहुत प्रभावी होते हैं।' प्लेटो से पूर्व भी यूनान के कुछ नगर-राज्यो मे आर्थिक दृष्टि से धनी, निर्धन एव मध्यम वर्ग के लोगो को अलग-अलग वर्गों म विभक्त करन की परम्परा थी। शोषण प्रथा तब भी प्रचलित थी। वर्ग-तन्त्रो (oligarchies) के अन्तर्गत शासन कार्य मुख्यतया सम्पत्तिशाली वर्ग के हित मे सचालित होता था। यूनानी लोग इस तथ्य से भी परिचित थे कि आर्थिक तत्त्व राजनीतिक वातावरण को प्रभावित करते रहे हैं। सैबाइन के मत से 'एथेन्स मे नागरिक-अस्थिरता का मुख्य कारण कम से कम सोलन के काल से मुख्यतया इसी रूप का था।' क्रीट के नगर-राज्य मे सार्वजनिक भूमि को सार्वजनिक दासो द्वारा जोते जाने की प्रथा प्रचलित थी।

प्लेटो का आदर्श राज्य उसके न्याय-सिद्धान्त पर आधारित है। प्लेटो राज्य के नागरिकों के मध्य पूर्ण एकता स्थापित करना चाहता था, ताकि विवेक, उत्साह तथा तृष्णा तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करने वाले राज्य के निर्माणकारी वर्गों म सावयविक एकता बनी रहे। इस हेतु वह विवेक एव उत्साह तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करने वाले उच्च वर्गों को नि स्वार्थ सेवा की भावना से कार्य करने की व्यवस्था को लागू करना चाहता है और इसलिए वह उन्हे निजी सम्पत्ति के बन्धन स मुक्त रखना आवश्यक समझता है। निजी सम्पत्ति उनकी आत्मा को भ्रष्ट मार्ग की ओर प्रेरित करेगी, क्योकि इसके कारण उनमे तृष्णा (appetitive) तत्त्व का प्रभाव आ जायेगा। अत उसके प्रभाव से रक्षक स्वय भक्षक होने लगेंगे। सैबाइन ने कहा है कि 'प्लेटो के साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक है। वह शासन का उपयोग धन का समानीकरण करने के लिए नही करता, बल्कि वह धन का समानीकरण इसलिए करता है कि जिससे शासन को भ्रष्ट करने वाले प्रभाव नष्ट हो जाएँ।' बार्कर का भी यही मत है कि 'स्वय प्लेटो इस बात पर जोर देता है कि साम्यवाद का आधार मनोवैज्ञानिक होने की अपेक्षा व्यावहारिक तथा राजनीतिक अधिक है, क्योकि प्लेटो राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता के एक ही हाथ म रहने के तथ्य को विशुद्ध राजनीति तथा राजनीतिक कुशलता के लिए घातक समझता था। इन दोनो सत्ताओ का सम्मिश्रण हो जाने से राजनीतिक सत्ताधारी आर्थिक लाभ के लालच मे आकर नि स्वार्थ सेवा की भावना को भूल जाता है। शासित वर्ग जो आर्थिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं, राजनीतिक सत्ताधारी की ऐसी प्रवृत्ति को देखकर उसके विरुद्ध बडबडाने लगते हैं। परिणामस्वरूप राज्य दो परस्पर विरोधी वर्गों म विभक्त होने लगता है जिससे राज्य की एकता नष्ट हो जाने का भय है।'

प्लेटो केवल उच्च दो वर्गों को ही सम्पत्ति से वचित रखना चाहता है।

साम्यवाद की ऐसी योजना मे वह तृतीय वर्ग (उत्पादकों) को शामिल नही करता। उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओ का अंश उच्च वर्गों की आवश्यकता-पूर्ति में लगाया जायेगा। आत्म-संयम तथा न्याय के तत्वो से युक्त यह वर्ग निजी सम्पत्ति रखने का अधिकारी होगा। इस प्रकार प्लेटो का सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद आधुनिक साम्यवाद तथा समाजवाद की धारणा के अनुसार सम्पूर्ण समाज के लिए नही है। इसके अन्तर्गत उत्पादक वर्ग सम्पत्ति का अर्जन शासन की देख-रेख मे करेगा। इस दृष्टि से प्लेटो की व्यवस्था साम्यवादी न होकर राज्य के नियन्त्रण (state control) की व्यवस्था है। बार्कर के मत से 'यह ऐसी नीति है जो अर्थव्यवस्था का व्यक्तिवादी प्रबन्ध तो स्वीकार करती है, परन्तु राज्य के कल्याण की दृष्टि से उसका नियमन भी करती है।' इस प्रकार आधुनिक समाजवादियो की दृष्टि मे यह एक अनोखे प्रकार का समाजवाद है।

आधुनिक साम्यवाद से तुलना

समानता—आधुनिक साम्यवाद तथा प्लेटो के साम्यवाद मे निम्नांकित दृष्टियो से समता है—

(1) दोनो के अन्तर्गत नागरिक की वैयक्तिकता की उपेक्षा करके राज्य या समाज की सर्वोच्चता को मान्य किया गया है। आधुनिक साम्यवाद उत्पादन के साधनो का राज्य के नियन्त्रण मे समाजीकरण करने का सिद्धान्त अपनाता है और उनके व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोध करता है। प्लेटो की व्यवस्था मे भी यद्यपि उत्पादक वर्ग उत्पादन के साधनो का व्यक्तिगत स्वामित्व रखते हैं तथापि उत्पादन के नियमन तथा वितरण व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण रहेगा। उत्पादित माल का उपभोग वह व्यक्ति भी करेंगे जो उत्पादन क्रिया मे भाग नही लेते।

(2) दोनो व्यवस्थाएँ व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध मे मानव स्वभाव की नैसर्गिक प्रवृत्ति का विरोध करती है और आर्थिक प्रतियोगिता को कम करने का उद्देश्य रखती हैं। प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य कार्य-विभाजन तथा विशेषीकरण के सिद्धान्त को सुनिश्चित करके राज्य की एकता को भी सुनिश्चित करना और शासक वर्ग को भौतिक चिन्ताओ से मुक्त रखके उत्पादक वर्ग को अपने निर्दिष्ट कार्य मे सीमित रखकर दोनो वर्गों के मध्य पदलोलुपता तथा प्रतियोगिता की भावना को समाप्त करना है ताकि राज्य के सदस्यो के मध्य एकता बनी रहे। दोनो वर्ग एक-दूसरे की आवश्यकता को वान्छनीय मानकर एक-दूसरे के साथ स्नेह करें। आधुनिक साम्यवाद भी प्रतियोगिता की भावना को समाप्त करके प्लेटो की भाँति ही ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण समाज के हित म कार्य करे और समस्त सदस्यो मे पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना बनी रहे।

(3) आधुनिक साम्यवाद का स्रोत प्लेटो की विचारधारा है। मैक्सी का कथन है कि 'समस्त समाजवादी तथा साम्यवादी चिन्तन का मूल प्लेटो मे है। यदि प्लेटो आज जीवित होता तो वह उत्कृष्टतम साम्यवादी सिद्ध होता और नि सन्देह

उसी उत्साह से रूस की यात्रा की शीघ्रता करता जिस उत्साह के साथ वह प्राचीन सीराक्यूज के निरकुश शासक के आमन्त्रण पर वहाँ गया था।' प्लेटो की भाँति ही आज के साम्यवादी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति को समस्त बुराइयों की जड मानते हैं। दोनो का उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रो मे राज्य का नियन्त्रण है। शिक्षा, विज्ञान, उद्योग, दर्शन आदि का नियमन राज्य के हित मे किया जाना दोनो मानते हैं। प्रोफेसर जासजी (Jaszi) भी प्लेटो तथा रूसी साम्यवाद मे अनेक बातो के मध्य साम्य देखता है। मैक्सी के मत से मार्क्स तथा लेनिन के भौतिकवाद तथा प्लेटो के आदर्शवाद मे कोई भिन्नता नही है, बल्कि प्लेटो का आदर्शवाद भी भौतिकवादी ही है। प्लेटो के पश्चात् आदर्शवादी चिन्तन का स्वरूप भावनामूलक (abstract) होता गया। परन्तु प्लेटो का चिन्तन मात्र स्वप्नलोकी विचारो पर आधारित न होकर भौतिक जगत के तथ्यो पर भी आधारित है। जो विचार उसने प्रस्तुत किये हैं वे तत्कालीन भौतिक परिस्थितियों के अनुभव पर आधारित थे। मैक्सी के मत से आधुनिक शब्दावली मे प्लेटो को आदर्शवादी (idealist) कहने की अपेक्षा विचारवादी (idea-ist) कहना उपयुक्त होगा। मार्क्स तथा लेनिन की भाँति प्लेटो भी इतिहास के साथ-साथ चला है न कि उसके विरुद्ध। परन्तु इन थोडी-सी समानताओ के बावजूद दोनो म अनेक बातो के सम्बन्ध म मौलिक भेद हैं।

अन्तर—प्लेटो के साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद के मध्य निम्नाकित मौलिक भेद हैं—

(1) प्लेटो भौतिक सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व से केवल शासक तथा सरक्षक-वर्ग को वचित रखना चाहता है जबकि आधुनिक साम्यवाद भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व सम्पूर्ण समाज को देकर उसके समान वितरण तथा सामूहिक उपभोग का उददेश्य रखता है। आधुनिक साम्यवाद का सिद्धान्त है 'समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमतानुसार कार्य करे और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार लाभ मिले।'

(2) प्लेटो की साम्यवादी योजना केवल दो वर्गों पर लागू होती है जोकि सम्पूर्ण समाज मे थोडी सी सख्या मे हैं। उत्पादक वर्ग जो समाज के विशाल अग का निर्माण करते हैं इस व्यवस्था से अलग रहेगे। आधुनिक साम्यवाद सम्पूर्ण समाज पर लागू होता है।

(3) प्लेटो राजनीतिक एव आर्थिक शक्तियो के सम्मिश्रण का विरोध करता है जबकि आधुनिक साम्यवाद आर्थिक वर्ग अर्थात् सर्वहारा वर्ग को राजनीतिक सत्ता देने का लक्ष्य रखता है।

(4) प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था समाज म दो वर्गों के अस्तित्व को मान्यता देती है। शासक तथा सरक्षक वर्ग राजनीतिक सत्ता को धारण करते हैं और उन्ही को सम्पत्ति से वचित रखा गया है। इस प्रकार प्लेटो का साम्यवाद अभिजातवर्गीय साम्यवाद (aristocratic communism) है। बार्कर के अनुसार यह आत्म-समर्पण का तरीका है, जो कि उत्तमो पर लागू होता है। यह सम्पूर्ण समाज के हित म है, परन्तु सम्पूर्ण समाज के लिए नही है।' परन्तु आधुनिक साम्यवाद वर्ग-

विहीन समाज की स्थापना का उद्देश्य रखता है।

(5) प्लेटो के साम्यवाद मे शासन का रूप *अभिजाततन्त्री (aristocracy)* होगा। शासक वर्ग विवेक तथा उत्साह तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करते हुए सम्पूर्ण समाज के साथ आत्म-सयम तथा न्याय मे भाग लेकर सम्पूर्ण समाज की सेवा करेंगे। तृष्णा तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाला उत्पादक वर्ग शासित रहेगा। वह केवल आत्म-सयम तथा न्याय तत्त्वो के कार्यों मे भाग लेगा। शासन तथा उत्पादन दोनों का लाभ सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होगा। परन्तु *आधुनिक साम्यवाद का उद्देश्य* उत्पादन के साधनो तथा उत्पादन-क्रिया के समाजीकरण के द्वारा ऐसी व्यवस्था लाना है जिसमे समाजीकृत सम्पत्ति का नियन्त्रण लोकतन्त्री ढग से सगठित राज्य के हाथ मे रहेगा। बार्कर के मत से "प्लेटो केवल उत्पादन से मतलब रखता है, और उसमे से भी वह एक अश-मात्र का समाजीकरण करता है—यह अश तृतीय वर्ग द्वारा सरक्षको को प्रतिवर्ष दिया जायेगा, *यह सरक्षक वर्ग, यदि हम उसे पूँजीपति-वर्ग की सज्ञा दें तो,* वे उसके (प्लेटो के) राज्य के पूँजीपति हैं।'

(6) प्लेटो की व्यवस्था उत्पादन की वैयक्तिक प्रथा का उन्मूलन नही करती। परन्तु आधुनिक साम्यवाद आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तिगत प्रयास का विरोधी है और उत्पादन तथा वितरण के राजकीय एकाधिकार पर बल देता है।

आलोचना—प्लेटो के साम्यवाद की योजना *सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक* दोनो दृष्टियो से दोषपूर्ण है। बार्कर उसकी योजना को 'अर्ध-साम्यवाद' कहता है क्योकि यह सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था नही है। इस कथन का आधार यह है कि एक ओर प्लेटो 'एक राज्य के अन्दर दो राज्यो' के सिद्धान्त की भर्त्सना करता है, दूसरी ओर वह *बलात् राज्य मे दो वर्गों की सृष्टि करता है।* वह *व्यक्तिगत* सम्पत्ति को पारस्परिक कलह की जननी मानता है और इसीलिए सरक्षक वर्ग को उससे मुक्त रखना चाहता है, परन्तु तृतीय वर्ग के लिए इस योजना को लागू नही करता। व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोष तृतीय वर्ग के व्यक्तियो मे भी पारस्परिक कलह उत्पन्न करेंगे और उन कलहो को निपटाने का कार्य शासक वर्ग करेंगे और जो स्वय सम्पत्ति विहीन हैं। बार्कर का तर्क है कि जो वर्ग सम्पत्ति-विहीन है वह सम्पत्ति से सम्बद्ध उद्देश्यो तथा आचरणो का समुचित ज्ञान कैसे करेगा? वह वर्ग तो आध्यात्म तथा दर्शन का ज्ञान रखता है न कि भौतिक जगत तथा सस्थाओं का। वह इन कलहो को नियन्त्रित करने की क्षमता किस प्रकार रखेगा? राजनीतिक तथा *आर्थिक सत्ता को पृथक् वर्गों के हाथ मे रखना राज्य की एकता बनाये रखने के लिए* व्यावहारिक उपचार नही माना जा सकता। साथ ही आध्यात्मिक तथा भौतिक *पक्षों को अलग-अलग कर देना उचित नही है।* इसी प्रकार यदि राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ताओ को पृथक् कर दिया जायेगा तो उसके भी परिणाम भयावह होगे। *राजनीतिक सत्ताधारी सरक्षक वर्ग अपनी भौतिक* आवश्यकताओ के लिए आर्थिक सत्ताधारियों के ऊपर आश्रित रहेगे। अतएव तृतीय वर्ग (उत्पादक) प्रथम दो वर्गों (शासको तथा सैनिको) पर हावी हो जायेंगे। आध्यात्मिकता को भौतिकता से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता। यह मानना सही नहीं है कि आध्यात्मिकता के

लिए भौतिकता बुराई है, अत उसका अन्त कर देना चाहिए। अच्छा तो यह होता कि यदि भौतिक तत्त्व आध्यात्मिकता के मार्ग मे बाधा माने जाते तो इनसे होने वाली बुराइयो को दूर करने का कोई आध्यात्मिक उपचार ढूँढा जाना चाहिए था, न कि इन्हे पूर्णतया समाप्त कर देने की व्यवस्था बतायी जाती। निस्सन्देह प्लेटो की शिक्षा योजना इस दिशा मे एक अच्छा उपचार सिद्ध हो सकती है।

प्लेटो का सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद न केवल अधूरे समाज की व्यवस्था है, प्रत्युत् यह मानव-इतिहास तथा मनोविज्ञान की भी उपेक्षा करता है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति सभ्यता की संस्था है। भले ही प्लेटो से पूर्व यूनान के नगर राज्यो मे यत्र-तत्र सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व या उपभोग की व्यवस्था रही हो, किन्तु जिस रूप मे प्लेटो शासक वर्ग को सम्पत्ति के स्वामित्व मे वचित कर देना चाहता है, उसके परिणामस्वरूप वे पूर्णतया सन्यासी का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो जायेगे। यह बात मानव-मनोविज्ञान के अनुसार तर्कसम्मत नही बैठती कि विवेक तथा उत्साह तत्त्वो से युक्त व्यक्ति सम्पत्ति के बन्धन से मुक्त रहकर उच्चतम ज्ञान, आध्यात्मिकता, दर्शन एव शासन-सचालन का दायित्व समाज सेवा की सच्ची लगन से करेंगे। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि प्लेटो के काल म यूनान के अभिजात-वर्ग भू-सम्पत्ति के व्यक्तिगत उपभोग से मुक्त हो चुके थे। भूमि का स्वामित्व भले ही उनके पास था, परन्तु उसमे उत्पादन का कार्य दास वर्ग करता था और भू-स्वामियो को उनके उपभोग के लिए उत्पादन का अश मिल जाता था। प्लेटो इसी व्यवस्था को और अधिक स्पष्ट तथा व्यापक बना देना चाहता है। परन्तु उस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पत्ति के स्वामित्व का लाभ उठाते हुए भू-स्वामी सन्तुष्ट रहते थे। प्लेटो तो उनके भू-स्वामित्व को ही समाप्त कर देना चाहता है। इसका परिणाम यह तो हो सकता है कि सम्पत्ति के अभाव मे वे अपनी वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति नही कर पावेंगे और उनमे असन्तोष बढेगा।

यह तर्क भी दिया जाता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा एक कृत्रिम सस्था है और मनुष्य की स्वार्थी आकाक्षाओ के फलस्वरूप विकसित हुई है। इसका रूप देश, काल तथा परिस्थितियो के अनुसार बदलता रहता है। यदि यह सस्था नैसर्गिक होती तो इसका स्वरूप सदैव तथा सर्वत्र एक-सा रहता। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार पर शासन सत्तायें हस्तक्षेप करती आयी हैं। उस पर करारोपण करना, मृत्यु कर लगाना, उसके सक्रमण के सम्बन्ध म कानून बनाना आदि इस तथ्य के प्रमाण हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा मानवकृत है। अत प्लेटो ने शासक वर्ग को इससे वचित करना चाहा तो वह भी इसी प्रकार का एक नियन्त्रण है। अत प्लेटो की व्यवस्था को कोरी स्वप्नलोकी धारणा मानना भी उचित नही है। इसके विरुद्ध यही तर्क दिया जा सकता है कि प्लेटो का साम्यवाद 'अतिवाद' का द्योतक है। वह सामाजिक व्यवस्था म एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहता है।

प्लेटो के साम्यवाद मे स्वतन्त्रता तथा समानता की धारणाओ को भ्रातृत्व तथा कुशलता के नाम पर बलिदान कर दिया गया है। उद्देश्य यह है कि राज्य की

एकता बनी रहे। कार्य विभाजन का सिद्धान्त कार्य की कुशलता का लक्ष्य रखता है। वर्गयुक्त समाज मे समानता का लोप हो जाता है। एक वर्ग के हाथ मे राजनीतिक सत्ता आ जाने से वैयक्तिक स्वतन्त्रता नही रह सकती। इस प्रकार प्लेटो की योजना मे बलात् राज्य की एकता लाने का प्रयास किया गया है। वास्तविक एकता विविधता मे एकता लाने से उत्पन्न हो सकती है, *जिसका समर्थन प्लेटो नहीं करता।* विविधता मे एकता लाने का आधार है व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा परिवार, न कि केन्द्रीकृत एकता। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपभोग करते हुए नागरिक वैविध्यपूर्ण जीवन व्यतीत करके स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकते है। साथ ही उनमे समाज के अन्य सदस्यो के साथ पारस्परिक सहयोग की भावना से जीवन व्यतीत करने का भाव उत्पन्न होगा। वास्तविक एकता इसी प्रकार आ सकती है, न कि बलात् व्यक्तियों की इच्छाओ तथा प्रवृत्तियो का दमन करके उनमे एकता लाने के प्रयास से।

सैबाइन के मत से प्लेटो का साम्यवाद अस्पष्ट है। यह केवल सरक्षक वर्ग के ऊपर लागू होता है जो मानव आत्मा के उच्चतर तत्वो से युक्त है। हो सकता है कि निम्न वर्ग मे भी ऐसी प्रतिभा वाले व्यक्ति हो। उन्हे उच्चतर वर्ग मे रखा जायेगा या नहीं, इस बात का प्लेटो ने कोई विवेचन नही किया है। वास्तव मे, *प्लेटो ने अपनी योजना की विशद व्याख्या करने की चिन्ता ही नही की है।* इससे भी अधिक आपत्ति सैबाइन ने यह की है कि प्लेटो ने दास-वर्ग के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा। उस युग मे यूनान मे दास प्रथा बहुत अधिक प्रचलित थी और समाज मे दासो की सख्या इतनी अधिक थी कि इस समूचे वर्ग की अपेक्षा करना प्लेटो की एक महान् कमी है। सैबाइन का निष्कर्ष है कि प्लेटो के विचार से दास-वर्ग का होना आदर्श राज्य के लिए आवश्यक नही है। कास्टेटीन रिटर की धारणा का उल्लेख करते हुए सैबाइन का मत है कि प्लेटो के रिपब्लिक मे दास प्रथा 'सिद्धान्तत समाप्त' कर दी गयी है, क्योकि प्लेटो उसे महत्त्वहीन मानता होगा।

2 परिवार का साम्यवाद

प्लेटो की विचारधारा मे केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति ही सामाजिक बुराई की जड नही है, बल्कि व्यक्तिगत परिवार की प्रथा भी विवेक तथा उत्साह तत्वो को भ्रष्ट करती है। अत प्लेटो ने परिवार के साम्यवाद की भी एक क्रान्तिकारी योजना प्रस्तुत की है। सम्पत्ति के साम्यवाद की भाति ही परिवार के साम्यवाद के सम्बन्ध मे भी प्लेटो की विचारधारा को मौलिक नही कहा जा सकता है। इसकी पृष्ठभूमि मे यूनान के तत्कालीन महिला समाज की स्थिति, तथा प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त थ। प्लेटो ने अनुभव किया कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा शासक वर्ग को भ्रष्ट करती है, अत उनके लिए उसने इसे निषिद्ध करने की योजना रखी थी। प्लेटो का इस सम्बन्ध मे यह तर्क अधिक स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की जड व्यक्तिगत परिवार प्रथा है। पारिवारिक जीवन की आवश्यकताएँ व्यक्तिगत सम्पत्ति के सचय तथा उपभोग की प्रेरणा देती हैं। यदि व्यक्तिगत परिवार की प्रथा न हो

तो सम्पत्ति सचय का प्रलोभन नहीं रहेगा। अत राज्य के शासक वर्ग को इससे भी वंचित रखा जाना चाहिए ताकि शासक वर्ग अपने तथा अपनी सन्तान के लिए सम्पत्ति-अर्जन की चिन्ता से मुक्त रहकर नि स्वार्थ भाव से समाज सेवा के हित मे विवेक तथा उत्साह की अभिव्यक्ति करने का अवसर प्राप्त कर सकें।

परिवार के साम्यवाद की योजना प्रस्तुत करने मे प्लेटो के ऊपर तत्कालीन महिला समाज की स्थिति का प्रभाव अधिक है। प्लेटो के काल मे यूनानी सामाजिक जीवन के क्षेत्र मे महिला वर्ग की घोर उपेक्षा की जाती थी। वे बचपन से ही एकाकी जीवन व्यतीत करती थी। सामाजिक जीवन मे पुरुषो के साथ किसी भी कार्यकलाप मे उनका भाग न था। कन्याओ का विवाह लगभग पन्द्रह वर्ष की अल्पायु मे हो जाता था। इसके उपरान्त उनका जीवन क्षेत्र पति के परिवार की चहारदीवारी के अन्दर ही सीमित था। वहाँ वे अपने पति की काम-वासना की तृप्ति करने, सन्तान उत्पन्न करने तथा उनका पालन-पोषण करने तक ही अपने जीवन का लाभ प्राप्त करती थी। प्लेटो महिलाओ की इस दासता की स्थिति का विरोध करता है। उसके मत से परिवार व्यवस्था स्वार्थ-भावना की जड है। यह महिलाओ की शारीरिक तथा बौद्धिक क्षमता की बरबादी की सूचक है। इसके कारण महिलाओ को अपनी योग्यता तथा क्षमता से समाज की समुचित सेवा करने से वचित होना पडता है। प्लेटो के अनुसार, यह न तो व्यक्तिगत न्याय है, न सामाजिक न्याय। बार्कर का मत है कि 'प्लेटो की इस धारणा का उद्देश्य परिवार का उन्मूलन' मानना सही नही है। वास्तव मे प्लेटो परिवार का सुधार तथा परिवर्तन (transformation) चाहता है। 'वह राज्य से परिवार को निकाल देना नही चाहता, बल्कि वह राज्य मे परिवार का आयात करना चाहता है।'

साम्यवाद का स्वरूप—प्लेटो की विचारधारा मे स्त्रियो के साम्यवाद की योजना भी सम्पत्ति के साम्यवाद की भाति केवल सरक्षक वर्ग पर ही लागू की गई है। परन्तु इसके उद्देश्य अधिक व्यापक हैं। इनमे सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य स्त्रियों को न केवल पुरुषो की दासता से ही मुक्त करना है, बल्कि उन्हे राज्य के जीवन मे पुरुषों के साथ समानता की स्थिति प्रदान करना भी है, ताकि सामाजिक जीवन मे उनकी योग्यता तथा कार्यक्षमता का लाभ सम्पूर्ण समाज को प्राप्त हो सके। प्लेटो की धारणा थी कि समाज के आधे भाग (महिला वर्ग) को केवल गार्हस्थ्य-जीवन की चहारदीवारी क अन्दर वन्दी रखने की अपक्षा उसे जीवन तथा व्यवसाय की उच्चतर स्थिति मे रखा जाना न्यायपूर्ण है। मानव आत्मा के तीनो तत्त्वो विवेक उत्साह तथा तृष्णा का अस्तित्व पुरुष तथा महिला दोनो म होता है। यदि पुरुष तथा महिला म कोई मौलिक अन्तर है तो ऐसा तो पुरुष पुरुष के मध्य भी होता ही है। कुछ विशिष्ट काय एसे होते हैं जिन्हें पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ अपने स्वाभाविक गुणो के कारण अधिक दक्षतापूर्वक सम्पन्न कर सकती हैं। प्रशासनिक मामलों म प्रकृतित दोनो लिगो के मध्य कोई अन्तर नही है। प्लेटो की धारणा है कि स्त्रियाँ राज्य की रक्षा उसी दक्षता के साथ सम्पन्न कर सकती हैं जिस दक्षता के साथ एक कुतिया रक्षा का कार्य करती है। महिलाएँ नागरिक एव सैनिक दोनों प्रकार के कार्य कर

सकती हैं। अन्तर यही हो सकता है कि इन विविध कार्य-कलापों हेतु पुरुष एवं महिलाओं की आयु सीमा की परिपक्वता अलग-अलग होगी। उदाहरणार्थ, नागरिक सेवा के लिए यदि पुरुष की निम्नतम आयु सीमा 30 वर्ष है तो महिला के लिये 40 वर्ष होगी। प्लेटो की धारणा के सम्बन्ध में मैक्मी ने लिखा है कि 'पुरुष तथा महिला में जो महान् अन्तर है वह केवल प्रजनन तथा सन्तति धारण करने के सम्बन्ध का है और इससे यह सिद्ध नहीं होता कि महिलाओं की प्रकृति ऐसी मान ली जाये कि वे बिल्कुल ही भिन्न प्रकार का जीवन व्यतीत करें।' जिस प्रकार मनुष्य-मनुष्य में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आदि विविध गुणों में भिन्नता होती है उसी प्रकार स्त्री-स्त्री में भी ऐसी भिन्नता होती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल महिला होने के नाते ही उन्हें सार्वजनिक जीवन से पृथक् कर दिया जाये। ऐसा करना प्लेटो की दृष्टि से न्यायसंगत नहीं है।

प्लेटो द्वारा प्रतिपादित स्त्रियों के साम्यवाद का सिद्धान्त राजनीतिक, नैतिक एवं प्रजननात्मक तीन उद्देश्यों पर आधारित है। राजनीतिक दृष्टि से, आदर्श राज्य की सबसे महान् आवश्यकता एकता (unity) है। राज्य में संरक्षक वर्ग के मध्य एकता की भावना लाने के उद्देश्य से प्लेटो समूचे वर्ग को एक परिवार के रूप में परिणत कर देना चाहता है, जिससे सार्वजनिक कर्त्तव्यों तथा व्यक्तिगत हितों के मध्य संघर्ष की स्थिति न आ सके। यह तभी सम्भव था, जबकि संरक्षक वर्ग व्यक्तिगत वैवाहिक बन्धन तथा पृथक् पारिवारिक जीवन से मुक्त कर दिये जायें। इस वर्ग के व्यक्तियों के पास न तो व्यक्तिगत सम्पत्ति होगी और न व्यक्तिगत पत्नी तथा बच्चे। इनके अभाव में समूचा संरक्षक वर्ग एक परिवार के रूप में संगठित हो जायेगा और उसी के हित में प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा।

[illegible] से, प्लेटो व्यक्तिगत परिवार-प्रथा का अन्त करके विवाह तथा परिवार-प्रथा में ऐसा सुधार एवं परिवर्तन लाना चाहता है। जिसके परिणामस्वरूप संरक्षक वर्ग में भ्रातृत्व अथवा पारस्परिक प्रेम की भावना उत्पन्न हो और प्रतियोगिता की भावना का अन्त हो जाय। प्रजननात्मक दृष्टि से, प्लेटो का यह उद्देश्य था कि राज्य के संरक्षक तथा शासक वर्ग की नस्ल उच्चकोटि की हो। अतः यौन-सम्बन्ध स्थायी तथा व्यक्तिगत प्रकृति के नहीं होंगे। प्लेटो संरक्षक वर्ग में काम वासना तृप्त करने की प्रवृत्ति को रोकना चाहता है, क्योंकि इसमें फँसकर वे विवेक तथा उत्साह तत्त्वों की समुचित अभिव्यक्ति करने में असमर्थ रहेंगे। साथ ही प्लेटो का यह भी उद्देश्य है कि भावी संरक्षक उच्च कोटि के हों। अतः संरक्षक वर्ग के स्त्री तथा पुरुष वर्गों में यौन सम्बन्ध राज्य की देख रेख में करवाये जायेंगे। राज्य की आवश्यकता को देखते हुए उत्तम पुरुषों तथा महिलाओं के जोड़ों का चयन करके उचित अवसरों पर उनका यौन-सम्बन्ध करवाया जायेगा। उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के लिए चुने गये स्त्री-पुरुषों की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आदि क्षमताओं का ध्यान रखा जायेगा। इस प्रकार जो सन्तान उत्पन्न होगी उसका पालन-पोषण राज्य के द्वारा व्यवस्थित शिशु-गृहों में होगा। उनकी शिक्षा-दीक्षा का दायित्व भी राज्य पर होगा। संरक्षक वर्ग के स्त्री-पुरुषों को यह ज्ञान तक न हो पायेगा कि

अमुक बच्चा किसका है। सब बच्चे राज्य के होगे।

इस दृष्टि से प्लेटो सरक्षक वर्ग के मध्य विवाह-प्रथा मे सुधार की योजना प्रस्तुत करता है। विवाह सामयिक, अस्थायी तथा सामाजिक उद्देश्य को लेकर होंगे। उनका मुख्य उद्देश्य राज्य की आवश्यकतानुसार उत्तम सन्तान पैदा करवाना होगा। ऐसे साम्यवाद का यह अर्थ नही था कि काम-वासना की तृप्ति का समाजीकरण होगा तथा सामूहिक रूप से सरक्षक वर्ग इस वासना का उपभोग करेंगे। इसके विपरीत काम तृप्ति पर अत्यधिक नियन्त्रण लग जायेगा। यह व्यवस्था सरक्षक वर्ग के मध्य जनसख्या को नियन्त्रित करने का भी साधन सिद्ध होगी। सन्तान पर स्त्री-पुरुष के स्वत्व के अभाव मे वैयक्तिक वात्सल्य की भावना नही रहेगी। सब बच्चे सबके माने जायेंगे, अत सब सबको प्यार करेंगे। इस प्रकार समूचा सरक्षक वर्ग एक परिवार का रूप धारण करेगा जिसमें सब सबके कल्याण तथा सुख की चिन्ता करेंगे।

आलोचना—बार्कर का मत है कि 'प्लेटो जिन उद्देश्यो को लेकर साम्यवाद की योजना रखता है उनसे सहमत होने मे कठिनाई नहीं हो सकती, परन्तु साधनो को स्वीकार करने मे कठिनाई होती है। उसके सिद्धान्तों से हम सहमत हो सकते हैं, परन्तु हमें उनके व्यवहृत करने के तरीको को अमान्य करना पड सकता है।'[1] इस दृष्टि से प्लेटो के 'परिवार के साम्यवाद' मे निम्नाकित दोष हैं

(1) पारिवारिक जीवन के नैसर्गिक आधार की उपेक्षा उचित नहींहै —जहाँ तक स्वाभाविक प्रवृत्तियो का सम्बन्ध है, स्त्री तथा पुरुष के मध्य भेद केवल प्रजनन सम्बन्धी कार्य का ही नही है, अपितु सृष्टि के निर्माण तथा सचालन मे दोनो का पूर्णतया पृथक् कार्य-भाग है। स्त्री स्वभावत पारिवारिक जीवन की केन्द्र-स्थल है। स्वस्थ परिवार के सचालन मे कतिपय उत्तरदायित्व ऐसे हैं, जिन्हे न तो वह पुरुष या किसी अन्य व्यक्ति को प्रदान करना चाहेगी और न ही ऐसा करने से वे उत्तमतया सम्पादित होगे। सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् शायद ही कोई महिला सन्तान के पालन-पोषण का कार्य किसी अन्य व्यक्ति को देने मे सन्तोष करेगी। एक अविवाहित महिला सार्वजनिक कार्यो मे रुचि के साथ प्रवेश कर सकती है, परन्तु एक विवाहित महिला से मातृत्व तथा कुटुम्ब के उत्तरदायित्व को छीनना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियो के साथ अन्याय करना होगा। मातृत्व तथा पारिवारिक उत्तरदायित्व को सम्पन्न करते हुए महिलाएँ समाज मे अपनी नैसर्गिक क्षमता (natural fitness) के अनुसार ही अपना कार्य-भाग सम्पन्न करती हैं। अत वे अपने निर्धारित क्षेत्र का कार्य करती हैं जो प्लेटो की धारणा मे 'न्याय' है। स्वभावत प्रश्न यह उठता है कि क्या प्लेटो ने पत्नियो के साम्यवाद को अपने न्याय सिद्धान्त से असगत नही बना दिया? बार्कर का मत है कि जहाँ तक स्त्रियो के राजनीतिक जीवन मे भाग लेने का प्रश्न है उपर्युक्त तर्क उनके मताधिकार सम्बन्धी अधिकार के विपरीत नहीं हैं। यह केवल प्लेटो की इस योजना का उत्तर है जिसके अनुसार वह महिलाओं को पूर्णतया राजनीतिक जीवन तथा कार्य-कलापो मे रख देना चाहता है और कौटुम्बिक उत्तर-

[1] Barker, *op cit*, 261

दायित्वों से उन्हे मुक्ति दिला देना चाहता है।[1]

(2) परिवार प्रथा के मनोवैज्ञानिक लाभों को उपेक्षित रखना अनुचित है—परिवार के सम्बन्ध में प्लेटो की योजना अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्यो की उपेक्षा करती है। स्वस्थ समाज के निर्माण में वंशानुक्रम, पारिवारिक वातावरण तथा परम्पराओं और परिवार में पाली-पोसी गई सन्तान के महत्त्वपूर्ण योगदानो की प्लेटो बलात् उपेक्षा करता है। उसका एकमात्र उद्देश्य राज्य की एकता तथा शासक-वर्ग में कुशलता लाना है। परन्तु प्लेटो यह भूल जाता है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति मे परिवार का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ है। वह महिला-समाज को पुरुषों की दासता में जकड़ा हुआ देखकर उनकी मुक्ति का आह्वान करता है, परन्तु यह भूल जाता है कि क्या स्वयं महिलाएँ भी व्यक्तिगत परिवारों में जीवन व्यतीत करते हुए स्वयं कभी ऐसी दासता का अनुभव करती थीं? अथवा क्या यह महिलाओं की आकांक्षा थी कि वे परिवार के बन्धन से मुक्त होकर सार्वजनिक राजनीतिक जीवन मे प्रविष्ट होने में सुख का अनुभव करेंगी? यदि महिलाओं में विवेक तथा उत्साह के तत्त्व पुरुषों की भाँति होते हैं तो उनका लाभ परिवार प्रथा के अन्तर्गत ही प्राप्त हो सकता है। यह मानना सही नहीं है कि स्त्री तथा पुरुष का सयोग केवल काम-वासना की तृप्ति के लिए अथवा सन्तानोत्पादन के लिए होता है, अतः इसी हेतु उनका समागम नियमित तथा नियन्त्रित ढग से होना चाहिए। वास्तविकता यह है कि स्त्री तथा पुरुष का सयोग आजीवन साथियों के रूप में होता है। यह एक स्थायी तथा आध्यात्मिक सम्मिलन है, जिसका उद्देश्य पारस्परिक कल्याण तथा उत्तम जीवन की प्राप्ति होता है। प्लेटो इस सुमान्य तथ्य की उपेक्षा करता है कि 'परिवार नागरिक जीवन की प्राथमिक तथा सर्वोत्तम पाठशाला है।'

(3) प्लेटो की परिवार के साम्यवाद की योजना अव्यावहारिक है—व्यावहारिक दृष्टि से भी प्लेटो की योजना त्रुटिपूर्ण लगती है। समाज को तीन वर्गों में विभाजित करने की कसौटी विभिन्न व्यक्तियों में विवेक, उत्साह तथा वासना तत्त्वों की प्रमुखता के अस्तित्व पर आधारित है। समाज मे विभिन्न व्यक्तियों के अन्दर इन तत्त्वो के अस्तित्व की खोज करके उन्हे विविध वर्गों में किस प्रकार विभक्त किया जायेगा, इसका समाधान वह नहीं देता। यही समस्या महिलाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी उपस्थित होगी। इससे भी अधिक जटिल कार्य प्रजनन हेतु संरक्षक वर्गों में से उचित पुरुष तथा स्त्रियों के जोड़ों का चयन करने के सम्बन्ध में होगा। प्लेटो यह मान लेता है कि राज्य के नियन्त्रण में पुरुषो तथा महिलाओं के बीच यौन-सम्बन्धों को नियमित करने से उत्कृष्ट सन्तानें उत्पन्न होंगी। क्या यह मान लेना सही है कि सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू का जन्म ऐसी ही व्यवस्था द्वारा हुआ था। राज्य के नियन्त्रण में पुरुष तथा स्त्रियों के यौन सम्बन्धों को नियमित किया जाना मानवीय नैतिकता से सगति नहीं रखता। यह तो मनुष्यों को पशुता की स्थिति प्रदान करना ही जायेगा। जहाँ तक बच्चों के पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा का प्रश्न है, राजकीय शिशु-गृहों में माता-पिता के अभाव में पाले-पोसे बच्चे अनाथालयों में पाले-

[1] *Ibid.*, p 262

पोसे बच्चो की भाँति होगे । जो परिचारिकायें उन बच्चो की देख-भाल करेंगी उनमे बच्चो के प्रति वह स्नेह तथा वात्सल्य नही हो सकता, जो कि माता पिता म होता है । माता अपने बच्चे की देख-रेख आदि मे जो त्याग करती है, शायद प्लेटो उसे भूल जाता है ।

(4) प्लेटो की योजना जीवशास्त्रीय तथ्यो की उपेक्षा करती है—प्लेटो के पत्नियो के साम्यवाद की भर्त्सना करते हुए अरस्तू का यह निष्कर्ष सही है कि इसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था मे अत्यन्त जटिलता तथा असमरूपता उत्पन्न हो जायेगी। सरक्षक वर्ग की सन्तान जो सबकी सन्तान मानी गयी है, किसी की सन्तान नहीं रहेगी । मानवो के सम्बन्ध म पशुओ के दृष्टान्त देकर उत्तम सन्तानोत्पत्ति के नियम लागू करना बडी सही बात है । प्लेटो के मत से माता-पिता को अपने बच्चे पहचानने का अवसर नहीं होगा अत सन्तान-प्रेम की वैयक्तिक भावना उनमे नही आयेगी । इससे सामाजिक स्नेह व एकता बढेगी । यह तर्क भी जीवशास्त्रीय नियमो के अन्तर्गत सही नही बैठता । बहुधा सन्तान म माता या पिता के शारीरिक लक्षण सक्रमित होते हैं । उनकी पहचान करना कठिन नही है । अत जब सन्तान मे कोई सरक्षक अपने सदृश लक्षण देखेंगे तो उस सन्तान के प्रति उनके हृदय मे स्वत्व की भावना बढने लगेगी । यह बात प्लेटो की समूची धारणा को निर्मूल कर देगी ।

(5) योजना का साध्य सही होते हुए भी साधन उचित नहीं है—जहाँ तक उद्देश्य का प्रश्न है, अरस्तू ने प्लेटो के विरुद्ध जो तर्क दिये हैं वे काफी बलशाली हैं । वह कहता है कि आध्यात्मिक रोग का उपचार आध्यात्मिक औषधि से होना चाहिए । शिक्षा के द्वारा सरक्षक वर्ग मे श्रेष्ठ गुणो का सचार किया जा सकता है, न कि उन्हे भौतिक सम्पत्ति तथा परिवार से निवृत्त करके । परिस्थितियाँ बुराई का कारण या सक्रिय शक्तियाँ नही हैं । मत अरस्तू सम्पत्ति तथा परिवार प्रथा के द्वारा शासक वर्ग मे भ्रष्टता आने का कोई कारण नही देखता । उसके मत से इनके अभाव मे शासक वर्ग का असन्तोष बढेगा, जो अधिक हानिकारक होगा । प्लेटो स्त्रियो को दासता की स्थिति से मुक्ति प्रदान करके उन्हे राज्य के सार्वजनिक जीवन मे भाग लेने की स्वतन्त्रता देना चाहता है दूसरी ओर वह समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी नैसर्गिक योग्यता के अनुसार कार्य देना ही न्याय मानता है । प्रश्न यह उठता है कि क्या गृह का सचालन, बच्चों का पालन-पोषण आदि स्त्रियो की नैसर्गिक योग्यता नही है ? सार्वजनिक जीवन मे स्त्रियो का प्रवश गृह-व्यवस्था को हानि पहुँचायेगा । स्त्रियो को दासता से मुक्ति दिलाने का उपाय केवल साम्यवाद नही है । यदि उन पर किसी प्रकार का बन्धन है तो उसके अन्य उपचार हो सकते हैं । प्लेटो राज्य की एकता पर अत्यधिक जोर देता है । इस दृष्टि से वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को भ्रातृत्व की धारणा मे परिवर्तित करने के उद्देश्य से सरक्षक वर्ग के लिए सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की योजना रखता है। परन्तु राज्य की एकता साम्यवाद द्वारा नही आ सकती । अरस्तू का मत है कि राज्य का स्वरूप बहुवादी है (The very nature of the state is the plurality of dissimilars) । वास्तविक एकता अनेकताओ मे एकता लाना है न कि समानो मे एकता लाना ।

(6) यह योजना भी पूर्ण समाज पर लागू नहीं होती—सम्पत्ति के साम्यवाद की भाँति परिवार के साम्यवाद की धारणा भी प्लेटो केवल सरक्षक वर्ग के लिए स्वीकार करता है। उत्पादक वर्ग व्यक्तिगत परिवार रख सकते हैं, अत यह भी राज्य की एकता के उद्देश्य के निमित्त अधूरी व्यवस्था है।

प्लेटो का शिक्षा-सिद्धान्त

अपनी धारणा के न्याय सिद्धान्त तथा आदर्श राज्य की अभिव्यक्ति के विध्यात्मक साधन के रूप मे प्लेटो ने अपने ग्रथ रिपब्लिक के अन्तर्गत शिक्षा की एक विशद योजना प्रस्तुत की है। प्लेटो ने कहा है कि एक महान् चीज शिक्षा तथा पालन-पोषण है 'यदि नागरिक उत्तम ढग से शिक्षित होगे तो वे स्वय अन्य दिशाओ का मार्ग ढूँढ लेंगे।'[1] साम्यवाद की योजना बुराइयो को रोकने की निषेधात्मक विधि है। परन्तु शिक्षा द्वारा व्यक्ति की आत्मा से बुराइयो का निराकरण विध्यात्मक साधन सिद्ध होगा। शिक्षा के सम्बन्ध मे प्लेटो ने अपने ग्रथ मे इतना अधिक विवेचन किया है कि रूसो 'रिपब्लिक को राजनीति का ग्रथ मानने की अपेक्षा शिक्षा पर लिखा गया समस्त युगो का सर्वोत्तम ग्रथ'[2] कहता है।

प्लेटो सुकरात के इस कथन का समर्थक है कि 'सद्गुण ही ज्ञान है।' यदि सद्गुण ज्ञान है, तो ज्ञान की भाँति सद्गुण भी शिक्षा द्वारा अर्जित किया जा सकता है। न्याय सद्गुण का ही एक अग है। प्लेटो के मत से न्याय की मान्यता यह है कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपना निर्दिष्ट कार्य करे। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य मे कुशल बनाने के लिए उसे शिक्षित किया जाना आवश्यक है। बार्कर के मत से 'न केवल प्लेटो की ही धारणा मे, *अपितु सामान्यतया सभी यूनानियो की धारणा* मे शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया मानी जाती थी जिसके द्वारा समाज की इकाइयाँ सामाजिक चेतना की ओर प्रवृत्त होती है और सामाजिक माँगो को पूर्ण करना सीखती है।'[3] प्लेटो के मत से शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य है। उसके द्वारा प्रस्तुत शासन व्यवस्था दार्शनिक राजा के शासन की है। अत दार्शनिक राजा के शासन को सुयोजित बनाने के लिए शिक्षा परमावश्यक है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति को सत् का ज्ञान हो सकता है। वही उसकी आत्मा को श्रेष्ठ बना सकती है। साथ ही शिक्षा द्वारा व्यक्ति समाज का एक उपयोगी अग बनने की क्षमता प्राप्त कर सकता है। नैटलशिप के अनुसार, रिपब्लिक मे शिक्षा का उद्देश्य 'मानव आत्मा के नेत्रो को प्रकाश की दिशा मे मोडना है।'[4] शिक्षा का उद्देश्य मानव मस्तिष्क मे *कुछ तथ्यो को सगृहीत कर देना मात्र नही है, बल्कि मानव आत्मा मे जो उत्तम बातें*

[1] 'The one great thing' is education and nurture if the citizens are well educated they will easily see their way through other matters' *The Republic*

[2] 'The *Republic* is not so much a treatise on politics, it is the finest treatise on education that ever was written'—Rousseau

[3] Barker, *op cit*, 210

[4] 'Its object is there (Book VII of the *Republic*) said to be to turn the eye, which the soul already possesses, to the light' R L Nettleship, *Lectures on the Republic of Plato*, 1955, 78

अन्तर्निहित हैं, उन्हे बाहर प्रकाश मे लाना है। शिक्षा का उद्देश्य आत्मा के सम्मुख ऐसे वातावरण की सृष्टि करना है जिसमें वह अपने पूर्ण विकास के साधन प्राप्त कर सके। शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य मानव आत्मा को सत् का ज्ञान (the idea of the Good) कराना है।

शिक्षा का उद्देश्य आत्मा की उन्नति के साथ-साथ मानवीय सद्गुण (human virtue) के तीनो तत्त्वो बुद्धि (wisdom), उत्साह (courage) तथा आत्म-सयम (self-control) का विकास भी है। मैंक्सी के अनुसार, प्लेटो की शिक्षा योजना कई दृष्टियो से आधुनिक है। इसका उद्देश्य मनुष्य का शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास करके मानव आत्मा का विकास करना है। शिक्षा धार्मिक होगी तो वह मनुष्य के आत्मिक विकास मे सहायक सिद्ध होगी। इससे वह आत्म-सयम के तत्त्व का विकास करेगी। शारीरिक व्यायाम तथा सैनिक शिक्षा द्वारा मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य का विकास होगा। वह उत्साह तत्त्व की अभिवृद्धि करेगा। दर्शन की शिक्षा जोकि विज्ञान की अधिदेवी (queen of sciences) है, मनुष्य के ज्ञान तथा बुद्धि का विकास करके उसके मस्तिष्क को स्वस्थ बनायेगी। इससे बुद्धि या विवेक तत्त्व की अभिवृद्धि होगी।

प्लेटो के शिक्षा-सिद्धान्त की विशेषताएँ

(1) प्लेटो की शिक्षा-योजना का आधार उसका न्याय-सिद्धान्त है जिसकी अभिव्यक्ति शिक्षा के द्वारा हो सकती है। वह मनुष्य मे सद्गुणो का विकास करती है, जिसके द्वारा वह अपना पूर्ण वैयक्तिक विकास करते हुए समाज का उत्तम सदस्य बनकर उसकी समुचित सेवा करने म समर्थ हो सकता है।

(2) शिक्षा का आधार दार्शनिक भी है। मानव आत्मा समस्त ज्ञान का भण्डार है। शिक्षा उस ज्ञान भण्डार को प्रकाश मे लाने का साधन है। शिक्षक शिक्षार्थी हेतु उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करता है, जिसके द्वारा शिक्षार्थी की आत्मा मे अन्तर्निहित ज्ञान प्रस्फुटित होकर बाहर प्रकट होता है।

(3) शिक्षा मनुष्य के लिए जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। मनुष्य जीवन की विभिन्न अवस्थाओ मे उसकी आत्मा के तीन तत्त्वो का क्रमश विकास होता है, यथा बचपन मे तृष्णा, युवावस्था मे उत्साह तथा वृद्धावस्था म विवेक। इनके समुचित विकास द्वारा ही मनुष्य की आत्मा पूर्णत्व को प्राप्त होती है। अत शिक्षा मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन मे चलती रहनी चाहिए, ताकि जीवन मे समय समय पर उत्पन्न होने वाले तत्त्वो को विकास का अवसर मिले और उनके द्वारा मनुष्य समाज का उपयोगी सदस्य सिद्ध हो सके।

(4) शिक्षा का उद्देश मानव को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मानसिक एव शारीरिक सभी दृष्टियो से योग्य बनाना है। उसके द्वारा मनुष्य को सामाजिक सगठन तथा समाज के प्रति अपने दायित्व का ज्ञान होना चाहिए। अत शिक्षा सामाजिक न्याय की उपलब्धि का भी साधन है।

(5) राज्य स्वय एक शिक्षा-सस्था के रूप में है। अत राज्य के आदर्श तथा

कार्य-विधियाँ शिक्षा के साधन सिद्ध हो। शिक्षा राज्य का प्रमुख कार्य है। अत शिक्षा पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए।

(6) प्लेटो की शिक्षा योजना उसके साम्यवाद की भाँति केवल संरक्षक वर्ग के लिए है। उसका उद्देश्य सरक्षक वर्ग को शिक्षा-योजना मे लाभान्वित करना है ताकि वे *राज्य-व्यवस्था* के समुचित सचालन का उत्तरदायित्व निभा सकें।

(7) शिक्षा सरक्षक वर्ग के पुरुष तथा महिला दोनो वर्गों के लिए एक-सी होनी चाहिए।

(8) प्लेटो की शिक्षा योजना में प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का समावेश नही है। *उस युग मे सामान्यतया यूनानी लोग शिक्षा के इन पक्षों को विशेष* महत्त्व नही देते थे। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य राजनेताओ का सृजन करना तथा उन्हे सार्वजनिक जीवन के विविध क्षेत्रो मे कुशल बनाना था।

प्लेटो की शिक्षा-योजना

योजना की पृष्ठभूमि

शिक्षा के सम्बन्ध मे प्लेटो की विचारधारा तत्कालीन यूनान के नगर-राज्यो, *मुख्यतया एथेन्स तथा स्पार्टा*, मे प्रचलित शिक्षा-पद्धति से प्रभावित हुई है। *बार्कर* ने कहा है कि 'जिस प्रकार साम्यवाद की योजना को चित्रित करने मे प्लेटो एथेन्स की अपेक्षा स्पार्टा मे प्रचलित व्यवस्था से प्रभावित हुआ है, उसी प्रकार शिक्षा की योजना मे भी उसने स्पार्टा की पद्धति को एथेन्स की पद्धति की अपेक्षा अधिक अपनाया है।' *एथेन्स मे शिक्षा का स्वरूप वैयक्तिक था।* शिक्षा को राज्य का दायित्व *नहीं माना* जाता था। विद्यालयो को राज्य की ओर से सहायता या प्रोत्साहन नही मिलता था। शारीरिक व्यायाम, सगीत तथा साहित्य शिक्षा के मुख्य विषय थे। शिक्षा बहुत व्ययशील थी और केवल धनी वर्ग ही इसे प्राप्त कर सकते थे। उच्च शिक्षा सैनिक *प्रकृति की थी। इसी स्तर पर नागरिक कुछ सामाजिक शिक्षा भी प्राप्त कर* सकता था।

इसके विपरीत स्पार्टा मे शिक्षा का दायित्व राज्य पर था। बचपन से ही बच्चो की शिक्षा-दीक्षा का भार राज्य ले लेता था। व्यक्तिगत परिवार का शिक्षा पर कोई *नियन्त्रण न था। शिक्षा का उद्देश्य वीर नागरिको का निर्माण करना था,* जो युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहे। बार्कर का कथन है, 'यह समस्त विशेषताएँ प्लेटो के रिपब्लिक मे वर्णित हैं जिनमे अधिकाश स्पष्टत स्पार्टा के नमूने की हैं और उनका प्रेरणा-स्रोत स्पार्टा है।' परन्तु एथेन्स की शिक्षा-पद्धति का प्रभाव भी प्लेटो पर कम नही है। वहाँ शिक्षा का लक्ष्य *मानव मे उत्तम गुणो का विकास माना जाता* था। यद्यपि राज्य द्वारा प्रशिक्षण नही दिया जाता था, किन्तु व्यक्तिगत प्रयास द्वारा शिक्षार्थी के मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक एव नैतिक गुणो के विकास का ध्यान रखा जाता था। प्लेटो ने अपनी शिक्षा व्यवस्था मे इन दोनो राज्यो की पद्धतियों का सम्मिश्रण किया है।

शिक्षा का स्वरूप—एथेन्स तथा स्पार्टा दोनो राज्यो मे प्रचलित शिक्षा व्यवस्था के तत्त्वो को लेकर प्लेटो ने जिस शिक्षा व्यवस्था की योजना निर्मित की है, उसके वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनो रूप हैं और ये दोनो रूप प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त से सगति रखते हैं। प्लेटो मानव आत्मा के तत्त्वो (विवेक, उत्साह, आत्म-सयम तथा न्याय) का पूर्ण विकास करके उसे सत् का ज्ञान कराना व्यक्तिगत जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। इस हेतु एथेन्स की शिक्षा-पद्धति ने उसे प्रभावित किया था। साथ ही प्लेटो व्यक्ति को राज्य का उत्तम नागरिक बनाना भी आवश्यक मानता है। राज्य का नागरिक होकर तथा राज्य मे अपने निर्दिष्ट कार्य-भाग को सम्पन्न करके ही वह पूर्णत्व को प्राप्त हो सकता है। व्यक्ति मे ऐसी क्षमता लाने के लिए शिक्षा का स्वरूप सामाजिक होना आवश्यक है। अत राज्य को स्वय शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। शिक्षा का तीसरा स्वरूप उसका अभिजात प्रकृति का होना भी है। प्लेटो ने साम्यवाद की भाँति शिक्षा की योजना भी केवल उच्च वर्ग के लिए निर्धारित की है। उत्पादक वर्ग को इसमे शामिल नही किया है।

शिक्षा के स्तर—यद्यपि प्लेटो ने अपनी विशद शिक्षा-योजना को केवल सरक्षक वर्ग (शासक वर्ग) के लिए ही निर्धारित किया है और समाज के एक विशाल भाग (उत्पादक वर्ग) को इसका लाभ पहुँचाने की चिन्ता नही की है, तथापि प्लेटो की शिक्षा-योजना अत्यन्त व्यापक है इसका आरम्भ शैशव काल से ही हो जाता है और वह जीवन-पर्यन्त चलती रहती है। प्लेटो ने शिक्षा को कई स्तरो मे बाँटकर प्रत्येक स्तर के लिए व्यापक पाठ्य-क्रम का निर्धारण किया है।

(1) **शिशु शिक्षा**—मैक्सी का कथन है कि 'प्लेटो की शिक्षा-योजना के विवरण अनेक दृष्टियो से आधुनिक हैं उसने सरक्षको की शिक्षा मे अत्यन्त प्रारम्भ से ही अनेक नियन्त्रणो की व्यवस्था की है ताकि शिक्षार्थी ऐसे प्रभावो मे आने से बचे रहे जो उनकी शिक्षा से सम्बद्ध उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए अवाछित सिद्ध होते हैं।' उदाहरणार्थ, बच्चो की परिचारिकाओ (nurses) तथा माता-पिता को उन्हे ऐसी कहानियाँ सुनाने से रोका गया है जोकि बच्चो को अवाछित आदर्श सिखाएँ तथा उनके मनो मे अनावश्यक जटिलता उत्पन्न करें।

(2) **प्रारम्भिक शिक्षा (Elementary Education)**—प्रारम्भिक शिक्षा का प्रथम चरण छ वर्ष तक की अवस्था के बच्चो के लिए निर्धारित है। इसमे बच्चो को ऐसी बातें सिखायी जानी चाहिए जिनके द्वारा बच्चा सिद्धान्त रूप मे सत्य का ज्ञान करे, न कि तथ्यगत सत्य का। इस अवस्था मे बच्चे को साधारण धार्मिक एव नैतिक सत्यो का ज्ञान कराना चाहिए। उसमे अच्छी आदतो तथा सुरुचि (good taste) की भावना अप्रकट रूप से उत्पन्न की जानी चाहिए।

वास्तविक प्रारम्भिक शिक्षा की अवस्था 7 वर्ष की उम्र से 20 वर्ष की उम्र तक चलती है। इस अवस्था मे पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार की शिक्षा निर्धारित की गयी है। यूनानी शिक्षा का एक मुख्य सिद्धान्त यह था कि 'स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मन का निवास' होता है। शिक्षा के इस उद्देश्य से प्लेटो बहुत प्रभावित था। अत. इस अवस्था मे शारीरिक शिक्षा के लिए व्यायाम

(gymnastics) को, तथा मानसिक एव आत्मिक शिक्षा के लिए सगीत (music) की शिक्षा निर्धारित की गयी है। साहित्य के विषयो के अन्तर्गत कविता तथा नाटको की शिक्षा मे प्लेटो सुधार लाना चाहता है। नाटक बच्चो मे अनुकरण की प्रवृत्ति जागृत करता है। अत यदि कभी बुरे पात्र का अनुकरण करना सीखे, तो वह अवांछनीय है और वह आत्मा को भ्रष्ट कर सकता है। इसी प्रकार कविता के सम्बन्ध मे उसकी धारणा यह थी कि वह व्यक्ति की भावनाओ को प्रभावित करती है न कि विवेक को। अत वह भी उचित नही है। कहानियो को नाटकीय ढग से प्रस्तुत करना भी बच्चो की शिक्षा मे उचित नही। अत प्लेटो इन सब विषयो की शिक्षा शैली वर्णनात्मक (narrative) बनाना चाहता था। बार्कर का कथन है कि 'प्लेटो के रिपब्लिक मे नाटक की शिक्षा का अन्त कर दिया गया है, परन्तु यह माना जा सकता है कि प्लेटो की दृष्टि मे आदर्श पात्रो के नाटकीय अनुकरण सराहनीय थे। यह इस सिद्धान्त पर कि उत्तम पात्रो का अभिनय किया जाये, परन्तु बुरे पात्रो का केवल वर्णन-मात्र किया जाना चाहिए।' प्लेटो की धारणा थी कि सगीत के लय युवकों को प्रिय लगते हैं, अत वे उनकी आत्मा को सत्य तथा न्याय के प्रति प्रेम करने की प्रेरणा देंगे। भले ही इनके द्वारा वैज्ञानिक ज्ञान का अर्जन न हो, परन्तु वे व्यक्ति के विवेक तथा उत्साह तत्त्वों को प्रशिक्षित करने के उत्तम साधन सिद्ध होते हैं। व्यायाम की शिक्षा का उद्देश्य बच्चो को स्वस्थ बनाना था। व्यायाम की शिक्षा का महत्त्व प्लेटो ने स्पार्टा से ग्रहण किया था। इसका उद्देश्य सामाजिक भी था। स्वस्थ बच्चो का निर्माण राज्य को वीर तथा उत्साही सरक्षक वर्ग प्रदान करेगा।

प्लेटो मे प्रारम्भिक शिक्षा के इस दूसरे चरण मे बच्चो की शिक्षा के अन्तर्गत कुछ प्राकृतिक विज्ञानो का भी समावेश किया है। इन विषयों की शिक्षा का उद्देश्य प्राकृतिक विज्ञानो के तथ्यो का ज्ञान करने के साथ-साथ बच्चो मे वैज्ञानिक चिन्तन की टेव विकसित करना तथा सत्य को समझने की क्षमता प्रदान करना भी था। गणित की शिक्षा इसीलिए आवश्यक है कि उसके द्वारा बच्चो मे स्पष्ट तथा शुद्ध चिन्तन करने की शक्ति बढती है। शिक्षा की इस सारी योजना तथा पाठ्य-क्रम के निर्धारण का उद्देश्य सरक्षक वर्ग के बच्चो को ऐसी शिक्षा देना था, जिसके द्वारा वे न्याय-सिद्धान्त का सही प्रतिपादन कर सकें और आदर्श राज्य की व्यवस्था मे सफल शासक सिद्ध हो सकें।

18 वर्ष की आयु से 20 वर्ष तक की आयु की अवधि मे किशोरो के लिए अनिवार्य व्यायाम तथा सैनिक शिक्षा की व्यवस्था बतायी गयी है। इस स्तर की शिक्षा प्राप्त कर लेने पर एक प्रतियोगिता परीक्षा की योजना है। इसका उद्देश्य उच्च शिक्षा हेतु इन शिक्षार्थियो मे से योग्यो का चयन करना था। जो इस प्रतियोगिता में असफल हो जाते उन्हे इतनी ही शिक्षा के आधार पर राज्य के निम्नतर शासन सम्बन्धी तथा सैनिक पदो पर नियुक्त किया जाता। जो सफल होंगे उन्हे उच्चतर शिक्षा दी जायेगी।

(3) उच्चतर शिक्षा (Higher Education)—प्रारम्भिक शिक्षा की भाँति उच्चतर शिक्षा भी पुरुष तथा महिला दोनो वर्गों के लिए थी। इसे भी दो स्तरो मे

बाँटा गया है। पहली अवधि 20 से 30 वर्ष तथा दूसरी 30 से 35 तक की आयु वालो के लिए थी।

प्रथम स्तर मे शिक्षा का पाठ्य-क्रम शारीरिक तथा मानसिक दोनो के विकास की दृष्टि से निर्धारित किया गया है। इस अवस्था मे क्रमिक वैज्ञानिक शिक्षा होगी। छात्रो ने जो ज्ञान इससे पूर्व प्राप्त किया है उसके मौलिक तत्त्वो तथा तथ्यो को उन्हे समझना होगा। पाठ्य-क्रम मे गणित, प्राकृतिक विज्ञान, रेखागणित, नक्षत्र विद्या, तर्क शास्त्र, द्वन्द्ववाद आदि का समावेश है। साथ ही सैनिक शिक्षा तथा प्रशासकीय प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है।

30 वर्ष की आयु तक इस पाठ्य-क्रम को पूर्ण कर लेने के पश्चात् पुन एक प्रतियोगिता परीक्षा निर्धारित की गयी है। जो इस परीक्षा मे कम कुशल सिद्ध होंगे उन्हें राज्य के प्रशासकीय या सैनिक पदो पर नियुक्त किया जायेगा। जो अधिक निपुण पाये जायेंगे, उन्हे पुन 35 वर्ष की आयु तक प्रशिक्षित किया जायेगा, इस अवधि म शिक्षा का पाठ्य क्रम मुख्य रूप से बौद्धिक होगा। गणित तथा द्वन्द्ववाद (dialectics) पाठ्य-क्रम के मुख्य अग होंगे।

इस प्रशिक्षण को प्राप्त कर लेने के उपरान्त सरक्षको को राज्य के उच्चतम पदों पर नियुक्त किया जायेगा। 50 वर्ष की अवस्था तक वे सार्वजनिक पदो पर प्रशासको के रूप मे कार्य करेंगे, यदि इस उम्र पर वे योग्य तथा कुशल पाये गये तो वे शासकीय पदो पर आगे भी कार्य करेंगे, अन्यथा उन्हे पुन अन्तिम शिक्षा प्राप्त करने के कार्य मे लगा दिया जायेगा। इस अवधि मे वे चिन्तनात्मक अध्ययन म लग जायेंगे और उच्चतर दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करते रहेंगे।

मूल्याकन

शिक्षा का उद्देश्य व्यापक है—प्लेटो द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-योजना उसके न्याय सिद्धान्त पर आधारित एक व्यापक व्यवस्था है। इसका उद्देश्य मानव को अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'सत् का ज्ञान' करने की क्षमता प्रदान करना तथा मानव को समाज का एक वास्तविक सदस्य बनाना है। प्लेटो ने अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए, जैसा सैबाइन ने कहा है, 'साम्यवाद की अपेक्षा शिक्षा पर मुख्यतया विश्वास किया है, क्योकि शिक्षा वह विध्यात्मक साधन है जिसके द्वारा शासक एक समरूप राज्य के निर्माण हेतु मानव प्रकृति को उचित दिशा मे ढाल सकता है।' ईबन्स्टीन के अनुसार प्लेटो की शिक्षा-योजना यह प्रदर्शित करती है कि 'उत्तमतर शासन तथा सार्वजनिक सेवा का मार्ग समुचित रूप से नियोजित शिक्षा पद्धति द्वारा प्राप्त हो सकता है।' प्लेटो सबसे पहला व्यक्ति था जिसने यह अनुभव किया कि शिक्षा किशोरो एव प्रौढो हेतु निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। शिक्षा का उद्देश्य बचपन तथा किशोरावस्था म कुछ तथ्यो तथा विचारो को हृदयगम कर लेना मात्र नही है। ज्ञान प्राप्ति का व्यवसाय मृत्यु-पर्यन्त चलता रहता है।

शासकों का समुचित प्रशिक्षण—प्लेटो का यह विश्वास है कि सफल शासक के लिए आवश्यक है कि उसे समुचित प्रशिक्षण प्राप्त हो। 'जब तक दार्शनिक लोग

राजा नहीं होंगे, अथवा इस ससार के राजाओ तथा शासको मे दर्शन की भावना तथा शक्ति नही होगी, तब तक ससार के राज्य अपनी बुराइयो से चैन नही प्राप्त कर सकेंगे।'[1] प्लेटो ने जिस आदर्श राज्य की कल्पना की थी उसके शासन हेतु वह सच्चे समाज-सेवी शासको की कल्पना करता है। अत जैसा बार्कर ने कहा है प्लेटो की विचारधारा में 'राज्य स्वय एक शिक्षा व्यवस्था है और उसकी सरकार उसकी प्रवृत्ति का परिणाम है।' प्लेटो द्वारा चित्रित राज्य-व्यवस्था का निर्देशन ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है और चूंकि दर्शन सच्चा ज्ञान है, अत राज्य का निर्देशन दार्शनिको के द्वारा किया जाना चाहिए। शिक्षा शासको को नि स्वार्थ भाव से शासन सचालन की प्रेरणा देगी। चूंकि ऐसी योजना मे शासक वर्ग केवल विद्वान् तथा दार्शनिक होंगे, अत उनमे कर्त्तव्य परायणता, समाज-सेवा तथा न्याय की भावना की वृद्धि शिक्षा द्वारा करायी जायेगी। सँबाइन के अनुसार, 'इसी उद्देश्य से प्लेटो के आदर्श राज्य की रूपरेखा की चरम इति उसकी शिक्षा-योजना मे होती है जिसके अन्तर्गत शासको को ऐसा ज्ञान कराया जायेगा जिसमे नयी शोधें की जाएँगी और उनके समक्ष नया ज्ञान प्रस्तुत किया जायेगा।'

प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का अभाव—प्लेटो की शिक्षा-योजना में आधुनिक अर्थ की व्यावसायिक एव प्राविधिक शिक्षा का समावेश नहीं है जिसके अनुसार विविध प्रकार के व्यवसायों मे लगे व्यक्तियो को प्राविधिक एव उच्चतर ज्ञान कराया जाता है, यथा उद्योग, कृषि आदि। सम्भवत प्लेटो ऐसी योजना को महत्त्वहीन समझता था। उसकी शिक्षा-योजना का लक्ष्य नेतृत्व का विकास करना था। अत शिक्षा केवल शासक वर्गों के लिए ही निर्धारित की गयी थी और उसमें भी केवल ऐसे विषयो का समावेश किया गया था जो शासक वर्गों के शारीरिक, बौद्धिक एव आध्यात्मिक तत्त्वो का विकास करें। साथ ही उन्हें शासन कला का *ज्ञान भी करा सकें। कलात्मक विषयों की* शिक्षा को भी प्लेटो महत्त्वहीन समझता था, क्योंकि वे केवल व्यक्ति की भावनाओ को प्रभावित करते हैं न कि उसके विवेक को।

आत्मा का विकास—शिक्षा व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक स्वास्थ्य प्रदान करने का साधन है। उसका उद्देश्य मानव आत्मा मे अन्तर्निहित सुप्त शक्तियों को जागृत करना था। 'शिक्षा कलाओ के विकास से प्रारम्भ होती है, और विज्ञान के रूप मे विकसित होती हुई अन्त मे दर्शन-शास्त्र के ज्ञान मे समाप्त होती है।' यही क्रम मानव जीवन के बौद्धिक विकास की प्रक्रिया का है।

शिक्षा मे लोकतन्त्री तत्त्वो का अभाव—प्लेटो की शिक्षा योजना के विरुद्ध यह आरोप लगाया जा सकता है कि उसमे लोकतन्त्री तत्त्वों का अभाव है क्योंकि इसमे *समाज के विशाल वर्ग (उत्पादको) को उपेक्षित रखा गया है।* जेलर (Zeller) के मत से प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि एक कृषक का बालक भी

[1] 'Until philosophers are kings, or the kings and princes of this world have the spirit and power of philosophy, cities will never have rest from their evils'—*The Republic*

अद्‌भुत प्रतिभा से युक्त होने पर सरक्षको की श्रेणी मे पदोन्नत हो सकता है। परन्तु यह एक असगति है कि शिक्षा-दीक्षा के बिना वह किस प्रकार ऐसी उन्नति कर सकेगा ? इस सम्बन्ध मे बार्कर का विचार यह है कि प्लेटो केवल एक आदर्शवादी ही न था, अपितु एक व्यावहारिक विचारक भी था। प्लेटो की शिक्षा योजना के अन्तर्गत यह सम्भव नही था कि उत्पादक वर्ग को भी उसका पूरा लाभ पहुँचाया जा सकेगा। प्लेटो का मुख्य उद्‌देश्य राज्य के शासको के चयन तथा उनके समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था बताना था।

परन्तु जब उत्तम जीवन की प्राप्ति तथा सत् का ज्ञान शिक्षा द्वारा हो सकता है तो केवल थोड़े से सरक्षक वर्ग के लिए ही शिक्षा की योजना निर्धारित करना सम्पूर्ण समाज के साथ न्याय करना नहीं है। समाज के निम्न वर्ग के सुयोग्य व्यक्तियो को उनकी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार राज्य के उच्चतर दायित्वो को सम्पन्न करने के अवसर से वचित करना अलोकतन्त्री विचार है। प्लेटो के आदर्श राज्य का शासन निश्चय ही योग्यो, शिक्षितो तथा दार्शनिको द्वारा होना था।

आलोचना

उत्पादक वर्ग की उपेक्षा—प्लेटो की शिक्षा-योजना मे अनेक कमियाँ तथा दोष भी हैं। सबसे अधिक आलोचना का विषय यह है कि शिक्षा के क्षेत्र मे भी प्लेटो ने समाज के एक विशाल वर्ग की उपेक्षा की है। सैबाइन के मत से प्लेटो द्वारा चित्रित 'राज्य मे शिक्षा के महत्त्व की दृष्टि से यह एक असाधारण बात लगती है कि उसने शिल्पियो के प्रशिक्षण का कभी भी विवेचन नही किया है और वह इस बात को स्पष्ट तक नही करता कि यदि उन्हे कदाचित् प्रारम्भिक शिक्षा की योजना मे शामिल किया जाना है तो किस प्रकार।' एक ओर तो वह इस वर्ग के प्रतिभाशाली बच्चो को उच्च वर्ग मे पदोन्नत होने की बात करता है, दूसरी ओर किसी ऐसी लोकतान्त्रिक प्रतियोगिता का उल्लेख नही करता जिसके आधार पर उन्हे पदोन्नत किया जा सके। जेलर का निष्कर्ष है कि प्लेटो श्रम-जीवियो के प्रति कुलीनतन्त्री घृणा का दोषी (guilty of aristocratic contempt for workers) है। इस दृष्टि से प्लेटो का शिक्षा-सिद्धान्त उसके न्याय सिद्धान्त को सफल बना सकने मे असमर्थ है। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त कहता है कि राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्धारित स्थान पर दक्षतापूर्वक कार्य करे। परन्तु तृतीय वर्ग के व्यक्तियो मे अपने निर्दिष्ट कार्य को कुशलता के साथ करने की क्षमता प्रदान करने की कोई योजना प्लेटो ने अपनी शिक्षा व्यवस्था मे नहीं दी है। भले ही वह उन्हें शासको की श्रेणी *प्रदान करना उचित न समझे, परन्तु उनके लिए भी तो किसी न किसी रूप में* प्रारम्भिक, व्यावसायिक तथा सामान्य शिक्षा होनी चाहिए ताकि वे भी अपनी आत्मा मे अन्तर्निहित तत्वो की अभिव्यजना समुचित रूप से करके राज्य का सफल सदस्य बनने की क्षमता प्राप्त कर सकें। यदि उन्हे शिक्षा के क्षेत्र मे भी उपेक्षित रखा जायेगा तो राज्य के प्रति उनकी निष्ठा कैसे रहेगी ? उन्हे इस उपेक्षा का आभास होना असम्भव बात नहीं। तब राज्य की एकता कैसे सम्भव हो सकेगी ? एक ओर

तो प्लेटो आदर्श राज्य के निर्माण मे उनके पूर्ण सहयोग तथा दायित्व की कामना करता है, दूसरी ओर उन्हें पूर्णतया अबोध तथा अज्ञानी पशुओं (like dumb driven cattle) की स्थिति मे रख देता है। यह न तो उसके न्याय-सिद्धान्त से सगति रखता है न आदर्श राज्य की एकता के सिद्धान्त से।

पाठ्य विषयों के निर्धारण मे लोचपूर्णता का अभाव—पाठ्य-क्रम निर्धारण के सम्बन्ध मे भी प्लेटो की योजना पूर्णतया दोष रहित नहीं है। शिक्षा मे केवल विवेक (reason) तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व देना उचित नही है। प्लेटो काव्य, नाटक, कला आदि से घृणा इसलिए करता है कि वे व्यक्ति की भावनाओ को प्रभावित करते हैं न कि विवेक को। परन्तु मानव आत्मा के विकास मे भावनाओ का भी विशिष्ट स्थान होता है। उन्हें कुण्ठित कर देना उचित नहीं है। प्लेटो सामान्य शिक्षा (general education) की भी उपेक्षा करके गणित तथा द्वन्द्ववाद (dialectics) की शिक्षा को महत्त्व देता है। इसका परिणाम यह होगा कि शिक्षा केवल दार्शनिक का सृजन करेगी न कि कार्यशील व्यक्तियो (men of action) का। शासन कला के समुचित सचालन मे विवेक, ज्ञान तथा दर्शन के साथ-साथ क्रियात्मक समाज सेवा भी आवश्यक है। प्लेटो की योजना मे इन उद्देश्यो के मध्य समुचित सामजस्य नही है। बार्कर ने कहा है कि "प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त मे क्रियाशीलता तथा चिन्तन के आदर्शों के मध्य अनिश्चितता है।"[1] कभी तो जीवन का उद्देश्य सत के ज्ञान का अर्जन ज्ञात होता है, कभी मानव-कल्याण और कभी समाज सेवा। इसी प्रकार शिक्षा का तात्पर्य कभी सामाजिक अनुरूपता (social adaptation) की प्रक्रिया है तो कभी पूर्ण आत्म विकास है। प्लेटो चिन्तनात्मक तथा क्रियात्मक (contemplation and action) दोनो के मध्य समन्वय स्थापित किया जाना देखता है। परन्तु यह कहाँ तक व्यावहारिक सिद्ध होगा इसका अनुमान करना कठिन है। यह ऐसा ही है जैसे कि एक सन्यासी को सासारिक जीवन मे उलझाकर उससे सासारिक जीवन को व्यवस्थित करने की कामना करना।

शिक्षा मे राज्य का एकाधिकार होना दोषपूर्ण है—प्लेटो की शिक्षा-योजना मे राज्य स्वय एक शिक्षा व्यवस्था है। शिक्षा दार्शनिको के शासन का सृजन करेगी। इसका यह परिणाम होगा कि शिक्षा मनुष्य की वैयक्तिकता तथा व्यक्तिगत चेतना के विकास के मार्ग मे बाधक सिद्ध होगी। राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था का फल यह होगा कि शिक्षा का स्वरूप राज्य के आदर्शों के तुल्य होगा। अत राज्य सर्वसत्तावादी (authoritarian) हो जायेगा। सत्य बात वही मानी जायेगी जिसे राज्य स्वीकार करेगा। यह शिक्षा के वास्तविक स्वरूप के ऊपर बडा प्रतिबन्धकारी कदम होगा। ऐसी शिक्षा-योजना साम्यवाद की योजना की भाँति सरक्षक वर्ग के जीवन को सैनिक-तन्त्री सन्यासवाद मे परिणत कर देगी। *सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'दार्शनिकों* का शासन सरलता से सन्तो के शासन मे बदल जायेगा। सम्भवत प्लेटो के आदर्श

[1] 'In Plato's educational theory there is a certain wavering between the ideal of action and that of contemplation' Barker, *op cit*, 234

राज्य की समता सबसे उत्तम रूप मे मठो.की व्यवस्था से की जा सकती है।'[1]

शिक्षा की दीर्घ अवधि दक्षता के मार्ग मे बाधक—व्यावहारिक दृष्टि से भी प्लेटो की शिक्षा योजना त्रुटिपूर्ण लगती है। प्लेटो की योजना मे सरक्षको को 35 वर्ष की उम्र तक शिक्षा प्राप्त करनी होगी। उसके पश्चात् केवल 15 वर्ष तक उनसे राज्य की सेवा अपेक्षित है। शिक्षा को जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया मानने मे आपत्ति नही हो सकती। परन्तु शासको को 35 वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करने मे लीन रखने का अर्थ यह होगा कि एक तो शिक्षा अत्यधिक व्ययशील होगी, दूसरे यह शासको के उत्साह तथा उपक्रम को कुण्ठित कर सकती है। 35 वर्ष की आयु के पश्चात् मनुष्य का युवावस्था का उत्साह तो कम हो ही जायेगा, साथ ही उनमे आत्म निर्देशन के कार्य करने की क्षमता भी नहीं रह जायेगी। परिणामस्वरूप शासक वर्ग मे कुशलता भी नही रह पायेगी।

दर्शन का शासन

प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त का एक निष्कर्ष यह है कि आदर्श राज्य मे शासन वही लोग करें जिनकी आत्मा मे विवेक तत्त्व की प्रधानता है। यद्यपि प्लेटो ने अनेक शासन-प्रणालियो का उल्लेख किया है, तथापि वे शासन प्रणालियाँ यथार्थ राज्यो की हैं न कि आदर्श राज्य की। जिस आदर्श राज्य की प्लेटो ने कल्पना की है उसके शासन के शीर्ष पर दार्शनिक राजा (the philosopher king) होगा जो विवेक तत्त्व (reason) का प्रतिनिधित्व करेगा। उत्साह तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति सैनिक एव प्रशासकीय कार्य सम्पन्न करेंगे और तृष्णा तत्त्व से युक्त व्यक्ति राज्य के आर्थिक कार्यों मे रत रहेगे। प्लेटो के विचार से यदि राजनीतिक सत्ता तथा वैज्ञानिक ज्ञान (दर्शन) का एक ही व्यक्ति के हाथ मे सम्मिश्रण नही होगा तो राज्यो की बुराइयो का अन्त नही हो सकता।' इसका यह अर्थ नही कि प्लेटो एक व्यक्ति के शासन को ही अच्छा शासन कहता था। यदि राज्य मे एक व्यक्ति वास्तव मे दार्शनिक राजा की स्थिति ले सकता हो तो ऐसे एकतन्त्री (दार्शनिक राजा के) शासन से प्लेटो को कोई आपत्ति नहीं थी। प्लेटो की धारणा यह थी कि दर्शन का ज्ञान, जो कि ज्ञान की चरम स्थिति है, राज्य के उद्देश्यो का सही निर्देशन कर सकता है और यह विशेष अधिकार राज्य मे केवल थोड़े-से व्यक्तियों को ही प्राप्त हो सकता है।

अज्ञान शासनो को भ्रष्ट करता है—प्लेटो को तत्कालीन यूनान के जिन राज्यो की शासन-व्यवस्था का अनुभव था उनमे से स्पार्टा, सिरावयूज तथा एथेन्स मुख्य थे। स्पार्टा का सैनिक वर्गतन्त्र, सिराक्यूज का अत्याचारी एकतन्त्र तथा एथेन्स का लोकतन्त्र तीनो से प्लेटो असन्तुष्ट था, क्योंकि इनके अन्तर्गत शासकों मे अज्ञान, राजनीतिक स्वार्थ एव व्यक्तिवाद की सर्वोच्चता विद्यमान थी। प्लेटो आदर्श राज्य

[1] 'The rule of philosophers might easily become a rule of the saints Probably the closest analogue that has ever existed to Plato s ideal state is a monastic order' Sabine, *op cit*, 66

की व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसे तत्वो को कोई स्थान नही देता । उसका विश्वास था कि शासन का प्रवाह शिक्षा द्वारा सुनिश्चित हो सकता है न कि शिक्षा का प्रवाह शासन द्वारा । सच्चा ज्ञान दर्शन का ज्ञान है, अत राज्य का नियन्त्रण तथा नियमन दार्शनिको के द्वारा होना चाहिए । प्लेटो को सबसे कटु अनुभव एथेन्स के लोकतन्त्र का था जिसमे अज्ञानता का प्राधान्य था । वह यह अनुभव करता था कि इसकी बुराइयाँ तभी दूर हो सकती हैं जबकि वहाँ दार्शनिको तथा विद्वानो के शासन की स्थापना की जाये । इसी दृष्टि से उसने कहा है कि 'जब तक दार्शनिक लोग राजा नही हो जाते अथवा जब तक इस ससार के राजा तथा शासको मे दर्शनशास्त्र की भावना तथा शक्ति नही होगी, तब तक ससार के राज्य अपनी बुराइयो से मुक्ति नही पा सकेंगे ।' मैक्सी के कथनानुसार, 'प्लेटो राज्य के शासन का दायित्व ऐसे दार्शनिको पर नही रखना चाहता है जो दार्शनिक हैं, बल्कि उन पर रखना चाहता है जिन्हे दार्शनिक होना चाहिए ।'

दार्शनिक के गुण—प्लेटो के विचार से जिस व्यक्ति को दर्शन का ज्ञान हो चुका है वह त्रिकालदर्शी तथा सर्वज्ञ होता है । 'एक सच्चा दार्शनिक विद्वत्ता से प्रेम रखता है न कि किसी मत (opinion) से । वह क्रोध, घृणा, सकीर्णता, द्वेष, स्वार्थपरता आदि से दूर रहता है । उसे मृत्यु का भय नही रहता, वह दयावान, सुहृद, न्यायशील तथा सहनशील होता है । वह सुन्दरता के सब रूपो का उपासक होता है ।' ये समस्त गुण उसकी आत्मा के विकास के सूचक हैं । जीवन के अन्तिम उद्देश्य 'सत् का ज्ञान' उसे हो चुका होता है । वह न्याय तथा आत्म-सयम के गुणो से युक्त होता है और वह शासितो मे भी इन गुणो का सचार करने के लिए प्रयत्नशील रहता है । सक्षेप मे, प्लेटो का सच्चा दार्शनिक समस्त सर्वोच्च मानवीय गुणो से युक्त होता है । यदि ऐसे मानव श्रेष्ठ के ऊपर राज्य के शासन का भार रहे, तो निस्सन्देह उसका शासन जनता के लिए हितकर सिद्ध होगा ।

प्लेटो की कल्पना के ऐसे दार्शनिक राजा का शासन 'बुद्धि का शासन' (the Rule of Intellect) सिद्ध होगा । शासन का यह रूप 'ideocracy' कहलाता है । इसका प्रतिपादन करने मे प्लेटो सुकरात की इस उक्ति का अवलम्बन करता है कि 'ज्ञानवानो को ही शासन करने का अधिकार होना चाहिए' (They only shall rule who know) दार्शनिक राजाओ मे यह क्षमता विद्यमान रहती है । अपने इन गुणो तथा ज्ञान के द्वारा वह इस बात का निर्णय करने की क्षमता रखता है कि समुदाय के हित मे कौन सी बात ठीक है । दार्शनिक राजा एक मौलिक वैज्ञानिक चिन्तक होता है । राजनीतिक समाज के निर्माण मे तृष्णा का तत्त्व समस्त व्यक्तियो को एकता के सूत्र मे बाँधने का साधन है, उत्साह तत्त्व उसे सुरक्षा तथा कुशलता प्रदान करता है और बुद्धि या विवेक तत्त्व उसकी नियामक शक्ति है । यदि तृष्णा तत्त्व अनियन्त्रित रहेगा तो उसका परिणाम यह होगा कि राज्य मे आर्थिक तथा राजनीतिक व्यक्तिवाद का बोलबाला हो जायेगा । अनियन्त्रित उत्साह तत्त्व राज्य मे हिंसात्मक गतिविधियो को बढायेगा । विवेक तत्त्व से युक्त दार्शनिक राजा ही राज्य

मे अपनी नियामक शक्ति के द्वारा व्यवस्था बनाये रख सकता है।

दर्शन के शासन का स्वरूप—प्लेटो के विचार से दार्शनिक राजा का शासन या तो एकतन्त्र (monarchy) है या कुलीनतन्त्र (aristocracy)। परन्तु प्लेटो इन दोनो को एक ही मानता है। बार्कर के मत से चाहे नाम कुछ भी दिया जाये, दार्शनिक शासक निरकुश होंगे, क्योकि इनके ऊपर कानून का कोई प्रतिबन्ध नही होगा। यह धारणा तत्कालीन यूनानी परम्परा से सगति नही रखती थी, क्योकि यूनानी लोग कानून की सम्प्रभुता पर विश्वास रखते थे। अत प्लेटो द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक का शासन स्वेच्छाचारी शासन का रूप हो सकता है। परन्तु प्लेटो की शिक्षा-योजना का उद्देश्य विद्वान शासको को उत्पन्न करना था। अत उसकी धारणा मे दार्शनिको का शासन 'विज्जना का शासन' (Rule of Intellect) होगा।

मर्यादाएँ—प्लेटो को दार्शनिक राजा के शासन के निरकुश हो सकने का भी आभास था। अत उसने इसे अमर्यादित नही रखा है। प्लेटो विवेक को कानून से उच्चता की स्थिति प्रदान करता है। उसके मत से कानून की अपेक्षा विवेक मे अधिक लोचपूर्णता होती है। अत कानून के शासन की अपेक्षा विवेक का शासन उत्तमतर है। परन्तु प्लेटो यह कभी नही मानता कि दार्शनिक राजा स्वेच्छाचारी तथा निरकुश हो। वह ऐसे शासक के ऊपर अनेक मर्यादाएँ आरोपित करता है।

दार्शनिक राजा के ऊपर सबसे प्रथम मर्यादा यह है कि वह स्वेच्छा से राज्य के सविधान को नही बदल सकता। 'राज्य के सविधान' से प्लेटो का अभिप्राय उन सिद्धान्तो से है जिनके आधार पर उसने आदर्श राज्य का चित्र प्रस्तुत किया है। बार्कर का कथन है कि प्लेटो इन सिद्धान्तों को चार भागो से विभक्त करता है

(1) शासको को राज्य की अर्थव्यवस्था म सन्तुलन बनाये रखना पड़ेगा, ताकि राज्य के अन्दर न तो गरीबी का प्रवेश हो सके न सम्पत्ति का।

(2) शासको को यह देखना आवश्यक है कि राज्य का आकार न बहुत बडा हो न बहुत छोटा। वह इतना ही बडा हो कि वह आत्म-निर्भर बना रहे और नागरिको म एकता बनी रहे।

(3) शासको को न्याय के शासन को बनाये रखना चाहिए, ताकि राज्य का प्रत्येक नागरिक केवल अपना निर्दिष्ट कार्य सम्पूर्ण समाज के हित को ध्यान मे रखते हुए करें।

(4) शासको को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शिक्षा-पद्धति म कभी भी कोई नवीनीकरण लाने का प्रयास न किया जाय। प्लेटो के विचार से शिक्षा-पद्धति मे परिवर्तन करने से विवेक के शासन को सुनिश्चित करने म कठिनाई आ जायेगी।

इन मर्यादाओ से युक्त दार्शनिक राजा तानाशाह नही बन सकता, प्रत्युत् वह एक मौलिक तथा अपरिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था का सेवक होगा। प्लेटो के विचार से दार्शनिक राजा न केवल कानून के ऊपर है बल्कि वह स्वार्थपरता म भी ऊपर है। इन गुणो से युक्त होने के कारण वह राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति के प्राप्य को सुनिश्चित कर सकता है। वह अपने स्वविवेक से शासन करेगा और अपनी स्वतन्त्र

आत्म-चेतना के प्रति उत्तरदायी होगा। इस दृष्टि से दार्शनिक शासक के ऊपर सब से बडी मर्यादा स्वय प्लेटो द्वारा चित्रित आदर्श राज्य के सिद्धान्तो की है।

आलोचना—दर्शन के शासन का सिद्धान्त राज्य की शासन-व्यवस्था को कानून के शासन के स्थान पर ज्ञान के शासन का स्वरूप प्रदान करता है। दार्शनिक शासक के ऊपर कानून का प्रतिबन्ध नही रहेगा। अतएव शासन प्रबुद्ध स्वेच्छाचारितावाद (enlightened despotism) मे परिणत हो जायेगा। ऐसा शासन थोडे से व्यक्तियो का शासन होगा। सैबाइन के मत से 'यह प्रबुद्ध स्वेच्छाचारितावाद राजनीति मे अन्तिम शब्द नही माना जा सकता।'[1] प्लेटो द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक राजा का शासन एक प्रकार के दयाशील स्वेच्छाचारितावाद (benevolent despotism) मे परिणत हो जायेगा। परन्तु जहाँ तक शासन-सचालन के दायित्व का सम्बन्ध है, ऐसा शासन आवश्यक रूप से दयाशील होगा या अत्याचारी शासन, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता दार्शनिक शासक चाहे कितना ही ज्ञानवान् क्यो न हो, वह न तो ईश्वर है, न देवता। वह भी एक मानव प्राणी है। उसमे भी मानवीय दुर्बलताएँ होना अस्वाभाविक बात नही है। राजनीति का यह सुमान्य तथ्य कि 'सत्ता भ्रष्ट होती है और असीम सत्ता असीम रूप से भ्रष्ट होती है, प्लेटो के दार्शनिक शासको पर भी लागू हो सकती है।

सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'शासन की चिकित्सा-विज्ञान के साथ तुलना करना राजनीति को अ-राजनीति की स्थिति मे ला देना है।'[2] प्लेटो के मत से दार्शनिक राजा को कानून के बन्धन मे रखना उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि एक चिकित्सक को इस बात के लिए बाध्य करना कि वह चिकित्सा-शास्त्र मे वर्णित उपचारो का ही अनुगमन करके अपने रोगियो के लिए औषधि निर्धारित करे। इसका यह परिणाम होगा कि चिकित्सक को विविध रोगियो की विविध स्थितियो का ध्यान रखते हुए औषधि मे परिवर्तन न करने से सफल उपचार करने मे बाधा उत्पन्न होगी। इसी प्रकार यदि दार्शनिक शासक लिखित कानूनो का पालन करते हुए ही शासन करेगा तो शासन-कार्य मे लोचपूर्णता का अभाव आ जाने से शासन सफल सिद्ध नही होगा। परन्तु इस उपमा को राजनीति तथा शासन-कला के सम्बन्ध मे लागू करना सही नहीं है। कानून जनता की परम्पराओ तथा जनमत पर आधारित होते है। जन-परम्पराएँ तथा जनमत जनता के हितो तथा उद्देश्यो की अभिव्यक्ति करते हैं। अतएव कानून के प्रतिबन्धो से रहित दार्शनिको का शासन निरकुशतावाद मे परिणत हो सकता है।

शासन एक कला है न कि विज्ञान। केवल विज्ञान तथा दर्शन की शिक्षा राजनीति तथा शासन कला के समुचित सचालन तथा सम्पादन हेतु पर्याप्त नही है। शासन का सफल सचालन इस बात पर निर्भर करता है कि राजनेता तथा शासक जन-जीवन की समस्याओ, जनमत, लोक परम्पराओ आदि के प्रत्यक्ष सम्पर्क

[1] An enlightened despotism cannot be merely assumed to be the last word in politics' Sabine, *op cit*, 67

[2] 'His comparison of government to medicine, carried through to its farthest extreme, reduces politics to that which is not politics' —*Ibid*

मे रहे। प्लेटो के दार्शनिक शासक जन-जीवन से सदैव ही विलग रहते आयेंगे। अत उनका शासन किसी भी रूप से लोक-कल्याणकारी नही हो सकेगा।

मैबाइन का प्लटो पर यह आरोप है कि 'रिपब्लिक मे वर्णित आदर्श राज्य नगर-राज्यो की उस राजनीतिक निष्ठा को अमान्य करता है, जिसमे स्वतन्त्र नागरिकता की धारणा सुस्थापित थी और यह आशा की जाती थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति की सीमा के अन्तर्गत नगर राज्य के शासन मे अपने अधिकार तथा कर्त्तव्यो के पालन मे भाग लेता था, कानून के शासन के अभाव मे दार्शनिक का निरकुश शासन नागरिको की स्वतन्त्रता के लिए अस्वीकारोक्ति सिद्ध होगा। दार्शनिक राजा का शासन लोकतन्त्र की इस सुमान्य धारणा की उपेक्षा करता है कि 'सरकार अपनी न्यायपूर्ण शक्ति शासितो की राय से प्राप्त करती है।'

आदर्श राज्य का सिद्धान्त

प्लेटो के राज्य सम्बन्धी विचारो का उद्देश्य तिवर्तमान राज्यो का विवेचन करना नही था, अपितु वह ऐसे राज्य की कल्पना करता है जो 'सत् की धारणा' (the idea of the Good) को साकार करे और जिसका उद्देश्य मानव को उत्तम जीवन प्रदान करना हो। अत प्लेटो द्वारा चित्रित राज्य एक आदर्श प्रस्तुत करता है कि राज्य कैसा होना चाहिए, न कि राज्य कैसा है। प्लेटो की धारणा का राज्य समस्त कालो तथा परिस्थितियो के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है। उसने ऐसी चिन्ता ही नही की कि कोई वास्तविक राज्य उस नमूने का हो भी सकेगा या नहीं, प्रत्युत् उसका उद्देश्य यह दर्शाना था कि सिद्धान्त रूप मे एक राज्य को कैसा होना चाहिए। उसे यह चिन्ता भी नही थी कि व्यवहार मे ऐसा 'विचार' कार्यान्वित हो सकेगा अथवा नही। वह तो ससार के समक्ष राज्य का एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहता था। अत प्लेटो का आदर्श राज्य एक स्वप्नलोकी विचार (a utopia) है। इस दृष्टि से प्लेटो द्वारा वर्णित राज्य को 'आदर्श राज्य' कहने की अपेक्षा 'राज्य का आदर्श' कहना उचित होगा। इसके दो मुख्य आधार हैं—

(1) न्याय-सिद्धान्त—प्लटो के अनुसार न्याय मानवीय सदगुण का एक अग है। अन्य अग हैं विवेक, उत्साह तथा आत्म-सयम। न्याय का अर्थ नैतिकता तथा कर्त्तव्या-कर्त्तव्य की भावना है। न्याय मानव आत्मा मे एक ऐसा गुण है जो समस्त मानवो को राज्य के रूप म परस्पर एकता के सूत्र मे बांधता है। इसी के फलस्वरूप मानव सामाजिक तथा श्रेष्ठ प्राणी बनता है। प्लेटो के विचार से जो तत्त्व मानव आत्मा मे पाये जाते हैं वही राज्य मे भी विद्यमान रहते हैं।[1] मानव आत्मा मे तीन तत्त्व—विवक (reason), उत्साह (spirit) तथा तृष्णा (appetite) हैं। तृष्णा तत्त्व शरीर का पोषक है अत वह पेट के निचल भागो म (below the diaphragm) रहता है, उत्साह तत्त्व वक्षस्थल म रहते हुए कार्यकारी (executive) कार्य करता है और विवेक तत्त्व जो चिन्तन तथा ज्ञान का कार्य करता है, मस्तिष्क म रहता है।

[1] "Must we not acknowledge that in each of us there are the same principles and habits that there are in the state" —*The Republic*

इनके पारस्परिक सम्बन्धो के समुचित सचालन द्वारा ही मानव आत्मा का विकास होता है। न्याय वह सद्गुण है जो इन तीनो तत्त्वो के मध्य समुचित सामजस्य स्थापित करता है। यह वह गुण है जो मानव को श्रेष्ठ बनाता है।

राज्य का सावयव स्वरूप—एक अन्य स्थान पर प्लेटो ने कहा है, 'राज्य व्यक्ति का बृहत् रूप है' (*State is individual writ large*)। मानव आत्मा की भाँति राज्य के निर्माणकारी तत्त्व भी तीन हैं। शीर्ष पर दार्शनिक राजा विवेक तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है, उसके नीचे राज्य के सरक्षक वर्ग हैं जो उत्साह तत्त्व से युक्त हैं। इनमे सैनिक तथा प्रशासक वग आते हैं। अन्त मे कृषक, मजदूर, शिल्पी आदि वर्ग हैं, जो पोषक तत्त्वो का कार्य करते है। न्याय इन तीन वर्गों (तत्त्वों) के मध्य सामजस्य स्थापित करता है और उन्हे राज्य के रूप मे सगठित करता है। न्याय का अभिप्राय यह है कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैसर्गिक योग्यता (natural fitness) के अनुसार अपना कार्य करे और दूसरे के कार्य में हाथ न डाले। आदर्श राज्य वही है जिसका सगठन तथा सचालन इन सिद्धान्तो के आधार पर होगा। प्लेटो इसे आदर्श राज्य इसलिए कहता है कि इसमे शासन सचालन का कार्य दार्शनिक राजा के द्वारा होता है जो वासनाओ तथा पक्षपातो से रहित है। वह सक्रिय सद्गुण (virtue in action) का प्रतीक है। प्रशासको तथा सैनिक वर्ग को जो राज्य के सरक्षक हैं, दर्शन, ज्ञान तथा प्रशासन का पर्याप्त प्रशिक्षण मिला रहता है। वे दार्शनिक राजा के निदेशन मे राज्य के समस्त दायित्वो को सम्पन्न करेंगे। स्वय सम्पत्ति तथा परिवार के बन्धनो से मुक्त रहकर वे राज्य के सच्चे सेवक सिद्ध होगे। उत्पादक वर्ग अपने निर्दिष्ट कार्यों को करते हुए राज्य के भरण-पोषण सम्बन्धी कार्यों को करेंगे। ऐसे राज्य का स्वरूप वर्गगत होगा जिसमे प्रत्येक वर्ग सम्पूर्ण के हित मे अपने-अपने निर्दिष्ट कार्य को करता हुआ सम्पूर्ण समाज की सेवा की भावना से कार्य करेगा। इस प्रकार का वर्ग-राज्य (class-state) कार्यों के विशेषीकरण (specialisation of functions) के सिद्धान्त पर निर्मित होगा। इसका आधार मानव स्वभाव के सविधान के मौलिक कानून हैं। प्लेटो के आदर्श राज्य की मान्यता यह है कि मनुष्य ऐसे आदर्श राज्य मे ही अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से प्लेटो के आदर्श राज्य मे व्यक्ति तथा राज्य के मध्य सावयविक एकता दर्शायी गयी है। जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर के विभिन्न तत्त्वो मे सावयविक सम्बन्ध हैं, उसी प्रकार राज्य के निर्माणकारी तत्त्वो के मध्य भी सावयविक सम्बन्ध होने चाहिए।

(2) आर्थिक सिद्धान्त—प्लेटो का न्याय सिद्धान्त आदर्श राज्य का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। परन्तु प्लेटो ने राज्य के आर्थिक आधार को भी दर्शाया है। उसका कथन है कि 'राज्य की उत्पत्ति मानव की आवश्यकताओ के फलस्वरूप होती है। कोई भी व्यक्ति आत्म निर्भर नहीं होता, सबकी अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। उनकी पूर्ति के लिए बहुत व्यक्तियो की आवश्यकता है। वे परस्पर अन्योन्याश्रित रहते हैं, जब ऐसी पारस्परिक सहायता चाहने वाले व्यक्ति एक साथ

निवास करने लगते हैं, तो उसी सम्पूर्ण समाज को राज्य कहा जाता है।'[1] इस दृष्टि से राज्य के निर्माणकारी तत्त्व व्यक्ति हैं जो एक निश्चित उद्देश्य से परस्पर सगठित हुए हैं। यह उद्देश्य पारस्परिक आर्थिक अन्योन्याश्रितता का बन्धन (the bond of economic mutual interdependence) है। कोई भी व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति स्वय नही कर सकता। स्वभावत विभिन्न व्यक्तियो मे विशिष्ट प्रकार के कार्यों को करने की क्षमता होती है। अत एक व्यक्ति एक प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है और दूसरा दूसरी प्रकार की। इस प्रकार प्लेटो की दृष्टि मे राज्य विशुद्ध रूप से एक आर्थिक सस्था है, जिसका सृजन व्यक्तियो की पारस्परिक आवश्यकताओ के फलस्वरूप हुआ है। इसका स्वरूप कार्य विभाजन का सिद्धान्त तथा पारस्परिक सहयोग है।

राज्य की उत्पत्ति का आर्थिक आधार प्रस्तुत करने म प्लेटो ने सामाजिक दर्शन का एक अद्भुत आविष्कार किया है। सैबाइन के मत से 'इसने समाज के उस पक्ष को प्रकाश मे ला दिया है जो किसी भी सामाजिक सिद्धान्त के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है।' समाज पारस्परिक सेवा की ऐसी पद्धति है जिसमे व्यक्तियो का जीवन पारस्परिक आदान-प्रदान की क्रिया से चलता है। पारस्परिक आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया का परिणाम यह होगा कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता से अधिक उत्पादन करेगा। जो व्यक्ति जिस कार्य को करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा क्षमता रखेगा वह अपने को उसी कार्य मे लगाये रखेगा। इस प्रकार समाज मे प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओ की पूर्ति भी होती रहेगी, साथ ही उत्पादन का स्वरूप भी उच्चतर होगा। प्लेटो ने कहा है कि 'हमे यह ज्ञात रहना चाहिए कि समस्त पदार्थ आसानी से और पर्याप्त मात्रा म उत्पादित किये जाएँ तथा उनका गुणात्मक रूप उच्चतर हो। यह तभी हो सकता है जब एक व्यक्ति उसी एक काय को करे जो उसके लिए स्वाभाविक हो तथा उसे वह उचित समय पर करे और अन्य कार्यों को छोड दे।[2]

कार्य-विभाजन तथा विशेषीकरण का सिद्धान्त भी प्लेटो के आदर्श राज्य के आर्थिक आधार पर निर्भर है। यह प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त की आधारशिला है। इसमे दार्शनिक राजा भी अपवाद नही हैं। प्लेटो की धारणा थी कि यदि विशेषीकरण का अन्त कर दिया जायेगा तो सामाजिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया भी समाप्त हो जायेगी। यदि समाज के व्यक्तियो को विशिष्ट योग्यताओ से युक्त न माना जायगा तो विशेषीकरण का आधार ही समाप्त हो जायेगा, और यदि अपनी स्वाभाविक योग्यताओ तथा प्रवृत्तियो के अनुकूल व्यक्तियो को प्रशिक्षण नहीं मिलता तो

[1] 'A state arises out of the needs of mankind, no one is self-sufficing, but all of us have many wants and many persons are needed to supply them, one takes a helper for one purpose, and another for another, and when these partners and helpers are gathered together in one habitation, the body of individuals is termed state' —*The Republic*

[2] 'We must infer that all things are produced more plentifully and easily and of a better quality when one man does one thing which is natural to him and does it at the right time, and leaves other things' —*The Republic*

विन्यीकरण अर्थहीन हो जायेगा। दार्शनिक राजा का यह कर्त्तव्य होगा कि वह समाज मे प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति एव योग्यता के अनुसार उसके कार्य भाग तथा प्रशिक्षण को सुनिश्चित करे और विभिन्न तत्वो के मध्य सामजस्य स्थापित करे।

इस प्रकार प्लेटो द्वारा चित्रित राज्य एक सशक्त इकाई होगा जिसमे समस्त नागरिक पारस्परिक सहयोग तथा आर्थिक आदान प्रदान की धारणा से सगठित होगे। समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी नर्सगिक योग्यता तथा क्षमता के अनुसार अपने निर्दिष्ट कार्य को करता हुआ सबकी सेवा करेगा। ऐसे सामाजिक जीवन को सुनियोजित तथा सुनिश्चित करने के लिए प्लेटो ने अन्य साधनो साम्यवाद शिक्षा स्त्री सुधार आदि का विवेचन किया है।

आदर्शवाद अथवा स्वप्नलोकवाद

प्लेटो के आदर्श राज्य का सिद्धान्त ऊपर वर्णित आधारो तथा विशेषताओ से युक्त है। जनेट के अनुसार प्लेटो के राजनीतिक विचारो मे आदर्शात्मक तथा स्वप्नलोकी दोनो अग हैं। स्वप्नलोकवाद तो समाप्त हो चुका है और पुन जीवित नही हो सकता परन्तु आदर्शात्मक तत्त्व अमर है।

प्लेटो सामाजिक वर्गों को अपरिवर्तनशील एव अलोचपूर्ण ढग से वर्गीकृत कर देने की बात कहता है। यद्यपि वर्गीकरण का आधार जन्मगत तथा जातिगत नही है तो भी वर्गीकरण की अन्य कसौटी क्या होगी इसका विवेचन नही किया गया है। पुरुष तथा महिलाओ को समान कार्य क्षमता से युक्त मान लेना तथा सामाजिक एव राजनीतिक सार्वजनीन कार्यों मे दोनो को समान स्थिति प्रदान करने की बात कहना भी प्राकृतिक लिंगगत विभेद की उपेक्षा करना है। सरक्षक वर्ग के लिए सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की योजना रखी गयी है जिसे व्यवहार मे कार्यान्वित करना कठिन ही नही बल्कि असम्भव है। दर्शन के शासन को सर्वोत्तम मानना तथा राज्य के नियन्त्रण मे शिक्षा का आयोजन और वह भी केवल उच्च वर्ग के लिए प्लेटो की हठधर्मिता जन्य बात लगती है। आदर्श राज्य के सम्बन्ध मे ये सब योजनाए प्लेटो की स्वप्नलोकी धारणा को प्रदर्शित करती है। ये समस्त बात अवास्तविक कल्पनामूलक अव्यावहारिक एव बलात लागू की जाने वाली सिद्ध होती हैं अत स्वप्नलोकी हैं।

परन्तु समाज के सच्चे उद्देश्य के रूप मे न्याय के सिद्धान्त को नागरिक जीवन के अनुरूप मानना स्वप्नलोकी विचार नही कहा जा सकता। सदगुण को राज्य की वास्तविक शक्ति बताना सदगुण के विकास के लिए शिक्षा को सर्वोत्तम *साधन स्वीकार करना तथा इस बात पर विश्वास रखना कि राज्य का निर्देशन तथा* सचालन सदगुण से युक्त विद्वानो के द्वारा हो स्वप्नलोकी विचार नही माना जा सकता। इन धारणाओ पर आधारित आदर्श राज्य का विचार प्लेटो की राजनीतिक चिन्तन को एक महत्त्वपूर्ण देन है। इनके आधार पर प्लेटो को आदर्शवादी कहना युक्तिसगत प्रतीत होता है।

आदर्शवाद अथवा सर्वसत्तावाद

प्लेटो का आदर्श राज्य निरंकुश तथा सर्वसत्तावादी (absolute and totalitarian) होगा। ऐसा राज्य मानव-जीवन के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक पहलुओं सहित सम्पूर्ण क्षेत्रों के नियमन का अधिकारी होगा। राज्य सर्वसत्तावादी (totalitarian) तो होगा, परन्तु उसका संचालन तथा नियमन सर्वोच्च विद्वत्ता के द्वारा होगा। अतएव वह सर्वाधिकारवादी (authoritarian) नहीं होगा और न स्वेच्छाचारी ही होगा। दार्शनिक राजा की निरंकुशता तथा एक अत्याचारी की स्वेच्छाचारिता में बहुत अन्तर है। परन्तु प्लेटो के आदर्श राज्य की व्यवस्था में लोचपूर्णता का प्राय अभाव है। सबसे महान् कठिनाई यह है कि प्लेटो आदर्श राज्य का चित्र तो प्रस्तुत करता है परन्तु वह इस बात का विवेचन नहीं करता कि एक आदर्श राज्य को जैसा होना चाहिए वैसी स्थिति प्राप्त करने में वर्तमान राज्य किस प्रकार अग्रसर हो सकते हैं। प्लेटो ने यह नहीं बताया कि यदि एथन्स तथा स्पार्टा पिछड़ी अवस्था में थे, तो उन्हें वह अपनी कल्पना के आदर्श रूप में कैसे ला सकता है। उसने अपने आदर्श को सिरावयूज के अत्याचारी शासक के राज्य में लागू करने की आकांक्षा की थी। परन्तु उसका यह प्रयोग पूर्णतया असफल सिद्ध हुआ। यही कारण है कि प्लेटो ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अपने आदर्श राज्य के सिद्धान्त को परिवर्तित करके द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ लॉज (The Laws) में किया है।

आलोचना—आदर्श राज्य के निरूपण में प्लेटो ने मानव आत्मा के तीन तत्वों को समाज के नागरिकों में खोजा और उन्हें कठोरता के साथ सामाजिक वर्गों के रूप में श्रेणीबद्ध किया है। व्यक्ति तथा राज्य के मध्य ऐसा सादृश्य दर्शाना प्लेटो की एक महान् भूल है। वास्तव में सेबाइन का मत सत्य है 'प्लेटो ने इस सिद्धान्त की अधिक विस्तार से विवेचना न करके इसे अस्पष्ट तथा भ्रामक बना दिया है।' वह नीतिशास्त्र तथा राजनीति के मध्य भेद करने में असफल रहा है। राजनीतिक समाज की जटिलताओं तथा समस्याओं का पूर्ण विवेचन किये बिना व्यक्ति तथा राज्य को एक-सा मानना उचित नहीं है। सामाजिक वर्गों का विभाजन कर लेने के उपरान्त दार्शनिकों को निरंकुश शासक बना देना तथा उत्पादक वर्ग को शिक्षा और राजनीति से पृथक् रखना उनके प्रति न्याय नहीं कहा जा सकता।

प्लेटो के आदर्श राज्य में लोकतन्त्री समानता की धारणा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। उसने यह अन्तिम रूप में स्वीकार कर लिया था कि उत्तम शासन 'ज्ञान का शासन' ही हो सकता है और ज्ञान केवल कुछ विशेष वर्गों का हित है। यह मानना भी उचित नहीं है कि शासन का संचालन केवल ज्ञानवानों द्वारा ही हो सकता है। सार्वजनिक जीवन का अनुभव भी सार्वजनिक सेवा तथा समस्याओं के हल के लिए आवश्यक है। ज्ञानी तथा विशेषज्ञ अनुभव के अभाव में असफल शासक सिद्ध हो सकते हैं। प्लेटो के आदर्श राज्य का सिद्धान्त न केवल जनमत तथा लोक परम्पराओं के महत्त्व को ही अमान्य करता है, अपितु वह तत्कालीन

नगर राज्यो की लोकतन्त्री सस्थाओ के महत्त्व की भी उपेक्षा करता है। नगर राज्यो के शासन मे जन सभाओ तथा परिषदो के कार्य भाग की उपेक्षा करके प्लेटो लोकतन्त्र के प्रति घोर अन्याय करता है। (३) उसने बुद्धि तत्त्व की महत्ता को बढा चढा कर चित्रित किया है। उसकी व्यवस्था मे निम्न वर्ग के उत्थान का कोई प्रावधान नही है। उनके लिए सत का ज्ञान करने का कोई अवसर प्रदान नही किया गया है। मजदूर तथा शिल्पी वर्ग की ऐसी उपेक्षा करना इस तथ्य को प्रकट करता है कि प्लेटो को जो स्वय एक अभिजात वर्ग का सदस्य था उत्पादक वर्ग से घृणा थी।

(४) प्लेटो के आदर्श राज्य का स्वरूप अत्यधिक समष्टिवादी है। इसमे व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य तथा विकास को कोई स्थान प्राप्त नही है। कार्यों के विशेषीकरण से व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास करने के लाभ से वचित रहेगा। अत प्लेटो के लोहार तथा पीतलकार सदैव लोहा तथा पीतल ही बने रहेंगे।

(५) प्लेटो द्वारा वर्णित साम्यवाद की व्यवस्था मानव प्रकृति के नियमो से असगति रखती है इसका मनोवैज्ञानिक आधार अशुद्ध है तथा व्यवहार मे भी राज्य के नियन्त्रण मे इसे लागू करना न केवल अवाछनीय होगा बल्कि असम्भव भी होगा।

(६) दार्शनिक राजा कानून से ऊपर रहने के कारण निरकुश हो जायेगा। वह ज्ञानवान हो सकता है परन्तु दर्शन के ज्ञान तथा शासन कला के ज्ञान मे कोई सादृश्य नही है। अत जब दार्शनिक राजा के हाथ मे असीम राजनीतिक सत्ता आ जायेगी तो वह उसे भ्रष्ट कर सकती है। वह एक अत्याचारी शासक बन सकता है।

(७) विधि के शासन की कोई धारणा आदर्श राज्य के सिद्धान्त मे नही है। निक राजा का आदेश ही कानून होगा और वह स्वय कानून से ऊपर है। ऐसे र मे ज्ञान की सम्प्रभुता बनी रहेगी। वधानिक व्यवस्था के अभाव मे पदाधिकारियो की नियुक्ति न्यायालय-व्यवस्था अपराधियो के लिए दण्ड व्यवस्था कानून की व्यवस्था प्रशासनिक व्यवस्था आदि का कोई भी आयोजन प्लेटो ने नही किया है। शिक्षा को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। उसमे प्रशासकीय प्रशिक्षण की बात भी कही गयी है परन्तु समस्त शासन तथा प्रशासन की व्यवस्था का कोई वधानिक प्रावधान हुए बिना यह सब कसे होगा इसे प्लेटो अस्पष्ट छोड देता है।

अन्त मे प्लेटो के सम्बन्ध मे यह भी कहा जा सकता है कि वह एक राजनीतिज्ञ नही था बल्कि एक आचारवादी दार्शनिक था। अत वह समाज तथा व्यक्ति के नतिक पक्ष को लेकर ही राज्य विषयक बातो का विवेचन करता है। वह नतिकता तथा राजनीति के मध्य भेद नही करता। वह दार्शनिको को सर्वज्ञाता मानकर उन्ही के हाथो राज्य की व्यवस्था को भी सौंप देना चाहता है। इस दृष्टि से उसके आदर्श राज्य की धारणा एक स्वप्नलोकी विचार मात्र रह जाती है। निरकुश दार्शनिक राजा का शासन फासीवादी होगा। इसलिए कुछ आलोचक प्लेटो को पक्का फासीवादी कहते है।

स्टेटसमन तथा लाज मे प्लेटो के विचार

स्टेटसमन तथा लाज की रचना—रिपब्लिक की रचना कर लेने के उपरान्त

प्लेटो ने पर्याप्त लम्बी अवधि तक यह अनुभव कर लिया था कि उसके आदर्श के राज्य की स्थापना इस ससार मे सम्भव नही हो सकेगी। इसकी मुख्य समस्या दार्शनिक राजा की उपलब्धि की थी। जीवन के अन्तिम वर्षों मे उसने 'स्टेट्समैन' की रचना की। इसकी मुख्य विषय-वस्तु विविध प्रकार की शासन-व्यवस्थाओ तथा उनके अन्तर्गत राजनेता (statesman) की स्थिति का विवेचन है। उसके उपरान्त उसने 'लॉज' की रचना प्रारम्भ की जिसे वह स्वय पूर्ण नही कर सका। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्यायो को बाद मे उसके शिष्यो ने पूर्ण किया होगा। लॉज मे प्लेटो के उन विचारो की छाप है जिनका अनुभव उसने रिपब्लिक की रचना करने के बाद जीवन के अन्तिम 30 वर्षों (40 से 70 वर्ष की उम्र) मे किया था। प्लेटो का विश्वास था कि रिपब्लिक मे जिस आदर्श राज्य की व्यवस्था उसने बतायी है, वास्तव मे वह तो आदर्श है ही, अतएव सर्वोत्तम है। परन्तु चूंकि ऐसी आदर्श व्यवस्था की स्थापना के मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ हैं, अत राज्य का एक ऐसा रूप चित्रित किया जाये जो सर्वश्रेष्ठ आदर्श राज्य के सिद्धान्तो पर आधारित हो, परन्तु साथ ही उसे व्यवहार मे प्रयुक्त किया जा सके। यह आदर्श 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य' (The Second Best State) का था। इसका चित्रण करने मे प्लेटो रिपब्लिक के कुछ सिद्धान्तो तथा आदर्शों मे परिवर्तन करता है।

द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य का सैद्धान्तिक आधार—यदि रिपब्लिक को प्लेटो की दार्शनिक विचारधारा का सैद्धान्तिक पक्ष कहा जाये तो लॉज उसका व्यावहारिक पक्ष है। अत यद्यपि 'उसका रिपब्लिक लॉज को पूर्णतया आच्छादित कर देता है, तथापि जो व्यावहारिक महत्त्व लॉज का है वह रिपब्लिक को प्राप्त नही होता है।' रिपब्लिक मे वर्णित आदर्श राज्य की व्यवस्था का आधार प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त, विवेक या दर्शन का शासन तथा साम्यवाद और शिक्षा की योजना है। विवेक को कानून के बन्धन से मुक्त रखा गया है। अत यह एक प्रकार का राजतन्त्र है। परन्तु लॉज के 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य' मे 'न्याय' के स्थान पर 'आत्म-सयम' (self-control) के तत्त्व को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है और 'दर्शन के शासन' के स्थान पर 'विधि के शासन' का समावेश किया गया है। लॉज मे प्लेटो सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की योजना को अमान्य कर देता है। परन्तु शिक्षा पर पूर्ववत् महत्त्व दिया गया है। यदि रिपब्लिक मे शिक्षा का उद्देश्य शासक वर्ग को प्रशिक्षण देकर उन्हे दार्शनिक बनाना था तो लॉज मे शिक्षा का उद्देश्य युवकों मे कानून की भावना का सचार करना है। विधि के शासन को सुनिश्चित करने के लिए राज्य का सैद्धान्तिक आधार विवेक तथा तृष्णा तत्त्वो का मिश्रण होगा। उसकी शासन-व्यवस्था भी राजतन्त्र तथा लोकतन्त्र का सम्मिश्रण होगी। बार्कर ने कहा है कि 'ऐसा राज्य आदर्श तथा यथार्थ के मध्य का मार्ग होगा।' इसमे शासक वर्ग कानून के प्रतिबन्धो से रहित दार्शनिक तथा सरक्षक न होकर कानून के सेवक तथा सरक्षक रहेंगे।

न्याय के स्थान पर आत्म-सयम तथा विवेक के स्थान पर कानून को

सर्वोच्चता—द्वितीय सर्वश्रेष्ठ-राज्य का आधारभूत सिद्धान्त 'आत्म-संयम' है, जिसका अर्थ है विवेक तथा तृष्णा तत्त्वों का स्वतन्त्र समागम। परन्तु 'आत्म-संयम' न्याय का विरोधी न होकर उसका साथी है। प्लेटो ने आदर्श तथा द्वितीय सवश्रेष्ठ राज्यों का चित्रण करते हुए उनमे क्रमश न्याय तथा आत्म-संयम को सर्वोच्च स्थिति प्रदान की है। उसका मत है कि विवेक की उत्पत्ति आत्म संयम से होती है और आत्म-संयम विवेक को अपनी अधीनता मे रखता है। अत. आदर्श राज्य तथा द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य की धारणा मे मौलिक सैद्धान्तिक अन्तर नही है। प्रथम के अन्तर्गत न्याय सामाजिक बन्धन है तो द्वितीय के अन्तर्गत आत्म-संयम का तत्त्व ऐसी स्थिति प्राप्त करता है। इसी प्रकार आदर्श राज्य मे विवेक की सर्वोच्च सत्ता मानी गयी है तो द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य मे कानून की।

कानून का स्वरूप—कानून की परिभाषा करते हुए प्लेटो ने कहा है कि कानून मे अतीत काल का व्यावहारिक विवेक तथा अनुभव शामिल रहता है। कानून मानव को यह ज्ञान कराता है कि व्यक्तिगत भलाई के लिए सामूहिक भलाई की धारणा पहली शर्त है। कानून और विवेक एक दूसरे से भिन्न नही होते, अत कानून व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन मे व्याप्त रहता है। प्लेटो के अनुसार कानून की उत्पत्ति जनता की परम्पराओ तथा रीति-रिवाजो से होती है। अत राज्य मे एक विधायक की आवश्यकता होती है, जोकि विविध परम्पराओ मे से सर्वोत्तमो का चयन करे और विभिन्न विरोधी परम्पराओ को सुनियोजित कर सके। कानून द्वारा सचालित राज्य मे कानून की सत्ता सर्वोच्च होती है। वह राज्य की सरकार का सेवक न होकर उसे अपने नियन्त्रण मे रखता है। अत राज्य मे शासक तथा शासित सभी के आचरणो का नियमन राज्य के मौलिक कानून के द्वारा होना चाहिए। प्लेटो की कानून सम्बन्धी धारणा धर्म तथा नैतिकता पर आधारित है। कानून द्वारा संचालित द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के सम्बन्ध मे प्लेटो के नागरिक एव दण्डात्मक कानूनो का सहिताकरण करके कानून का उल्लघन करने वाले के लिए दण्ड की व्यवस्था भी दी है। प्लेटो के मत मे कानून का उद्देश्य केवल दण्ड देना नही है, अपितु स्वय कानून मे वह गुण होने चाहिए जिनके द्वारा नागरिक उत्तम नागरिक बन सकें। दण्ड का उद्देश्य सुधारात्मक होना चाहिए। उसका प्रभाव अपराधी के हृदय पर पड़ना चाहिए जिससे कि वह भविष्य म अपने बुरे आचरणो को सुधार सके। प्लेटो ने कठोर दण्ड की व्यवस्था भी दी है। भीषण अपराधो के लिए मृत्यु-दण्ड को भी उचित बताया गया है।

राज्य की सरचना

आर्थिक व्यवस्था—लॉज मे प्लेटो ने जिस राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है वह एक आत्म-निर्भर तथा सयमित आकार का कृषि अर्थव्यवस्था वाला जन-समुदाय है। इस राज्य मे सम्पत्ति तथा परिवार का साम्यवाद नही रहेगा। प्रत्येक नागरिक के पास भू-सम्पत्ति रहेगी। प्लेटो ने ऐसे राज्य की कल्पना की है, जिसमे भू-सम्पत्ति के कुल 5040 समान खण्ड किये जायेंगे और प्रत्येक नागरिक एक-एक

खण्ड का स्वामी होगा। कालान्तर में उत्पादन वृद्धि होने पर सम्पत्ति के खण्डों की मात्रा बढ़ जायगी। अन प्लेटो ने यह भी व्यवस्था दी है कि एक नागरिक मौलिक खण्ड की दुगुनी तीन गुनी या चार गुनी मात्रा तक की सम्पत्ति रख सकेगा। परन्तु चौगुनी मात्रा से अधिक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहेगा। वह राज्य की हो जायगी। इन भूखण्डों तथा सम्पत्ति का धारण करने के आधार पर नागरिक चार श्रेणियों में विभक्त किये जायेंगे और उनके राजनीतिक अधिकारों में भी इसी आधार पर *असमानता रहेगी। नागरिक भू सम्पत्ति के मालिक रहेंगे परन्तु कृषिकार्य दास* वर्ग करेगा। मालिक अन्य को₂ व्यवसाय या दस्तकारी नहीं कर सकेंगे। वे सम्पत्ति का विक्रय भी नहीं कर सकेंगे, न सूद ले सकेंगे। उद्योग तथा व्यवसाय का कार्य विदेशी करेंगे। नागरिक केवल राजनीतिक कार्य करेंगे। अत द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में श्रम विभाजन का यह रूप होगा कि नागरिक राजनीतिक कार्य विदेशी व्यापार व्यवसाय का कार्य तथा दास कृषि का कार्य करेंगे।

सामाजिक व्यवस्था—महिलाओं की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में प्लेटो के विचार पूर्ववत हैं। वह पुरुष तथा महिलाओं को राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में समानता की स्थिति प्रदान करता है। परन्तु पत्नियों के साम्यवाद की व्यवस्था का अन्त कर दिया गया है। एक पत्नी विवाह की प्रथा मान्य ही नहीं की गई है, बल्कि 35 वर्ष की उम्र के पश्चात अविवाहित रहना दण्डनीय माना गया है। परन्तु अब भी प्लेटो वैवाहिक जीवन को नियन्त्रित रखने की योजना बताता है। पति पत्नी के यौन-सम्बन्धों पर राजकीय नियन्त्रण रहेगा और सन्तानोत्पत्ति राज्य की आवश्यकतानुसार होनी चाहिए। प्लेटो यहां तक व्यवस्था देता है कि पति-पत्नी का चयन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के आधार पर किया जाना चाहिए। स्त्रियां राजकीय पदों पर अपनी कार्यक्षमता के अनुसार नियुक्त की जायेंगी यथा विवाहों के अधीक्षकों के रूप में नर्सों के रूप में, आदि।

शासनिक व्यवस्था—शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के निमित्त प्लेटो ने एक विस्तृत संविधानिक व्यवस्था दी है। शासन व्यवस्था राजतन्त्र तथा लोकतन्त्र का सम्मिश्रण होगा। उसमें कानून की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त विद्यमान *रहेगा। सभी 5040 नागरिक जनसभा के सदस्य होंगे। सम्पत्ति-खण्डों के स्वामित्व* के आधार पर निम्न तथा चौथे खण्डों के मालिकों के लिए सभा में उपस्थिति अनिवार्य होगी। यह सभा तीन बार मतदान करके 37 कानून के संरक्षकों का *निर्वाचन करेगी। प्रथम मतदान में 300 व्यक्ति चुने जायेंगे फिर द्वितीय में इनमें से* 100 और तृतीय में उन 100 में से 37 व्यक्ति। 5040 नागरिकों की जनसभा ही *360 सदस्यों की एक परिषद का निर्वाचन भी करेगी।* परिषद के सदस्यों के निर्वाचन के लिए उम्मीदवारों के चयन में अधिक सम्पत्ति वाले वर्गों को वरीयता प्राप्त रहेगी। इन 360 सदस्यों में से सम्पत्ति के आधार पर निर्मित चारों वर्गों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। परिषद के सदस्यों को 12 भागों में बांटा जायगा जिनमें से प्रत्येक एक महान कार्य करेगा। सभा तीन जनरलों का निर्वाचन भी करेगी। यह व्यक्ति सम्पत्ति के अनुसार निर्मित प्रथम दो वर्गों (निम्ना या चौथी

सम्पत्ति वालो) में से लिये जायेंगे। इनके नामो का प्रस्ताव संरक्षकों द्वारा किया जायेगा। इनके अतिरिक्त अनेक स्थानीय पदाधिकारियों तथा प्रशासकों का निर्वाचन भी सभा के सदस्य करेंगे।

इस प्रकार शासन व्यवस्था का स्वरूप राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र का मिश्रण होगा। सभा का कार्य कानूनों का निर्माण करना, उनमे संशोधन करना, न्यायिक कार्य आदि हैं। परिषद् शासन के दैनिक कार्यों की देख-भाल करेगी और कार्यकारी प्रशासकों के सहयोग से कार्य करेगी। शासन का नियन्त्रण कानून के संरक्षकों के हाथ में रहेगा जो 50 से 70 वर्ष की उम्र के होंगे। सामान्यतया उन्हे 20 वर्ष के लिए चुना जायेगा। अन्तत लॉज की अन्तिम पुस्तक में 10 सदस्यों की एक नॉक्टर्नल परिषद् ((Nocturnal Council) का भी उल्लेख किया गया है। यह परिषद् राज्य के कार्यकलापों की मुख्य निदेशिका रहेगी। इसकी व्यवस्था प्लेटो के आदर्श राज्य के दार्शनिक राजा की धारणा की प्रतीक ज्ञात होती है।

शिक्षा—यद्यपि द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के सम्बन्ध मे प्लेटो ने आदर्श राज्य के निमित्त वर्णित साम्यवाद की व्यवस्था को अमान्य कर दिया है तथापि शिक्षा के सम्बन्ध मे उसकी धारणा पूर्ववत है और जो भी परिवर्तन उसने बताये हैं, उनका उद्देश्य शिक्षा के पाठ्यक्रम तथा विषय-वस्तु को नई व्यवस्था के अनुकूल बनाना था। उदाहरणार्थ, कानून पर आधारित राज्य मे शिक्षा का मुख्य उद्देश्य युवकों को कानून की भावना से अवगत कराना है। चूँकि कानून निश्चित होता है, अत शिक्षा का पाठ्यक्रम भी निश्चित होना चाहिए। इसलिए प्लेटो ने शिक्षा को राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय माना है। शिक्षा की देख-रेख करने का दायित्व प्रधानमन्त्री का होगा। उसे अनुभवी बाल बच्चो वाला तथा 50 वर्ष से अधिक आयु का व्यक्ति होना चाहिए।

शिक्षा शैशव अवस्था से प्रारम्भ होगी। इस अवस्था मे बच्चों को चिल्लाना व कूदना सिखाया जायेगा। तीन से छ वर्ष तक की आयु के बच्चों को स्कूल ले जाने का कार्य नर्सें करेंगी। दस उम्र मे धनुर्विद्या, घुड़सवारी व ड्रिल की शिक्षा दी जायेगी। छ वर्ष के पश्चात् बालक व बालिकाओं को पृथक् स्कूलों मे पढाया जायेगा। परन्तु पाठ्य-विषय समान होंगे। शिक्षक बच्चों को घर से स्कूल तक आने-जाने में साथ देंगे। दस से बारह वर्ष तक की उम्र मे उन्हें पढना, लिखना और गणित सिखाये जायेंगे। तेरह से सोलह वर्ष तक की उम्र मे साहित्य, संगीत तथा गणित की शिक्षा के साथ साथ व्यायाम की शिक्षा भी दी जायेगी। सोलह वर्ष की उम्र के पश्चात् शिक्षा अनिवार्य नहीं होगी। केवल वही युवक उच्च शिक्षा प्राप्त करेंगे जिन्हे ज्ञान के लिए शिक्षा-प्राप्ति की आकांक्षा हो।

शिक्षा की देख रेख के लिए संगीत तथा व्यायाम के निरीक्षकों की नियुक्ति की व्यवस्था भी बतायी गई है, जो विविध प्रकार की प्रतियोगिता तथा पुरस्कारों की व्यवस्था करेंगे। एकाकी किन्तु बहुधंधी विद्यालय प्रथा रहेगी। उन्ही में समस्त विषयों की शिक्षा दी जायेगी। इस प्रकार शिक्षा 16 वर्ष की उम्र तक अनिवार्य होगी जिसमे बालक बालिकाओं की सह-शिक्षा तो नहीं होगी परन्तु पाठ्य क्रम समान होगा।

राजनीतिक चिन्तन को प्लेटो की देन

यद्यपि प्लेटो को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे स्वप्नलोकी विचारको का गुरु माना जाता है, तथापि उसे मात्र एक स्वप्नलोकी विचारक नही माना जा सकता। मैक्सी ने उसे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे स्वप्नलोकियो के अतिरिक्त क्रान्तिकारियो, आदर्शवादियो तथा रोमामकारियो का जनक भी कहा है। उसे सबसे पहला उच्चकोटि का फासीवाद (fascist of the fascists) भी कहा गया है। स्वय मैक्सी ने यह भी कहा है कि समस्त समाजवादी तथा साम्यवादी चिन्तन की जडें प्लेटो के विचारो मे विद्यमान थी (All socialistic and communistic thought had its roots in Plato)। रूसो प्लेटो को सबसे महान शिक्षाशास्त्रियो की श्रेणी प्रदान करता है। उसने कहा है कि 'रिपब्लिक' राजनीति पर लिखी गयी रचना न होकर शिक्षाशास्त्र पर लिखी गयी अद्वितीय रचना है (The Republic is not so much a treatise on politics if the finest treatise on education that ever was written)। प्लेटो के रिपब्लिक स्टेटसमैन तथा लॉज के विचारो को समूचे रूप मे लेकर यह निष्कर्ष निकालना कठिन नही होगा कि प्लेटो ने राजनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र शिक्षाशास्त्र, विधिशास्त्र आदि सभी क्षेत्रो मे व्यापक विचार किया है। उसकी रचनाओं का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास म निरपेक्ष रूप से क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन करने वाला सबसे प्रथम विचारक प्लेटो ही था। इस दृष्टि से राजनीतिक चिन्तन को प्लेटो की अनेक अमूल्य देनें हैं। उसके विचारो के दो पक्ष थे प्रथम, स्वप्नलोकी पक्ष जिसके अन्तर्गत साम्यवाद तथा दर्शन के शासन की धारणायें थी यह समाप्त हो चुकी हैं। स्वय प्लेटो ने अपने जीवन काल मे ही इनकी व्यावहारिकता पर सन्देह करके अपने बाद के ग्रन्थो म इन्हे स्थान नही दिया था। परन्तु किसी न किसी रूप म बाद के चिन्तको ने इन्हे अपनाया है। दूसरा पक्ष व्यावहारिक है, जो अमर है। आज प्लेटो के 2500 वर्ष बाद भी इनका महत्त्व किसी भाँति कम नही माना जाता। यही कारण है कि आज तक प्लटो के ग्रन्थो का अध्ययन पूरी अभिरुचि के साथ समार भर मे किया जाता रहा है। इसके अन्तर्गत प्लेटो के न्याय, कानून नैतिकता शिक्षा आदि से सम्बद्ध विचार आत हैं। प्लटो की रचनाओ की उपर्युक्त विशेषताओ के आधार पर राजनीतिक चिन्तन को उसकी प्रमुख देनें निम्नांकित शीर्षको के अन्तगत रखी जा सकती हैं।

(1) **आदर्शवादियों का जनक**—राजनीतिक चिन्तन के इतिहास म प्लेटो से लेकर आज तक अनेक आदर्शवादी चिन्तक हुए हैं, जिन्होने राज्य को एक आदर्श एव नैतिक सस्था मानकर उसका प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति की नैतिकता का विकास करना माना है, और व्यक्ति के हित म राज्य को सर्वोच्च तथा अपरिहाय सवाम के रूप म चित्रित किया है। इस श्रेणी म अरस्तू, सिसरो, दान्त, रूसो, हीगल, ग्रीन आदि आते हैं। इन सबके विचारो म प्लटो के विचारा की छाप किसी न किसी रूप म न्यूनाधिक मात्रा म विद्यमान रही। इन आदर्शवादियो पर प्लटो का प्रभाव सर्वाधिक

मात्रा में पाया जाता है। अरस्तू तो स्वयं प्लेटो का शिष्य ही रह चुका था। यद्यपि उसने प्लेटो के साम्यवाद की तीव्र आलोचना की थी, तथापि अन्य राजनीतिक आदर्शों का प्रतिपादन करने में वह प्लेटो के सिद्धान्तों को पूर्णतया अपनाता है। सिसरो ने प्लेटो के नमूने पर ही अपने ग्रन्थों को लिखा और उनके नाम तक प्लेटो के ग्रन्थों के अनुसार ही रखे। आगस्टाइन ने प्लेटो के विविध विचारों को ईसाइयत के सन्दर्भ में व्यक्त किया था। दान्ते के विश्व राज्य की धारणा का सम्राट प्लेटो के दार्शनिक राजा की प्रतिमूर्ति था। रूसो, हीगल, काण्ट, ग्रीन आदि की नैतिकता सम्बन्धी धारणाएँ प्लेटो के विचारों से प्रभावित हैं।

(2) स्वप्नलोकियों का गुरु—रिपब्लिक में प्लेटो का उद्देश्य किसी यथार्थ राज्य का परीक्षण न करके राज्य के एक ऐसे आदर्श का चित्रण करना था जो हर प्रकार से पूर्ण हो। ऐसा करने में वह वास्तविकता को खोकर ऐसे आदर्श राज्य का चित्रण करता है जिसकी स्थापना इस पृथ्वी में सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से उसका राज्य सम्बन्धी विवेचन स्वप्नलोकी ही कहा जा सकता है। प्लेटो के पश्चात् अनेक विचारकों ने राज्य सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन करने में ऐसी परम्परा अपनायी थी। आगस्टाइन ने दैवी राज्य की धारणा, दान्ते के विश्व राज्य की कल्पना, टामस मोर का उटोपिया, आदर्शवादी चिन्तकों की राज्य सम्बन्धी धारणाएँ सब स्वप्नलोकी विचार ही थे। इन सबको प्लेटो ही से प्रेरणा मिली है।

(3) क्रान्तिकारियों का जनक—राजनीतिक आदर्शों का प्रतिपादन करने में प्लेटो तत्कालीन यूनानी नगर राज्यों में फैली अव्यवस्था से प्रभावित हुआ था। उसने जिन बुराइयों को यूनानी नगर-राज्यों के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के अन्तर्गत देखा, उनका निराकरण करने के निमित्त वह सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना आवश्यक समझता था। अतः लोकतन्त्र तथा निरंकुशतन्त्रों के स्थान पर ज्ञान के निरंकुश शासन की स्थापना, शासक वर्गों के लिए सम्पत्ति तथा परिवार प्रथा का अन्त करना, शिक्षा की व्यापक व्यवस्था द्वारा उनके दृष्टिकोण को पूर्णतया समाज-सेवी बनाना, आदि प्लेटो के महान् क्रान्तिकारी विचार थे। भविष्य में जितने भी विचारकों ने सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का आह्वान किया, सब में प्लेटो के विचारों का प्रभाव था। रूसो, मार्क्स आदि जितने भी विचारक क्रान्तिकारियों के प्रतिपादक सिद्ध हुए हैं, किसी न किसी रूप में प्लेटो का ही अनुगमन करने वाले चिन्तक थे।

(4) फासीवादियों का गुरु—राजनीतिक आदर्शों के रूप में फासीवाद बीसवीं सदी की विचारधारा है। परन्तु प्लेटो को सबसे पहला फासीवादी भी माना जाता है। यद्यपि आधुनिक युग के फासीवाद तथा आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व के फासीवाद में भिन्नता होना स्वाभाविक है, तथापि फासीवाद की मूलभूत धारणाएँ बहुत कुछ अंश में प्लेटो के विचारों से ही प्रभावित हुई हैं। फासीवाद का एक मूल सिद्धान्त राज्य की एकता है। प्लेटो के सम्पूर्ण दर्शन का सार भी राज्य की एकता था। फासीवाद मूल रूप से राज्यवादी है। प्रसिद्ध फासी नेता मुसोलिनी का कहना था,

'सब कुछ राज्य के अन्दर है, राज्य से बाहर या राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं '।[1] फासीवाद लोकतन्त्र तथा लोकतन्त्री आदर्शो, स्वतन्त्रता, समानता आदि का विरोधी है। वह एक राजनेता की अधिनायकवादी शासन का समर्थक है, जिसे वह सच्चा दार्शनिक जननायक तथा सम्पूर्ण समाज का नियन्ता मानता है। प्लेटो की धारणा के दार्शनिक राजा का शासन भी इसी प्रकृति का होता। वह व्यवस्था भी विधि के शासन, वैयक्तिक स्वतन्त्रता, लोक प्रभुसत्ता आदि के विरुद्ध होती। शासक के ऊपर किसी प्रकार की कानून की मर्यादा नही रहती। निस्सन्देह आधुनिक फासीवाद के कुछ लक्षण प्लेटो के विचारो मे नही थे, यथा साम्राज्यवाद, युद्ध तथा आक्रामक राष्ट्रवाद का समर्थन आदि। यह भी सत्य है कि उस युग मे साम्राज्यवाद तथा राष्ट्रवाद जैसी धारणाएँ थी भी नही। आधुनिक फासीवाद साम्यवाद का विरोधी है, जबकि प्लेटो साम्यवाद का भी समर्थक है। परन्तु यह भी स्मरणीय है कि आधुनिक तथा प्लेटो के साम्यवाद कई दृष्टियो से भिन्न हैं। प्लेटो का पत्नियो का साम्यवाद तथा प्रजनन की व्यवस्था को किसी न किसी रूप मे बीसवी सदी के जर्मन नाजीवाद के अन्तर्गत भी अपनाने की धारणा बतायी गयी थी। प्लेटो के विचारो को हीगल ने अपनाया था और हीगल के विचारो ने ही फासीवाद को प्रेरणा दी है। इस दृष्टि से प्लेटो को फासीवाद का जनक कहना अतिशयोक्ति नही कही जा सकती।

(5) **समाजवाद तथा साम्यवाद का जनक**—यद्यपि समाजवादी तथा साम्यवादी चिन्तन तथा व्यवहार अति प्राचीन काल मे विश्व के विभिन्न भागो मे विभिन्न रूपो मे व्यक्त होता रहा है, और आज भी समाजवाद तथा साम्यवाद एक समरूप सार्वभौम दर्शन तथा कार्यक्रम नही रह पाया है, तथापि सभी समाजवादी तथा साम्यवादी कुछ मौलिक धारणाओ मे एक मत हैं। यह धारणाएँ हैं आर्थिक समानता, आर्थिक शोषण का अन्त, भौतिक सम्पत्ति तथा उत्पादन के साधनो का सामूहिक स्वामित्व तथा समानता के आधार पर समुचित वितरण, समाज सेवा की भावना से श्रम करना, आदि। यद्यपि प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की व्यवस्था सम्पूर्ण समाज पर लागू नही होती, तथापि सरक्षक वर्ग, जिस पर वह लागू होती है, पूर्णतया समाजवादी समाज बन जाता। उस वर्ग के सदस्यो के पास किसी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति नही रहती और उत्पादन का जो भाग सरक्षकों के निमित्त प्राप्त होता, उसका उपभोग समानता के आधार पर सामूहिक होता। प्लेटो के ये विचार समाजवादी तथा साम्यवादी चिन्तको के प्रेरणा स्रोत ही माने जा सकते हैं।

सक्षेप मे, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तको मे प्लेटो सबसे पहला दार्शनिक है जिसने क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन की परम्परा का सूत्रपात किया और आज तक उसके चिन्तन का प्रभाव किसी न किसी रूप म अनेक विद्वानो के विचारो म रहता आया है। राजनीति की विभिन्न आधुनिक विचारधाराएँ उसके दर्शन से प्रभावित हैं। ज्ञान के विविध क्षेत्रो मे उसका योगदान युगो युगों तक बना रहेगा।

[1] 'Nothing outside the state, nothing against the state, all within the state'

दूसरा अध्याय

अरस्तू

(384 ई० पू० से 322 ई० पू०)

जीवन परिचय

प्राचीन यूनानी महानतम दार्शनिको की त्रयी मे अरस्तू सबसे अन्तिम राजनीतिक चिन्तन परन्तु वैज्ञानिक राजनीतिशास्त्र का जन्मदाता है। गुरु-शिष्य परम्परा मे सुकरात के बाद प्लेटो तथा प्लेटो के बाद अरस्तू आते हैं। अरस्तू का जन्म ईसा से 384 वर्ष पूर्व स्टैगिरा नामक स्थान पर एक सम्भ्रान्त परिवार मे हुआ था। उसका बाप मैसीडोनिया के राजा का राज-वैद्य था। अत अरस्तू का बाल्यकाल राजसी वातावरण मे बीता। स्वय भी वह एक चिकित्सक और जीवशास्त्री था। 17 वर्ष की उम्र मे वह प्लेटो की अकादमी मे प्रविष्ट हुआ और लगभग 20 वर्ष तक उसका शिष्य रहा। प्लेटो की मृत्यु के पश्चात् उसने कई राज्यो मे भ्रमण किया। वह तीन वर्ष तक मैसीडॉनिया के राजकुमार सिकन्दर महान् का शिक्षक भी रहा। 335 ईसा पूर्व मे उसने प्लेटो की अकादमी के नमूने पर अपना एक शिक्षालय स्थापित किया जिसका नाम 'लीसियम' था। इस सस्था ने बहुत से शिष्यो को आकर्षित किया। अरस्तू ने अपने शिष्यो का विविध विषयो मे शोध-कार्य निदेशन किया। इसी अवधि मे उसने अपनी प्रसिद्ध रचनाओ 'इथिक्स' तथा 'पॉलिटिक्स' की सामग्री भी तैयार की। उसके राजनीतिक विचारो का ज्ञान उसकी रचना 'पॉलिटिक्स' से होता है। पॉलिटिक्स की रचना उसने एक सुसम्बद्ध ग्रन्थ के रूप मे नहीं की थी अपितु इसकी विषय-वस्तु उन व्याख्यानो के नोटों के रूप मे है जिन्हे उसने लीसियम मे अपने शिष्यो के सम्मुख देने के लिए तैयार किया था। अरस्तू की मृत्यु के पश्चात् इन नोटो का सग्रह किया गया और पूर्ण विषय-वस्तु को 'पॉलिटिक्स' नाम से ग्रन्थबद्ध किया गया।

यद्यपि अरस्तु मे अपने गुरु प्लेटो की सी दार्शनिक तथा काव्यगत प्रतिभा नही थी और उसकी लेखन शैली भी प्लेटो की तुलना मे हीनतर है, तथापि व्यावहारिक अनुभव तथा अध्ययन के क्षेत्र मे वह अपने गुरु स कही अधिक बढा-चढा था। अरस्तू ने इतिहास का व्यापक अध्ययन किया था। कहा जाता है कि उसने तत्कालीन तथा अतीत के यूनानी नगर-राज्यो के 158 सविधानो का अध्ययन किया था। उसका जीवन राजसी परिवारो के वातावरण मे बीता था। अपने युग के महान् सम्राट

सिकन्दर का शिक्षक रहने के कारण उसे व्यावहारिक राजनीति का अच्छा ज्ञान था। अतएव उसके राजनीतिक विचार व्यावहारिक राजनीति को भी परिलक्षित करते हैं। अरस्तू ने केवल राजनीति पर ही नही लिखा, अपितु नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, जीव-शास्त्र, शरीर-विज्ञान, तर्कशास्त्र आदि पर भी उसकी रचनाएँ हैं और इन समस्त विषयो पर उसके विचार पूर्णतया प्रामाणिक माने जाते रहे। मैक्सी ने उसे 'ज्ञानवानो का गुरु' (the master of them that know) कहा है। अरस्तू के विचार से नीतिशास्त्र व्यक्तिगत भलाई का, अर्थशास्त्र परिवार की भलाई का, और राजनीतिशास्त्र सामाजिक भलाई का शास्त्र है। अत राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य मानव के सर्वोत्तम हित का प्रतिपादन करना है। इसीलिए यह शास्त्र समस्त शास्त्रों से श्रेष्ठतर है।

प्लेटो का प्रभाव—अरस्तू सिकन्दर महान् सदृश साम्राज्य-विस्तारवादी शासक का गुरु रह चुका था। उसका जीवन अनेक राजकीय घरानो म बीता। उसका विवाह भी एक राजकुमारी के साथ हुआ था। इतना होते हुए भी उसके राजनीतिक विचार यूनानी नगर-राज्यो की व्यवस्था के सन्दर्भ मे ही लिखे गये हैं और उसके ऊपर प्लेटो के विचारो का पर्याप्त प्रभाव बना हुआ था। जहाँ तक राजनीति के उद्देश्य का सम्बन्ध है, वह प्लेटो मे भिन्न नही है। प्लेटो राजनीति तथा नीतिशास्त्र के मध्य भेद नही करता, परन्तु अरस्तू इन्हे पृथक्-पृथक् परन्तु एक-दूसरे से सम्बद्ध शास्त्रो के रूप मे मानता है। दोनों यह मानते हैं कि उत्तम, सुखी तथा सद्गुण युक्त जीवन की प्राप्ति कराना राज्य का उद्देश्य है। ऐसे जीवन की प्राप्ति व्यक्ति का ही नही, अपितु सम्पूर्ण समाज का उद्देश्य है। समाज का अभिन्न अग रहकर ही व्यक्ति को ऐसे जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

प्लेटो से भिन्नता—राजनीतिक विचारधाराओ के प्रतिपादन मे प्लेटो तथा अरस्तू मे मुख्य भेद विचार-पद्धति का है। प्लेटो कल्पनावादी तथा प्रत्ययवादी था। उसका आदर्श-राज्य जैसा 'रिपब्लिक' मे चित्रित किया गया था, एक स्वप्नलोकी आदर्श प्रस्तुत करता है। इसका कारण यह था कि प्लेटो तत्कालीन यूनान के नगर-राज्यो की व्यावहारिक राजनीति से क्षुब्ध होकर आदर्श राज्य की कल्पना करने की दिशाओ म प्रवृत्त हुआ था, परन्तु अरस्तू प्लेटो के आदर्श-राज्य की धारणा से परेशान होकर पुन व्यावहारिक राजनीति का मार्ग अपनाता है। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे जब प्लेटो स्टेट्समैन तथा लॉज की रचना कर रहा था तो उसी अवधि मे अरस्तू उसका शिष्य रहा था। अत अरस्तू के विचारो पर प्लेटो के उसी काल के विचारो का प्रभाव पडा। अरस्तू के ग्रन्थ पॉलिटिक्स मे किसी आदर्श-राज्य का विवेचन नही किया है, बल्कि राज्य के आदर्शों का विवेचन किया गया है। इस दृष्टि से उसके विचार एक क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन के रूप मे न होकर शासन विधान की कला के रूप म अधिक हैं।

विचार-पद्धति

आगमनात्मक विधि—अरस्तू की विचार पद्धति आगमनात्मक विधि का

अनुसरण करती है। वह विशेष से सामान्य की ओर चलता है। प्लेटो का विश्वास था कि वास्तविकता अन्ततोगत्वा आदर्श या प्रत्यय मे निहित रहती है। परन्तु अरस्तू की धारणा इसके विपरीत थी। उसके मत से प्रत्येक बात जिसे हम जानते हैं या जिसका अनुभव करते हैं, स्वय अपना विशिष्ट सार या वास्तविकता रखती है, तुलना तथा पर्यवेक्षण के द्वारा हम वस्तुओ की आन्तरिक वास्तविकता का ज्ञान करके सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इस प्रकार प्लेटो का दर्शन 'सार्वभौम स्वरूप का दर्शन' है जबकि अरस्तू का दर्शन 'व्यक्तिगत सार का दर्शन' है।[1] प्लेटो के मत से वास्तविक सत्य सम्पूर्ण प्रत्यय (absolute idea) मे विद्यमान रहता है; अरस्तू का मत था कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ या अनुभव वास्तविकता की अभिव्यक्ति का अग है और इसे तुलना, विश्लेषण तथा पर्यवेक्षण की वैज्ञानिक विधि के द्वारा खोजा जा सकता है। अतः अपने राजनीतिक विचारो के प्रतिपादन मे प्लेटो एक काल्पनिक निरपेक्ष आदर्श को लेकर चलता है और उसी आदर्श के विविध तत्वों का विवेचन करता है। परन्तु अरस्तू विभिन्न राजनीतिक समाजो, परम्पराओ एव वास्तविकताओं को लेकर तुलना एव पर्यवेक्षण की विधि से तथ्यो का सकलन करके उस तमाम सामग्री को प्रस्तुत करता है जिसका यथावसर प्रयोग करके एक आदर्श-राज्य का निर्माण किया जा सके। राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध मे दोनो की धारणा एक है, परन्तु उद्देश्य प्राप्ति के साधन भिन्न हैं। 'प्लेटो का उद्देश्य एक ऐसे महामानव (दार्शनिक शासक) की तलाश करना था जो राज्य को इतना उत्तम बना सके जैसा कि उसे होना चाहिए। अरस्तू एक ऐसे शास्त्र की तलाश करता है जो राज्य को इतना उत्तम बना सके जितना कि वह हो सकता है।'[2] दोनो विचारक आदर्श राज्य की व्यवस्था को राज्य के वास्तविक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए वाछनीय मानते हैं। परन्तु ऐसे आदर्श के लिए जहाँ प्लेटो एक स्वप्नलोकी आदर्श की कल्पना करता है वहाँ अरस्तू राजनीति के सिद्धान्तो का शास्त्रीय विवेचन करके ऐसे आदर्श प्रस्तुत करता है जिनका अनुगमन करके राजनेता आदर्श राज्य की स्थापना करने मे सफल हो सकते हैं। इस दृष्टि मे मैक्सी ने जहाँ प्लेटो को राजनीतिक चिन्तको के मध्य सबसे पहला स्वप्नलोकी विचारक कहा है, वहाँ वह अरस्तू को सबसे पहला महान् राजनीतिशास्त्री (The First Great Political Scientist) कहता है।

राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति—अरस्तू का कथन है कि 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है, जिसका अन्तिम लक्ष्य स्वभावत राज्य का जीवन व्यतीत करना है।'[3] अपनी आर्थिक आवश्यकताओ तथा मानवीय प्रवृत्तियो की तुष्टि करना उसका स्वभाव है। इसी के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष तथा मालिक और दास एक साथ मिलकर परिवार के रूप मे

[1] Plato's philosophy is that of 'universal form', while that of Aristotle is of 'individual substance'

[2] 'Plato seeks a super man to create the state as good as it ought to be. Aristotle seeks a super science to create the state as good as it can be'

[3] 'Man is a political animal, destined by nature for state life.'—Aristotle

सयुक्त होते हैं। परिवार मनुष्य की कुछ भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाला समुदाय है। मनुष्य स्वभावत इतने से ही सन्तुष्ट नही होता। वह अपनी कुछ अन्य सास्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति भी करना चाहता है, जो उसकी दैनिक भौतिक आवश्यकताओ से उच्चतर प्रकृति की होती हैं। इसलिए विभिन्न परिवार एक ग्राम के रूप मे सगठित होते हैं। इस प्रकार मानव की स्वाभाविक सामुदायिकता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप प्रजननात्मक, आर्थिक तथा भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए परिवार तथा सास्कृतिक और मानवीय सहचार की प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए ग्रामो की सृष्टि होती है। परन्तु मनुष्य अपने जीवन के पूर्ण विकास के लिए इतने से ही सन्तुष्ट नही होता। अत अनेक ग्राम मिलकर वृहत्तर समुदाय राज्य (Polis) के रूप मे सगठित होते हैं। राज्य एक पूर्ण समुदाय है। जिसमें अन्य सब समुदाय शामिल हैं। यह एक प्राकृतिक तथा नैतिक समुदाय है। इसका उद्देश्य मानव की उच्चतम आवश्यकताओ की पूर्ति करना है। यह मनुष्य की राजनीतिकता की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम है। अत यह सर्वोच्च समुदाय है। अरस्तू की विवेचना के आधार पर, 'राज्य परिवारो तथा ग्रामो का समूह है जिसका उद्देश्य एक आत्म-निर्भर एव उत्तम जीवन की प्राप्ति करना है।'[1]

राज्य का स्वरूप

राज्य व्यक्ति से पूर्व है—राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे अरस्तू का कथन है कि राज्य व्यक्ति से पूर्व है (State is prior to individual)। इसका आशय यह है कि राज्य मानवकृत समुदाय नहीं है अपितु एक प्राकृतिक समुदाय है। व्यक्ति, परिवार तथा गाँव सब उसके अग हैं। राज्य सम्पूर्ण (अगी) है। जिस प्रकार सम्पूर्ण से उसके अग को अलग कर देने पर वह आत्म-निर्भर नही हो सकता, न उसका अपना पृथक् निजी अस्तित्व रह सकता है, उसी प्रकार राज्य से पृथक् रहने पर व्यक्ति या अन्य समुदाय आत्म निर्भर नही हो सकते। इसलिए व्यक्ति तथा राज्य का सम्बन्ध अग तथा अगी का है। अरस्तू का कहना है कि 'जो व्यक्ति समाज मे रहना नहीं चाहता अथवा जिसे समाज या राज्य की इसलिए आवश्यकता नही है कि वह अपने को आत्म-निर्भर तथा पूर्ण समझता है, वह या तो देवता हो सकता है या जगली जानवर। उसे राज्य का अग नही माना जा सकता।'[2]

समय की दृष्टि से भी परिवार राज्य से पूर्व आता है, क्योकि पहले परिवार बनता है, तब ग्राम और अन्त म राज्य। परन्तु 'प्रकृतित' (by nature) राज्य सबसे पूर्व है। इसका यह अर्थ है कि 'राज्य का विकास अधिक पूर्णता से हुआ है, इसलिए वह समाज म अन्तर्निहित तत्वो का द्योतक है।'[3] इसीलिए राज्य का जीवन मानव

[1] 'State is a union of families and villages having for its end a self-sufficing and happy life'

[2] He who is unable to live in society or who has no need because he is sufficient for himself must be either a beast or a God He is no part of the state'

[3] 'It (State) is more completely developed and, therefore, the more indicative of what the community has implicit in it' —Sabine, *op cit*, 113

प्रकृति मे अन्तर्निहित सभी तत्त्वो को समाविष्ट करना है। दार्शनिक एव तार्किक दृष्टि से भी राज्य व्यक्ति से पूर्व है, क्योकि तर्क यही मानता है कि सम्पूर्ण वस्तु अपने अग से पूर्व होती है। उदाहरणार्थ, शरीर सम्पूर्ण है और हाथ उसका अग। अत पहले सम्पूर्ण शरीर है और हाथ का भाव उसके बाद मे आता है। सम्पूर्ण से पूर्व अग का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता। इसी प्रकार व्यक्ति, परिवार या ग्राम का राज्य से पूर्व पृथक् अस्तित्व नही माना जा सकता, क्योकि ये समस्त समुदाय राज्य के अन्तर्गत ही अपनी पूर्णता को प्राप्त करते हैं और राज्य मे ही वे अपने वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति कर सकते हैं। चूँकि व्यक्ति के सर्वतोमुखी कल्याण के लिए राज्य आवश्यक है, अत राज्य भी उसी प्रकार से प्राकृतिक है जिस प्रकार मानव।

नैतिक तथा व्यावाहरिक तर्क—अरस्तू के इस कथन का कि 'राज्य व्यक्ति से पूर्व है', यह निष्कर्ष है कि राज्य एक ऐसा नैसर्गिक समुदाय है जिसमे रहकर व्यक्ति तथा अन्य समुदाय अपना पूर्ण तथा वास्तविक विकास कर सकते हैं। उसके बिना वे आत्म-निर्भर नही हो सकते। राज्य ही ऐसा समुदाय है जो व्यक्तियो को आत्म निर्भरता, सामाजिक सुरक्षा, शान्ति तथा व्यवस्था और पूर्ण जीवन के लिए विविध सुविधाएँ प्रदान करा सकता है। उत्तम जीवन के लिए व्यक्ति को आवश्यक साधन उपलब्ध कराने मे राज्य ही सक्षम होता है। राज्य उन नैतिक प्रतिबन्धो की व्यवस्था कर सकता है, जो श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक है। इस प्रकार वह व्यक्ति को आत्म-निर्भर जीवन प्रदान करने मे सहायक सिद्ध होता है। परिवार, ग्राम तथा अन्य सवास ऐसी क्षमता नही रख सकते। राज्य तथा परिवार मे जो अन्तर है, वह उनके रूप (kind) का है न कि परिमाण (degree) का। उदाहरणार्थ, परिवार का मुखिया अपनी पत्नी के ऊपर एक वैधानिक सलाहकार के रूप मे शासन करता है न कि एक स्वेच्छाचारी शासक के रूप मे, इसी प्रकार अपने बच्चे के ऊपर वह एक राजा के रूप मे शासन करता है न कि एक स्वेच्छाचारी शासक के रूप मे, दासो के ऊपर उसका शासन एक स्वेच्छाचारी शासक के रूप मे होता है। परन्तु राज्य मे शासन का सम्बन्ध प्रत्येक नागरिक के साथ एक-सा होता है। परिवार या अन्य सवास व्यक्ति की कुछ सीमित आवश्यकताओं (भौतिक या सास्कृतिक) की पूर्ति करते हैं, परन्तु राज्य उसकी नैतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है, जो उसे मानव बनाती हैं और उसे पूर्णत्व प्रदान करती हैं।

राज्य का सावयव रूप

अरस्तू ने राज्य की तुलना एक जीवधारी से भी की है। यद्यपि उसने राज्य के सावयव सिद्धान्त की विशद व्याख्या नही की है, तथापि अरस्तू के सिद्धान्त मे राज्य के सावयव सिद्धान्त के अकुर विद्यमान थे। अरस्तू के मत से जीवधारी के शरीर मे दो प्रकार के अग होते हैं जिनमे से एक को आवश्यक (integral) तथा दूसरे को योगदानकारी (contributory) अग कहा जा सकता है। जीवधारी के शरीर के ऐसे अग यथा हाथ, पैर, मुँह आदि उसके अभिन्न अग हैं। उनके बिना

शरीर पूर्ण नही हो सकता। इसी प्रकार राज्य मे उसके सैनिक सगठन, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका आदि उसके अभिन्न अग हैं। दूसरी ओर जीवधारी के शरीर मे रक्त, मास तथा विभिन्न नाडियाँ उसके योगदानकारी अग हैं, वे शरीर को बनाये रखते हैं। इसी प्रकार राज्य मे कृषक, शिल्पी, श्रमिक, व्यापारी आदि वर्ग राज्य के योगदानकारी अग कहे जा सकते है।

अतएव राज्य सम्पूर्ण है जिसका निर्माण विविध प्रकार के अगो मे हुआ है, जो सम्पूर्ण के हित मे विविध प्रकार से उसकी सरचना, कार्यो तथा विशेषताओ का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु ये सब अग सम्पूर्ण पर निर्भर हैं, न कि उससे स्वतन्त्र। राज्य तथा व्यक्ति कई दृष्टियो से समरूप (identical) हैं। व्यक्ति की भाँति राज्य भी नैतिक जीवन व्यतीत करता है। उसके जीवन का उद्देश्य भी सद्गुणों से युक्त सुखी जीवन की प्राप्ति करना है। राज्य के सद्गुण व्यक्ति के सद्गुणो के ही विशाल रूप हैं।

राज्य का उद्देश्य

राज्य के स्वरूप, उत्पत्ति, पारिभाषिक व्याख्या आदि के सम्बन्ध मे अरस्तू की धारणाएँ वैज्ञानिक तथा यथार्थ है। परन्तु जहाँ तक राज्य के कार्य क्षेत्र का सम्बन्ध है अरस्तू तथा प्लेटो के दृष्टिकोण मे कोई विशेष अन्तर नही है। राज्य के कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध मे आधुनिक राज्यो की स्थिति प्राचीन यूनानी नगर-राज्यो की स्थिति से बिल्कुल भिन्न है। प्लेटो तथा अरस्तू यूनानी नगर-राज्यो के सदृश्य कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था वाले छोटे जन-समूहो को आत्म-निर्भर राज्यो का रूप देने की धारणा रखते हैं। राज्य के लिए 'आत्म निर्भरता' तथा व्यक्ति के लिए उत्तम तथा सद्गुण युक्त जीवन की प्राप्ति इन विचारको के राज्य सम्बन्धी कार्यों का मुख्य लक्ष्य है।

सद्गुण युक्त जीवन की प्राप्ति—अरस्तू द्वारा प्रयुक्त 'उत्तम जीवन' शब्द का अभिप्राय आन्तरिक एव बाह्य दोनो दृष्टियो से व्यक्ति को सुखी बनाना है। इसका यह अर्थ है कि व्यक्ति को नैतिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास करने का अवसर मिले। साथ ही उसकी भौतिक आवश्यकताओ की भी पूर्ति हो सके। चूँकि इन सबकी पूर्ति व्यक्ति राज्य का सदस्य रहकर ही कर सकता है, अत राज्य का जीवन व्यक्ति के लिए आवश्यक तथा अपरिहार्य है। आत्म-निर्भरता तथा उत्तम जीवन व्यक्ति एव राज्य दोनो के लिए आवश्यक है। इसीलिए अरस्तू ने कहा है कि 'सद्गुण युक्त जीवन की प्राप्ति मे राज्य एक भागीदार है' (State is a partner in the life of virtue)। राज्य की महानता इस तथ्य पर निर्भर नही करती कि वह शक्तिशाली है, बल्कि इस तथ्य पर कि वह अपना नैतिक उद्देश्य रखता है।

सर्वोच्च सद्गुणों का विकास—अरस्तू के राज्य-सम्बन्धी आदर्श मे व्यक्तिवाद तथा आदर्शवाद का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। वह व्यक्ति की वैयक्तिकता को राज्य के नाम पर नष्ट नही कर देना चाहता है। अरस्तू के मत से राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की नैसर्गिक इच्छाओ की पूर्ति करना तथा सम्पूर्ण जनता के सामान्य

तथा सामूहिक हितो को पूर्ण करना है। व्यक्ति तथा राज्य दोनो की समरूपता इसी अर्थ मे है कि न्याय, सत्य, आत्म-सयम, बुद्धि, उत्साह आदि सद्‌गुण व्यक्ति तथा राज्य दोनो के हैं। व्यक्ति इनकी प्राप्ति राज्य मे रहकर ही कर सकता है। अत राज्य का उद्‌देश्य व्यक्ति में इन सद्‌गुणो का विकास करना है। अरस्तू यह मानता है कि समाज मे प्रत्येक सवास का उद्‌देश्य किसी न किसी भलाई की प्राप्ति करना है। चूंकि राज्य सर्वोच्च सवास है, अत उसका उद्‌देश्य भी सर्वोच्च भलाई की प्राप्ति है।

शिक्षा—राज्य केवल बल-प्रयोग द्वारा अपनी सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करके मन चाहे ढग से अन्य समुदायो तथा व्यक्तियो के जीवन को नियन्त्रित करने वाला समुदाय नहीं है। वह विध्यात्मक एव निषेधात्मक दोनो विधियो मे व्यक्तियो को उत्तम जीवन प्राप्त करने की सुविधाएँ प्रदान करता है। आध्यात्मिक जीवन व्यक्ति एवं राज्य दोनो का लक्ष्य है। इसके लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। अत. शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का सबसे प्रमुख कार्य होना चाहिए।

राज्य तथा सविधान

अरस्तू के मत से राज्य का सारभूत तत्व उसका सविधान है। अरस्तू राज्य तथा सविधान को समानार्थवाची मानता है, जिसका आशय यह है कि यदि किसी राज्य का सविधान परिवर्तित हो जाये तो राज्य की वैयक्तिकता भी बदल जाती है। अरस्तू के विचार से 'सविधान नागरिको की एक व्यवस्था है, अथवा वह जीवन की एक विधि है जो न्यूनाधिक अश मे राज्य के बाहरी सगठन का आदेश देती है।'[1] अरस्तू की राज्य के सविधान की यह परिभाषा उसके राज्य-सम्बन्धी विचारो का 'नैतिक' रूप प्रस्तुत करती है। यह राज्य मे नागरिको के लिए एक साहचर्य पूर्ण सामूहिक जीवन व्यतीत करने की धारणा को दर्शाती है, जिसे 'राज्य का जीवन' (the life of the state) कहा जाता है। सविधान की राजनीतिक दृष्टिकोण से परिभाषा करते हुए अरस्तू कहता है कि सविधान राज्य के पदाधिकारियो तथा मजिस्ट्रेटो की व्यवस्था है।[2] अरस्तू कानून तथा सविधान के मध्य भेद करता है। इस दृष्टि से राज्य के मजिस्ट्रेट कानून के अनुसार ही अपने पदो का कार्य करते हैं। सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से निर्मित विभिन्न समुदाय तथा वर्ग भी राज्य के निर्माणकारी तत्त्व हैं, जो राज्य के किसी राजनीतिक सविधान की उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता का निर्धारण करने में निर्णायक प्रभाव डालते हैं। परन्तु अरस्तू राज्य की आर्थिक सरचना को सविधान नहीं मानता। मैक्लाइन ने कहा है कि 'अरस्तू आर्थिक वर्गों की तुलना (राज्य रूपी) जीवधारी के अगो से करता है और कहता

[1] 'The constitution is an arrangement of citizens or a mode of life which more or less dictates the external organization of the state'—Sabine, *op cit*, 103

[2] 'Aristotle had, however, defined a constitution also as the arrangement of offices or magistrates, which is closer to a political view of the state in the modern sense'—*Ibid*, 103–04

है कि राज्यो के उतने ही रूप होते हैं जितने उन वर्गों को सयुक्त करने के तरीके होते हैं जो किसी सामाजिक जीवन के निर्वाह के लिए आवश्यक हो।'[1]

वर्गीकरण का आधार—अरस्तू ने राज्यो के वर्गीकरण हेतु दो मुख्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन करके राज्य को छ रूपो मे वर्गीकृत किया है। राज्य या सविधान के वर्गीकरण का पहला आधार है उन व्यक्तियो की सख्या जो राज्य की सर्वोच्च सत्ता को धारण करते हैं या उसके प्रयोग मे भाग लेते हैं, दूसरा आधार है राज्य का उद्देश्य या शासन की भावना। इस दृष्टि से या तो राज्य विशुद्ध रूप का होता है या विकृत रूप का। इन सिद्धान्तों के आधार पर छ प्रकार के राज्य निम्नांकित हैं—

सर्वोच्च सत्ता धारण करने वाले व्यक्तियों की सख्या	राज्य का विशुद्ध रूप	राज्य का विकृत रूप
1 एक व्यक्ति	राजतन्त्र (Monarchy)	अत्याचारी शासन (Tyranny)
2 थोडे से व्यक्ति	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	वर्गतन्त्र (Oligarchy)
3 समस्त या अधिकांश व्यक्ति	वैधानिक जनतन्त्र (Polity)	प्रजातन्त्र (Democracy)

राज्य के विशुद्ध रूप का अभिप्राय शासन की भावना से है। अर्थात् यदि राज्य के शासन का उद्देश्य सद्‌गुणो की वृद्धि करना तथा सम्पूर्ण जन-समुदाय को उत्तम जीवन की प्राप्ति कराना हो तो राज्य या सविधान विशुद्ध रूप का कहा जाता है। इसके विपरीत यदि शासन-सत्ताधारी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह जनसाधारण के हितो की उपेक्षा करके अपने ही हितो का ध्यान रखकर शासन कार्य का सचालन करने लगे तो राज्य या सविधान विकृत रूप का होगा।

सविधानो के लक्षण—अरस्तू के विचार से राजतन्त्र का उद्देश्य सर्वोच्च सद्‌गुणो का विकास करना है। अत्याचारी शासन स्वार्थ एव छल-कपट का द्योतक है। कुलीनतन्त्री राज्य मे सद्‌गुण तथा धन का सम्मिश्रण पाया जाता है। वर्गतन्त्र का उद्देश्य धन का लालच है। वैधानिक जनतन्त्र मध्यम सद्‌गुणों की वृद्धि का उद्देश्य रखता है; इसमे राजसत्ता बहुत से व्यक्तियो के हाथ मे रहती है, परन्तु वे मध्यम वर्ग के (अर्थात् धनी वर्ग व जनसाधारण दोनो का सम्मिश्रण) होते हैं। अरस्तू प्रजातन्त्र को राज्य का विकृत रूप मानता है। इसका उद्देश्य समानता, स्वतन्त्रता एव बहुसख्यको का शासन होता है। शासन सत्ता को धारण करने वाले व्यक्ति निर्धन बहुसख्यक होते हैं। ऐसे शासन मे राज्य सद्‌गुणो की अभिवृद्धि करने की क्षमता नही रख पाता।

राज्य के उपर्युक्त छ प्रकार के वर्गीकरण मे मिश्रित राज्य का कोई उल्लेख

[1] *Ibid*, 104

नहीं है। सर्वोच्च सत्ता धारण करने वाले व्यक्ति की संख्या का सिद्धान्त भी आवश्यक रूप से पर्याप्त नहीं है बल्कि अवसरवशात् ही सत्य है। वर्गतन्त्र एवं प्रजातन्त्र का आधार सामाजिक वर्गों के हाथ में सम्प्रभु शक्ति का होना है। वर्गतन्त्र में उन धनिकों के हाथ में सत्ता रहती है जो सामान्यतया अल्पसंख्यक होते हैं। इसी प्रकार प्रजातन्त्र निर्धन वर्ग का शासन है, जो संख्या में बहुसंख्यक होते हैं। अपवादस्वरूप इन वर्गों की संख्या का स्वरूप विपरीत प्रकृति का हो सकता है। उस स्थिति में संख्यात्मक सिद्धान्त सही नहीं होगा। परन्तु सामान्यतया धनी वर्ग संख्या में कम तथा निर्धन वर्ग बहुसंख्यक होते हैं। अतः वर्गतन्त्र को धनिकों का तथा प्रजातन्त्र को निर्धनों का शासन कहना अधिक उपयुक्त होगा।[1] यद्यपि अरस्तू उपर्युक्त छः प्रकार के संविधानों के अतिरिक्त अन्य किसी रूप के संविधान का उल्लेख नहीं करता है, इसलिए उसके वर्गीकरण में मिश्रित संविधान का उल्लेख नहीं है, तथापि जिस संविधान को अरस्तू पॉलिटी (वैधानिक जनतन्त्र) का नाम देता है, वह मिश्रित संविधान ही है। यह वर्गतन्त्र एवं प्रजातन्त्र का मिश्रण है। अरस्तू इसे सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान मानता है।

राजतन्त्र तथा अत्याचारी शासन

राजतन्त्र के रूप—अरस्तू पाँच प्रकार के राजतन्त्रों का उल्लेख करता है। इनमें से पहले प्रकार का राजतन्त्र स्पार्टा के नमूने का बताया गया है जिसका सैनिक स्वरूप है। यह वंशानुगत या निर्वाचित हो सकता है। दूसरा रूप है असभ्य जन-समूहों का राजतन्त्र जो वंशानुगत होता है। इसमें राजा स्वेच्छाचारिता से शासन करता है अतः वह अत्याचारी शासन है। तीसरा रूप है प्राचीन यूनान के राजतन्त्रों का जिसे तानाशाही कहा जा सकता है। यह निर्वाचित अत्याचारी शासन का रूप है। चौथा रूप वीरों के युग के राजतन्त्र का है। यह वैधानिक अथवा पैतृक हुआ करता है। इस प्रकार के राज्यों में राजा युद्ध में सेनानायक का कार्य करते थे, धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न करते थे और न्याय-सम्बन्धी कार्य भी करते थे। पाँचवाँ रूप निरंकुश राजतन्त्र का है। इसमें राजा सर्वसत्तावादी होता था। परन्तु राजा का प्रजा के साथ वही सम्बन्ध होता था जो परिवार के मुखिया का परिवार के सदस्यों के साथ होता है। अरस्तू ऐसे ही राजतन्त्र को उत्तम राज्य-व्यवस्था मानता है।

राजतन्त्र तथा विधि का शासन—अरस्तू दो सिद्धान्तों के आधार पर राजतन्त्रों के गुण-दोषों का विवेचन करता है। यदि राजा का व्यक्तिगत शासन हो तो उसमें उपक्रम का गुण होता है। परन्तु यदि राजा कानून के शासन का अनुगमन करे तो उसमें निष्पक्षता का गुण विद्यमान रहेगा। कानून का शासन श्रेष्ठतर है क्योंकि उसमें राजा कानून के अनुसार शासन करता हुआ वैधानिक शासक रहता है, न कि स्वेच्छाचारी। परन्तु जहाँ किसी समस्या के सम्बन्ध में कानून मौन हो, वहाँ राजा को केवल अपने विवेक से निर्णय लेने की अपेक्षा अन्यों की सलाह से निर्णय लेना चाहिए। एक व्यक्ति के निर्णय से अधिक व्यक्तियों का निर्णय उत्तम होता है।

[1] Aristotle, *The Politics*, Bk. III, Ch VIII, I.

अत राजा को अपने कुछ मित्रो को अपने सलाहकारी सहायको के रूप मे नियुक्त करना चाहिए। अरस्तू यह भी मानता है कि यदि कोई राजा विशिष्ट ज्ञान (expert knowledge) रखता हो, तो उसे निरकुश राजा (absolute king) के रूप मे प्रतिष्ठित करना न्याय-सगत होगा।

अत्याचारी शासन—यद्यपि अत्याचारी शासन (tyranny) को भी सविधानो की एक श्रेणी मे स्थान दिया गया है, तथापि अरस्तू इसे निकृष्टतम सविधान मानता है। वैसे राजतन्त्र के दो रूप—(1) असभ्य जन-समूहो के बीच वशगत राजतन्त्र, तथा (2) प्राचीन यूनान मे प्रचलित तानाशाही राजतन्त्र भी अत्याचारी सविधान की श्रेणी मे ही रखे जा सकते हैं। ये अर्ध-राजतन्त्र तथा अर्ध-अत्याचारीतन्त्र हैं। परन्तु अत्याचारी शासन का विशुद्ध रूप वह है जो एक व्यक्ति का अनुत्तरदायी शासन होता है, जिसमे शासक शासितो के हितो की उपेक्षा करते हुए केवल अपने ही हितो का ध्यान रखता है। यह शक्ति का शासन है। ऐसा सविधान किसी राजनीतिक समाज को मान्य नही हो सकता।

कुलीनतन्त्र

अरस्तू कुलीनतन्त्र (aristocracy) को सर्वोत्तम व्यक्तियो का शासन कहता है। इसमे राज्य की सर्वोच्च सत्ता धारण करने वाले व्यक्ति विशेष मानदण्डो के सन्दर्भ मे ही उत्तम नहीं होते बल्कि नैतिक गुणो मे भी सर्वोत्तम होते हैं।[1] इसमे शासन के पदो का वितरण केवल धन के आधार पर नहीं, बल्कि नैतिक गुणो के आधार पर भी किया जाता है। शासक वर्ग के गुणो मे धन, उत्तमता तथा सख्या तीनो तत्त्वो का सम्मिश्रण होता है। बार्कर का कथन है कि अरस्तू के द्वारा दी गयी कुलीनतन्त्र की परिभाषा मे दो बातें शामिल हैं—(1) इसके सदस्य केवल 'उत्तम' ही न हो बल्कि सर्वोत्तम हो, (2) उनके इस गुण का मापदण्ड भी नैतिक गुण का पूर्ण मापदण्ड होना चाहिए।[2] कुलीनतन्त्र का मुख्य लक्षण धन तथा योग्यता (merit) का सम्मिश्रण है। धनिको का प्रभाव बढने पर वह वर्गतन्त्र (oligarchy) हो जायेगा, निर्धनो (free-born) का प्रभाव बढने पर प्रजातन्त्र। यदि केवल यही दो तत्त्व समान मात्रा मे रहेगे तो वह वैधानिक जनतन्त्र (polity) कहलायेगा। परन्तु इन दो तत्त्वो के सम्मिश्रणो के अन्तर्गत यदि योग्यता का तत्त्व प्रधान हो तो वह सच्चा कुलीनतन्त्र कहा जायेगा। सक्षेप म, कुलीनतन्त्र थोडे से योग्य धनी और योग्य व्यक्तियो का शासन है जिसमे कानून के अनुसार शासन सचालित होना है।

वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र

अरस्तू ने जिन छ प्रकार के सविधानो (राज्यो) का वर्गीकरण किया है उनमे से राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र अपने विशुद्ध रूप मे सर्वोत्तम व्यवस्थाएँ है। परन्तु

[1] An aristocracy is one where members are not merely 'good' in relation to some standard or other but are absolutely 'the best' (*aristoi*) in point of moral quality' —*The Politics*, Bk IV, Ch VII, 2

[2] Barker *The Politics of Aristotle*, 1948, 173

वास्तविक व्यवहार मे उनकी प्राप्ति सम्भव नही है। अत्याचारी सविधान विकृत रूप का अयच निकृष्टतम है। इस दृष्टि से सविधानो का विवेचन करते हुए अरस्तू अपनी यथार्थवादिता को दर्शाते हुए शेष तीन रूपों (वर्गतन्त्र, प्रजातन्त्र एव वैधानिक जनतन्त्र) का विशेष रूप से विवेचन करता है। वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र को उसने सविधान के विकृत रूपो (perverted forms) मे रखा है। परन्तु एक यथार्थवादी होने के नाते उनका विश्वास है कि यही व्यवस्थाएँ व्यवहार मे अधिक प्रचलित रहती हैं। अत इनकी विशेषताओं तथा गुण दोषो का विवेचन करते हुए वह सर्वोत्तम व्यावहारिक सविधान (the best practicable constitution) की तलाश करता है। उसका निष्कर्ष यह है कि इन दो विकृत सविधानो (वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र) का मध्यम रूप, अथवा इनके तत्वो के सम्मिश्रण से युक्त सविधान सर्वोत्तम है। उसी को वह वैधानिक जनतन्त्र (polity) का नाम देता है। अत अरस्तू वर्गतन्त्र एव प्रजातन्त्र का परीक्षण एक साथ तुलनात्मक दृष्टि से करता है।[1]

अरस्तू के मत से किसी भी सविधान का सिद्धान्त पदो के सम्बन्ध मे वितरणात्मक न्याय (distributive justice) की धारणा है।[2] उदाहरणार्थ, प्रजातन्त्र मे समानता के आधार पर पदो के वितरण का सिद्धान्त ही न्याय माना जाता है। परन्तु समानता की इस धारणा का अर्थ होता है समानो के मध्य समानता, न कि सबके मध्य समानता। परन्तु वर्गतन्त्र के अन्तर्गत असमानता के आधार पर पदो का वितरण न्यायसगत माना जाता है। यहाँ पर भी सिद्धान्त असमानो के बीच असमानता है न कि सबके मध्य। वर्गतन्त्रवादी यह मानते हैं कि सम्पत्ति की उच्चता का अर्थ सब क्षेत्रो मे उच्चता है। इसके विपरीत प्रजातन्त्रवादी जन्मगत समानता को सब क्षेत्रो मे समानता मानते हैं। परन्तु दोनो वर्ग राज्य के वास्तविक उद्देश्य की उपेक्षा करके ही न्याय का ऐसा अर्थ लगाते हैं। वास्तविक न्याय यह है कि राज्य के उद्देश्य की पूर्ति हेतु जो व्यक्ति जिस मात्रा मे अपना योगदान करते हैं उसी मात्रा मे उनके अधिकारो का निर्धारण किया जाना चाहिए।

सविधानो के दो रूप—अरस्तू कहता है कि सविधान राज्य के पदो के वितरण की व्यवस्था है। अत सविधानो के उतने ही रूप हो सकते है जितने प्रकार की पदो के वितरण की व्यवस्थाएँ होगी। कुलीनतन्त्र, वर्गतन्त्र का तथा वैधानिक जनतन्त्र प्रजातन्त्र का रूप है। वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र की परिभाषा करने की कसौटी केवल उन व्यक्तियो की सख्या नही है जिनके हाथ मे प्रभुत्व शक्ति रहती है, बल्कि यह कसौटी सामाजिक वर्ग है। जहाँ धनी वर्ग के हाथ म प्रभुत्व शक्ति रहती है, वहाँ वर्गतन्त्र तथा जहाँ स्वतन्त्र जन्मे वर्ग (free born) के हाथ मे प्रभुत्व शक्ति रहती है, वहाँ प्रजातन्त्र होता है। इस दृष्टि से 'प्रजातन्त्र' वह सविधान है जिसमे शासन का

[1] *The Politics*, Bk III C, Chapters IX to XIII, and Bk IV B, Ch III to IX

[2] 'This distinctive principle is thus in effect, a conception of justice—that is to say, of *distributive* justice, or, in other words of the justice which distributes the offices of the state among its members on a plan or principle'—Barker *op cit* 117

नियन्त्रण निर्धन तथा स्वतन्त्र-जन्मे व्यक्तियो के हाथ मे रहता है जो साथ ही बहुसंख्यक भी होते हैं। इसी प्रकार 'वर्गतन्त्र' वह सविधान है जिसमे धनी तथा अभिजात वर्ग का शासन पर नियन्त्रण होता है, जो साथ ही अल्पसख्यक भी होते हैं।'[1]

प्रजातन्त्र के रूप—अरस्तू प्रजातन्त्र के भी पाँच रूप मानता है। पहले मे कानून के अनुसार समानता का निर्धारण होता है। दूसरे मे पदो का धारण करने के लिए सम्पत्ति जनित योग्यता निर्धारित की जाती है जिसकी मात्रा बहुत न्यून होती है। तीसरे मे जन्मगत नागरिकता पदो के लिए मान्य रहती है, परन्तु उसका निर्धारण कानून द्वारा होता है। चौथे मे केवल मात्र नागरिक होना ही पदधारण की योग्यता रहती है, वह भी कानून के आधार पर नियमित होती है। प्रजातन्त्र का पाँचवाँ रूप वह है जिसमे कानून का कोई बन्धन न होते हुए प्रत्येक व्यक्ति पद-धारण कर सकता है। यह प्रजातन्त्र का निकृष्टतम रूप है। यह अत्याचारी शासन की भाँति है। अरस्तू की यह धारणा है कि जिस सविधान मे कानून सम्प्रभु नही होता वह सच्चा सविधान नही है।

वर्गतन्त्र के रूप—इसी प्रकार वर्गतन्त्र के भी चार रूप होते हैं। पहले मे सम्पत्ति की योग्यता मान्य रहती है, जिसकी मात्रा अधिक होती है। अत इसमे निर्धन बहुसख्यको की उपेक्षा की जाती है। दूसरे मे भी पर्याप्त सम्पत्ति का होना पदधारण के लिए वाछनीय रहता है और सम्पत्तिशाली व्यक्ति ही पदो के लिए निर्वाचक हो सकते हैं। तीसरे मे वशगत योग्यता पदधारण के लिए आवश्यक मानी जाती है और पद वशानुक्रम से सक्रमित होते हैं। चौथे मे वशगत योग्यता तो स्वीकार की जाती है, परन्तु उसमे कानून का प्रतिबन्ध न होकर व्यक्तिगत शासन की पद्धति चलती है। यह वर्गतन्त्र का निकृष्टतम रूप है।

कानून की प्रभुसत्ता की आवश्यकता—सैद्धान्तिक दृष्टि स प्रजातन्त्र के अन्तर्गत धनी तथा अभिजात वर्ग को पदधारण करन से बहिष्कृत नही किया जाता। परन्तु वर्गतन्त्र के अन्तर्गत अधिकाश व्यक्ति इस लाभ से वचित रहते हैं, क्योंकि पदधारण और निर्वाचन मे मतदान के अधिकार के लिए अधिकाश व्यक्तियो के सम्बन्ध म सम्पत्ति की अर्हता बाधक सिद्ध होती है। प्रजातन्त्र मे शासन सत्ता पर बहुसख्यको का अधिकार होने स धनिको, अभिजात-वर्गों एव योग्य व्यक्तियो का प्रभाव कम हो जाता है। वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के मध्य भेद करने की एकमात्र कसौटी न तो सम्पत्ति तथा निर्धनता है और न ही प्रभुसत्ता धारण करने वाले व्यक्तियो की सख्या। इन दोनो प्रकार के सविधानो मे शासन-सत्ता किसी वर्ग-विशेष के हाथ मे रहती है, इसलिए प्रत्येक वर्ग अपने हित मे ही न्याय की भावना का निर्वचन करता है। इसलिए अरस्तू सम्प्रभु शक्ति को किसी व्यक्ति-विशेष या वर्ग-विशेष के हाथ म न देकर कानून की सम्प्रभुता को मान्यता देता है। परन्तु अरस्तू को यह भी भय है

[1] 'The proper application of the term 'democracy' is to a constitution in which the *free-born and poor control the government—being at the same time a majority*, and similarly the term 'oligarchy' is properly applied to a constitution in which the rich and better-born control the government—being at the same time a minority,' —*The Politics*, Bk IV, Ch. IV, 6.

कि कानून भी वर्गतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र की ओर झुकने की दिशा मे प्रवृत्त हो सकती है। अत विकल्प के रूप मे वह लोक प्रभुसत्ता का समर्थन करता है।

लोक प्रभुसत्ता पर विश्वास—अरस्तू द्वारा जनता की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का समर्थन उसे अधिक प्रजातन्त्रवादी बनाता है। *इस सिद्धान्त के समर्थन मे उसका* तर्क यह है कि 'भले ही व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक व्यक्ति मे उत्तम गुणो का अभाव हो, परन्तु जब सब व्यक्ति सामूहिक रूप से एक निकाय के रूप मे सगठित होते हैं तो वे थोडे से उत्तम व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।' उदाहरणार्थ, बहुत से व्यक्तियो के योगदान से आयोजित दावत एक व्यक्ति के व्यय से आयोजित दावत की अपेक्षा उत्तमतर होती है। इसी प्रकार सगीत तथा काव्य का परीक्षण जब कई व्यक्ति करते हैं तो कुछ उनके एक पक्ष की, तथा कुछ अन्य पक्षो की परीक्षा करके अपने विचार व्यक्त करेंगे। इस प्रकार बहुत व्यक्तियो द्वारा उनके विविध पक्षो का भली-भाँति परीक्षण हो जायेगा। यही बात कानून के सम्बन्ध मे भी सत्य है। विशेषज्ञ के ज्ञान तथा व्यक्ति समूह के ज्ञान मे सार्वजनिक नीतियो के सम्बन्ध मे यही अन्तर होता है। शासन कला का सम्बन्ध सार्वजनिक हित से है। एक व्यक्ति गृह-निर्माण कला मे निपुण है तो इसका यह अर्थ नही कि वह जिस मकान का निर्माण करता है, वह दोषपूर्ण नहीं होगा। वास्तव मे मकान की उपादेयता का सही ज्ञान मकान मे रहने वालो को ही हो सकता है। पाकशास्त्र के विशेषज्ञ द्वारा तैयार किया गया भोजन आवश्यक रूप से सर्वोत्तम नही माना जा सकता। उसकी सही जाँच तो खाने वाले ही कर सकते हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक नीतियो तथा कानून का निर्माण यदि विशेषज्ञो द्वारा किया जायगा तो उनका श्रेष्ठतम होना आवश्यक नहीं है। सामूहिक निर्णय तथा ज्ञान किसी एक विशेषज्ञ अथवा दार्शनिक के निर्णय तथा ज्ञान से उत्तमतर होता है। इसलिए सामूहिक रूप से जनता को सम्प्रभु होना चाहिए। *सामूहिक निर्णय मे निर्मित कानून उत्तम होगे। यदि कानूनो का निर्माण ठीक ढग से* हुआ हो तो उन्ही को सम्प्रभु होना चाहिए। कानूनो की उत्तमता की कसौटी यह है कि वे सविधानों के अनुरूप हो।

वैधानिक तथा लोक प्रजातन्त्र—कानून की सर्वोच्चता की दृष्टि से प्रजातन्त्र के दो भेद किये जाते हैं वैधानिक प्रजातन्त्र (constitutional democracy) तथा लोक प्रजातन्त्र (popular democracy)। वैधानिक प्रजातन्त्र मे कानून सर्वोच्च होता है और कानून द्वारा अल्पसख्यको तथा व्यक्तियो के अधिकारो का सरक्षण किया जाता है। परन्तु लोक-प्रजातन्त्र मे कानून की सर्वोच्चता के अभाव मे जन नेताओ की उत्पत्ति होती है। वे स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। वही बहुसख्यको की भावनाओ की अभिव्यक्ति करते हैं। समाज मे प्रतियोगी गुटो की उत्पत्ति होती है, जो अपने-अपने हितो मे लीन रहकर परस्पर सघर्ष-रत रहते हैं। धनी वर्ग जो अल्पसख्यक होते हैं, धन के बल पर अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। निर्धन वर्ग बहुसख्यक होने के कारण जन बल से अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार विभिन्न गुटो के मध्य सदा एक प्रकार का सघर्षमय वातावरण बना रहता है। अतएव लोक प्रजातन्त्र की अपेक्षा वैधानिक जनतन्त्र उत्तम व्यवस्था है।

वैधानिक जनतन्त्र

वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्वों का सम्मिश्रण—सामान्य अर्थ में वैधानिक जनतन्त्र वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र का मिश्रण है। वर्गतन्त्र कुलीनतन्त्र का और प्रजातन्त्र वैधानिक जनतन्त्र का विकृत रूप है। अत वैधानिक जनतन्त्र शब्द का प्रयोग साधारणतया ऐसे मिश्रणों के लिए किया जाता है जो प्रजातन्त्र की ओर अधिक झुकाव रखते हैं। वैधानिक जनतन्त्र का उद्देश्य धनी तथा निर्धनों का एव सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र-जन्म का सम्मिश्रण है।

तत्त्वों के मिश्रण का सिद्धान्त—वैधानिक जनतन्त्र के निर्माण हेतु अरस्तू ने वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्वों का परीक्षण करते हुए तीन सिद्धान्तों की चर्चा की है। प्रथम, वर्गतन्त्र में यदि धनी लोग न्यायालय की बैठक से अनुपस्थित रहते हैं तो उन्हें दण्ड दिया जाता है और निर्धनों को उपस्थित रहने पर भी वेतन नहीं मिलता, परन्तु प्रजातन्त्र में निर्धनों को ऐसी उपस्थिति के लिए वेतन दिया जाता है और धनिकों को अनुपस्थित रहने पर दण्ड नहीं दिया जाता। मिश्रण का नियम यह होना चाहिए कि इन दोनों का कोई मध्यम मार्ग अपनाया जाय जो दोनों में शामिल हो। दूसरा, वर्गतन्त्र में सभा की बैठक म भाग लेने की अर्हता अत्यधिक सम्पत्ति का होना मानी जाती है, तो प्रजातन्त्र में या तो सम्पत्ति सम्बन्धी कोई योग्यता नहीं रखी जाती अथवा बहुत ही न्यून सम्पत्ति वाछनीय रखी जाती है। अत सम्मिश्रण का रूप दोनों के मध्य औसत निकालकर निर्धारित किया जा सकता है। तीसरा, प्रजातन्त्र में मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति के लिए सम्पत्ति की कोई अर्हता निर्धारित नहीं की जाती और उनकी पर्ची प्रथा (lot) द्वारा नियुक्ति की जाती है, जबकि वर्गतन्त्र में सम्पत्ति की योग्यता के साथ साथ मतदान (vote) द्वारा उनकी नियुक्ति की जाती है। अत मिश्रण का तरीका यह हो सकता है कि मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति में वर्गतन्त्र के मत द्वारा नियुक्ति के सिद्धान्त को तथा प्रजातन्त्र के सम्पत्ति सम्बन्धी प्रतिबन्ध को न लगाने के सिद्धान्त को अपनाया जाय।[1] एक समुचित ढग के वैधानिक जनतन्त्र से यह आभास होना चाहिए कि उसम वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र दोनों के तत्त्व विद्यमान हैं, और यह भी कि उनमे से किसी के भी तत्त्व नहीं हैं।[2] इस प्रकार वैधानिक जनतन्त्र, वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के चरम तत्त्वों का मध्यमान (the mean between two extremes) है जिसमे दोनों छोर (extremes) विद्यमान रहते हैं।

सर्वोत्तम व्यावहारिक सविधान

अरस्तू के अनुसार, 'सविधान राज्य के पदों की व्यवस्था है।' एक यथार्थवादी राजनीतिशास्त्री होने के नाते वह एक आदर्श सविधान की बात न कहकर यह दर्शाने का प्रयास करता है कि कौन सा सविधान अधिकाश राज्यों के लिए सबसे अधिक मान्य हो सकता है। अत वह सविधान को 'एक जीवन प्रणाली' (a way of life)

[1] *Ibid*, Ch IX, 5

[2] 'A properly mixed *polity* should look as if it contained both democratic and oligarchic elements—and as if it contained neither'—*Ibid*, 10

भी कहता है। उसका विचार है कि 'एक वास्तविक सुखमय जीवन समस्त बाधाओं से मुक्त उत्तमता का जीवन है।' उत्तमता मध्यमान (mean) में पायी जाती है। मध्यमान में अरस्तू का अभिप्राय दो परस्पर विरोधी तत्वों का औसत है। उदाहरणार्थ, अत्यधिक शौर्य (foolhardiness) तथा कायरता (cowardice) का मध्यमान उत्साह का गुण (virtue of courage) है।

समाज में तीन प्रकार के नागरिकों के वर्ग पाये जाते हैं अत्यन्त धनी, अत्यन्त निर्धन तथा मध्यम वर्ग जो कि प्रथम दो वर्गों का मध्यमान है। अरस्तू का विश्वास है कि मध्यमान सर्वोत्तम होता है। मध्यम वर्ग के व्यक्ति सदैव विवेक का अनुसरण करते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति सौन्दर्य, बल, धन आदि की अत्यधिकता से युक्त हो अथवा इनसे अत्यधिक रहित हो, वे विवेक का अनुसरण नहीं कर पाते। अरस्तू का कथन है कि अत्यधिक धनिकों के बच्चों में आज्ञाकारिता तथा अनुशासित रहने की भावना नहीं रहती है। इसके विपरीत दरिद्रों के बच्चों में शासन करने की भावना नहीं होती। वे केवल इतना ही जानते हैं कि आज्ञापालन कैसे किया जाता है। इस प्रकार वे दासता की स्थिति में रहते है। दूसरी ओर धनिकों का वातावरण ऐसा होता है कि वे केवल आज्ञा देना जानते हैं। जिस राज्य में केवल ऐसे दो वर्ग होंगे वह राज्य केवल दासों तथा मालिकों का हो जायगा, न कि स्वतन्त्र नागरिकों का। ऐसे राज्य में एक ओर स्पर्धा तथा दूसरी ओर घृणा की भावना बनी रहेगी। इनके मध्य स्नेह की भावना नहीं हो सकती जोकि एक राजनीतिक समाज के लिए आवश्यक है। जहाँ तक सम्भव हो, राज्य समानों तथा मित्रों द्वारा निर्मित समाज के रूप में विद्यमान रहने का उद्देश्य रखता है, और अन्य वर्गों की अपेक्षा मध्यम वर्ग ही ऐसे समाज का निर्माण करता है।'[1] मध्यम वर्ग के व्यक्तियों में ही समानता तथा मैत्री की भावना पायी जाती है।

इसलिए अरस्तू इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'राजनीतिक समाज का सर्वोत्तम रूप वह है जिसमें सत्ता मध्यम वर्ग में निहित रहती है।'[2] शासन की उत्तमता के लिए यह आवश्यक है कि राज्य में मध्यम वर्ग के व्यक्तियों की संख्या अधिक से अधिक होनी चाहिए। यदि वह धनी तथा निर्धन दोनों वर्गों के योग से अधिक हो तो अच्छा है, नहीं तो कम से कम इन दोनों वर्गों में से प्रत्येक से अधिक तो होनी ही चाहिए, ताकि उन वर्गों में से किसी एक को प्रमुखता की स्थिति प्राप्त कर लेने का अवसर न मिल सके। जिस राज्य के अधिकांश सदस्य न अत्यधिक धनी हों और न अत्यधिक दरिद्र, वह राज्य उत्तम कोटि का होगा। जिस राज्य में नागरिकों के मध्य सम्पत्ति की अत्यधिक विषमता होगी, वह या तो पूर्ण प्रजातन्त्र (extreme democracy) होगा या अमिश्रित वर्गतन्त्र (unmixed oligarchy), अथवा वहाँ एक प्रकार का अत्याचारी शासन होगा। ऐसे राज्यों में विभिन्न वर्गों के

[1] 'A state aims at being as far as it can be, a society composed of equals and peers, and the middle class, more than any other, has this sort of composition'—*Ibid*, 8

[2] 'The best form of political society is one where power is vested in the middle class.' —*Ibid*, 10

मध्य असमानता तथा द्वेष बने रहने के कारण क्रान्तियाँ होने की सम्भावना बनी रहती है, जो सविधान या राज्य के स्थायित्व (stability) के लिए घातक है।

जिस राज्य मे मध्यम वर्ग के व्यक्तियों की सख्या अधिक होती है, उसमे नागरिको के मध्य सघर्ष तथा द्वन्द्व की स्थिति नहीं रहती। बडे राज्यो में मध्यम वर्ग के लोगो की सख्या अधिक होती है, इसलिए उनमे नागरिको के मध्य कलह कम होते हैं। छोटे राज्यो मे बहुधा जनता केवल दो वर्गों (धनी तथा निर्धनो) मे विभक्त हो जाती है। साधारणतया वर्गतन्त्रो की अपेक्षा प्रजातन्त्र इसीलिए अधिक स्थायी होते हैं कि उनमे मध्यम वर्ग के लोगो की सख्या अधिक होती है। परन्तु यदि प्रजातन्त्रो मे गरीबो की सख्या अत्यधिक हो जाय और मध्यम वर्गों की कमी हो जाय तो वे भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। अरस्तू की धारणा यह भी है कि सर्वोत्तम प्रकृति के विधायक मध्यम श्रेणी के व्यक्ति ही होते हैं।

अरस्तू वैधानिक जनतन्त्र (polity) को सर्वोत्तम व्यावहारिक सविधानो की श्रेणी मे रखता है क्योकि वह वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र का मिश्रण होने के कारण एक प्रकार का मध्यमान है। परन्तु उसका यह वर्गीकरण केवल सविधान की राजनीतिक सरचना का द्योतक है। मध्यम वर्ग की अधिक सख्या वाले राज्य को सर्वोत्तम राजनीतिक व्यवस्था मानने का अभिप्राय सामाजिक सरचना (social composition) के आधार पर सर्वोत्तम राजनीतिक व्यवस्था को चिन्तित करना है। वैधानिक जनतन्त्र म विभिन्न वर्गों को एक सामूहिक प्रमुख मध्यम वग के रूप मे या उसके अधीन मिश्रित कर दिया जाता है। यह नया दृष्टिकोण प्रथम दृष्टिकोण से भिन्न है, क्योकि वैधानिक जनतन्त्र के अन्तर्गत केवल वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र का मिश्रण, स्वय अपनी प्रकृति के कारण मध्यम वर्ग को प्रमुखता से युक्त सविधान नही माना जा सकता। अतएव अरस्तू की दृष्टि मे सर्वोत्तम व्यावहारिक सविधान वैधानिक जनतन्त्र (polity) नही है बल्कि वह है, जिसम सत्ताधारी व्यक्ति बहुसख्यक मध्यम वर्ग के व्यक्ति होते हैं। यह सविधान का एक मिश्रित रूप है जिसम वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्व न्याय सगत ढग से सयुक्त कर दिये जाते हैं। इसका सामाजिक आधार पर्याप्त बडी सख्या मे मध्यम श्रेणी के व्यक्तियो का अस्तित्व है जो न अत्यन्त धनी हैं और न निधन। ऐसा राज्य स्थायी होता है क्योकि इसमे पूर्णतया अज्ञानियो का शासन नही रहता। साथ ही यह शासको को उत्तरदायी बनाने की ओर प्रवृत्त रहता है। इसमे पद धारण के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता शिथिल कर दी जाती है। पदो पर नियुक्ति लाट (पर्ची) द्वारा भी नही की जाती। इस प्रकार ऐसे राज्य म गुण तथा सख्या का समन्वय हो जाता है। इन दो तत्त्वो के मध्य शान्ति सन्तुलन बना रहता है। परन्तु यदि गुण (धन, जन्म, शिक्षा) के तत्त्व का आधिक्य हो जायेगा तो राज्य वर्गतन्त्र म परिणत हो जायगा। इसके विपरीत यदि सख्या के तत्त्व मे विस्तार होगा तो वह प्रजातन्त्र म परिणत हो जायगा।

अरस्तू क विचार मे अधिकाश राज्य या तो वर्गतन्त्र होते हैं या प्रजातन्त्र, और वैधानिक जनतन्त्रो की सख्या प्राय न्यून ही रहती है। इसका कारण यह है कि या तो अधिकाश राज्यो मे मध्यम वर्ग बहुत छोटा होता है और परिणामस्वरूप धनी

या निर्धन वर्ग की अधिक मात्रा मध्यमान को विकृत करके उन्हें वर्गतन्त्र या प्रजातन्त्र में परिणत कर देती है, अथवा धनी तथा निर्धन वर्ग के पारस्परिक संघर्ष के कारण मध्यमान नष्ट हो जाता है। उसी के अनुसार या तो राज्य-व्यवस्था वर्गतन्त्र में या प्रजातन्त्र में परिणत हो जाती है। इसीलिए अरस्तू की दृष्टि में मध्यम वर्ग की सत्ता से युक्त राज्यों की स्थापना नहीं हो पायी है। अरस्तू का निष्कर्ष है कि अधिकांश राज्यों के लिए सर्वोत्तम संविधान तो यही है। अत जो सर्वोत्तम से सर्वाधिक सन्निकट है, वह अन्यों की अपेक्षा उत्तमतर है, और जो मध्यमान से जितनी ही दूर है वह उतना ही निकृष्टतर है।

सरकार

राज्य तथा शासन में अन्तर—अरस्तू का राज्य-दर्शन राज्य एवं शासन का क्रमबद्ध अध्ययन है। एक वैज्ञानिक राजशास्त्री होने के नाते उसने राज्य एवं शासन के मध्य भेद किया है। राज्य नागरिकों एवं नागरिकों के समुदायों का समूह है। परन्तु 'सरकार या शासन राज्य के अन्तर्गत उन नागरिकों का संगठन है जो राज्य की सर्वोत्तम सत्ता को धारण करते हैं। सरकार राज्य के नैतिक तथा राजनीतिक कार्यों एवं उद्देश्यों को सम्पन्न करने का साधन है। अरस्तू के विचार से जब संविधान परिवर्तित हो जाता है तो राज्य भी बदल जाता है। परन्तु सरकार में परिवर्तन होने का अर्थ उन व्यक्तियों का परिवर्तन है जो राज्य की सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता को धारण किये हुए थे। सम्प्रभुता की आधुनिक धारणा अरस्तू के विचारों में नहीं पाई जाती है। उसकी धारणा में राज्य की सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग शासन संचालन करने वाले व्यक्ति या व्यक्ति-समूह करते हैं।

राज्यों के वर्गीकरण का आधार शासन-व्यवस्था—अरस्तू ने राज्यों (संविधानों) का जो वर्गीकरण किया है, उसका आधार शासन व्यवस्था है। एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति या बहुत से व्यक्ति जब राज्य की सर्वोच्च सत्ता को धारण किये रहते हैं तो उनके आधार पर ही संविधानों या राज्यों को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है। राज्यों के यह रूप या उनके विकृत रूप शासन सत्ताधारियों के व्यवहार के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं। आधुनिक काल में अनेक विद्वानों यथा गार्नर की धारणा है कि अरस्तू का राज्यों का वर्गीकरण वास्तव में राज्यों का वर्गीकरण न होकर शासनों का वर्गीकरण है। चाहे अरस्तू का राज्यों का वर्गीकरण स्पष्टतया राज्यों का वर्गीकरण न होकर शासनों का वर्गीकरण ही माना जाये, किन्तु यह तो स्पष्ट है कि अरस्तू की राज्य एवं शासन सम्बन्धी धारणाएँ स्पष्टतया अलग-अलग हैं। वह स्पष्टतया सरकार को राज्य (संविधान) का अंग मानता है जो राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति का साधन है।

शासन-संगठन—अरस्तू ने सरकार की शक्तियों को तीन भागों में बाँटा है। ये हैं, विचार-विनिमयात्मक (deliberative), अधिशासनिक (executive), तथा न्यायिक (judicial)। शासन विज्ञान को अरस्तू की यह महान् देन है। उसके युग

से लेकर आज तक शासन विज्ञान के विद्वान् शासन के तीन अगो व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को अरस्तू के सिद्धान्त के आधार पर ही मानते आये हैं। यह दूसरी बात है कि शासन विज्ञान की जटिलता तथा शासनो के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक स्वरूपों मे तब से लेकर आज तक जो विविध प्रकार के विकास हुए हैं उनके फलस्वरूप शासन के इन तीन अगो की कार्य-प्रणाली, सगठन, शक्तियो तथा पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे अनेक नये-नये सिद्धान्तो का प्रतिपादन होता आया है। सरकार की इन तीन शक्तियो (तत्वों) तथा उनके सगठन का विवेचन अरस्तू विविध प्रकार के सविधानो (राज्यो) के सन्दर्भ मे करता है।

विचार-विनिमयात्मक शक्ति का अभिप्राय आधुनिक शासनो के व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यों से है। अरस्तू के मत से इस अग के कार्य युद्ध तथा शान्ति सम्बन्धी विषयो पर विचार करना, विधि-निर्माण, महानतम दण्ड के प्रकरणो पर विचार, प्रशासको की नियुक्ति तथा उन पर नियन्त्रण रखना आदि है। इस अग की कार्य-पद्धति विविध सविधानो मे विविध प्रकार की बनायी गयी है। प्रजातन्त्र मे समस्त नागरिक समस्त विषयो पर विचार-विनिमय करते है, वर्गतन्त्र मे थोड़े से व्यक्ति समस्त विषयो पर, कुलीनतन्त्र तथा वैधानिक जनतन्त्रो मे कुछ विषयो पर सब नागरिक तथा अन्य विषयो पर कुछ नागरिक विचार-विनिमय करते है। बार्कर के मत से अरस्तू की धारणा के विचार-विनिमयात्मक अग को व्यवस्थापिका कहना समुचित नही है, प्रत्युत् यह विधायी, अधिशासनिक व न्यायिक तीनो प्रकार के कार्य करता है।

सरकार का दूसरा अग प्रशासको का सगठन (magistracies) है। सही अर्थ मे इसे आधुनिक शब्दावली के कार्यपालिका अग से समीकृत करना उचित नही है, क्योकि अरस्तू द्वारा वर्णित मजिस्ट्रेटो की व्यवस्था प्रशासनिक पदाधिकारियो की व्यवस्था है न कि राजनीतिक कार्यपालिका। अरस्तू ने विविध प्रकार के सविधानो के सन्दर्भ मे मजिस्ट्रेटो की नियुक्ति की विविध प्रणालियो का वर्णन किया है। मजिस्ट्रेट राज्य के राजस्व का नियन्त्रण, प्रतिरक्षात्मक कार्य तथा अन्य प्रकार के प्रशासन सम्बन्धी कार्य करते हैं।

सरकार का तीसरा अग न्यायपालिका है, जिसकी व्यवस्था के सम्बन्ध मे अरस्तू ने मजिस्ट्रेटो की भाति न्यायिक पदाधिकारियो की नियुक्ति, योग्यता तथा न्यायालय सगठनो का विवेचन किया है। अरस्तू विविध प्रकार के विवादो तथा अपराधो का विवेचन भी करता है जिनके निबटाने के लिए न्यायालय आवश्यक हैं। न्यायालय सगठन भी विविध प्रकार के सविधानो के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रकार का बताया गया है। परन्तु सरकार के उपर्युक्त तीन अगो के मध्य शक्ति-पृथक्करण अथवा शक्ति-समागम की धारणा अरस्तू ने नही बतायी है।

राजनीतिक आदर्श

1 विधि का शासन

अरस्तू की कानून सम्बन्धी धारणा—प्लेटो ने अपने रिपब्लिक में ज्ञान के

शासन का महत्व दर्शाते हुए दार्शनिक राजा को विधि के प्रतिबन्ध से मुक्त रखा था। किन्तु लॉज में उसने विधि के शासन (the Rule of Law) को द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य की व्यवस्था के लिए अपरिहार्य माना। उसने कानून का संहिताकरण करके एथेन्स के प्रथम विधिदाता होने का यश प्राप्त किया। उसके शिष्य अरस्तू ने राज्य-विषयक विवेचन हेतु लॉज से ही प्रेरणा ली थी। बार्कर का मत है कि 'अरस्तू ने कानून के निमित्त कम योगदान किया है, वह सामान्यता तथा सिद्धान्तत इसकी (कानून की) सम्प्रभुता का सगतिपूर्ण ढग का प्रतिपादक है।'[1] उसकी दृष्टि से 'सम्प्रभु-कानून संहिताबद्ध कानून नहीं है, यह लिखित या अलिखित परम्पराओं का समूह है जिसका विकास राज्य के विकास के साथ साथ हुआ है।' अरस्तू की धारणा है कि 'एक व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि के शासन को उच्चतर माना जाना चाहिए, यदि व्यक्तियों के आदेशों को अधिक वाछनीय समझा जाता तो ऐसे व्यक्तियों को विधि के सरक्षक या विधि-मन्त्रियों के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए।'[2]

अरस्तू की कानून की सम्प्रभुता की धारणा तत्कालीन एथेन्स मे प्रचलित कानून की धारणा के अनुरूप है। वहां कानून स्थायी तथा अपरिवर्तनीय नियमों का समूह माना जाता था। विधायक या मजिस्ट्रेट कानून मे परिवर्तन नही कर सकते थे। यदि कभी ऐसे परिवर्तन प्रस्तावित किये भी जाते थे, तो अन्तत उनका अधिनियमन राज्य के न्यायिक अग द्वारा किया जाता था। शासकों को सदा कानून के अधीन तथा कानून के अनुसार आचरण करना पडता था। कानून की परिभाषा करते हुए अरस्तू कहता है कि 'कानून समस्त इच्छाओं से मुक्त विवेक है (यह ईश्वर तथा विवेक की विशुद्ध वाणी है)।'[3]

विधि के शासन का महत्व—विधि की सम्प्रभुता अथवा विधि के शासन का समर्थन करके अरस्तू केवल आदर्शों की दुनिया मे नहीं भटकता। वह प्लेटो के दर्शन अथवा दार्शनिक राजा के शासन का सिद्धान्तत विरोधी नहीं है, क्योंकि उसने भी राजतन्त्र को उत्तम शासन-व्यवस्था के रूप मे माना है। परन्तु एक यथार्थवादी होने के नाते उसका यह मत था कि तृष्णा उत्तम से उत्तम व्यक्तियों को भी उच्च पद धारण करने पर भ्रष्ट कर देती है। अतएव राज्य के शासकों को भ्रष्ट होने से बचाने का उपाय यही है कि उनके ऊपर भी तृष्णा रहित कानून की प्रभुसत्ता बनी रहे। अरस्तू वैधानिक राजतन्त्र को सर्वोत्तम व्यवस्था मानता है। वैधानिक राजतन्त्र मे एक व्यक्ति (राजा) कानून के अनुसार शासन करता है। इस दृष्टि से अरस्तू प्लेटो के आदर्श राज्य को एक आदर्श के रूप मे स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसमें दार्शनिक राजा को कानून के अधीन नहीं माना गया है। अरस्तू का आदर्श सदैव

[1] Aristotle rendered less service to law on the other hand he was in general and in principle, a steady and consistent advocate of its sovereignty' —*Ibid*, IV

[2] *Ibid*

[3] Law (as the pure voice of God and reason) may thus be defined as 'Reason free from all passion' —*Ibid*, 146

वैधानिक शासन है, जिसमे शासक कानून के अनुसार ही शासन करते हैं न कि स्वविवेक से। सैबाइन के मत से 'अरस्तू कानून की सर्वोच्चता को एक उत्तम राज्य के प्रतीक स्वरूप स्वीकार करता है न कि केवल एक दुर्भाग्यपूर्ण आवश्यकता के रूप मे।'[1] वह प्लेटो की लॉज मे दी गयी इस धारणा को मानता है कि किसी भी उत्तम राज्य मे अन्ततोगत्वा कानून ही सम्प्रभु होना चाहिए, न कि कोई व्यक्ति विशेष, चाहे वह कितना ही गुणवान् क्यो न हो। उत्तम से उत्तम शासक भी कानून के अभाव मे सफल शासक नही हो सकता। *'कानून एक निष्पक्ष सत्ता है।'* वह स्वय मजिस्ट्रेट तो नही हो सकता परन्तु वह मजिस्ट्रेट की सत्ता को नैतिक रूप दे सकता है। वैधानिक शासन शासितो के सम्मान को बनाये रखता है और शासको को स्वेच्छाचारी बनने से रोकता है। अत शासक तानाशाह नही बन सकते, बल्कि वे सहमति से शासन करते हैं। सहमति के शासन (rule by consent) का तात्पर्य है कानून के अनुसार शासन करना। अरस्तू प्लेटो के इस दृष्टिकोण से भी सहमत नही है कि जिस प्रकार एक चिकित्सक को चिकित्सा शास्त्र के नियमो से प्रतिबन्धित रहकर ही रोगियो की चिकित्सा करने मे सफलता मिलना आवश्यक नही है उसी प्रकार शासक को कानून के बन्धन मे ही रहकर शासन-सचालन मे सफलता नहीं मिलती। अरस्तू के मत से चिकित्सक तथा राजनेता के दायित्वो मे बडा अन्तर है। चिकित्सक के समक्ष पक्षपात का कोई कारण नही होता, जबकि राजनेता के समक्ष ऐसा अवसर आता है। अत उसे निष्पक्ष रखने के लिए कानून की सत्ता आवश्यक है।

विधि के शासन के तत्त्व—सैबाइन ने कहा है कि अरस्तू के द्वारा व्यक्त विधि के शासन मे तीन तत्त्व विद्यमान हैं—(1) यह जनसाधारण के हित मे सम्पन्न होता है न कि किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष के हित मे, (2) यह विधिगत शासन है क्योकि इसमे शासक प्रचलित परम्पराओ का उल्लघन नही कर सकते, तथा, (3) यह शासितो की इच्छा के अनुकूल सम्पन्न होता है न कि शासको की इच्छा के अनुकूल या शक्ति के आधार पर। परन्तु अरस्तू इन तत्त्वो का परीक्षण क्रमबद्ध ढग से नही करता, न उसने कही पर वैधानिक शासन की परिभाषा ही की है।[2] अरस्तू का विश्वास है कि कानून नैतिक एव सभ्य जीवन की अपरिहार्य स्थिति है। अत *'जब तक मानव कानून तथा न्याय से पृथक् रहेगा तब तक वह समस्त जानवरो से भी निकृष्टतम होगा परन्तु जब वह पूर्णता को प्राप्त होता है तभी वह सर्वोत्तम प्राणी होता है।'*[3] *परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज कानून की आवश्यक स्थितियाँ हैं। ये मानव के अनुभवो तथा विवेक की उपज हैं। एक व्यक्ति का विवेक उनकी समता नही रख सकता। अत कानून का शासन एक व्यक्ति के शासन से सदैव उच्चतर है।* विधि-निर्माण के समय जब अनेक व्यक्ति विचार करते हैं तो एक व्यक्ति उसके एक पहलू पर, दूसरा दूसरे पर, आदि इसी प्रकार उसके विभिन्न पहलूओ पर विचार करते हैं। अन्तत

[1] The supremacy of Law is accepted by Aristotle as a mark of a good state and not merely as an unfortunate necessity'—Sabine, *op cit*, 92

[2] *Ibid*, 93

[3] 'Man, when perfected, is the best of animals, but if he isolated *from* law and justice he is worst of all'—*The Politics*, Bk I, Ch II, 15

कानून के समस्त पहलुओं का विवेचन हो जाने से कानून उत्तम रूप का बनता है। यही गुण कानून के निर्माणकारी तत्त्वो, परम्पराओ तथा अभिसमयो मे भी होता है, क्योकि वे भी मानव-जाति के चिरकालीन अनुभवो तथा विवेको के आधार पर विकसित होते हैं। अतएव शासन मे उनकी सर्वोच्चता वाछनीय ही नहो, बल्कि लाभकारी भी है। इसीलिए अरस्तू लिखित कानून की अपेक्षा परम्परागत कानून को श्रेष्ठतर मानता है।

सम्प्रभुता

सविधानो या राज्यों का वर्गीकरण करने मे अरस्तू का एक सिद्धान्त सम्प्रभु (सर्वोच्च) शक्ति (sovereignty) को धारण करने वाले व्यक्तियो की सख्या (एक, थोडे या अधिक) है। उसी के आधार पर वह तीन विशुद्ध तथा तीन उनके विकृत सविधानो का उल्लेख करता है। विशुद्ध सविधानो (राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा वैधानिक जनतन्त्रो) का आधारभूत सिद्धान्त वैधानिक शासन है, जिसका अभिप्राय है कानून की सर्वोच्च सत्ता का शासन। जिन राज्यो मे कानून की सर्वोच्चता नहीं रहती, बल्कि सर्वोच्च सत्ता धारण करने वाले व्यक्ति कानून की अवहेलना करके स्वेच्छापूर्वक शासन करते हैं वहां वैधानिक शासन के अभाव मे शासन का रूप विकृत हो जाता है। अरस्तू की यह मान्यता है कि, किसी भी सविधान मे कानून सर्वोच्च होता है और बिना कानून के कोई सम्प्रभु नही हो सकता।' जिस सविधान मे कानून सर्वोच्च नही है वह सविधान नही है। सम्प्रभु कानून का निर्माण नहीं करता, बल्कि कानून सम्प्रभु का निदेशन करता है। अत अरस्तू द्वारा प्रयुक्त 'सर्वोच्च शक्ति' (Supreme Power) का अभिप्राय आधुनिक शब्दावली मे यथार्थ प्रभुसत्ता (*de facto* sovereignty) है, न कि वैध प्रभुसत्ता (*de jure* sovereignty)।

कानून की सम्प्रभुता की धारणा कानून तथा शासन के मध्य सम्बन्ध दर्शाती है, जिसका अभिप्राय कानून की सर्वोच्च शक्ति है। शासन कानून का अभिकर्त्ता मात्र है। यह कानूनी दृष्टि से राज्य की सम्प्रभुता का द्योतक नही है। अरस्तू ने कहा है कि 'जहाँ कानून की सत्ता नहीं होती वहाँ कोई सविधान (राज्य) नही होता। कानून को सबके ऊपर सर्वोच्च होना चाहिए और शासको को विवरणात्मक बातो का निर्धारण करना चाहिए।'[1]

अरस्तू राज्य की प्रभुसत्ता के दो प्रमुख कार्य न्यायिक (Judicial) तथा विचार विनिमय सम्बन्धी (deliberative) मानता है। अरस्तू राज्य को सर्वोच्च सवास मानता है। राज्य की सर्वोच्चता की धारणा कानूनी सर्वोच्चता (legal supremacy) नहीं है, वरन् उसका नैतिक आधार है। राज्य सर्वोच्च सवास इसलिए है कि उसका उद्देश्य व्यक्ति की सर्वोच्च भलाई करना है। वह व्यक्ति को आत्म-निर्भर जीवन प्रदान कराता है। व्यक्ति के विविध हितों की पूर्ति के साधन प्रस्तुत

[1] 'Where laws have no authority, there is no constitution The law ought to be supreme over all and the rulers should judge of particulars'

—Aristotle

जाता है। व्यक्ति राज्य के विविध कार्य-कलापों में भाग लेता है, उनके द्वारा वह नागरिक प्रशिक्षण प्राप्त करता है और उत्तम जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो जाता है। राज्य व्यक्ति के लिए शान्तिमय तथा व्यवस्थित सुखी जीवन के साधन प्रस्तुत करता है। राज्य इस अर्थ में सम्प्रभु नहीं है कि राज्य की अपनी इच्छा या व्यक्तित्व है जिसमें व्यक्ति की इच्छा तथा व्यक्तित्व विलीन हो जाते हैं, और कानूनी दृष्टि से राज्य का आदेश अन्तिम है। राज्य की प्रभुसत्ता की ऐसी धारणा का विकास तो सोलहवीं शताब्दी में हुआ था। यूनानी विचारक इस धारणा से अनभिज्ञ थे।

प्रभुसत्ता का निवास—अरस्तू की प्रभुसत्ता की धारणा से यह स्पष्ट है कि राज्य में प्रभुसत्ता का निवास नहीं है, बल्कि कानून सम्प्रभु है। राज्य की प्रभुसत्ता (सर्वोच्च सत्ता) के प्रयोग में भाग लेने वाले व्यक्तियों की संख्या एक, कुछ या अनेक होती है। परन्तु वह व्यक्ति, व्यक्ति-समूह अथवा सामाजिक वर्ग सम्प्रभु नहीं कहे जा सकते। राज्य की सम्प्रभु शक्ति (प्रभुसत्ता) कानून के अधीन है। प्रभुसत्ताधारियों को कानून के अनुसार ही शासन करना पड़ेगा। अरस्तू यह भी मानता है कि यदि सत्ताधारी प्लेटो के दार्शनिक राजा की भाँति विशिष्ट योग्यता सम्पन्न हो तो उसके सम्बन्ध में कानून की अधीनता को शिथिल किया जा सकता है।

यद्यपि संविधानों का वर्गीकरण करने में अरस्तू एक, कुछ या अनेक व्यक्तियों को प्रभुसत्ता के प्रयोक्ता मानकर संविधानों के रूप निर्धारित करता है, तो भी वह सामूहिक रूप से अनेक व्यक्तियों को थोड़े से उत्तम व्यक्तियों की अपेक्षा प्रभुसत्ता का प्रयोग करने के लिए अधिक उपयुक्त मानता है। ऐसा अनेक व्यक्तियों का समूह मध्यम वर्ग होना चाहिए। ऐसे राज्य को वह वैधानिक जनतन्त्र कहता है जिसमें सर्वोच्च सत्ता मध्यम वर्ग के हाथ में रहती है, जो स्वयं कानून की अधीनता में रहते हैं। अरस्तू न तो राज्य की कानूनी सम्प्रभुता (legal sovereignty) का समर्थक है और न ही आधुनिक युग की लोकप्रभुसत्ता (popular sovereignty) की धारणा का।

नागरिकता

राज्य संगठन के सम्बन्ध में अरस्तू की दो विचारधाराएँ महत्वपूर्ण हैं। प्रथम यह कि राज्य परिवारों तथा ग्रामों का समूह है और परिवारों तथा ग्रामों के निर्माणकारी तत्व व्यक्ति हैं। दूसरी विचारधारा यह है कि राज्य सम्पूर्ण है और व्यक्ति उसका एक अंग। अरस्तू ने कहा है कि 'राज्य एक यौगिक (compound) है जिसके निर्माणकारी तत्व नागरिक हैं।' राज्य एक राजनीतिक संगठन है जिसमें अनेक प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, उनमें से किन्हें नागरिकता (citizenship) की श्रेणी प्रदान की जाये, इस समस्या पर अरस्तू अनेक तर्कों के आधार पर विचार करता है। उसके विचार में विविध राज्य-व्यवस्थाओं के अन्तर्गत नागरिकता की प्रकृति एक-सी नहीं होगी। उदाहरणार्थ, एक वर्गतन्त्री (oligarchic) राज्य में एक लोकतन्त्री (democratic) राज्य की अपेक्षा नागरिकता की बहुत भिन्न प्रकृति की होगी।

यूनानी लोग नागरिकता का अर्थ अधिकारो के सन्दर्भ मे इतना नही लेते थे, जितना कि राज्य के प्रति सेवा करने के सन्दर्भ मे लेते थे। अत नागरिकता की व्याख्या करने मे अरस्तू नागरिकता सम्बन्धी विभिन्न तथ्यो पर विचार करता है। उसके मत से यदि सामूहिक निवास (common residence) को नागरिकता की अर्हता माना जाय तो वह उचित नहीं होगी क्योंकि दास तथा विदेशी भी उसमे आ जाते हैं जिन्हे नागरिक नही माना जा सकता। इसी प्रकार यदि सार्वजनिक कानून के अन्तर्गत उन व्यक्तियो को नागरिक माना जाये जिन्हे कानून का सहारा लेकर दूसरे के ऊपर अभियोग चलाने या अभियोगी बनने का (to sue and to be sued) अधिकार प्राप्त है, तो वह परिभाषा भी सही नही होगी, क्योंकि किसी सन्धि के द्वारा विदेशी भी इस अधिकार को प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार अल्प-वयस्क तथा वृद्ध भी नागरिको की श्रेणी मे नही माने जा सकते। नागरिक स्त्री या पुरुषो की सन्तान को नागरिक मानने मे भी कठिनाई हो सकती है, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त अपनाने मे सबसे पहले के पूर्वज का निर्धारण करना कठिन हो जायेगा।

इन विभिन्न तर्कों के आधार पर अरस्तू इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जन्म, निवास, कानूनी विशेषाधिकार आदि नागरिकता के आधार नही है, बल्कि अनिश्चित काल तक नागरिक कर्त्तव्य इसका आधार है। राज्य के जीवन मे नागरिक के कर्त्तव्य दो प्रकार के हो सकते हैं—सार्वजनिक समस्याओ के सम्बन्ध मे विचार-विनिमय मे भाग लेना तथा न्यायिक कार्यों मे भाग लेना। अत नागरिक की परिभाषा करते हुए वह कहता है कि 'राज्य का नागरिक वह है जो किसी निश्चित या अनिश्चित काल तक राज्य के विचार-विनिमय सम्बन्धी या न्यायिक पदो मे भाग लेने के अधिकार का उपभोग करता है।'[1] सामान्यतया राज्य ऐसे ही व्यक्तियो का समूह है जो सख्या मे इतने हो कि वे आत्म-निर्भर जीवन व्यतीत कर सके। चूँकि न्यायिक कृत्य तथा विधायिनी कृत्य सम्प्रभुता के दो आवश्यक तत्त्व हैं, अत अरस्तू द्वारा नागरिकता की जो परिभाषा दी गयी है। उसका सार यह है कि नागरिक वे व्यक्ति हैं जो राज्य की सम्प्रभु शक्ति के कार्यान्वियन मे न्यायिक एव विधायिनी पदो को धारण करते हैं। यह परिभाषा नागरिकता के अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनो की द्योतक है। इसका आधार राजनीतिक है न कि सामाजिक। नागरिक मे शासक तथा शासित दोनो स्थितियो म रह सकने की क्षमता होनी चाहिए।

यह परिभाषा लोकतन्त्र के लिए उपयुक्त है—अरस्तू यह भी मानता है कि उसकी नागरिकता की यह परिभाषा लोकतन्त्र के लिए है। अन्य शासन विधानो मे यह पूर्णतया सही सिद्ध नहीं होगी। उदाहरणार्थ, राजतन्त्र मे शासक होने की क्षमता एक ही व्यक्ति (राजा) मे हो सकती है। वर्गतन्त्र मे थोडे से व्यक्ति यह क्षमता रखेंगे। अधिकाश व्यक्ति शासित ही रहेगे। परन्तु अरस्तू की परिभाषा लोकतन्त्र की दृष्टि से भी सकुचित ही कही जा सकती है, क्योंकि अरस्तू राज्य की सम्प्रभुसत्ता के

[1] 'He who enjoys the right of sharing in deliberative or judicial office (for any period fixed or unfixed) attains thereby the status of a citizens of his state'—*The Politics*, Bk. III, Ch I. 12

उपयोग मे महिलाओ, वृद्धो, अल्प-वयस्को, दासो, विदेशियो, श्रमजीवियो, व्यवसायियों आदि को शामिल नही करता, क्योंकि उनमे नागरिक अर्हताओ का अभाव है। वे न राज्य के पदो को धारण कर सकते हैं, न न्यायिक या विधायी कार्यों मे भाग ले सकते हैं।

उत्तम व्यक्ति तथा उत्तम नागरिक—अरस्तू के विचार से वर्गतन्त्री सविधान के अन्तर्गत जो गुण उत्तम नागरिक मे होने चाहिए वे लोकतन्त्र के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हो सकते हैं। इस दृष्टि से उत्तम व्यक्ति तथा उत्तम नागरिक के मध्य भेद हैं। इसकी कसौटी यह है कि एक उत्तम व्यक्ति तो सर्वत्र तथा सदैव उत्तम ही रहेगा। परन्तु उत्तम नागरिक के लक्षण सब राज्यो मे एक मे नही हो सकते। यहाँ तक कि एक आदर्श राज्य मे भी उत्तम व्यक्ति तथा उत्तम नागरिक के लक्षण अलग-अलग प्रकार के होते हैं। परन्तु एक आदर्श सविधान के अन्तर्गत यदि नागरिक उस नैतिक बुद्धि का प्रदर्शन करे जोकि एक उत्तम शासक के लिए आवश्यक है और साथ ही उसे एक उत्तम प्रजाजन बनने की क्षमता भी प्राप्त हो तो ऐसी स्थिति मे उत्तम व्यक्ति तथा उत्तम नागरिक मे भेद नही रहेगा।

राज्य मे श्रमजीवी वर्ग नागरिक गुणो से युक्त नहीं होते, क्योकि उनमे केवल शासित रहने (आज्ञाकारिता) की ही क्षमता होती है, न कि आदेश देने या शासन करने की। न्यायिक तथा विधायी कृत्यो मे भाग लेन वाले व्यक्तियो को भौतिक चिन्ताओ से मुक्त रहना चाहिए। तभी वे इन कार्यों को समुचित ढग से सम्पन्न कर सकते हैं। अत नागरिक के पास पर्याप्त सम्पत्ति का होना आवश्यक है, श्रमिको मे यह क्षमता नही होती कि वे राज्य के राजनीतिक कार्यों मे भाग लेने के लिए पर्याप्त अवसर (leisure) प्राप्त कर सकें और भौतिक चिन्ताओ से मुक्त जीवन व्यतीत कर सकें। अरस्तू के मत से वे नागरिक तो नही हो सकते, परन्तु वे राज्य के लिए आवश्यक हैं। इस सम्बन्ध मे भी विविध सविधान निर्धारक तत्त्व हैं। उदाहरणार्थ 'एक कुलीनतन्त्री सविधान मे यान्त्रिक (mechanics) तथा श्रमिक (labourers) नागरिक नही हो सकते, परन्तु वर्गतन्त्र मे एक धनी यान्त्रिक नागरिक हो सकता है।'[1]

मूल्याकन

अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी परिभाषा तत्कालीन यूनान के नगर-राज्यों के सन्दर्भ मे दी गयी है। यह आधुनिक विशाल राज्यो के लिए उपयुक्त नही है। आधुनिक लोकतन्त्रो मे नागरिकता का क्षेत्र पर्याप्त भिन्न है। अरस्तू की धारणा मे नागरिक वही व्यक्ति हो सकता है जो राज्य की सम्प्रभु शक्ति के प्रयोग मे न्यायिक तथा विधायी कार्यों मे भाग ले सकता है। उसके लिए पर्याप्त सम्पत्ति तथा अवकाश आवश्यक है। आधुनिक लोकतन्त्रों मे यह सम्भव ही नहीं है कि प्रत्येक नागरिक राज्य के इन सम्प्रभु कार्यकलापो म भाग ले सकेगा। लोक-प्रभुसत्ता की वर्तमान धारणा अरस्तू की विचारधारा मे नहीं आती। आज के लोकतन्त्र अप्रत्यक्ष हैं अत

[1] *Ibid.*, Ch V

सम्प्रभु जनता (नागरिक) अपने प्रतिनिधियो का निर्वाचन करने मे ही अपने राजनीतिक अधिकारो का प्रयोग करती है। अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी परिभाषा केवल अधिकारो की ही द्योतक नही है, बल्कि उसके पीछे कर्त्तव्य की भावना भी निहित है। नागरिक मे शासन करने तथा शासित रहने, दोनो प्रकार की क्षमता होनी चाहिए। यह नागरिकता के दायित्वो का बोध कराती है। अरस्तू की दृष्टि में नागरिकता से सम्बद्ध अधिकार तथा कर्त्तव्यो को सम्पन्न करने का दायित्व समाज के एक छोटे से वर्ग को ही देना उपयुक्त है। भले ही एक लोकतन्त्रवादी अरस्तू की इस सकुचित परिभाषा से सहमत न हो, परन्तु इससे अरस्तू का यथार्थवादी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है।

प्लेटो तथा अरस्तू दोनो का उद्देश्य राज्य की एकता को बनाये रखना है। परन्तु दोनो ही समाज के एक विशाल अग को राजनीतिक अधिकार से वचित रखते हैं। यद्यपि प्लेटो उत्पादक वर्ग को शासन सम्बन्धी अधिकार नही देता, तथापि वह उसे राज्य का अभिन्न अग मानता है। वह दासो तथा विदेशियो को ही नागरिकता से वचित रखता है। परन्तु अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी परिभाषा विभिन्न सविधानो से मेल नहीं खाती। एक ओर वह लोकतन्त्र के लिए इस परिभाषा का समर्थन करता है, दूसरी ओर केवल थोड़े से व्यक्तियो को ही नागरिको की श्रेणी मे रखता है। इस प्रकार अरस्तू का राज्य भी वर्ग-राज्य में परिणत हो सकता है। राजनीतिक अधिकार से वचित समाज का एक विशाल अग शासन के प्रति निष्ठा न रखने लगेगा तो राज्य की एकता नष्ट हो जायेगी। प्लेटो महिलाओ को राजनीतिक अधिकार देना चाहता है, परन्तु अरस्तू उन्हे नागरिकता के अधिकार से वचित रखता है। इस दृष्टि से भी अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी धारणा सकीर्ण है।

न्याय

प्राचीन यूनानी लोग न्याय (justice) का अर्थ इस शब्द के आधुनिक माने मे नही लेते थे। उनकी दृष्टि मे न्याय कानून की अपेक्षा नैतिकता से अधिक सामीप्य रखता है। न्याय का अर्थ अग्रेजी भाषा के justice की अपेक्षा righteousness का बोध कराता है। प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त जिसके ऊपर उसके आदर्श-राज्य का सिद्धान्त आधारित है, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की नैतिक व्याख्या करता है। उसका उद्देश्य मानव-जीवन को मानवीय श्रेष्ठता प्रदान करना है। अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' मे यत्र-तत्र 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया है और उसके आधार पर राजनीतिक व्यवस्थाओ, आदर्शों, व्यवहारो आदि की व्याख्या की है। परन्तु उसने न्याय की धारणा की व्याख्या अपने ग्रन्थ इथिक्स (Ethics) मे व्यापक रूप से की है। इस ग्रन्थ मे न्याय का विवेचन करते हुए अरस्तू विविध प्रकार के न्याय की धारणाओ की व्याख्या करता है।

अरस्तू न्याय के दो रूप बताता है—

(1) सामान्य न्याय (General Justice) से अरस्तू का अभिप्राय श्रेष्ठता (goodness अथवा righteousness) से है, जिसका उद्देश्य यह है कि जो व्यक्ति

इसका प्रयोग करता है वह श्रेष्ठता अपने ही लिए नही चाहता बल्कि अपने पडोसियो की श्रेष्ठता की भी कामना करता है। यह नैतिक सद्गुण एव आचरण की श्रेष्ठता का द्योतक है। सार्वजनिक सम्बन्धो के विषय मे यह नैतिक व्यवहार एव कानून-पालन की धारणा को प्रदर्शित करता है। इसे सक्रिय सद्गुण (virtue in action) कहा जा सकता है। राजनीतिक समाज के निर्माण तथा अस्तित्व के लिए आचरण की श्रेष्ठता आवश्यक है, क्योकि 'न्याय का सद्गुण, जिसमे अन्य सब सद्गुण शामिल रहते हैं, ऐसा सद्गुण है जो सामाजिक सम्बन्धो हेतु सक्रिय रहता है।' अत सामान्य न्याय का सिद्धान्त राजनीतिक समाज के अस्तित्व के निमित्त एक आवश्यक तत्त्व है।[1]

(2) विशेष न्याय (Particular Justice) सामान्य न्याय का ही एक अग है, जिसका क्षेत्र सामान्य न्याय की अपेक्षा सकुचित है। यह श्रेष्ठता के किसी विशिष्ट रूप से ही सम्बन्ध रखता है, न कि पूर्ण श्रेष्ठता से। सामाजिक सम्बन्धो के सन्दर्भ में ऐसे न्याय का प्रयोग करने वाला व्यक्ति अन्य व्यक्तियो के साथ 'समानता' का व्यवहार बरतता है। अरस्तू यह मानकर चलता है कि राजनीतिक समुदाय स्वतन्त्र तथा समान व्यक्तियो से निर्मित होता है। इसलिए उसमे प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के साथ समुपयुक्त (fair) व्यवहार करना चाहिए।

विशेष न्याय को अरस्तू पुन दो भागो मे विभक्त करता है—(1) वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice) तथा (2) सुधारात्मक न्याय (Rectificatory or Corrective Justice)। सुधारात्मक न्याय की व्यवस्था राज्य के द्वारा विभिन्न व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक लेन-देन के सम्बन्धो को व्यवस्थित करने के लिए की जाती है। इसका उद्देश्य यह है कि व्यक्ति व्यक्ति के मध्य समानता (equality) तथा उपयुक्तता (fairness) के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य मिले। व्यक्ति आपस म एक-दूसरे के साथ की गयी सविदा का उल्लघन करके दूसरे का प्राप्य न छीने। सक्षेप मे, सुधारात्मक न्याय का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता आदि का सरक्षण करना है। इसमे समानता का तत्त्व विद्यमान रहता है जिसकी रक्षा करना ही न्याय है। यह राज्य तथा व्यक्तियो के मध्य सम्बन्धो का नियमन नही करता।

इसके विपरीत वितरणात्मक न्याय (distributive justice) का सिद्धान्त राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसका उद्देश्य राज्य मे नागरिको के मध्य राज्य के पदो, सम्मानो तथा अन्य लाभो का वितरण करने की व्यवस्था करना है। राज्य का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति राज्य के जीवन मे अपनी योग्यता, धन तथा अन्य क्षमताओ के अनुसार अपना योगदान करता है, उसके बदले मे वह राज्य से अपने योगदान के अनुपात मे पद, प्रतिष्ठा तथा पुरस्कार के रूप मे अपना भाग प्राप्त करता है। इस दृष्टि से वितरणात्मक न्याय का आधार समानता नहीं हो सकता, क्योकि राज्य मे सभी नागरिक अपना योगदान करने म समान क्षमता नहीं रखते। इसलिए प्रत्यक व्यक्ति को अपन योगदान के प्रतिफल के रूप म प्रत्येक

[1] *Ibid*, Ch XIII, 3

के समान लाभ प्राप्त नही हो सकता। न्याय के इस सिद्धान्त का यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि अरस्तू राजनीतिक समाज को समान व्यक्तियो से निर्मित इकाई न मानकर 'स्वतन्त्र तथा आनुपातिक अथवा अकारमक दृष्टि से ही समान' व्यक्तियों द्वारा निर्मित इकाई मानता है। बार्कर का कथन है कि 'अरस्तू के वितरणात्मक न्याय के सिद्धान्त मे आनुपातिक समानता की धारणा के साथ समानता की भावना का विरोध नही पाया जाता।' सभी व्यक्ति इस तथ्य का समर्थन करेंगे कि किसी भी व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुपात मे ही लाभ प्राप्त होना चाहिए। चूंकि समाज मे सब व्यक्ति योग्यता के क्षेत्र मे असमान होते हैं, अतएव उनका योगदान आनुपातिक होने से उनका लाभ भी आनुपातिक होना चाहिए। इसी सिद्धान्त को बनाये रखने की कामना सब करते हैं। समानता की धारणा यही है कि सब लोग आनुपातिक योग्यता के अनुसार ही लाभ प्राप्त करें।

राज्य मे विविध व्यक्तियो की राज्य के जीवन मे योगदान करने की योग्यता तथा क्षमता का निर्धारण करने का मापदण्ड अलग-अलग राज्य व्यवस्थाओ मे अलग अलग प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ, प्रजातन्त्र म जन्म की स्वतन्त्रता (free-birth) वर्गतन्त्र मे सम्पत्ति तथा कभी-कभी उत्तम कुल मे जन्म और कुलीन-तन्त्र मे सद्गुण (goodness or virtue) इसके निर्धारक मापदण्ड हैं। श्रेष्ठ राज्य वर्गतन्त्री तथा प्रजातन्त्री धारणाओ के आधार पर पदो तथा सम्मानो के वितरण के इन मापदण्डो को अस्वीकार करेगा। यही वास्तविक वितरणात्मक न्याय है। सच्ची समानता सख्यात्मक नही होती, अपितु आनुपातिक होती है जिसमे योग्य तथा अयोग्य के मध्य भेद किया जाता है। वितरणात्मक न्याय असमानो के मध्य असमानता को सुनिश्चित करता है, क्योकि इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का लाभ उसी अनुपात से निर्धारित किया जाता है जिस अनुपात से वह समाज के जीवन मे अपना योगदान करता है। इस सम्बन्ध मे अरस्तू राज्य के स्थायित्व को भी एक आवश्यक तत्त्व मानता है। उसका मत है कि असमानता ही राज्य मे क्रान्तियो तथा विद्रोहो को जन्म देती है। अत राज्य के पदो तथा लाभो का वितरण ऐसा न हो कि उसमे थोडे से ही व्यक्ति लाभान्वित हो और बहुसख्यको की उपेक्षा की जाय। यदि बहु-सख्यको को उपेक्षित रखा जायेगा तो उनकी नैराश्यपूर्ण भावना राज्य के स्थायित्व के लिए अहितकर सिद्ध होगी।

न्याय के उपर्युक्त रूपो के अतिरिक्त अरस्तू न्याय के अन्य रूपो का भी विवेचन करता है। न्याय के अन्य रूपो मे एक निरपेक्ष न्याय (absolute justice) है। निरपेक्ष न्याय किसी जनसमुदाय विशेष से सम्बन्ध नही रखता। इसे मानवीय न्याय कहा जा सकता है। मनुष्य होने के नाते एक व्यक्ति को दूसरे के साथ क्या व्यवहार करना चाहिए, यह निरपेक्ष न्याय है। राज्य का नागरिक होने के नाते एक नागरिक दूसरे नागरिक से क्या व्यवहार करता है, न्याय की यह धारणा राजनीतिक न्याय (political justice) है। अतएव राजनीतिक न्याय राजनीतिक समाज के सदस्यो (नागरिको) के सम्बन्धो के लिए प्रयुक्त होता है। राजनीतिक न्याय, 'वह धारणा है जो सामूहिक जीवन म भाग लेने वाले व्यक्तियो म पायी जाती है, जिसके आधार

पर वे स्वतन्त्र मानवो के रूप मे तथा आनुपातिक अथवा अंकात्मक रूप मे समान व्यक्तियो के रूप मे आत्म-निर्भरता की प्राप्ति का उददेश्य रखते हैं।'[1] राजनीतिक न्याय की एक आवश्यक शर्त कानून का अस्तित्व है जिसके अनुसार राज्य के सदस्यो के सामाजिक एव राजनीतिक सम्बन्धो का नियमन होता है। इस दृष्टि से राजनीतिक न्याय के अन्तर्गत सामान्य न्याय तथा विशेष न्याय (वितरणात्मक तथा सुधारात्मक) भी शामिल हैं। राजनीतिक न्याय परिवार के सदस्यो के पारस्परिक सम्बन्धो पर लागू नहीं होता, क्योंकि परिवार के सदस्य (स्त्री, बच्चे तथा दास) परिवार के मुखिया के आश्रित रहते हैं। वही उनकी सुख-सुविधा का नियामक है। परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धो का नियमन ऐसे कानूनो द्वारा नहीं होता जिनका आधार राजनीतिक न्याय है। राजनीतिक न्याय का एक अंग प्राकृतिक है और दूसरा कानूनी।[2] प्राकृतिक का अभिप्राय सार्वभौम प्रकृति के नियमो से है जो सर्वत्र समान रूप से लागू होते हैं। कानूनी का अभिप्राय उन नियमों से है जो लिखित या अलिखित रूप मे विभिन्न राज्यो या प्रदेशो मे निर्मित कानूनो अथवा प्रचलित परम्पराओ पर आधारित होते है। बार्कर के मत मे 'अरस्तू की दृष्टि मे न्याय सामान्यतया कानून से सम्बद्ध है। न्याय-सम्मत वही है जो विधिगत है। उत्पत्ति की दृष्टि से न्याय प्राकृतिक या कानूनी हो सकता है और क्षेत्र की दृष्टि से सामान्य या विशेष। परन्तु न्याय-सम्मत तथा विधिगत का रूप एक ही है।[3] इसका कारण यह है कि प्राकृतिक न्याय की उत्पत्ति प्राकृतिक कानून से होती है और कानूनी न्याय की उत्पत्ति का स्रोत नागरिक कानून है।

सामाजिक तथा आर्थिक सरचना

परिवार तथा सम्पत्ति

परिवार का साम्यवाद—प्लेटो ने आदर्श राज्य के निमित्त शासक वर्ग के लिए पत्नियों तथा सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व को एक साधन के रूप मे माना था। अरस्तू ऐसी व्यवस्था का विरोध करता है। रिपब्लिक के आदर्श राज्य की धारणा यह थी कि समूचे नगर-राज्य की अधिकतम सम्भव एकता सर्वोच्च भलाई है (the greatest possible unity of the whole polis is the supreme good)। अरस्तू राज्य को व्यक्ति या परिवार की भांति एक इकाई नहीं मानता, क्योंकि उसकी धारणा का राज्य इकाइयों का योग है। उसके विचार मे राज्य के निर्माणकारी तत्त्व (व्यक्ति) न केवल सख्या मे ही विविध हैं, बल्कि प्रकृति तथा प्रकार मे भी वे एक-

[1] It is what is found among men who share in a common life, with a view to the attainment of self sufficiency as freemen and as equals either proportionately or arithmatically (in a word men living in a *polis*, and under its system of law) —*The Ethics* Bk V, Ch VI, 4—quoted by Barker, *op cit*, 364

[2] Barker, *op cit*, 365

[3] *Ibid*, 365

दूसरे से भिन्न हैं। सबकी कार्य क्षमता भिन्न-भिन्न तरह की है, जिसके कारण वे अपनी विविध क्षमताओं द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ पारस्परिक आदान-प्रदान तथा विनिमय से राज्य का जीवन व्यतीत करते है। राज्य न तो एक सैनिक इकाई है और न एक कबीला। अरस्तू के विचार से राज्य का उद्देश्य एकता नहीं है, बल्कि आत्म-निर्भरता है। उसका विचार है कि राज्य की अत्यधिक एकता की बात करना राज्य का विनाश करना है, क्योंकि ऐसी धारणा समाज के अन्दर पाये जाने वाले विविध तत्वों की उपेक्षा करती होगी। राज्य की आत्म-निर्भरता उसमे विद्यमान विविध तत्वों के अस्तित्व पर निर्भर रहती है। जिस समाज में सबके मध्य 'समानता' का सिद्धान्त माना जाता है, उसमे भी शासक-शासितों के मध्य भेद बना रहता है। राज्य के अन्तर्गत विविध तत्व विविध प्रकार से अपनी क्षमतानुसार राज्य के जीवन मे योगदान करते हैं और अपने योगदान के अनुसार लाभ प्राप्त करते हैं। यही राज्य की आत्म-निर्भरता का सिद्धान्त है। अत्यधिक एकता राज्य को 'एक व्यक्ति के राज्य' मे परिणत कर देती है। अत सर्वोत्तम भलाई एकता मे नही है।

प्लेटो राज्य की एकता को सर्वोच्च भलाई (supreme good) मानते हुए उसकी प्राप्ति के एक साधन के रूप मे *परिवार के साम्यवाद की योजना (the community of wives and children)* का प्रतिपादन करता है। ऐसी व्यवस्था मे व्यक्तिगत परिवार का लोप हो जाता है और पत्नियों तथा बच्चो पर सब का समान स्वामित्व हो जाता है। अरस्तू का तर्क है कि यह व्यवस्था अस्वाभाविक है। इनमे जो बच्चे उत्पन्न होंगे उन्हे 'सब' अपना कहेंगे। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति पृथक् रूप से तथा सब सामूहिक रूप से उन्हें अपना कहेंगे। ऐसी व्यवस्था मे एकता की भावना के लिए यदि प्रत्येक व्यक्ति पृथक् रूप से सबको अपना माने तो अच्छा है, परन्तु यह अव्यावहारिक है। इसके विपरीत यदि सब सामूहिक रूप से सबको अपना मानते हैं तो वह एकता के हित मे बुद्धिमानी की बात नही है। प्लेटो की व्यवस्था मे समस्त बच्चो के उतने ही माँ-बाप होंगे जितने कि राज्य के संरक्षक हैं। अत यदि राज्य मे 1000 संरक्षक वर्ग के पुरुष हैं तो प्रत्येक बच्चे पर प्रत्येक व्यक्ति का बाप होने का अंश केवल 1/1000 होगा। परिणामस्वरूप राज्य के अन्दर व्यक्तियों के मध्य सजातता या भ्रातृत्व की भावना केवल आंशिक (fractional) होगी। ऐसी स्थिति मे सबके बच्चे किसी के बच्चे नहीं रहेंगे। सामान्यतया मानव जिस वस्तु को वास्तव मे अपनी मानता है उसकी पूरी सावधानी से देख-रेख करता है, सामूहिक स्वत्व की वस्तुएँ सबके द्वारा उपेक्षित रखी जाती हैं।

परिवार के साम्यवाद की आलोचना के अरस्तू द्वारा दिये गये अन्य तर्क यह हैं कि ऐसी व्यवस्था मे जब व्यक्ति अपने वास्तविक रिश्तेदारों (माँ, बाप, भाई, बच्चों आदि) को नही पहचान पायेंगे तो अपराधो की संख्या बढ जायेगी। इसमे प्रायश्चित्त करने की भावना का भी अभाव रहेगा। इस प्रकार की व्यवस्था शासित वर्ग के लिए तो उपादेय हो सकती है, परन्तु प्लेटो उनके लिए इस व्यवस्था का निर्धारण नहीं करता। शासक वर्गों के मध्य परिवार के साम्यवाद की व्यवस्था द्वारा एकता लाने का प्रयास निष्फल होगा। इस व्यवस्था मे दूसरी कठिनाई यह है कि

प्लेटो सरक्षक एव उत्पादक वर्गों के व्यक्तियो को योग्यता के आधार पर सम्बन्धित श्रेणी मे स्थानान्तरण करने की बात भी कहता है। यदि इसे कार्यान्वित किया जायेगा तो फिर एकता के स्थान पर भेदभाव की भावना स्पष्ट हो जायेगी। उदाहरणार्थ, उत्पादक वर्ग के किसी व्यक्ति को सरक्षक वर्ग मे स्थानान्तरित करने पर उसकी मूल सामाजिक स्थिति तथा सजातता स्पष्ट रहेगी। अत सरक्षको के समुदाय मे उसे पृथक् ही माना जाता रहेगा। साथ ही वह अपनी मूल सजातता से भी पृथक् हो जायेगा।

सम्पत्ति का साम्यवाद—यद्यपि अरस्तू ने प्लेटो की सम्पत्ति के साम्यवाद के विचारो की भी आलोचना की है तथापि सम्पत्ति के साम्यवाद के सम्बन्ध मे अरस्तू द्वारा प्लेटो की आलोचना बहुत सगत नही बैठती। सम्पत्ति (जिससे उसका अभिप्राय कृषि-भूमि से है) के स्वामित्व, उत्पादन तथा उपभोग के सम्बन्ध मे अरस्तू शासक एव शासित सभी वर्गों को एक साथ लेता है। उसके तर्को का आधार केवल प्लेटो की विचारधारा की आलोचना करना नही है।[1] सम्पत्ति के स्वामित्व तथा उपभोग के सम्बन्ध मे अरस्तू तीन विकल्पो का परीक्षण करता है। प्रथम, कृषि-भूमि के खण्डो का स्वामित्व वैयक्तिक हो और उत्पादित अनाज को सामूहिक उपभोग के लिए सामूहिक गोदामो मे इकट्ठा कर दिया जाय। द्वितीय, भूमि का स्वामित्व सामूहिक हो और सामूहिक रूप से उत्पादन कार्य किया जाय, परन्तु उत्पादित अनाज को वैयक्तिक उपभोग के लिए बाँट दिया जाय। तृतीय, भूमि का स्वामित्व तथा उत्पादन का उपभोग दोनो सामूहिक हो। बार्कर के अनुसार, अरस्तू एक चौथे विकल्प का उल्लेख नही करता जिसके अन्तर्गत भूमि का स्वामित्व तथा उपभोग दोनो वैयक्तिक हो। अरस्तू प्रथम प्रकार की व्यवस्था का पक्ष लेता प्रतीत होता है, अत वह दूसरी व्यवस्था का, जो प्रथम के विरुद्ध है, परीक्षण नही करता। उसकी अपनी धारणा यह है कि भूमि का स्वामित्व तो वैयक्तिक हो, परन्तु उत्पादन का उपभोग सामूहिक हो। वह यह मानकर चलता है कि प्लेटो की योजना उपर्युक्त तीसरे विकल्प (सामूहिक स्वामित्व तथा सामूहिक उपभोग) की है। अत वह इसकी कठिनाइयो का परीक्षण करता है। परन्तु ऐसा करने मे अरस्तू प्लेटो के साथ न्याय नही करता, क्योकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्लेटो की योजना मे भूमि के सामूहिक स्वामित्व की धारणा नहीं है।[2] भूमि के सामूहिक स्वामित्व तथा उपभोग के सम्बन्ध मे उस दशा म बहुत कठिनाई नहीं होगी जबकि भूमि के स्वामी नागरिक हो और काश्तकार दास हो। परन्तु यदि नागरिक स्वय मालिक तथा काश्तकार दोनो होगे तो कठिनाई आयेगी, क्योकि सामूहिक काश्तकारी म सब लोग अपनी क्षमता के अनुसार काम नहीं करेंगे। परिणामस्वरूप, कार्य के अनुसार लाभ तथा उपभोग अथवा समान लाभ तथा उपभोग की बात सुनिश्चित करने मे कठिनाई आयेगी। अरस्तू भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व तथा उत्पादन के सामूहिक उपभोग की व्यवस्था को सामाजिक नैतिकता, श्रेष्ठता तथा स्नेह की भावनाओ को उत्पन्न करने

[1] *Ibid*, 55
[2] *Ibid*

वाली व्यवस्था मानता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति भूमि को अपनी मानकर उसमें अपनी क्षमतानुसार श्रम करेगा और उत्पादन कार्य अपने साथी-मित्रों के हित में करने की भावना से करेगा। ऐसा करने में प्रत्येक व्यक्ति आनन्द का अनुभव करेगा। साथ ही इसमें भलाई (goodness) की भावना भी रहेगी। राज्य के विधायकों को ऐसी ही व्यवस्था को प्रोत्साहित करना चाहिए।

सम्पत्ति के साम्यवाद के सम्बन्ध में भी अरस्तू प्लेटो की आलोचना इसी आधार पर करता है कि प्लेटो इसे राज्य की एकता बनाये रखने के एक साधन के रूप में लेता है। अरस्तू ऐसी एकता की धारणा का विरोधी है क्योंकि उसका तर्क यह है कि वास्तविक एकता विविधों के मध्य एकता (unity in diversity) में है। अरस्तू के मत से सम्पत्ति का सामूहिक स्वामित्व तथा उपभोग राज्य की एकता का सूचक नहीं हो सकता, क्योंकि सामूहिक स्वामित्व के अन्तर्गत लोगों के संयुक्त हित बहुधा कलह उत्पन्न करते हैं। इससे सामाजिक संगठन ढीला पड़ जायेगा। विविधता से युक्त तत्वों का सम्मिश्रण समाज को पूर्णता तथा उत्तमता प्रदान करता है। अतः सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व की योजना के अन्तर्गत विविधता बनी रहेगी और व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध एक-दूसरे को लाभान्वित करते रहेंगे। सम्पत्ति के साम्यवाद (सामूहिक स्वामित्व तथा उपभोग) की व्यवस्था से वास्तविक एकता नहीं आ सकती। अतः एकता लाने का साधन सम्पत्ति का साम्यवाद नहीं होना चाहिए बल्कि शिक्षा की योजना होनी चाहिए। इसके साथ ही व्यवस्थापन का उद्देश्य भी ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होना चाहिए जिसमें सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व तथा सामूहिक उपभोग को सुनिश्चित किया जा सके।[1]

प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना करते हुए अरस्तू ने एक तर्क यह दिया है कि यह पुराने अनुभवों तथा परम्पराओं के प्रतिकूल है। अतीत काल में ऐसी व्यवस्थाओं का ज्ञान लोगों को था। यदि वे उचित होतीं तो उन्हें कार्यान्वित किया जाता। यहाँ पर अरस्तू पुनः प्लेटो की योजना को तोड़-मरोड़कर उसकी आलोचना करता है। वह सम्पत्ति के सम्बन्ध में केवल संरक्षक वर्ग को ही नहीं लेता, जैसा कि प्लेटो ने किया था, बल्कि वह उसमें सम्पूर्ण नागरिकों को लेकर चलता है। एक स्थल पर वह प्लेटो द्वारा बताये गये संरक्षक वर्ग का ही उल्लेख करता है, परन्तु आगे फिर उत्पादक वर्ग को भी शामिल करता है। बार्कर ने उचित ही कहा है कि "अरस्तू या तो भूल जाता है या इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि रिपब्लिक का वास्तविक तर्क क्या है। प्लेटो इस बात को स्पष्टतया कहता है कि कृषक निजी सम्पत्ति तथा परिवार रखेंगे।"[2] वास्तव में सम्पत्ति के साम्यवाद की प्लेटो की व्यवस्था केवल संरक्षक वर्ग के लिए है और उसका उद्देश्य संरक्षक वर्ग को व्यक्तिगत सम्पत्ति से मुक्त रखना है। परन्तु अरस्तू इस व्यवस्था को सम्पूर्ण समाज में सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व तथा उपभोग की व्यवस्था के अर्थ में लेकर उसकी

[1] *Ibid.*, 51

[2] "Aristotle here forgets, or at any rate neglects, the actual argument of the *Republic*. Plato makes it clear that the farmers own private property, and live in private families." —*Ibid.*, 52

आलोचना करता प्रतीत होता है। अरस्तू यह अनुभव करता है कि राज्य के एक विशाल अग के सम्बन्ध मे सम्पत्ति के साम्यवाद की व्यवस्था का प्रतिपादन न करना उचित नही है।

अरस्तू के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारो का निष्कर्ष यह है कि भूमि का स्वामित्व वैयक्तिक हो किन्तु उपभोग सामूहिक हो। यद्यपि अरस्तू प्लेटो की योजना की अनेक तर्कों के आधार पर आलोचना करता है, तो भी प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद का सिद्धान्त बहुत कुछ अरस्तू से मिलता-जुलता है। उनमे भूमि का स्वामित्व वैयक्तिक ही है और उपभोग सामूहिक। परन्तु कठिनाई यह है कि अरस्तू इस सिद्धान्त को समस्त समाज पर लागू करना चाहता है। प्लेटो ने इसे दो वर्गों की व्यवस्था के रूप मे चित्रित किया है। उत्पादक वर्ग भूमि का वैयक्तिक स्वामित्व रखते हैं और उनसे प्राप्त उत्पादन के भाग का सरक्षक वर्ग द्वारा सामूहिक उपभोग होता है। दूसरी ओर सरक्षक वर्ग सम्पत्ति के स्वामित्व से वचित है परन्तु उत्पादक वर्ग न केवल भूमि के वैयक्तिक स्वामित्व ही रखते हैं, वरन् उत्पादन के अपने भाग का वैयक्तिक उपभोग भी करते हैं।

दास-प्रथा

प्लेटो तथा अरस्तू के युग मे यूनान मे दास प्रथा (slavery) बहुत अधिक प्रचलित थी। प्लेटो ने इसे महत्वहीन मानकर अपने राजनीतिक विचारो मे इसका विवेचन नही किया है। परन्तु अरस्तू ने इसे एक महत्त्वपूर्ण सस्था माना है। उसके मत से परिवार राज्य का और दास परिवार का अभिन्न अग है जो परिवार की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। कृषि अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत बिना दासो के कोई भी परिवार सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर सकता था। दास प्रथा के सम्बन्ध मे उस युग म दो धारणाएँ थी। कुछ लोग दास प्रथा को उचित तथा प्राकृतिक समझते थे, परन्तु कुछ इसे अनुचित, अप्राकृतिक तथा बल प्रयोग पर आधारित सस्था मानते थे। अरस्तू प्रथम विचारधारा का समर्थक है।

दास की परिभाषा—अरस्तू की धारणा यह है कि सम्पत्ति परिवार का एक आवश्यक अग है। सम्पत्ति अर्जन के लिए उपकरण आवश्यक हैं। उपकरण दो प्रकार के होते हैं—सजीव तथा निर्जीव। निर्जीव उपकरण उत्पादन के लिए प्रयुक्त होते हैं और सजीव उपकरण निर्जीव उपकरणो को क्रियाशील रखने के लिए आवश्यक होते हैं। परिवार के सचालन एव सम्पत्ति अर्जन मे इन दोनो प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता पडती है। अरस्तू दास को सजीव (animate) उपकरण मानता है, करघा निर्जीव (inanimate) उपकरण है। परन्तु बिना सजीव उपकरण के निर्जीव उपकरण स्वय उत्पादन नही कर सकता। 'दास परिवार के जीवन तथा कार्य-प्रणाली से सम्बद्ध उपकरण है न कि उत्पादन मे सम्बद्ध। वह वस्तुओं के निर्माण म सहायता देने वाला नहीं है, बल्कि परिवार के जीवन तथा काय प्रणाली मे सहायता देता है।'[1]

[1] 'The slave is concerned with the *life* of the household and its activity rather than with production he does not help in the making of things but in living and all its activities' —*Ibid*, 112

दास परिवार की सम्पत्ति है, मालिक दास का स्वामी है, अत दास का मालिक पर अधिकार नहीं है, किन्तु दास न केवल मालिक का दास ही है, अपितु उस पर मालिक का पूर्ण अधिकार भी है। अरस्तू ने दास की परिभाषा इस प्रकार की है (1) 'कोई व्यक्ति जो अपनी प्रकृति से स्वय अपना नही है बल्कि दूसरे व्यक्ति का है, वह स्वभावत दास है', अथवा (2) 'वह व्यक्ति जो एक मानव होते हुए भी सम्पत्ति की एक वस्तु है और दूसरे व्यक्ति का है', अथवा (3) 'सम्पत्ति की जो वस्तु कार्य का उपकरण है और जिसे सम्पत्ति के मालिक से पृथक् किया जा सकता है', दास है।[1]

औचित्य—दास प्रथा के औचित्य को प्रदर्शित करने के निमित्त भी अरस्तू अपने प्रकृतिवादी विचारो का सहारा लेता है। उसका तर्क है कि 'यह बात आवश्यक एव व्यावहारिक है कि कुछ लोग शासक होंगे तथा कुछ शासित। जन्म से ही कुछ लोग शासन करने के लिए तथा कुछ शासित बने रहने के लिए निश्चित कर दिये जाते हैं।'[2] यह प्रकृति का नियम है कि श्रेष्ठतर निम्नतरो के ऊपर शासन करते हैं। शासनो के रूपो मे भिन्नता हो सकती है, क्योकि प्रत्येक दशा मे शासितो की योग्यता का मापदण्ड एक-सा नही है। परन्तु प्रकृति का यह नियम सर्वत्र व्याप्त है कि बलवान् निर्बल पर शासन करता है, जैसे आत्मा शरीर पर, विवेक तृष्णा पर, पुरुष स्त्री के ऊपर या बच्चो के ऊपर, मनुष्य जानवरो के ऊपर शासन करते हैं। यह तथ्य प्राकृतिक होने के साथ साथ आवश्यक भी है, क्योकि इन सभी अवस्थाओ मे बलवान का निर्बल के ऊपर शासन केवल बलवान् का हित नही है, बल्कि दोनो का है। इसी प्रकार मालिक का दास के ऊपर शासन भी आवश्यक है। आत्मा का शरीर पर शासन उसी प्रकार का है जैसा मनुष्य का जानवर के ऊपर, और विवेक का तृष्णा के ऊपर शासन भी एक राजा के प्रजा के ऊपर शासन की ही भाँति है। 'कोई व्यक्ति प्रकृति दास इसी अर्थ मे है कि उसमें स्वय विवेक का अभाव है, परन्तु इतना विवेक उसमे अवश्य होता है कि वह दूसरे के विवेक का ज्ञान कर सकता है।'[3] दास तथा जानवर मे यही अन्तर है कि जानवर विवेक-शून्य है, जबकि दास ऐसा नहीं है। अतएव यह बात दास के हित मे है कि वह मालिक द्वारा शासित हो और इसी मे उसकी भलाई है।

मानवो की शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओ मे असमानता होती है। जिन व्यक्तियों मे उच्च विवेक शक्ति होती है वे आदेश देने की क्षमता रखते हैं और जिन व्यक्तियों मे विवेक की मात्रा इतनी ही होती है कि वे विवेक को समझ मात्र सकते

[1] *Definition* (1) 'Anybody who by his nature is not his own man but another s is by his nature a slave' (2) Any body who being a man is an article of property is another s man' (3) 'An article of property is an instrument intended for the purpose of action and separable from its possessor' —*The Politics* Bk I Ch IV, 6

[2] For that some should rule and others be ruled is a thing not only necessary but expedient From the hour of their birth some are marked out subjection, and others for rule' —*Ibid*, 2

[3] 'A man is by nature a slave if he is capable of becoming the property of another and if he participates in reason to the extent of apprehending it in another, though destitute of it himself'—*Ibid*, 9

हैं, उनकी क्षमता आज्ञा-पालन तक सीमित होती है। ऐसी असमान मानसिक एव शारीरिक क्षमताओ का परस्पर मिश्रण दोनो प्रकार के व्यक्तियो के हित मे, अथच सम्पूर्ण परिवार के हित म है। अत दास प्रथा प्राकृतिक है। दास मालिक के साथ जीवन व्यतीत करता हुआ अपने जीवन को उच्चतर बना सकता है, क्योकि उसका मालिक के साथ सम्पर्क उसे उत्तमता प्रदान करता है। साथ ही दास के कारण मालिक को अधिक आराम तथा शारीरिक श्रम से अवकाश मिलता है, जिसके फलस्वरूप वह मानसिक कार्य करने का अधिक सुअवसर प्राप्त करता है। अत दास प्रथा औचित्यपूर्ण है।

सॉफिस्ट लोग दास प्रथा के विरोधी थे। उनका तर्क था कि 'ईश्वर ने समस्त मानवो को स्वतन्त्र पैदा किया है, परन्तु प्रकृति ने मानव को दास बनाया है।' इसके विरुद्ध अरस्तू यह मानता है कि सामाजिक जीवन की उच्च परम्परा मे शासक तथा शासितो की व्यवस्था प्राकृतिक है। परिवार तथा समाज की व्यवस्था के लिए दास प्रथा आवश्यक एव नैसर्गिक है। उस युग मे समस्त यूनान मे दास प्रथा इतनी अधिक प्रचलित थी कि किसी एक राज्य म उस समाप्त करना राज्यो के मध्य आर्थिक सन्तुलन को नष्ट कर देता। दास प्रथा नगर-राज्यो की अर्थव्यवस्था तथा स्वामित्व का एक आवश्यक अग थी। यदि दासो का मुक्त कर दिया जाता तो उनका एक विशाल वर्ग सामाजिक सरचना को विकृत कर देता। अतएव अरस्तू यथार्थवादिता के आधार पर भी दास प्रथा के औचित्य का समर्थन करता है।

दासो के रूप—अरस्तू ने दासो को दो रूपो मे विभक्त किया है। एक को वह प्राकृतिक दास कहता है जिनके लक्षण उपर्युक्त परिच्छेदो मे बताये गये हैं। दूसरे वग मे वह कानूनगत दासो (slaves by law or convention) को रखता है। कानूनगत दास से अरस्तू का अभिप्राय ऐसे व्यक्तियो स है जिन्हे युद्ध-बन्दियो के रूप मे विजयी लोगों के द्वारा दास बना लिया जाता था। अरस्तू के विचार से जिन लोगो ने दास प्रथा का समर्थन या विरोध किया है, उनकी धारणाएँ उपर्युक्त दो प्रकार के दासो की स्थिति से उत्पन्न तर्कों पर आधारित हैं। विरोधियो का तर्क यह है कि युद्ध बन्दियो को दास बनाना शक्ति पर आधारित है जिसका अभिप्राय है 'न्याय को शक्तिशाली का हित' मानना। समर्थको का तर्क यह है कि विजय उत्तमता (goodness) का प्रतीक है, अत उत्तमता के मापदण्ड से विजयी के द्वारा पराजितो को दास बनाना औचित्यपूर्ण है, क्योकि 'शक्ति उत्तमता मे रहती है' (power goes with goodness)। अरस्तू इन दानो दृष्टिकोणो से सहमत नही है। उसके मत से यह हो सकता है कि युद्ध का कारण ही अनौचित्यपूर्ण हो। अत उत्तमता विजय म होना न्यायसगत नही है। स्वय युद्ध गैरकानूनी हो सकता है। ऐसी स्थिति म कानूनगत दास प्रथा का भी औचित्य नही है। इसका यह परिणाम भी हो सकता है कि कभी जो व्यक्ति प्रकृति श्रेष्ठ हैं उन्हे ऐसे व्यक्ति युद्ध म विजय द्वारा दास बना लेंगे, जो स्वय निम्नतर है। अरस्तू का निष्कर्ष है कि सभ्य जन समूह को असभ्यो द्वारा दास बनाया जाना अनौचित्यपूर्ण है। यूनानी सभ्य हैं, उन्हें दास नही बनाया जा सकता। इस दृष्टि से अरस्तू प्राकृतिक दास तथा प्राकृतिक स्वतन्त्र मानव

(natural free man) के मध्य भेद करता है।

अरस्तू दास को मालिक का एक अंग मानता है। मालिक पूर्ण है और दास उसका अंग। दोनों का सम्बन्ध आत्मा तथा शरीर की भाँति है। अतः दोनों में मैत्री-सम्बन्ध तथा पारस्परिक हित की भावना होनी चाहिए। दास प्रथा का आधार सद्भावना (goodwill) होना चाहिए जिसके द्वारा मालिकों के उच्चतर गुणों का लाभ दासों को प्राप्त हो सके और दासों के अस्तित्व से मालिकों को भी आरामदेह तथा स्वस्थ नागरिक जीवन व्यतीत करने का अधिक अवसर मिलता रहे। अरस्तू के विचार से एक राजनेता की सत्ता तथा परिवार के मालिक की सत्ता में यही अन्तर है कि राजनेता ऐसे व्यक्तियों पर सत्ता का प्रयोग करता है जो स्वतन्त्र तथा समान हैं, परन्तु परिवार के मालिक की सत्ता दासों के ऊपर होती है। अरस्तू के मत से दास को पारिवारिक सेवा-सम्बन्धी कार्यों का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। मालिक के लिए भी यह आवश्यक है कि उसमें दास का समुचित उपयोग करने की योग्यता होनी चाहिए।

मूल्यांकन—अरस्तू का दास प्रथा सम्बन्धी सिद्धान्त केवल उसके दार्शनिक विचारों पर आधारित नहीं है, बल्कि इससे उसका यथार्थवाद भी स्पष्ट होता है। अरस्तू परिवार को राज्य का आधारभूत तत्त्व मानता है और उस युग में दास प्रथा यूनान में इतनी अधिक प्रचलित थी कि दासों के बिना नगर-राज्यों के नागरिक उत्तम नागरिक एवं आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने से वंचित हो जाते। इसका प्रभाव नगर राज्यों की अर्थ-व्यवस्था पर भी प्रतिकूल पड़ता। अतः अरस्तू ने दास प्रथा का समर्थन करने में वस्तु-स्थिति का अपने दार्शनिक विचारों के साथ समन्वय किया है। यद्यपि प्लेटो ने अपने राजनीतिक दर्शन में दास प्रथा की विवेचना नहीं की है, तथापि प्लेटो के विचारों में भी अरस्तू की धारणा पूर्णरूपेण विद्यमान है। फॉस्टर ने उचित ही कहा है कि 'अरस्तू द्वारा दास प्रथा के औचित्य का समर्थन सिद्धान्ततः वैसा ही है, जैसा कि प्लेटो द्वारा उत्पादक वर्ग को स्थायी रूप से शासित बनाये रखने का औचित्य है।'[1] अरस्तू इस आधार पर दास प्रथा को उचित बताता है कि दासों में मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमताएँ स्वभावतः इतनी ही होती हैं कि वे केवल शासित रहना ही जानते हैं और दूसरों के विवेक का अनुसरण करके ही वे अपने जीवन को उत्तम बना सकते हैं। प्लेटो भी राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में मानवीय सद्गुणों का विवेचन करते हुए उत्पादक वर्ग में जो कि केवल शारीरिक श्रम करने की क्षमता रखते हैं, तृष्णा तत्त्व की प्रधानता दर्शाता है, और उन्हें स्थायी रूप से विवेक तथा उत्साह तत्त्वों से युक्त संरक्षकों की अधीनता में बनाये रखना चाहता है। प्लेटो के मत से शासन कार्य तथा उच्चतर मानसिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन उन्हीं को करना चाहिए जो विवेक एवं उत्साह गुणों से युक्त हैं। उन्हें शारीरिक श्रम, भौतिक चिन्ताओं, माया-मोह आदि से मुक्त रहना चाहिए तथा शिक्षा

[1] 'Aristotle's justification of slavery is the same in principle as Plato's justification of the permanent subjection of the producing classes.'—Foster, *Masters of Political Thought*, Vol. I, 1949, 138.

की व्यवस्था द्वारा उन्हे उच्च आध्यात्मिक, सैनिक, प्रशासनिक एव नागरिक ज्ञान कराया जाना चाहिए। प्लेटो उत्पादक वर्ग को इन सब सुविधाओ एव उत्तरदायित्वो से उपेक्षित रखता है। अत यह वर्ग राजनीतिक दृष्टि से दासो के तुल्य ही रहेगा।

द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य मे भी प्लेटो केवल उन्ही व्यक्तियो को नागरिक मानता है, जो भू सम्पत्ति के मालिक हैं। भू सम्पत्ति द्वारा उत्पादन कार्य मे शारीरिक श्रम करने के लिए वह भी दासो को रखने की नीति का समर्थन करता है। इस प्रकार द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य मे भी उत्पादक, शिल्पी, श्रमजीवी, उद्योग तथा व्यवसाय का कार्य करने वाले व्यक्ति नागरिक नहीं हो पायेंगे।

अरस्तू उन्ही व्यक्तियो को नागरिक मानता है जो राज्य के विधायी एव न्यायिक कृत्यो मे भाग लेते हैं। इस दृष्टि से अरस्तू भी यह मानकर चलता है कि जो व्यक्ति केवल शारीरिक श्रम करने की क्षमता रखते हैं वे नागरिक कर्तव्यो मे भाग नही ले सकते। परन्तु अरस्तू ऐसी श्रेणी मे केवल दासो को ही रखना चाहता है। उसकी दृष्टि मे यूनान के नगर-राज्यों के मूल निवासी जो व्यक्तिगत परिवारो के मालिक हैं, वे नागरिक अधिकारो तथा कर्तव्यो का उपभोग और पालन करेंगे। इसलिए उनके पारिवारिक जीवन म शारीरिक श्रम द्वारा उत्पादन कार्य करने के लिए दासो का होना आवश्यक है। चूँकि दास विवेक तत्त्व स हीन हैं, अत वे नागरिक जीवन के कार्य नही कर सकते। वे प्रकृतित शासित रहने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं। उन्हे शासन कार्य मे भाग लेने की क्षमता प्राप्त ही नही है। परन्तु स्वय अपने तथा नागरिको के भी हित मे उनका होना आवश्यक है। इस दृष्टि से अरस्तू दास प्रथा के औचित्य को सिद्धान्त रूप म उसी प्रकार व्यक्त करता है जिस प्रकार प्लेटो उत्पादक वर्ग को सदैव शासित ही रखने के सिद्धान्त का औचित्य दर्शाता है।

यद्यपि अरस्तू न दास प्रथा का समर्थन तथा औचित्य दर्शाया है, तथापि वह दास को परिवार का अग मानता है। साथ ही यह भी कहता है कि मालिक को दासो के साथ मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए, क्योकि मालिक तथा दास दोनो एक-दूसरे के पारस्परिक हित की वस्तुएँ हैं। वह सॉफिस्टो के मानवो को प्राकृतिक समानता के सिद्धान्त को नही मानता। उसकी धारणा मे समानता प्राकृतिक नही है, वलिक असमानता प्राकृतिक है और प्रकृति का नियम ही यह है कि श्रेष्ठ व्यक्ति अ-श्रेष्ठो पर शासन करेंगे, जिसम दोनो का हित है। वह व्यक्तिगत दासो की मुक्ति का समर्थन भी करता है। इसका आशय यह है कि यदि किसी दास म विवेक का अस्तित्व हो और उसके आचरण स यह प्रतीत होने लग कि वह प्राकृतिक दास नही रह गया है तो उसे दासता से मुक्त किया जाना चाहिए। उस काल म एथेन्स के दासो की स्थिति अन्य राज्यों के दासो की अपेक्षा उत्तमतर थी। वे अपने मालिको से मित्रवत् व्यवहार प्राप्त करते थ। कभी-कभी मुक्ति के उपरान्त उन्हें राज्य के छोटे-छोटे पदो पर नियुक्त भी किया जाता था।

आलोचना—जिन तर्कों के आधार पर अरस्तू दास प्रथा के औचित्य को व्यक्त करता है, वे सब दोषरहित नहीं कहे जा सकते। अरस्तू की प्राकृतिक दास की व्याख्या बहुत सन्तोषजनक नही है। उसकी परिभाषा से एसा लगता है कि वह प्रत्यक्ष

शारीरिक श्रम-जीवी व्यक्ति को दास की स्थिति प्रदान करता है। वह यूनानवासियो को श्रेष्ठ समझता है, परन्तु यूनान मे भी ऐसे व्यक्ति रहते होगे जो शारीरिक श्रम पर ही आश्रित रहते हो। पर वे दास नही कहे जा सकते थे। अरस्तू दास को कार्य का उपकरण मानता है, न कि उत्पादन का उपकरण। दास की यह पारिभाषिक व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। पारिवारिक जीवन मे इन दोनो के मध्य भेद करना कठिन है। जब दास पारिवारिक जीवन का भागीदार है तो उसे केवल उपकरण मात्र मानना भी युक्तिसगत प्रतीत नही होता। यह भी भ्रम हो सकता है कि परिवार के बच्चे तथा मालिक की पत्नी भी इस श्रेणी मे आ सकते हैं, क्योकि उनके ऊपर भी मालिक शासक का सा व्यवहार करता है। वे उसी के विवेक का अनुसरण करते हैं। परन्तु वे दास नही हैं।

अरस्तू ने दासो के मध्य वैवाहिक सम्बन्धो का कोई उल्लेख नही किया है व भी तो अपने समाज मे वैवाहिक जीवन एव प्रजनन किया के भागीदार हैं। यदि उनके बच्चों को भी दास ही माना जाय तो वह भी न्यायसगत बात नही होगी। यह सम्भव है कि कभी दासो के बच्चे विवेकशील हो सकते हैं तो इन्हे किस श्रेणी मे माना जायेगा ? अरस्तू व्यक्तिगत दासो की मुक्ति का समर्थक है। यदि विवेकयुक्त दास को मुक्त कर दिया जाय तो अरस्तू की यह धारणा असगत हो जायेगी कि दास तथा मालिक शरीर एव आत्मा की भाँति हैं। शरीर आत्मा मे कैसे परिणत हो जायेगा ? अरस्तू यह भी कहता है कि मालिक को दास के साथ मानव के नाते मित्र-वत् व्यवहार करना चाहिए, परन्तु दास के नाते नही। यह तर्क भी असगत लगता है कि दास को मालिक मानव के रूप मे तो मित्रवत् माने परन्तु उसी व्यक्ति को दास के रूप मे दास ही माने। यदि किसी दास को मुक्ति दी जाती है तो क्या वह राज्य मे एक नागरिक के रूप मे रह सकेगा ? इस तर्क का समाधान भी नही किया गया है।

वास्तव मे अरस्तू किसी भी रूप मे दासों के सम्बन्ध मे समानता, स्वतन्त्रता तथा अन्य नैतिक धारणाओ से सहानुभूति नही रखता। दासो के साथ मालिक को दया का व्यवहार रखना चाहिए, ऐसा तो वह मानता है, किन्तु दासो के भविष्य के सम्बन्ध की विविध समस्याओ का कोई समाधान प्रस्तुत नही करता।

क्रान्तियाँ

अर्थ

अरस्तू के काल मे यूनान के नगर-राज्य पतन की दिशा मे जा रहे थे। विभिन्न नगर-राज्यो की आन्तरिक एव बाह्य परिस्थितियाँ सकटाकीर्ण होती जा रही थीं। इस समस्या के समाधान के निमित्त अरस्तू नगर-राज्यो की शासन-प्रणालियो का विवेचन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सविधान तथा राज्य की उत्तमता की एक कसौटी उसका स्थायित्व है। क्रान्ति या विद्रोहो (revolutions) के कारण उत्तम तथा आत्म-निर्भर जीवन की प्राप्ति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अतएव

राज्य के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्रान्तियो को रोकना तथा राज्य मे स्थायित्व लाना आवश्यक है।

क्रान्ति के रूप

अरस्तू के मत से सविधान राज्य के 'पदो की व्यवस्था' है राज्य के पदों की प्राप्ति की आकाक्षा विविध वर्गों तथा व्यक्तियो मे विद्यमान रहती है। इसी आधार पर वे न्याय की विविध प्रकार से व्याख्या करते हैं उदाहरणार्थ, वर्गतन्त्री असमानता को सब क्षेत्रो मे न्यायसगत मानते हैं, तो प्रजातन्त्रवादी समानता को ही न्याय मानते हैं। दोनो पक्ष न्याय की अशुद्ध व्याख्या करते हैं। इसलिए उनके मध्य कलह बना रहता है जो क्रान्ति को उत्पन्न करता है। यह कई रूपो की होती है [1]

(1) क्रान्ति का एक उद्देश्य राज्य के सविधान को परिवर्तित करना होता है, जैसे वर्गतन्त्र को प्रजातन्त्र मे या इसके विपरीत, अथवा प्रजातन्त्र को वैधानिक जनतन्त्र मे या वैधानिक जनतन्त्र को कुलीनतन्त्र मे, आदि।

(2) कभी-कभी क्रान्तिकारियो का उद्देश्य सविधान के स्वरूप को परिवर्तित करना न होकर केवल उसके अन्तर्गत शासन-शक्ति अपने हाथ मे लेना होता है।

(3) कभी क्रान्ति का उद्देश्य स्थापित सविधान को ही अधिक वास्तविक बनाना होता है, यथा, वर्गतन्त्र को और अधिक वर्गतन्त्री या प्रजातन्त्र को और अधिक प्रजातान्त्रिक बनाना।

(4) कभी क्रान्तिकारी केवल थोड़े से पदो या पदाधिकारियों मे परिवर्तन लाना चाहते हैं और सविधान या शासन के स्वरूप को पूर्ववत् बना रहने देना चाहते हैं।

क्रान्ति के कारण

अरस्तू क्रान्ति के कारणो को दो श्रेणियो मे वर्गीकृत करता है प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत उसने उन कारणो का विवेचन किया है जो सामान्यतया हर प्रकार की शासन-व्यवस्थाओ के अन्तर्गत पाये जाते हैं तथा जो उपर्युक्त सभी प्रकार की क्रान्तियों मे विद्यमान रहते हैं। दूसरी श्रेणी मे वह उन विशेष कारणो का उल्लेख करता है जो विविध प्रकार की व्यवस्थाओ मे विशेष रूप से प्रभावी होते हैं।

(अ) सामान्य कारण (General Causes)—अरस्तू का मत है कि 'विद्रोह या क्रान्ति का कारण सदैव असमानता मे पाया जाता है।'[2] समानता या असमानता के दो रूप होते हैं सख्यात्मक तथा आनुपातिक या गुणात्मक। सख्यात्मक समानता का अभिप्राय सबको हर बात मे समान मानना है। यह एक प्रजातन्त्रवादी की धारणा है जिसकी मान्यता यह है कि समस्त मानव समान रूप से स्वतन्त्र जन्मे हैं, अत मानव जीवन के राजनीतिक, आर्थिक आदि विविध क्षेत्रो म सबको समान

[1] *The Politics* Bk V, Ch I, 8-11

[2] 'The cause of sedition is always to be found in inequality' *Ibid*, Bk V, Ch I, 11

माना जाना चाहिए। इसके विपरीत आनुपातिक समानता का अर्थ यह है कि विभिन्न व्यक्ति जन्म, धन, योग्यता आदि की दृष्टि से असमान होते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति का उसकी योग्यता के अनुपात से ही अन्य व्यक्तियों के मध्य समान या असमान माना जाना चाहिए। वर्गतन्त्र के समर्थकों की धारणा निरपेक्ष समानता का विरोध करके प्राकृतिक असमानता पर विश्वास करती है। अरस्तू आनुपातिक समानता को वास्तविक समानता मानता है। अतः जब वर्गतन्त्री तथा प्रजातन्त्री तत्त्व समानता का अर्थ अपने-अपने पक्ष में लगाते हैं तो वास्तविक समानता का लोप होने लगता है और असमानता का तत्त्व प्रमुखता का स्थान ग्रहण कर लेता है। इसके परिणामस्वरूप राज्य में व्यक्तियों के हितों में संघर्ष की स्थिति आ जाती है और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा बढ़ने से विद्रोह होने लगता है। जब जनता के विभिन्न वर्गों के मध्य वास्तविक राजनीतिक क्षमता तथा वास्तविक राजनीतिक सत्ता के मध्य की खाई अधिक चौड़ी हो जाती है तो क्रान्ति की सम्भावना बढ़ जाती है। अतः आनुपातिक समानता के अभाव से क्रान्तियाँ होती हैं।

अरस्तू यह भी मानता है कि समाज में जन्म तथा धन की श्रेष्ठता से युक्त व्यक्ति थोड़े से ही होते हैं। अतः वर्गतन्त्र के अन्तर्गत विद्रोह दो प्रकार का होता है। या तो धनिक वर्ग स्वयं आपस में एक दूसरे से विरोध करके शक्ति प्राप्त करने को इच्छुक रहते हैं, अथवा वे निर्धन वर्गों से अपनी असमानता व्यक्त करते हुए उनके विरोधी रहते हैं। इसके विपरीत प्रजातन्त्र में सत्ताधारी वर्गों के मध्य ऐसा विरोध पारस्परिक न होकर केवल धनिक वर्ग के विरुद्ध निर्देशित रहता है। चूंकि प्रजातन्त्र में अधिकांश व्यक्ति समान होते हैं, अतः पारस्परिक अन्तर्विरोध कम होता है। वैधानिक जनतन्त्र में असमानता का तत्त्व कम होने से क्रान्ति की सम्भावना कम होती है। अरस्तू यह भी मानता है कि 'दरिद्रता समस्त अपराधों तथा विद्रोहों की जननी है। राज्य की एकता तथा स्थायित्व के हित में सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में समानता का होना आवश्यक है। अतः यदि शासन-सत्ता पर थोड़े से स्वार्थी धनिकों का अधिकार हो जायेगा अथवा यदि शासन-सत्ता सम्पत्तिहीन जनसमूह के हाथ में चली जायेगी तो समाज में समानता की धारणा नहीं रह सकेगी। यह दोनों स्थितियाँ राज्य के स्थायित्व के लिए घातक सिद्ध होंगी। इसीलिए अरस्तू मध्यम वर्ग के हाथ में शासन सत्ता का होना तथा समाज में अधिकाधिक मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों का होना उत्तम राज्य-व्यवस्था का लक्षण मानता है, क्योंकि उसमें असमानता की दो चरम सीमाओं का अभाव होने से क्रान्ति की सम्भावना नहीं रहती। अरस्तू कहता है कि 'क्रान्ति का मूल कारण समानता के प्रति तीव्र उत्कण्ठा का होना है।'[1]

असमानता के सम्बन्ध में तीन दृष्टिकोण—क्रान्ति के सामान्य कारणों में असमानता को प्रमुख मानते हुए अरस्तू इसके सम्बन्ध में तीन दृष्टिकोणों का परीक्षण करता है। पहला मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। जिसका अभिप्राय यह है कि जो

[1] "It is the passion for equality which is thus at the root of sedition."
—*Ibdi*

लोग समानता की अत्यधिक कामना करते हैं उनके मन में यह विचार रहता है कि उन्हें अन्यों की अपेक्षा समान लाभ नहीं मिल रहा है। इसके विपरीत जो असमानता की अत्यधिक कामना करते हैं वे यह सोचते हैं कि व अन्यों की अपेक्षा श्रेष्ठतर हैं, परन्तु लाभ समानता के आधार पर सबको बराबर मिल रहा है। दूसरा दृष्टिकोण उद्देश्य के संघर्ष का है इसका अर्थ है लोगो में राजनीतिक लाभ तथा सम्मान की प्राप्ति हेतु संघर्ष अथवा हानि तथा असम्मान के विरुद्ध अपने तथा अपने मित्रों के बचाव की कामना करना। तीसरा दृष्टिकोण है अवसर का। इसके भी दो रूप हैं यथा ऊपर वर्णित मनोविकारो तथा उद्देश्यो से निर्देशित तत्त्वो को क्रान्ति के लिए सक्रिय करने के अवसर तथा अन्य प्रकार के अवसर जिनके कारण क्रान्ति की सम्भावना उपस्थित हो जाती है। उदाहरणार्थ, सत्ताधारियो में दूसरो के प्रति घृणा तथा व्यक्तिगत लाभ की आकांक्षा (insolence and profit making) लोगो को विद्रोही बना देती है। सम्मान (honour) कुछ ही लोगो को मिलें और दूसरो को असम्मान, तो भी वह क्रान्ति का अवसर उत्पन्न करता है। किसी भी रूप में श्रेष्ठत्व का अस्तित्व (presence of some sort of superiority), यथा राजतन्त्र तथा वंशानुगत वर्गतन्त्र मे सत्ताधारी असाधारण रूप से श्रेष्ठता का प्रदर्शन करते हैं तो वह भी क्रान्ति का अवसर उपस्थित करता है। भय (fear) भी क्रान्ति का अवसर लाता है। गलत काम करने वालो को दण्ड का भय या कुछ व्यक्तियो को अन्याय का भय भी विद्रोह का अवसर ला सकता है। वर्गतन्त्र में सत्ताधारियो के हृदय में दूसरो के प्रति घृणा (contempt) की धारणा भी क्रान्ति का कारण बन सकती है। राज्य के किसी अंग का असमानुपाती विस्तार (disproportionate increase of a part of the state) भी विद्रोह उत्पन्न कर सकता है। वर्गगत असमानुपाती विस्तार राज्य के लिए उसी प्रकार अहितकर है जिस प्रकार शरीर के किसी अंग का अनावश्यक विस्तार। निर्वाचनो मे षड्यन्त्र (election intrigues), प्रशासको द्वारा अपने कर्तव्यों की उपेक्षा (wilful negligence) छोटी-मोटी बातो को महत्त्वहीन समझ कर उनको उपेक्षित रखना (neglect trifling changes) राज्य के निर्माणकारी तत्त्वो (जनता) मे समरूपता का अभाव (dissimilarity of elements in the composition of a state) राज्य में बाहरी तत्त्वों का प्रवेश तथा राज्य के प्रदेश मे समरूपता का अभाव, जो कि राज्य की एकता के लिए प्रतिकूल हो यह सब ऐसी स्थितियाँ हैं जो क्रान्ति का अवसर उपस्थित करती हैं।

इनके अतिरिक्त कभी कभी क्रान्ति के अवसर बहुत छोटे भी हो सकते हैं, परन्तु उनसे सम्बद्ध मामले महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। मामूली घरेलू कलह कभी राजकीय युद्धो का अवसर प्रदान कर सकते हैं। किसी अधिकारी की शक्तियों का अत्यधिक विस्तार क्रान्ति का कारण हो सकता है। कभी बल-प्रयोग, भ्रष्ट आचरण, धोखेबाजी आदि भी क्रान्ति को जन्म दे सकती हैं। यह कारण ऐसे हैं जो समस्त संविधानो में सामान्य रूप से क्रान्ति उत्पन्न कराने वाले सिद्ध होते हैं।

(ब) विशेष कारण (Particular Causes)—विशेष कारणो से अरस्तू का अभिप्राय यह है कि क्रान्ति के विशिष्ट कारण विभिन्न प्रकार के संविधानो में विशिष्ट

प्रकृति के होते हैं, जो सामान्यतया सब सविधानो मे नही पाये जाते, यथा—

(i) प्रजातन्त्र मे—अरस्तू के मत से प्रजातन्त्रो मे जन नेता (demagogues) अपनी स्वतन्त्रता का अवाछित लाभ उठाकर साविधानिक परिवर्तन कराने की चेष्टा करते हैं।[1] कभी वे धनिको के ऊपर व्यक्तिगत रूप से आक्षेप करते है, और उनके ऊपर झूठे दोषारोपण करके उन्हे आपस मे एक होने को विवश करते हैं। कभी जन-नेता धनिको को एक वर्ग के रूप मे लेकर उनका विरोध करते हैं और जनता को उनके विरुद्ध भडकाते है। इस प्रकार धनिको तथा निर्धनो के मध्य की खाई गहरी होती जाती है। बहुधा ऐसे जन-नेता अत्याचारी शासको के रूप मे भी परिणत हो जाते हैं। इसके कारण प्रजातन्त्र के विरुद्ध क्रान्ति का वातावरण बन जाता है।

(ii) वर्गतन्त्र मे—वर्गतन्त्र मे साविधानिक अस्थायित्व का कारण सत्ताधारी धनिकों द्वारा जनसाधारण के साथ अन्यायपूर्ण या उपेक्षापूर्ण व्यवहार करना है। दूसरा कारण स्वय धनिक सत्ताधारियो के मध्य अन्तर्विरोध है। कभी-कभी कुछ धनी लोग पदो से उपेक्षित रहने के कारण विद्रोही बन जाते हैं। परिणामस्वरूप उन लोगो को भी पद प्राप्त होने लगने से कभी वर्गतन्त्र प्रजातन्त्र मे या वैधानिक जनतन्त्र मे परिणत हो जाते हैं। कभी-कभी वर्गतन्त्र के अन्तर्गत सत्ताधारियो के मध्य पारस्परिक विरोध, वैमनस्य तथा स्वार्थपरता भी क्रान्ति का कारण बन जाती है। सत्ताधारी अपनी सत्ता को बढाने मे लीन रहते हैं। इस वर्ग के लोगों के मध्य एक आन्तरिक वर्गतन्त्र बन जाना भी उन्हे स्वेच्छाचारी बना देता है।

(iii) वैधानिक जनतन्त्र मे—वैधानिक जनतन्त्र मे मध्यम वर्ग को अधिक पद प्राप्त रहते हैं, जिसके लिए सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता निर्धारित की जाती है। यदि कालान्तर मे राज्य की समृद्धि बढने से सम्पत्ति का विस्तार हो जाये तो सभी लोग पद धारण की योग्यता का दावा करने लगते हैं। यह रूप प्रजातान्त्रिक हो जाता है।

(iv) कुलीनतन्त्र मे—कुलीनतन्त्र मे क्रान्ति का मुख्य कारण केवल सीमित सख्या के व्यक्तियो को पद प्राप्त रहना है। यदि समाज मे अधिक व्यक्ति अभिजात-वर्ग के शासको की सी योग्यता का दावा करें, तो कलह उत्पन्न होने लगते हैं। कुलीनतन्त्र तथा वैधानिक जनतन्त्रो के पतन का एक कारण इनमें निहित न्याय-तत्त्वो धन, सख्या तथा योग्यता में सन्तुलन का अभाव होना है। इनमें से किसी तत्त्व का आधिक्य सविधान-परिवर्तन का कारण हो जाता है।

(v) राजतन्त्र या अत्याचारीतन्त्र मे—ऐसे राज्यो में क्रान्ति का मुख्य कारण शासको या योग्य व्यक्तियो के साथ असम्मानपूर्ण व्यवहार का होना है। इनमें प्रतिष्ठा, भय, घृणा, यश की इच्छा आदि प्रतिष्ठित एव योग्य व्यक्तियो को विद्रोही बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। राजतन्त्र कुलीनतन्त्र से, तथा अत्याचारीतन्त्र प्रजातन्त्र तथा वर्गतन्त्र से सामीप्य रखते हैं। अत उनके सम्बन्ध में वर्णित क्रान्ति के कारण इन सविधानो में भी लागू होते हैं। अत्याचारीतन्त्र को पडोसी राज्य में प्रचलित विरोधी सविधान होने से भी पडोसी राज्य के द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

[1] 'In democracies changes are chiefly due to the wanton licence of demagogues' *The Politics*, Bk V, Ch V, 1

वैदेशिक प्रभाव भी किसी राज्य के अन्तर्गत क्रान्ति उत्पन्न कराने में सहायक सिद्ध होते हैं, यदि उनमें विरोधी प्रकृति का संविधान प्रचलित हो, विशेष रूप से पड़ोसी राज्य में तो, राज्य में विरोधी तत्वों की प्रचुरता विद्रोह का कारण हो सकती है।

उपचार

मैक्सी के अनुसार, 'अरस्तू ने जिस स्पष्टता तथा विवेक के साथ क्रान्तियों के कारणों का विवेचन किया है, उसी प्रकार उसने उनके उपचारों (prevention) का वर्णन भी किया है।'[1] क्रान्तियों को रोकने के जिन उपचारों का विवेचन अरस्तू ने किया है वे पूर्णतया उसके द्वारा वर्णित कारणों से संगति रखते हैं। अरस्तू द्वारा वर्णित क्रान्तियों के अधिकांश कारण असमानता के प्रतिफल हैं। अतः उपचारों का उद्देश्य भी असमानता का निराकरण करना है। *जहाँ कानून का उद्देश्य समानता* बनाये रखना नहीं होता, वहाँ कानूनहीनता (lawlessness) फैल जाती है। इसी से क्रान्ति का जन्म होता है। क्रान्तियों को रोकने के निमित्त अरस्तू ने निम्नांकित उपचार बताए हैं—

(1) जनता में कानून का पालन करने की भावना का संचार किया जाना चाहिए। *अरस्तू का कथन है कि 'कानूनहीनता उसी प्रकार गुप्त रूप* से आती है जिस प्रकार छोटे-छोटे व्यय लगातार होते रहने से उनका ज्ञान नहीं होता और वे शनैः शनैः सम्पूर्ण सम्पत्ति को हजम कर जाते हैं।[2]

(2) संविधान के कार्यान्वयन में विविध वर्गों को विश्वास में लिया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र में सत्ताधारियों की सभा की बैठकों में उपस्थित होने या न होने के लिए दण्ड अथवा वेतन देने की प्रथाएँ उचित नहीं है। इसी प्रकार किसी वर्ग-विशेष के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार करके उन्हें पदों से वंचित रखना उचित नहीं है। प्रत्येक वर्ग का महत्त्व समझकर उसमें निहित तत्वों को मान्यता दी जानी चाहिए। किसी एक वर्ग के हाथ में अत्यधिक शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वर्ग को यह विश्वास बना रहना चाहिए कि राजनीतिक पदों की प्राप्ति असम्भव नहीं है।

(3) प्रतिष्ठा तथा पुरस्कारों का वितरण व्यापक होना चाहिए। यह भी ध्यान रहे कि उच्च पदों का कार्यकाल बहुत कम हो। उसमें अधिक व्यक्तियों को नियुक्त होने का अवसर मिलेगा तो उससे हानि होने की आशंका कम रहेगी। उच्च पदाधिकारियों की लम्बी अवधि उन्हें अत्याचारी तथा निरंकुश बना देती है।

(4) जनता में देशभक्ति की भावना का संचार किया जाना चाहिए। 'शासकों को जनता को सदैव चैतन्य रखना चाहिए कि कभी भी बाहर से संकट आ

[1] Just as illuminating as Aristotle's analysis of the causes of revolutions, is his discussion of the means of preventing them' Maxey, *op cit*, 75

[2] Lawlessness may creep in unperceived—just as petty expenditures, constantly repeated, will gradually destroy the whole of fortune' *The Politics*, Bk V, Ch VII, 2

सकता है। अत. उसे (जनता को) रात्रि के सन्तरियो की भाँति राज्य की सुरक्षा के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए।' विदेशियो को शासन के पदो पर कभी भी नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। उनमे देशभक्ति की भावना नही हो सकती।

(5) राज्य मे कानून तथा व्यवहार दोनो दृष्टियो से प्रमुख व्यक्तियो के मध्य कलह तथा विद्रोह उत्पन्न न होने देना चाहिए। कलहो के उत्पन्न होने से पूर्व ही बचाव की व्यवस्था कर ली जानी चाहिए। विशेष रूप से वर्गतन्त्रो मे ऐसी सम्भावनाएँ हो सकती हैं। अत राजनेताओ को इनसे बचाव की व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए।

(6) पद धारण के निमित्त सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता निर्धारित की गई हो तो पदधारको की सम्पत्ति का अनुमान समय-समय पर लगाते रहना चाहिए और उसमे कमी या वेशी करते रहना चाहिए। अन्यथा यह सीमा स्थायी रहेगी तो कालान्तर मे पदाभिलाषियो की सख्या बढती जायेगी और उससे सविधान का रुख बदल जायेगा।

(7) प्रशासको (magistrates) को ऐसा अवसर प्राप्त न होने दिया जाय कि वे अपने पद का दुरुपयोग करके व्यक्तिगत लाभ के लिए धन अर्जित करने की दिशा म प्रवृत्त होने लगें। अत पदो का कार्यकाल नियन्त्रित रखा जाना चाहिए और सम्मानो के वितरण की प्रथा द्वारा किसी वर्ग विशेष को शक्तिशाली हो जाने का अवसर नही मिलना चाहिए। साधारणतया जनता ऐसी व्यवस्था म विद्रोही बनने लगती है जिसम उसे यह आभास होने लगता है कि अधिकारी वर्ग सार्वजनिक धन का दुरुपयोग कर रहे हैं। अत सार्वजनिक कोष से होने वाले व्यय की सार्वजनिक जाँच की जानी चाहिए।

(8) राज्य मे सानुपातिक समानता की स्थापना के उपाय किये जाने चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना वास्तविक प्राप्य मिल सके। वर्गतन्त्र में सामान्य पद अल्पसख्यको को तथा प्रजातन्त्र म बहुसख्यक व्यक्तियों को दिये जाते हैं। परन्तु उच्च पद योग्यता, देशभक्ति तथा कार्य कुशलता के आधार पर ही दिये जाने चाहिए। प्रजातन्त्र मे धनिको की सम्पत्ति की सुरक्षा की तथा वर्गतन्त्र मे निर्धनो के अधिकारो तथा सम्मान की सुरक्षा की गारण्टी बनी रहनी चाहिए।

(9) राज्य की अर्थव्यवस्था को सन्तुलित रखा जाना चाहिए जिससे सम्पत्ति के अर्जन म असमानता न आने पाये। निर्धन वर्ग को भी यह अवसर मिलना चाहिए कि वह सम्पत्ति-अर्जन तथा पद-धारण की योग्यता प्राप्त करने की क्षमता रख सके। प्रजातान्त्रिक जन-नेता धनिकों का विरोध करते है। वे राज्य को वर्गों म विभाजित करने की चेष्टा करते हैं। अत ऐसे जन नेताओ के अभ्युदय को रोका जाना चाहिए।

(10) वैधानिक जनतन्त्र एव मध्य श्रेणी के व्यक्तियों का शासन सर्वोत्तम व्यवस्था है, अत उसकी स्थापना करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(11) शासन-व्यवस्था के अनुरूप शिक्षा की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए। नवयुवको को सविधान की भावना का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। अरस्तू

इस उपचार को सबसे महत्त्वपूर्ण मानता है। जनता को संविधान की भावना को समझने तथा कानून का पालन करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रजातन्त्र में लोग स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता न लें। धनिकतन्त्र में धनिक आरामदेह जीवन व्यतीत करने की ओर ही प्रवृत्त न रहें।

राजतन्त्र में राजा द्वारा अपने विशेषाधिकारों का न्यूनातिन्यून प्रयोग उसे स्थायित्व प्रदान करेगा। राजा को उदारता (moderation) की नीति अपनानी चाहिए। अरस्तू अत्याचारीतन्त्र की सुरक्षा के उपाय भी बताता है, यद्यपि ऐसे संविधान को वह निकृष्टतम मानता है। अत्याचारी शासक को क्रान्ति से बचने के लिए प्रजाजनों को सदैव कार्यरत रखना चाहिए। उन्हें अधिक धनी न बनने देना चाहिए। गुप्तचर व्यवस्था द्वारा सब सूचनाएँ प्राप्त करते रहना चाहिए। शासक को सम्मान तथा पुरस्कार स्वयं वितरित करने चाहिए परन्तु दण्ड दूसरों के हाथ से दिलाना चाहिए। शासक में सैनिक गुण तथा आचरण होने चाहिए। यदि शासक सदैव भय का वातावरण बनाये रखे और लोगों को किसी भी रूप में क्रान्ति करने के अवसर न दे तो एक अत्याचारी शासक बहुत लम्बी अवधि तक बना रहता।

(12) अरस्तू अपने आदर्श संविधान के सिद्धान्त का अनुमान करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि चूँकि किसी भी रूप में असमानता का अस्तित्व ही क्रान्ति को जन्म देता है, इसलिए उसे दूर करना चाहिए। वैधानिक राजतन्त्र ऐसी व्यवस्था है जिसमें असमानता का तत्त्व न्यूनातिन्यून मात्रा में पाया जाता है और उसमें मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों में शासन सत्ता निहित रहती है, अतः ऐसी व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि अरस्तू ने क्रान्ति के कारणों तथा उनके निराकरण के साधनों का एक ऐसा विवेचन प्रस्तुत किया है जो पूर्णतया वास्तविक अथच व्यावहारिक है। उनका अध्ययन न केवल प्राचीन यूनानी नगर राज्यों की शासन-व्यवस्था के लिए ही उपयुक्त है, अपितु वह युग-युग की व्यवस्थाओं में व्यवहार्य हो सकता है। मैक्सी ने उचित ही कहा है कि, 'विद्रोहों को रोकने के जिन साधनों का प्रतिपादन अरस्तू ने किया है, क्या आधुनिक राजनीति विज्ञान उनसे अधिक कोई निश्चयात्मक साधन प्रस्तुत कर पायेगा ?'[1]

आदर्श राज्य

अरस्तू की आदर्श राज्य की धारणा प्लेटो से भिन्न प्रकृति की है। प्लेटो का उद्देश्य राज्य के ऐसे आदर्शों का चित्रण करना था जो हर प्रकार से पूर्ण हों और किसी भी देश काल के लिए आदर्श सिद्ध हों। उसने यह चिन्ता नहीं की कि उसका आदर्श राज्य व्यावहारिक हो सकेगा या नहीं। परन्तु अरस्तू एक यथार्थवादी था, अतएव आदर्श राज्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में वह यथार्थ राज्यों का विश्लेषण करते हुए उनके गुण-दोषों का विवेचन करने के उपरान्त एक सर्वोत्तम

[1] 'Can modern political science prescribe any surer remedies than these to counteract the virus of revolution ?' —Maxey, *op cit*, 76

राज्य की विविध आवश्यकताओं तथा सिद्धान्तों का निरूपण करता है। उसके विचार से सर्वोत्तम राज्य का परीक्षण करने के लिए हमें केवल यही नहीं देखना चाहिए कि राज्य का कौन-सा रूप आदर्शों की दृष्टि से सर्वोत्तम है, वल्कि यह भी देखना चाहिए कि वास्तविक व्यवहार तथा विवर्तमान परिस्थितियों में कौन-सा रूप सर्वोत्तम ढंग से प्राप्त किया जा सकता है। अरस्तू राजतन्त्र एवं कुलीनतन्त्र को उत्तम व्यवस्थाएँ मानता है, क्योंकि उनमें योग्यों तथा गुणवानों का शासन विद्यमान रहता है। परन्तु उसे यह सन्देह भी है कि ऐसी व्यवस्थाएँ व्यवहार में सुलभ भी हो सकेंगी या नहीं।

राज्य का उद्देश्य उत्तम जीवन की प्राप्ति है—अरस्तू संविधान (राज्य) की परिभाषा करते हुए उसे एक 'जीवन प्रणाली' (a way of life) भी कहता है। राज्य का उद्देश्य केवल उत्तम नागरिकों का सृजन करना मात्र नहीं है, बल्कि 'उत्तम नागरिक' वह है जो साथ-साथ 'उत्तम व्यक्ति' भी हो। राज्य के व्यक्ति उत्तम जीवन व्यतीत करते हैं तो उसे उत्तम राज्य कहा जा सकता है। व्यक्तियों के सर्वोत्कृष्ट उत्तमता (the highest good) प्राप्त कराना राज्य का उद्देश्य होना चाहिए। सर्वोत्तम उत्तमता में तीन तत्त्व होने चाहिए—बाह्य, शारीरिक तथा आत्मिक सम्पन्नता (external good, good of the body, and good of the soul)। बाह्य सम्पन्नता का अभिप्राय उसे भौतिक सम्पत्ति से है, जो जीवन के भरण पोषण के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से स्वस्थ हो और उसकी आत्मा विवेक, उत्साह, आत्म-संयम तथा न्याय के गुणों से सम्पन्न हो। जो राज्य स्वयं अपने जीवन को तथा अपने नागरिकों को जीवन की इन उत्तमोत्तम भलाइयों को प्रदान करा सकता है वह सर्वोत्तम अथवा आदर्श राज्य है। उत्तमता तथा सुख (goodness and happiness) दोनों को व्यक्ति साथ-साथ प्राप्त करता है। 'उत्तमता मनुष्य को कभी नष्ट न होने वाली फसल प्रदान करती है जो स्वर्ण से भी उत्तम है, पूर्वजों से भी उत्तम है, जो शान्त निद्रा से भी उत्तम है।'[1] उत्तम जीवन की प्राप्ति तथा सुखमय जीवन व्यक्ति तथा राज्य दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक है। राज्य की सैनिक शक्ति का सुदृढ़ होना राज्य की सुरक्षा का अन्तिम साध्य नहीं है। वह राज्य के उत्तम जीवन का एक साधन मात्र हो सकता है।

संविधान का रूप वैधानिक जनतन्त्र हो—आदर्श राज्य की दूसरी आवश्यकता सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान का होना है। अरस्तू ने जिन छः प्रकार के संविधानों का विवेचन किया है उनके विविध तत्त्वों का परीक्षण करने के उपरान्त उसका निष्कर्ष यह है कि मिश्रित वैधानिक जनतन्त्र (polity) सर्वोत्तम संविधान है। इसमें सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करने की शक्ति मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों के हाथ में रहती है और राज्य में मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों की संख्या अधिक होने से यह

[1] 'Goodness brings to the mind a harvest undying, better than gold, better than ancestors, better than soft-eyed sleep.' Barker, *Politics of Aristotle* 282.

व्यवस्था वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के दोषो मे मुक्त रह सकती है। अत आदर्श सविधान (राज्य) वह है, जहाँ मध्यम श्रेणी के व्यक्ति सत्ताधारी होते हैं। इस व्यवस्था में समस्त या अधिकाश नागरिको को राजनीतिक सत्ता तथा पद प्राप्त रहते हैं और *यह माना जाता है कि राजनीतिक ज्ञान तथा नागरिक गुण केवल थोडे से* व्यक्तियो का विशेषाधिकार नही है।

विधि का शासन—आदर्श राज्य की तीसरी आवश्यकता विधि के शासन की स्थापना है। चूंकि कानून नागरिको के मध्य समानता की धारणा का द्योतक है और उसका मूल मानव विवेक तथा जन-परम्पराएँ हैं, अत जिस राज्य मे कानून को सर्वोपरि मानकर उसी के अनुसार शासन-व्यवस्था का सचालन होगा उस राज्य मे क्रान्ति की सम्भावना नहीं रहेगी। एक व्यक्ति या थोडे से व्यक्ति चाहे कितने ही विवेकशील, ज्ञानवान् तथा दार्शनिक क्यो न हो, उसका आदेश कानून के तुल्य नहीं *हो सकता। अत राज्य मे कानून की सम्प्रभुता होनी चाहिए।*

सरचना—*आदर्श राज्य की चौथी आवश्यकता उसकी सरचना है। सरचना* का अभिप्राय राज्य के प्रादेशिक आकार, भौगोलिक परिस्थितियाँ, जनसख्या तथा उसके चरित्र से है। अरस्तू का आदर्श राज्य उसके युग का यूनानी नगर-राज्य है, न कि एक विशाल साम्राज्य या आधुनिक युग की भाँति का राष्ट्रीय राज्य। राज्य का प्रादेशिक आकार न बहुत बडा हो न अत्यन्त छोटा। राज्य का आकार निवासियो को आर्थिक आत्म-निर्भरता प्रदान करने के लिए पर्याप्त होना चाहिए, जिसम लोग सुखी जीवन व्यतीत कर सकें। प्रदेश की भूमि उर्वर होनी चाहिए और उसमें *प्राकृतिक सम्पत्ति (वनस्पति, खनिज आदि) की प्रचुरता होनी चाहिए। राज्य की* सीमा उसकी प्रतिरक्षा के लिए उपयुक्त होनी चाहिए। प्रतिरक्षा हेतु यह भी आवश्यक है कि राज्य का आकार इतना ही बडा हो जिसका ज्ञान समस्त जनता को हो सके। सामुद्रिक एव प्रादेशिक यातायात सुलभ होने चाहिए जो व्यापार, व्यवसाय प्रतिरक्षा आदि के लिए आवश्यक हैं। राज्य की जनसख्या इतनी अधिक न हो कि उसमें कानून तथा व्यवस्था को लागू करने मे कठिनाई हो, और न इतनी कम हो कि जनता आत्म-निर्भर न हो सके। जनसख्या इतनी हो कि नागरिक एक-दूसरे को *जान सकें। अरस्तू का कथन है कि 'राज्य न तो दस व्यक्तियो स निर्मित होना है* और न दस लाख व्यक्तियो से।' जनसख्या के सम्बन्ध मे भी प्रदेश की भाँति अरस्तू आत्म-निर्भरता को प्रमुख मानता है। राज्य की भौतिक परिस्थितियाँ समस्त जनसख्या को आत्म निर्भर बना सकें। इसी आधार पर जनसख्या का आकार होना चाहिए। नागरिको मे नागरिक दायित्वो को समुचित रूप से सम्पन्न करने की क्षमता भी होनी चाहिए। अरस्तू नागरिक उन्ही व्यक्तियो को मानता है जिनमें शासन करने *तथा शासित होने की क्षमता होती है। परन्तु वह नागरिको के चरित्र की तुलना अन्य दृष्टान्तो द्वारा भी करता है।* उसके विचार स नागरिको म यूरोप के ठण्डे देशो के निवासियो की भाँति उच्च उत्साह तथा एशिया के लोगो की भाँति चातुर्य तथा बुद्धि का सम्मिश्रण होना चाहिए। इस सम्मिश्रण का अस्तित्व अरस्तू यूनानियो म बताता है। जनता मे पारस्परिक मैत्री की भावना होनी चाहिए।

एक राज्य की जनता दूसरे देश की जनता को मित्रवत् समझें, साथ ही एक राज्य के व्यक्ति एक-दूसरे को भी मित्रवत् समझें। जनता कृषक, शिल्पी, वीर योद्धा, धार्मिक पुजारी, प्रशासक तथा धनवान सभी प्रकार के लोग होने चाहिए। इन समस्त तत्त्वों से युक्त व्यक्ति राज्य के जीवन को आत्म-निर्भर बनाने में सफल सिद्ध होंगे।

सामाजिक संगठन—उपर्युक्त छः तत्त्वों से युक्त (कृषक, शिल्पी आदि) राजनीतिक समाज छः वर्गों से युक्त होगा। परन्तु यह छः प्रकार के कार्य विभिन्न प्रकार के नागरिक वर्गों में पृथक्-पृथक् नहीं होंगे। कृषक तथा शिल्पी पूर्ण नागरिक नहीं हो सकते, क्योंकि नागरिकता की अर्हता शारीरिक श्रम नहीं अपितु विश्राम है। प्रतिरक्षा, धार्मिक कार्य, प्रशासन एवं न्यायिक कार्य कभी एक ही नागरिक जनसमूह द्वारा और कभी-कभी विभिन्न नागरिक जनसमूहों द्वारा सम्पन्न किये जाने चाहिए, यथा प्रतिरक्षा युवकों का कार्य है, प्रशासनिक कार्य मध्यम उम्र के व्यक्तियों का, तथा धार्मिक कार्य वृद्ध व्यक्तियों का। सम्पत्ति समस्त पूर्ण नागरिकों की रहनी चाहिए। जहाँ तक भू-सम्पत्ति के स्वामित्व का प्रश्न है, कुछ भूमि सार्वजनिक उपयोग के लिए निर्धारित की जानी चाहिए। इसके उत्पादन का उपयोग सामूहिक भोजनालयों के लिए किया जायेगा। शेष सम्पत्ति का स्वामित्व वैयक्तिक होना चाहिए। भूमि में काश्तकारी का कार्य दासों तथा सेवकों द्वारा किया जाना चाहिए। इसके उपरान्त अरस्तू राज्य के केन्द्रीय नगर (राजधानी—central city) के नियोजन की व्यवस्था भी बताता है। यहाँ पर स्मरणीय है कि अरस्तू राजधानी के नगर की व्यवस्था को प्राचीन भारतीय विद्वानों की ही भाँति महत्त्वपूर्ण मानता है। प्राचीन भारतीय राज्य-सप्तांग-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी पुर या दुर्ग को राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था। नगर नियोजन में अरस्तू चार बातों पर ध्यान देने के महत्त्व को समझाता है—स्वास्थ्य, प्रतिरक्षात्मक व्यवस्था, राजनीतिक कार्यों को सम्पन्न करने की सुविधा तथा नगर सौन्दर्य।

शिक्षा—आदर्श राज्य की उपलब्धि के लिए अरस्तू शिक्षा की व्यवस्था को बहुत महत्त्व देता है। अरस्तू ने प्लेटो की विचारधारा के विविध पक्षों को दोषपूर्ण बताते हुए उनकी आलोचना की है। परन्तु वह प्लेटो के शिक्षा-सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित है और उसकी आलोचना नहीं करता। उत्तमता (goodness) तथा सुख (felicity) मनुष्य जीवन के तथा राज्य के अन्तिम उद्देश्य हैं। चूँकि संविधान एक जीवन प्रणाली है, अतः सर्वोत्तम या आदर्श संविधान भी एक उत्तम जीवन प्रणाली है। एक आदर्श राज्य वह है, जो सर्वोत्तम सुख प्राप्त करने की दिशा में सचेष्ट रहता है। इसके लिए व्यक्तियों के प्राकृतिक चरित्र (natural endowments) के अतिरिक्त उनमें ऐसे विवेक (rational principle) तथा आदतों (habits) का विकास करने की आवश्यकता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने चरम उद्देश्य को प्राप्त कर सकें। यह साधन शिक्षा है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों में उन गुणों का विकास करना है जिनके द्वारा वे शासक तथा शासित होना सीखें, साथ ही वे केवल उत्तम नागरिक ही न बनें बल्कि उत्तम मानव भी बन सकें। अरस्तू की शिक्षा योजना

का उद्देश्य शासक तथा शासित दोनो को अलग-अलग प्रकार की शिक्षा देना है। परन्तु उसके शासित वर्ग (अर्थात् नवयुवक) केवल शासित रहने की शिक्षा ही ग्रहण नही करेंगे, बल्कि भविष्य मे शासक बनने की शिक्षा भी ग्रहण करेंगे। शिक्षा का उद्देश्य मानव जीवन के समस्त पक्षो का विकास करना होना चाहिए। वह उत्तम नागरिकता के गुणो का विकास करने तथा नागरिको को सुखी जीवन प्रदान करने का साधन है। अरस्तू स्पार्टा की सैनिक शिक्षा के स्वरूप को शान्ति मे बाधक मानता है। उसके विचार से शान्ति, आराम और क्रियाशीलता, मानव आत्मा के विवेक तथा उत्साह तत्त्वो को विकसित करने के साधन हैं। अत शिक्षा मानव आत्मा तथा जीवन को पूर्णता प्रदान कराने का साधन होना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य विधायको को प्रशिक्षण प्रदान करना भी है ताकि आदर्श राज्य की व्यवस्था के लिए समुचित प्रकार के कानून निर्मित करने का ज्ञान उन्हें प्राप्त हो जाय।

शिक्षा के स्तर तथा पाठ्यक्रम के निर्धारण मे वह बहुत कुछ अश मे प्लेटो की पद्धति का अनुगमन करता है। सर्वप्रथम वह सन्तानोत्पादन की शिक्षा को महत्त्व देता है। उसके मत से विवाह की उम्र पुरुष के लिए 37 वर्ष तथा स्त्री के लिए 18 वर्ष से न्यून नही होनी चाहिए। जनसख्या को नियन्त्रित रखने के लिए नियोजित परिवार की आवश्यकता पर भी उसने बहुत बल दिया है।

शिक्षा का कार्यक्रम जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है। बच्चो की भोजन व्यवस्था तथा उनके शारीरिक विकास का ज्ञान प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा है। 5 वर्ष तक की आयु के बच्चो को खेलना, कहानी सुनाना, बुरी सगति से बचाना, अपशब्दो को सुनने से रोकना, बुरे चित्रो को देखने से बचाना आदि आवश्यक हैं। अरस्तू का मत है कि प्रथम अनुभव प्रभावशाली होते हैं, अत इस उम्र मे बच्चो को अवाछनीय बातो के ससर्ग मे नही आने देना चाहिए। 5 से 7 वर्ष तक की उम्र के बच्चो को उन कार्यकलापो को देखने का अवसर मिलना चाहिए जिन्हे कालान्तर मे उन्हें स्वय करना पडेगा। 7 से 21 वर्ष तक की उम्र की शिक्षा को पुन दो स्तरो मे बाँटा गया है।

शिक्षा का नियमन राज्य द्वारा किया जाना चाहिए न कि व्यक्तिगत प्रयास द्वारा जैसा कि अरस्तू के काल मे एथेन्स मे हुआ करता था। शिक्षा का पाठ्यक्रम सविधान के अनुकूल होना चाहिए। पाठ्यक्रम मे ऐसे विषय निर्धारित किये जाएँ जो उपयोगिता, नैतिक अनुशासन एव ज्ञान वृद्धि मे सहायक हो। इस दृष्टि से अरस्तू पढने-लिखने, चित्रकला, व्यायाम तथा सगीत की शिक्षा पर बल देता है। इनमे से प्रथम दो उपयोगिता की दृष्टि से, तृतीय उत्साह के नैतिक गुण की दृष्टि से तथा चतुर्थ आराम (leisure) की दृष्टि मे आवश्यक है। सगीत, विश्राम तथा मनोरजन के लिए आवश्यक है। साथ ही यह आचारिक प्रशिक्षण भी प्रदान करता है। यह मानसिक गुणो का विकास भी करता है। अरस्तू व्यायाम की शिक्षा को बहुत महत्त्व नही देता, परन्तु कुछ अश तक उसे आवश्यक मानता है।

अरस्तू अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' के शेष भाग को पूर्ण न कर पाया था। इसलिए शिक्षा का विवेचन अधूरा रह गया। सम्भवत शिक्षा की पूर्ण योजना प्रस्तुत

करने मे अरस्तू को बहुत कुछ और कहना था। 21 वर्ष तक की उम्र मे शिक्षा के अन्तर्गत पढने-लिखने मे क्या विषय होने चाहिए तथा इस उम्र के पश्चात् नागरिक कृत्यो के सफल कार्यान्वियन के लिए शिक्षा की क्या व्यवस्था होनी चाहिए, आदि बातो का विवेचन अरस्तू नही कर पाया।

राजनीतिक चिन्तन को अरस्तू की देन

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे मैक्सी ने अरस्तू को सबसे पहला महान् राजनीति शास्त्री (the first great political scientist) उचित ही कहा है। पाश्चात्य साहित्य मे राजनीति का क्रमबद्ध तथा दार्शनिक चिन्तन एक पृथक् शास्त्र के रूप मे करने की परम्परा प्लेटो से प्रारम्भ होती है। यद्यपि प्लेटो अरस्तू का गुरु था, तथापि अरस्तू के विचार अपने गुरु के विचारो से कई दृष्टियों से भिन्नता रखते हैं। मैक्सी का निष्कर्ष है कि 'प्लेटो राजनीतिक चिन्तन मे स्वप्न-लोकियो, प्रत्ययवादियो, क्रान्तिवादियो तथा रोमासवादियो का गुरु है।' तो अरस्तू यथार्थवादियों, वैज्ञानिको, उपयोगितावादियो तथा व्यवहारवादियो का गुरु है। इस दृष्टि से अरस्तू की राजनीतिक चिन्तन को जो प्रमुख देन है उन्हे निम्नांकित शीर्षको के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

(1) राजनीतिक चिन्तन की वैज्ञानिक पद्धति का सृष्टा—अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने जो राजनीतिक चिन्तन किया है उसके अन्तर्गत राज्य के एक स्वप्नलोकी स्वरूप को चित्रित किया गया है। ऐसे राज्य की स्थापना के निमित्त भी जो सुझाव प्लेटो ने दिये हैं, वे कोरे चिन्तनात्मक तथा दार्शनिक तर्कों पर आधारित हैं। इसके विपरीत अरस्तू ने राज्य तथा उसकी विविध धारणाओ को शास्त्रीय ढग से विवेचन किया है। अरस्तू ने राज्य की परिभाषा, राज्य तथा व्यक्ति के मध्य सम्बन्धो, राज्य के उद्देश्य तथा कार्य, राज्य की उत्पत्ति तथा विकास, शासनो का वर्गीकरण, शासन के अगो का विवेचन तथा उनके कार्य और पारस्परिक सम्बन्धो, राज्य व शासन की समस्याओ, सर्वोत्तम राज्य व्यवस्था का विवेचन, आदि विभिन्न विषयो को लिया है और उन्हे शास्त्रीय ढग से प्रस्तुत किया है। ऐसा करने मे उसने तत्कालीन 158 राज्यो की व्यवस्थाओ का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक ढग से विवेचन करके अपने निष्कर्ष निकाले हैं। इस प्रकार राज्य की विविध धारणाओ का प्रतिपादन करने मे उसने आगमनात्मक पद्धति अपनायी है, जिसके कारण उसके विचारो मे यथार्थवादिता परिलक्षित होती है, प्लेटो द्वारा चित्रित राज्य एक स्वप्नलोकी आदर्श राज्य है जिसकी स्थापना के निमित्त प्लेटो एक दार्शनिक शासन की कल्पना करता है। परन्तु उसे यह चिन्ता नही रही कि ऐसा दार्शनिक महामानव यथार्थ मे उपलब्ध भी होगा या नही, परन्तु जैसा सेबाइन ने कहा है, 'प्लेटो एक ऐसे महामानव की खोज करता है जो राज्य को इतना उत्कृष्ट बनायगा जैसा उसे होना चाहिए, अरस्तू एक ऐसे उत्कृष्ट विज्ञान की खोज करता है जो राज्य को इतना उत्तम बनायेगा जितना वह हो सकता है।' इस प्रकार अरस्तू की विचारधारा एक उत्तम राज्य के लिए

वाछनीय आदर्शों का शास्त्रीय विवेचन करती है। इसीलिए उसे राजनीति को वैज्ञानिक पद्धति का सृष्टा कहा जाता है।

(2) भावी चिन्तकों का गुरु—*यद्यपि अरस्तू के विचार तत्कालीन यूनानी* नगर राज्यों की व्यवस्था के सन्दर्भ मे व्यक्त किये गये हैं तथापि उनके शास्त्रीय आधार का प्रभाव यह हुआ कि सदियो पश्चात् तक सार्वभौम विश्व राज्य एव विशाल राष्ट्रीय राज्यो के सन्दर्भ मे चिन्तन करने वाले विचारको ने अरस्तू के विचारो को अपनाया। रोमन काल के चिन्तक सिसरो तथा पॉलिबियस एव मध्य युग मे टॉमस ऐक्विनास तथा मारसीलियो के विचार अरस्तू से प्रभावित हैं। मैकियावेली, जीन बोदाँ तथा कुछ अश मे लॉक के विचारो पर भी अरस्तू का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। मॉटेस्क्यू को तो विद्वानो ने अठारहवी सदी का अरस्तू कहा है। *इस सब का प्रमुख कारण यही है कि अरस्तू ने राज्य की समस्याओ को यथार्थ रूप मे लिया और उनका विवेचन वैज्ञानिक एव शास्त्रीय ढग से किया है। उसके* पश्चात् के विद्वानों ने उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो तथा आदर्शों को अपनाया और उनका विस्तार तथा विवेचन अपने युग की परिस्थितियो के सन्दर्भ मे किया है। इस प्रकार अरस्तू अपने युग के पश्चात् सदियों तक के अनेक राजनीतिक चिन्तको का गुरु सिद्ध हुआ है।

(3) विधि के शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादक—राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार के सम्बन्ध मे अरस्तू की एक महान् देन 'विधि के शासन' के सिद्धान्त की मान्यता है। आज के लोकतन्त्र के युग मे यह सिद्धान्त सर्वाधिक महत्त्व रखता है। इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वोच्च सत्ता कानून की है, *न कि किसी व्यक्ति विशेष की, चाहे वह कितना ही उच्च पद धारण करता हो। कानून का निर्माण जन-सहमति से होना चाहिए जो सब व्यक्तियो को समान* मानता है और समान रूप से सब पर लागू होता है। जहाँ शासनिक व्यवहार मे असमानता बरती जाती है, वहीं विद्रोह की आशका होती है। परन्तु वास्तविक समानता आनुपातिक होती है। इस दृष्टि से भी अरस्तू की यथार्थवादिता स्पष्ट है और व्यावहारिक राजनीति म अरस्तू की इन धारणाओं को भुलाया नही जा सकता।

(4) वैधानिकतावाद का प्रतिपादक—विधि के शासन की मान्यता के साथ-साथ अरस्तू ने शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध म जिन अन्य आदर्शो का विवेचन किया है उनके आधार पर राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार के निमित्त अरस्तू की एक महान् देन वैधानिकतावाद का प्रतिपादन करना है। अरस्तू ने जिन विविध शासन-व्यवस्थाओ का अध्ययन किया था, उनके आधार पर उसने राज्यो अथवा सविधानो के तीन मुख्य सामान्य रूपों तथा उनके तीन विकृत रूपों को *बताया है। राज्यों या शासनो के सामान्य रूप ये हैं जिनके अन्तर्गत सत्ताधारी कानून के अनुसार जनहित म* शासन सचालन करते हैं। शासको के ऊपर विधि की मर्यादा रहती है। विधि या कानून शासक का आदेश नहीं है। शासन सचालन म वैधानिक व्यवस्था की अवहेलना क्रान्ति या विद्रोह को उत्पन्न करती है। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित ये धारणाएँ उसके वैधानिकतावाद की मान्यता को स्पष्ट करती हैं। लोकतन्त्र के समर्थक चिन्तको

विशेष रूप से सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के लॉक, मॉटेस्क्यू यहाँ तक कि रूसो के विचारों में भी अरस्तू के इस प्रभाव की स्पष्ट छाप है। आज का युग वैधानिकता-वाद का ही युग है। लोकतन्त्र की आस्था वैधानिकतावाद पर निर्भर है। इस दृष्टि से आज के युग तक में अरस्तू के इस प्रभाव की मान्यता स्पष्ट है।

(5) **राज्य के उद्देश्य को स्पष्टता प्रदान करके**—लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा का मार्ग प्रशस्त करना समस्त राजनीतिक चिन्तन का एक प्रमुख उद्देश्य राज्य के उद्देश्य की विवेचना करना है। प्लेटो तथा अरस्तू दोनों को इस दृष्टि से आदर्शवादी चिन्तकों की श्रेणी में रखा जाता है कि उन्होंने राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को सद्गुणयुक्त सुखी तथा उत्तम जीवन प्रदान करना बताया है। उत्तम जीवन से उनका अभिप्राय नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ, भौतिक दृष्टि से सुखी तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सद्गुणयुक्त जीवन (a virtuous life) की प्राप्ति था। यदि आधुनिक युग के दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या की जाए तो हम इसे 'लोक कल्याणकारी राज्य' (welfare state) की धारणा कह सकते हैं। आधुनिक राज्य व्यवस्थाएँ चाहे वे समाजवादी आदर्श अपनाती हों अथवा उदारवादी लोकतन्त्र का आदर्श, और यहाँ तक कि सर्वाधिकारवादी अधिनायकतन्त्र भी, अपने उद्देश्य तथा आदर्श को लोक-कल्याणकारी ही कहते हैं। अरस्तू ने राज्य का उद्देश्य नागरिकों को उत्तम जीवन प्रदान करना बताया और उसकी प्राप्ति के निमित्त विविध राजनीतिक आदर्शों तथा साधनों की व्याख्या की। शासन-व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, सामाजिक व्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों में उसने जिन आदर्शों की व्याख्या की है, वे भले ही तत्कालीन यूनानी नगर राज्य व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में व्यक्त की गयी हैं, तथापि आज की राज्य व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में भी उन आदर्शों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना में अरस्तू द्वारा प्रतिपादित आदर्शों का किसी भाँति कम महत्त्व नहीं है।

(6) **न्याय की धारणा को स्पष्टता प्रदान करना**—प्लेटो ने न्याय की धारणा का प्रत्ययीकरण करके उसे अपने समूचे दर्शन का सारभूत तत्त्व बनाया था। अतएव उसकी विचारधारा में न्याय राज्य की उत्पत्ति, उद्देश्य तथा उसकी प्राप्ति का एक दार्शनिक सिद्धान्त बना रहा। वह आधुनिक अर्थ में न्याय की धारणा का द्योतक नहीं है। अरस्तू ने न्याय की धारणा को अधिक स्पष्टता प्रदान करके उसे दार्शनिक एवं व्यावहारिक दोनों रूप प्रदान किये हैं। निरपेक्ष तथा विशेष न्याय की धारणाएँ एवं वितरणात्मक न्याय की धारणा द्वारा अरस्तू ने न्याय के अर्थ को स्पष्टता प्रदान की है। उसने यह भी दर्शाया कि कानून तथा न्याय के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। न्याय की यह धारणा सार्वभौम रूप से आज तक मान्य की जाती रही है।

(7) **लोकतन्त्र की मान्यता**—यद्यपि आधुनिक अर्थ में अरस्तू को लोकतन्त्र-वादी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके शासनों के वर्गीकरण के अन्तर्गत लोकतन्त्र को एक विकृत शासन प्रणाली माना गया है, तथापि अरस्तू ने जिन विविध राजनीतिक आदर्शों का प्रतिपादन किया है, उनके आधार पर यह इनकार नहीं किया जा सकता कि अरस्तू लोकतन्त्र का समर्थक था। विधि के शासन की मान्यता,

कानून की सर्वोच्चता, जन सहमति तथा जन परम्पराओं को कानून का स्रोत मानना समानता के सिद्धान्त को एक प्रमुख राजनीतिक आदर्श स्वीकार करना तथा राज्य का प्रमुख उद्देश्य जनता को सुखी जीवन प्रदान करने की मान्यता आदि के आधार पर अरस्तू को लोकतन्त्रवादी मानने से इनकार नही किया जा सकता। इतना अवश्य है कि अरस्तू के शासनो का विवेचन लोकतन्त्र को 'जनता द्वारा शासन' स्वीकार नही करता, क्योंकि अरस्तू नागरिकता का अधिकार सम्पूर्ण जनता को प्रदान नही करता, परन्तु अरस्तू जिस शासन व्यवस्था को सर्वोत्तम मानता है उसका उद्देश्य 'जनता के लिए' शासन अवश्य है। सही अर्थ मे किसी भी लोकतन्त्र मे शासन वास्तव मे 'जनता द्वारा' सम्पन्न नही होता। इस तथ्य को भी झुठलाया नही जा सकता कि अधिकाश लोकतन्त्री व्यवस्थाओं मे वास्तविक शासन-सत्ता मध्यम वर्ग के लोगो द्वारा सम्पन्न होती है। अरस्तू ने सर्वोत्तम शासन व्यवस्था उसी को बताया है जिसमे शासन सत्ता मध्यम वर्ग के हाथ मे रहती है। अतएव अरस्तू को लोकतन्त्रवादी मानने मे आपत्ति नही हो सकती।

सक्षेप मे, राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे अरस्तू के विचार युग युगो के चिन्तको के लिए अनुकरणीय सिद्ध हुए हैं। राजनीति को शास्त्रीय ढग से विवेचित करने वाला वह न केवल सबसे पहला महान् चिन्तक है, अपितु आज तक इस क्षेत्र मे उसकी तुलना का कोई अन्य चिन्तक नही हुआ है। उसकी परम्परा के सभी महान् चिन्तक उसके अनुयायी हैं।

तीसरा अध्याय

सन्त अगस्टाइन

(354 ई० से 430 ई०)

राजनीतिक चिन्तन तथा ईसाई धर्म का अभ्युदय

अरस्तू के पश्चात् यूनानी नगर-राज्यो का अन्त होने लग गया था और इसी के साथ-साथ प्लेटो तथा अरस्तू के राजनीतिक दर्शन के विकास का भी अन्त हो गया। उत्तर-अरस्तू युग मे यूनान मे इपीक्यूरिएन तथा स्टाइक दर्शन का विकास हुआ। इनमे से प्रथम एक प्रकार का पलायनवादी, व्यक्तिवादी तथा असामाजिक दर्शन था और द्वितीय का उद्देश्य प्राकृतिक कानून की धारणा पर आधारित विश्व-बन्धुत्व तथा सार्वभौमिकतावाद और मानवीय समानता के सिद्धान्तों का विकास करना था। इस अवधि मे रोम एक विशाल साम्राज्य के रूप मे विकसित हो चुका था, और रोमन विचारको तथा रोमन राजनीति के अन्तर्गत स्टाइक शिक्षा की विश्व-बन्धुत्व एव सार्वभौमिकतावाद की धारणाएँ मान्य की गई। रोमन साम्राज्य की कानून तथा प्रशासनिक व्यवस्था का राजनीतिक चिन्तन को अपना विशिष्ट योगदान है। रोमन राजनीतिक सस्थाओ तथा व्यवहार ने राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे एकता, व्यवस्था, लोक प्रभुसत्ता आदि की धारणाओ के विकास मे सहायता प्रदान की।

ईसाई धर्म की स्थापना तथा रोम का पतन—ईसाई धर्म की स्थापना हो जाने पर इस धर्म के आरम्भिक सस्थापको तथा प्रचारको ने केवल धर्म के व्यापक प्रचार का ही कार्य किया, बल्कि उन्होंने स्टाइक दार्शनिको की मानवतावादी तथा विश्व-बन्धुत्व की धारणाओ को ईसाई धर्म-शिक्षा का मूल आधार बनाया। प्रारम्भ मे रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत इन धर्म-प्रचारको का प्रभाव निम्न-वर्गीय जनता तक ही सीमित रहा। कालान्तर मे रोम की अधिकाश जनता ईसाई धर्म के प्रभाव मे आने लगी और ईसा की चौथी शताब्दी मे सम्राट् कॉन्स्टेंटीन के द्वारा ईसाई धर्म अपना लेने पर रोम की विशाल जनता ने इस धर्म को अपना लिया और सम्राट कॉन्स्टेंटीन ने इसे राजकीय धर्म घोषित कर दिया। ईसाई धर्म-प्रचारको के अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध तथा कुशल होने के कारण चर्च की गतिविधियाँ काफी प्रभावशाली हो गई। सम्राट कॉन्स्टेंटीन ने जब अपनी राजधानी रोम से हटाकर कुस्तुन्तुनियाँ मे बना ली, तो उसका परिणाम यह हुआ कि रोम मे सम्राट् की अनुपस्थिति का लाभ चर्च ने उठाया और अपना प्रभाव बढ़ाने मे सफलता प्राप्त

की। आरम्भिक ईसाई धर्म-प्रचारकों की गतिविधियाँ केवल धर्म-प्रचार तक ही सीमित न रहकर राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार में भी प्रभावी होने लगी।

रोम के पतन की ईसाई धर्म पर प्रतिक्रिया—410 ई० मे रोम के ऊपर ऐलेरिक तथा गॉथ की ट्यूटन असभ्य जातियो ने आक्रमण किया और रोम को ध्वस्त-त्रस्त कर दिया। रोमन सम्राट कुस्तुन्तुनियाँ मे साम्राज्य के पूर्वी भागो मे मुस्लिम आक्रमणो के साथ उलझा होने के कारण रोम को बचाने मे असमर्थ था। इसका परिणाम यह हुआ कि रोम मे जो लोग ईसाई धर्म पर विश्वास नहीं करते थे, उन्होंने रोम की इस दिशा के लिए ईसाई धर्म तथा चर्च को दोषी ठहराना प्रारम्भ किया। उनका यह आरोप था कि जब रोमन जनता अपने परम्परागत देवी-देवताओं को मानती थी तो रोम ने पर्याप्त उन्नति की थी और वह एक छोटे नगर-राज्य से विकसित होकर एक विशाल साम्राज्य बन गया था। परन्तु ईसाई धर्म की शिक्षाओं तथा विकास ने रोम को इतना निर्बल कर दिया है कि वह असभ्य जातियो के आक्रमण से रोम को नही बचा सकी। यह ऐसा प्रचार था जो ईसाई धर्म-प्रचारकों की प्रतिष्ठा तथा शक्ति के लिए गम्भीर चुनौती थी। इसका उत्तर सन्त अगस्टाइन के राजनीतिक विचारो द्वारा दिया गया, जो कि आरम्भिक ईसाई धर्मोपदेशको मे सबसे प्रमुख व्यक्ति रहा है।

अगस्टाइन का जीवन-परिचय

अगस्टाइन का जन्म 354 ई० म उत्तरी अफ्रीका के टैगस्टी नामक स्थान मे हुआ था। उसकी माँ ईसाई थी और पिता गैर-ईसाई था। वह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था। आरम्भिक शिक्षा के बाद वह मिलन के बिशप सन्त ऐम्ब्रोस का शिष्य बना। 35 वर्ष की उम्र मे उसने ईसाई धर्म अपना लिया। कालान्तर मे ईसाई धर्म के पादरियो मे उसे पर्याप्त उच्च स्थिति प्राप्त हो गयी। 40 वर्ष की उम्र मे वह अफ्रीका मे हिप्पो के चर्च का बिशप बन गया और आजन्म (430 ई० तक) वहीं रहा। रोम का पतन होने पर जब जनता के एक वर्ग ने इसका दोष ईसाई धर्म पर लगाना शुरू किया तो अगस्टाइन ने इस चुनौती का सामना करके इस धारणा का विरोध किया। उसकी सुप्रसिद्ध रचना 'दी सिटी ऑव गॉड' (The City of God या De civitate Dei) इसी उद्देश्य से लिखी गयी थी। इसकी रचना मे उसे 14 वर्ष का समय (413–26 ई०) लगा। इसे 22 भागो मे लिखा गया है और प्रथम दस भाग उपर्युक्त चुनौती का उत्तर देते हैं। अगस्टाइन का मुख्य उद्देश्य रोम के इतिहास की समुचित पृष्ठ भूमि म व्याख्या करके यह दर्शाना था कि रोम के पतन का कारण ईसाई धर्म शिक्षा तथा विश्वास नहीं हैं, वरन् रोमन साम्राज्य का लौकिक स्वरूप है, जिसे अन्य लौकिक वस्तुओ, व्यवस्थाओं तथा व्यवहारो की भाँति नष्ट होना स्वाभाविक था। इस धारणा की पुष्टि मे अगस्टाइन के विचार दो राज्यो की धारणा को व्यक्त करते हैं प्रथम दैवी राज्य (The City of God) तथा द्वितीय लौकिक राज्य (The worldly city)। इन दोनो धारणाओं का विश्लेषण तथा विवेचन करके अगस्टाइन मनुष्य जीवन के दो पक्षो का विवेचन करता है।

दो राज्यों की धारणा—अगस्टाइन न तो प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति एक राजनीतिक विचारक था और न सिसरो की भाँति एक कानून-वेत्ता। फॉस्टर ने कहा है कि 'राजनीतिक विचारधारा के क्षेत्र में सन्त अगस्टाइन के सबसे महत्वपूर्ण विचार उसके दो राज्यों (सासारिक राज्य तथा दैवी राज्य) की धारणा पर केन्द्रित हैं।' उसका उद्देश्य यह दर्शाना था कि मानव जीवन की दो प्रणालियाँ हैं, क्योंकि मानव प्रकृति में दो तत्त्व आत्मा तथा शरीर होते हैं। इनमे से शरीर का सम्बन्ध लौकिक ससार से तथा आत्मा का सम्बन्ध स्वर्ग से होता है। इसी प्रकार मनुष्य जीवन के दो उद्देश्य भी हैं प्रथम सासारिक, जिनका सम्बन्ध शरीर से अर्थात् तृष्णाओं की तृप्ति से, तथा दूसरा स्वर्गीय, जिनका सम्बन्ध आत्मा से होता है, अत मानव जीवन की दो व्यवस्थाएँ हैं, जिन्हे अगस्टाइन दो राज्यों की सज्ञा देता है। दो राज्यों की धारणा मानवों के दो पृथक् सगठनों की द्योतक नही है, बल्कि अगस्टाइन इन्हे दार्शनिक अर्थ म लेता है। स्वर्गीय राज्य से उसका अभिप्राय उस जीवन-प्रणाली से है जो ईश्वर के निमित्त अर्पित की गयी है और सासारिक राज्य इह-लौकिक जीवन-प्रणाली का सूचक है। अत अगस्टाइन की दो राज्यों की धारणा सासारिक राज्य को रोम, यूनान आदि के अर्थ में लेती है। परन्तु उसकी दैवी राज्य की धारणा को इस पृथ्वी से ऊपर आसमान में या उससे परे वैकुण्ठ तथा इन्द्रलोक आदि के अर्थ में नही लेना चाहिए। दैवी राज्य समय तथा स्थान की दृष्टि से सार्वभौम तथा शाश्वत है, जिसकी स्थापना का आधार ईश्वर-प्रेम, उद्देश्य सत् का विकास तथा न्याय व शान्ति की स्थापना है। इसके विपरीत सासारिक राज्य नष्टप्राय तथा क्षण-भगुर है। इसका आधार आत्म-प्रेम तथा उद्देश्य बुराई को बढावा देना और शक्ति अर्जित करना है। अगस्टाइन स्पष्टतया यह भी नही कहता है कि दैवी राज्य चर्च की सम्प्रभुता म सचालित सगठन के तथा सासारिक राज्य लौकिक शासक द्वारा शासित राज्य-सगठन के रूप में है। वास्तव में अगस्टाइन की दो राज्यों की धारणा उसके दर्शन में राजनीति एव आध्यात्म सम्बन्धी विचारों की द्योतक है। सासारिक राज्य का सिद्धान्त आत्म-प्रेम तथा भौतिक सुख है, दैवी राज्य का सिद्धान्त ईश्वर-प्रेम तथा आध्यात्मिक सुख है।

दो समाजों की ऐतिहासिक व्याख्या—दो राज्यों की धारणा को अगस्टाइन सामाजिक विकास एव उद्देश्यों के सन्दर्भ में भी व्यक्त करता है। उसके अनुसार समाज भी दो प्रकार का होता है सासारिक समाज मानव प्रकृति के निकृष्टतर सवेगों, तृष्णा आदि से युक्त होता है, अत इसे शैतान का राज्य कहा जा सकता है, जिसमे गैर-ईसाई रहते हैं। दैवी या स्वर्गीय समाज का उद्देश्य शान्ति तथा आत्मिक मोक्ष की दिशा में निर्देशित रहना है, जिसे ईसा का राज्य माना जाना चाहिए और जिसकी सदस्यता ईसाई धर्म मे विश्वास करने वाले व्यक्ति ग्रहण करते हैं। इस धारणा को लेकर अगस्टाइन रोम के इतिहास की व्याख्या इस रूप में करता है कि इतिहास इन्ही दो प्रकार के समाजों के मध्य सघर्ष की कहानी है। इनमे स्वर्गीय

समाज की विजय होती है। स्वर्गीय समाज स्थायी है। शान्ति तथा व्यवस्था उसी में सम्भव है। रोम सांसारिक समाज का द्योतक था, अत उसका पतन निश्चित था। अगस्टाइन यह भी मानता है कि 'ईश्वर जो कुछ करता है, भले के लिए', परन्तु वह यह नही कहता कि ट्यूटन जगली आक्रामक स्वर्गीय राज्य का प्रतिनिधित्व करते थे, इसलिए विजयी हुए। उसका उद्देश्य यह बताना था कि रोम का पतन रोमन समाज मे स्वर्गीय राज्य की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा जिसमे शासक तथा शासित सभी स्वर्गीय राज्य की धारणा का अनुगमन करते हुए अपनी जीवन-प्रणाली को नियमित करेंगे और पुन रोम को नष्ट होने से बचा सकेंगे। इसके लिए उन्हे ईसाई धर्म की शिक्षाओ को ग्रहण करना पडेगा, क्योकि ईसाई धर्म की शिक्षाएँ स्वर्गीय राज्य की धारणाओ की प्रेरक हैं।

दैवी या स्वर्गीय राज्य की धारणा—अगस्टाइन की स्वर्गीय राज्य की धारणा का निर्माण प्लेटो तथा सिसरो की नैतिकता सम्बन्धी धारणाओ पर किया गया है और उसे ईसाई धर्मशास्त्रो की भूमिका म प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से अगस्टाइन की राजनीतिक विचारधारा प्लेटो के दर्शन, सिसरो के मानवतावाद तथा ईसाई धर्म शिक्षाओ का सम्मिश्रण है। अगस्टाइन प्लेटो के 'न्याय-सिद्धान्त' तथा अरस्तू के 'उत्तम जीवन' की धारणाओं को ईसाई धर्म के आदर्शो से भर देता है। उसका दैवी राज्य उस स्वर्ग की धारणा का द्योतक नही है, जिसे ईसाई धर्मोपदेशक मानव जीवन का अन्तिम तथा शाश्वत लक्ष्य मानते हैं। अगस्टाइन के मत मे स्वर्गीय राज्य का प्रतिरूप इस पृथ्वी पर भी पाया जाता है, जो ईसाई चर्च मे विश्वास रखने वाले व्यक्तियो के सगठन के रूप मे है। इसका आधार विश्व बन्धुत्व की धारणा है। यह सब व्यक्तियो के लिए है, परन्तु यह सबको शामिल नहीं करता, क्योकि इसकी सदस्यता की योग्यता उत्तमता (Grace) है, जो सबमे नही होती। सैबाइन के शब्दो मे अगस्टाइन का दैवी राज्य एक प्रकार से 'पृथ्वी मे ईश्वर का प्रयाण' है। अगस्टाइन के दैवी राज्य की धारणा प्लेटो के आदर्श राज्य की धारणा की भाँति ही एक स्वप्नलोकी विचार है।

राज्य-सम्बन्धी धारणाएँ

सच्चे अर्थ मे अगस्टाइन राजनीतिक विचारको की श्रेणी का चिन्तक नहीं है। उसकी राज्य विषयक धारणाएँ ईसाई धर्म शिक्षाओ के सन्दर्भ मे व्यक्त की गयी हैं। अत राजनीतिक विचारक के रूप मे उसका योगदान दो राज्यो की धारणा का प्रतिपादन करते हुए स्वर्गीय राज्य को नैतिक तथा आदर्शात्मक रूप प्रदान करने मे है। न्याय, शान्ति, शासन, दास प्रथा, सम्पत्ति आदि की धारणाओ का विवेचन वह अपनी दैवी राज्य की धारणा के सन्दर्भ मे ही करता है।

राज्य की परिभाषा तथा उद्देश्य—राज्य की व्याख्या करते हुए वह कहता है कि 'राज्य उन विवेकशील व्यक्तियो का समूह है जो एक सामूहिक सहमति द्वारा पारस्परिक प्रेम के उद्देश्य से एक साथ आबद्ध हुए हैं।'[1] उत्तम राज्य के दो सद्गुण

[1] 'An commonwealth is an assemblage of reasonable beings bound together by a common agreement as to the objects of their love'—Augustine.

'शान्ति' तथा 'न्याय' हैं। शान्ति का अर्थ केवल युद्ध या संघर्ष का निषेध नहीं है। सार्वभौम शान्ति का आधार सार्वभौम व्यवस्था एवं ईश्वर के प्रति पारस्परिक सार्वभौम प्रेम है। रोमन कानून के अन्तर्गत साम्राज्य मे जिस शान्ति तथा व्यवस्था की स्थापना की गयी थी वह सासारिक राज्य की शान्ति थी, क्योकि उसका स्वरूप धर्म-निरपेक्ष था, न कि ईश्वर के प्रति सबका पारस्परिक प्रेम। शान्ति का अर्थ सूने या श्मशान की शान्ति से भी नही है और न ही ऐसी शान्ति से जो शासको द्वारा बलप्रवर्ती शक्ति से लादी जाये। विध्यात्मक अर्थ मे शान्ति वह साध्य है जिसकी प्राप्ति की साधना प्रत्येक जीवधारी अपने अस्तित्व के प्राकृतिक नियमो के अनुसार करता है।' न्याय का अर्थ है समाज की विविध इकाइयो (परिवार, राज्य तथा सार्वभौम समाज) मे किसी निश्चित व्यवस्था पर आधारित रहकर अपने-अपने कर्त्तव्यो का पालन करना। न्याय का अर्थ केवल राज्य के कानूनो के अन्तर्गत कर्त्तव्य-पालन मे रत रहना नही है, जैसी कि प्लेटो की धारणा थी। अगस्टाइन के मत से राज्य अन्तिम समाज नही है। अत न्याय का अर्थ सार्वभौम तथा शाश्वत कानूनो के अन्तर्गत अपने कर्त्तव्यो का पालन करने की धारणा है। अगस्टाइन ने कहा है कि 'जिन राज्यो मे न्याय नहीं रह जाता वे डाकुओ के झुण्ड मात्र कहे जा सकते हैं।'[1] न्याय का सारभूत तत्व यह है कि मनुष्य तथा परमात्मा के मध्य सम्बन्ध बना रहे, जिसके फलस्वरूप मनुष्य मनुष्य के मध्य समुचित सम्बन्ध स्वयमेव उत्पन्न हो जायेंगे। अगस्टाइन के मत से ईसा के अवतार से पूर्व राज्यो मे न्याय का अभाव था क्योकि उनमे चर्च तथा ईसाइयत के अभाव से न्याय की समुचित धारणा विद्यमान नही थी। परन्तु ईसा की उत्पत्ति के पश्चात् कोई भी राज्य बिना न्याय की धारणा के टिक नहीं सकता। न्याय ही वह धारणा है जो कि मानवो को किसी राज्य के अन्दर एकता के सूत्र मे बाँधे रखती है।

राज्य की उत्पत्ति तथा आधार—अगस्टाइन के मत से राज्य की उत्पत्ति का कारण मनुष्य के पाप हैं, और उसका आधार मनुष्य की सामाजिकता की प्रवृत्ति है। प्रारम्भ मे समस्त मानव समान तथा स्वतन्त्र थे। वे विवेक तथा न्याय के नियमों का पालन करते थे। परन्तु मनुष्य के पापमय आचरणो के कारण कुछ लोगो को दूसरो की अधीनता मे रहने के लिए विवश होना पडा। परन्तु ईसा की उत्पत्ति तथा ईसाई चर्च की स्थापना हो जाने पर चर्च की शिक्षाओ पर आधारित राज्य-व्यवस्था मनुष्यो के पापो का दैवी उपचार प्रस्तुत करती है, न की बल प्रयोग का। चर्च की उत्पत्ति दैवी है। राज्य की उत्पत्ति को मनुष्य के पापो का फल मानने की धारणा अगस्टाइन तथा आरम्भिक चर्च उपदेशको की विशेषता रही है। इसी प्रकार शासन, दास प्रथा तथा सम्पत्ति की सस्थाओ की उत्पत्ति का कारण भी मनुष्य के पाप हैं, क्योकि मनुष्य के पापमय आचरणो ने मानवीय समानता की भावना का अन्त कर दिया। अगस्टाइन इन सस्थाओ का विरोध नहीं करता, परन्तु इनके औचित्य का कारण समझाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का औचित्य इसलिए नहीं है कि वह प्राकृतिक

[1] 'Justice being taken away, then, what are kingdoms but great robberies'—Augustine

है, बल्कि इसलिए है कि वह परम्परागत है। दास प्रथा भी प्राकृतिक नहीं है, वह मनुष्य के पापों के प्रतिशोध के रूप है।

परन्तु क्या सभी दास पापमय हैं ? आगस्टाइन इस समस्या का भी समाधान देता है। वह कहता है कि कभी-कभी दुष्ट मालिक धार्मिक व्यक्तियों को दास बना लेते हैं। ऐसी स्थिति में दास को मालिक से उच्च स्थिति का माना जाना चाहिए। परन्तु ऐसी धारणा केवल दास को सान्त्वना देने की है न कि उसे दासता से मुक्ति दिलाने का समाधान। सम्पत्ति के सम्बन्ध में आगस्टाइन यह मानता है कि दैवी राज्य तथा प्राकृतिक स्थिति में व्यक्तिगत सम्पत्ति अनावश्यक थी। परन्तु चूँकि यह भी मनुष्य के पापों की उपज है और परम्परागत है, अतः इसका औचित्य तभी तक है जब तक कि मनुष्य इसकी महत्ता को सम्मान, न्याय तथा ईश्वरभक्ति के गुणों से अधिक मूल्यवान नहीं समझता। अतः सम्पत्ति का उपभोग पवित्र आदेशों के अहित में नहीं किया जाना चाहिए।

राज्य तथा चर्च—राज्य तथा चर्च के मध्य सम्बन्धों का विवेचन करते हुए आगस्टाइन अपने-अपने स्थान पर दोनों के औचित्य को स्वीकार करता है। दैवी मूल के कारण चर्च राज्य से श्रेष्ठतर है। परन्तु चर्च को राज्य की आवश्यकता भी पड़ती है, क्योंकि राज्य उसकी सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा करता है तथा समाज में शान्ति, व्यवस्था तथा न्याय की स्थापना करता है। जहाँ तक राजनीतिक सत्ता के आदेशों के पालन का प्रश्न है, आगस्टाइन ईसा की इस शिक्षा का अनुमोदन करता है कि "जो वस्तु सीज़र की है उसे सीज़र को तथा जो ईश्वर की है, उसे ईश्वर को अर्पित करो"[1] अर्थात् दोनों सत्ताओं (ईश्वर तथा राज्य) के प्रति अपने-अपने क्षेत्र में आज्ञाकारिता दर्शानी चाहिए। साथ ही सन्त पॉल के इस कथन को भी आगस्टाइन मान्यता देता है कि 'सब सत्ताएँ दैवी होती हैं।'[2] अतः सामान्यतया शासन की आज्ञा का पालन किया जाना चाहिए। परन्तु यदि शासन के आचरण धर्म तथा नैतिकता के नियमों का उल्लंघन करें, तो उनकी आज्ञा का पालन नहीं किया जाना चाहिए।

आगस्टाइन के विचारों का मूल्यांकन तथा प्रभाव

यद्यपि आगस्टाइन की रचना 'दी सिटी ऑफ गॉड' का उद्देश्य राजनीतिक विचारधारा का प्रतिपादन करना नहीं था, तथापि उसके विचारों का पर्याप्त राजनीतिक महत्त्व है। उसके विचारों में राज्य सम्बन्धी धारणाओं का क्रमबद्ध विवेचन नहीं किया गया है। परन्तु उसके विचारों ने कई सदियों तक ईसाई चिन्तन को प्रभावित किया। सैबाइन ने कहा है कि 'आगस्टाइन की रचना ऐसे विचारों की खान थी जिसमें बाद के कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट दोनों विचारकों ने खुदाई की थी।' उसके दो राज्यों की धारणा में नीतिशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र की धारणाएँ शामिल हैं। इनके आधार पर मानव इतिहास का समुचित ज्ञान किया जा सकता है।

[1] 'Render unto Caesar the things that are Caesar's, and render unto God the things that are God's

[2] 'Powers that be are ordained of God'

अगस्टाइन के दैवी राज्य की धारणा ने मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन मे धर्म-शिक्षाओं के आधार पर निर्मित सार्वभौम विश्व-राज्य की धारणा के विक बहुत सहायता प्रदान की। राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के पृथक् अस्तित्व को स्व करके अगस्टाइन के विचारो ने सर्वप्रथम पोप गिलेशियस प्रथम को 'दो तलवा सिद्धान्त' का प्रतिपादन करने की प्रेरणा दी। इसके पश्चात् जब चर्च की शक्ति होने लगी और सम्राटो की निर्बल, तो चर्च अधिकारियो ने अपनी श्रेष्ठता का करके राजसत्ता को अपने अधीन रखने का प्रयास किया। पवित्र रोमन साम्राज स्थापना मे सन्त अगस्टाइन के विचारो का प्रभाव था। सम्राट शार्लमेन तथा के ऊपर अगस्टाइन की शिक्षाओ का पर्याप्त प्रभाव पडा। ग्यारहवी तथा बा शताब्दी का राजनीतिक चिन्तन इन्ही दो सत्ताओ के मध्य अपने अधिकार-क्षे सम्बन्ध मे सघर्ष की बातो पर केन्द्रित रहा। उसके पश्चात् की अन्य दो शता मे राजसत्ता एव धर्मसत्ता की सर्वोच्चता के समर्थको ने अपने तर्कों मे सन्त अगस के विचारो का अपने-अपने समर्थन मे निर्वचन किया।

अगस्टाइन के विचारो ने राज्य तथा शासन दोनो को ईसाई स्वरूप किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके पश्चात् की कई सदियो तक यह सि सार्वभौम रूप से माना जाने लगा कि राज्य का उद्देश्य न्याय तथा मानवीय नैि की स्थापना करना है। उसके विचारो ने शासको के नैतिक दायित्वो की महत्त दर्शाकर राजनीति मे नैतिकता को महत्व दिया। टॉमस ऐक्विनास, दान्ते, वि ग्रोशियस आदि अनेक विचारको ने अगस्टाइन के विचारो को ग्रहण किया। अगर के विचारो ने धार्मिक विश्वास की स्वतन्त्रता की धारणा को पुष्ट करने मे महा योगदान किया है। मैक्सी ने कहा है कि 'मध्ययुगीन यूरोप की राजनीतिक वि धाराओं पर जितना प्रभाव अगस्टाइन का पडा उतना रोमन ईसाइयत के किस व्यक्ति का नही पडा है।' इस दृष्टि से यूरोप के राजनीतिक चिन्तन के इतिहा सन्त अगस्टाइन मध्य युग का प्रथम महान् विचारक सिद्ध होता है, जिसकी वि धारा समूचे मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने वाली सिद्ध हुई

सन्त टॉमस ऐक्विना

(1226 ई० से 1274 ई०)

धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य संघर्ष

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्लेटो तथा अरस्तू के पश्चात् लगभग 1500 वर्षों तक स्वतन्त्र रूप में विशुद्ध एवं मौलिक राजनीतिक चिन्तन करने वाला कोई महान् विचारक नहीं हुआ। रोमन विचारक सिसरो, जो ईसवी की सदी में हुआ था, को कुछ हद तक ऐसे चिन्तकों की श्रेणी प्राप्त हो सकती है। अगस्टाइन का दर्शन राज्य-सम्बन्धी दर्शन न होकर कुछ राजनीतिक बातों का विवेचन मात्र है, जिसे ईसाई धर्म-प्रचार की पृष्ठभूमि में व्यक्त किया गया है। ईसाई धर्म की उत्पत्ति, रोमन साम्राज्य के पतन तथा उसके स्थान पर सामन्तशाही ट्यूटन-व्यवस्था के स्थापित होने से विशुद्ध राजनीतिक चिन्तन के लिए सामग्री का भी प्रायः अभाव रहा। इस अवधि के शिक्षित तथा विद्वान्-वर्ग मुख्यतया चर्च से सम्बन्धित रहे। अतः उनका मुख्य प्रयास चर्च शिक्षाओं का विकास तथा प्रसार करना था। उनके ऊपर धार्मिक विश्वासिता का प्रभाव होने के कारण ज्ञान तथा विवेक के आधार पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करने की प्रवृत्ति नहीं रही। अतः राजनीतिक चिन्तन धार्मिक अन्ध-विश्वासिता की दासता में पड़ा रहा।

पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना—प्रारम्भ में जब रोम में ईसाई चर्च की स्थापना हुई तो रोमन सम्राट को राज्य तथा चर्च दोनों का प्रधान माना जाता रहा। धीरे-धीरे सम्राटों की शक्ति निर्बल होती गयी और चर्च संगठन के अन्तर्गत अधिक ज्ञानवानों के होने के कारण चर्च के प्रधान पोप की शक्ति बढ़ने लगी। परिणामस्वरूप, चर्च लौकिक मामलों में भी हस्तक्षेप करने लगा। रोम में ट्यूटनों का आधिपत्य हो जाने, तथा सम्राट द्वारा राजधानी-परिवर्तन कर लिये जाने पर चर्च को अपनी शक्ति बढ़ाने का अधिक अवसर मिला और चर्च ने ट्यूटनों को अपने प्रभाव में ले लेने तथा सामन्तशाही के ऊपर अपना प्रभाव बना लेने में सफलता प्राप्त की। जब लोम्बार्ड जाति ने रोम पर आक्रमण किया तो पोप ने फ्रैंक राजा पैपिन की मदद से उन्हें रोका और 800 ई० में उसके पुत्र शार्लमेन को रोम का सम्राट घोषित किया। 962 ई० में जर्मनी के राजा ओटो ने इटली को अपने साम्राज्य में मिला लिया और पोप ने उसका राज्याभिषेक करके पवित्र-रोमन-साम्राज्य की स्थापना करवायी।

सम्राट तथा पोप के मध्य संघर्ष का आरम्भ—पवित्र रोमन साम्राज्य की

स्थापना के पश्चात् सम्राटों तथा पोप के मध्य सत्ता-संघर्ष प्रारम्भ होने लगे, क्योंकि इस घटना के अन्तर्गत दोनों की शक्तियों की स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी थी। ग्यारहवीं शताब्दी में सम्राट हेनरी चतुर्थ तथा पोप ग्रीगरी सप्तम के काल में यह संघर्ष स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया। इसका आरम्भ बिशपों की नियुक्ति के अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी विवाद से हुआ। पोप का मत था कि चर्चों के बिशपों की नियुक्ति से सम्राट का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पोप चर्च का प्रधान है। सम्राटों का तर्क यह था कि सामन्तशाही के अन्तर्गत बिशप राजा के दरबार में बैठते हैं। अतः वही उनकी नियुक्ति कर सकता हैं। पोप ग्रीगरी ने चर्च अधिकारियों के सम्बन्ध में अनेक सुधार किये थे, यथा उनके विवाह सम्बन्धी नियमों में सुधार, चर्च के पदों को खरीदने की प्रवृत्ति को रोकना, आदि। इस हेतु उसने यह आदेश दिया कि कोई भी चर्च अधिकारी ऐसे लौकिक शासक से, जिसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया गया हो, किसी प्रकार का पद प्राप्त नहीं कर सकता है। हेनरी चतुर्थ ने ग्रीगरी के इस दावे को स्वीकार नहीं किया और उसे पद-मुक्त करने का आदेश दे दिया। पोप ने सम्राट को धर्म-बहिष्कृत कर दिया। यहीं से धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य संघर्ष आरम्भ हो गया।

धर्मसत्ता के समर्थकों के यह तर्क थे कि चर्च की स्थापना स्वयं ईश्वर ने की है, अतः इसका प्रधान पोप पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है जो आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों क्षेत्रों में पूर्ण सत्ताधारी है। ईश्वर ने धर्मसत्ता तथा राजसत्ता रूपी दोनों तलवारें सन्त पीटर को दी थीं और पीटर से पोप ने उन्हें प्राप्त करके राजसत्ता की तलवार शासक को दी और धर्मसत्ता की तलवार अपने पास रखी, अतः शासक की सत्ता पोप से प्राप्त होने के कारण वह पोप की अधीनता में है। धर्मसत्ता का उद्देश्य आत्मिक एवं पारलौकिक है, जबकि राजसत्ता का उद्देश्य भौतिक तथा लौकिक है। अतः चर्च की सत्ता राज्य की सत्ता से उच्चतर है। सम्राट शार्लमेन तथा पवित्र रोमन सम्राट ओटो का राज्याभिषेक पोप के द्वारा किया जाना भी इस अर्थ में लिया गया कि लौकिक शासक को सत्ता पोप से प्राप्त हुई है। दूसरी ओर राजसत्ता के समर्थकों के तर्क मुख्यतमा गिलेशियस के 'दो तलवार सिद्धान्त' पर तथा आरम्भिक चर्च संस्थापकों की शिक्षाओं पर आधारित थे। उनका मत था कि दोनों सत्ताएँ (चर्च तथा सम्राट) दैवी हैं और परमात्मा ने सत्तारूपी ये तलवारें पृथक्-पृथक् पोप तथा सम्राट को दी थीं। अतः अपने-अपने क्षेत्रों में दोनों उच्च हैं। स्वयं ईसा ने कहा था कि 'राजा की वस्तु राजा को तथा ईश्वर की ईश्वर को अर्पित करो।' सन्त पॉल भी कहते थे कि 'सब सत्ताएँ दैवी हैं।' अतः लौकिक मामलों में पोप को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

सत्ता-संघर्ष के आरम्भ में पोप की स्थिति निर्बल थी। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में पोप ग्रीगरी सप्तम के अपने महान् व्यक्तित्व एवं चर्च में सुधारों द्वारा पोप की स्थिति सुदृढ़ होने लगी और उसके द्वारा सम्राट के साथ सत्ता-संघर्ष प्रारम्भ करने से धर्मसत्ता के समर्थकों की स्थिति मजबूत होने लगी। ग्यारहवीं तथा बारहवीं सदी में ग्रीगरी, सन्त बर्नार्ड, मैनगोल्ड, सैलिसबरी के जॉन आदि ने पोप तथा धर्म-

सत्ता की श्रेष्ठता के दावे को पुष्ट करने के सम्बन्ध में अनेक प्रभावशाली तर्क प्रस्तुत किये। तेरहवीं शताब्दी मे इनके पक्ष को विवेकपूर्ण ढग से एक क्रमबद्ध विचारधारा के रूप मे सन्त टॉमस ऐक्विना ने प्रस्तुत किया। सत्ता-सघर्ष के युग मे राजनीतिक विचारधारा को कोरे धार्मिक अन्ध-विश्वास से मुक्त करके तथा उसे विवेकपूर्ण ढग से प्रस्तुत करने के कारण टॉमस ऐक्विना की विचारधारा का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे अत्यधिक महत्व है।

जीवन-परिचय

ऐक्विना का जन्म इटली के नेपल्स नगर के पास एक कुलीन परिवार में हुआ था। उसकी आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा चर्च पादरियों के द्वारा की गई थी और सोलह वर्ष की अवस्था मे अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध टॉमस ने धार्मिक चिन्तन का जीवन क्रम अपना लिया। उसने नेपल्स तथा पेरिस मे अध्ययन कार्य किया और कालान्तर मे वह धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र का एक प्रकाण्ड विद्वान् तथा शिक्षक बन गया। *यह युग ज्ञान के पुनर्जागरण का युग था।* इस युग मे यूनानी विचारको प्लेटो तथा अरस्तू के ग्रन्थो का पुन अध्ययन किया जाने लगा था। इस दिशा मे अलबर्ट महान् की विशेष अभिरुचि थी। ऐक्विना ने अलबर्ट को अपना गुरु स्वीकार किया और उसके साथ अरस्तू के दर्शन का व्यापक अध्ययन किया। साथ ही इस युग मे रोमन विधिशास्त्र का अध्ययन भी किया जाने लगा था। ऐक्विना ज्ञान तथा विद्वता के इस पुनर्जागरण के युग का सही-सही प्रतिनिधित्व करता है। उसके ऊपर अरस्तू की रचनाओ का पर्याप्त प्रभाव पडा। यद्यपि ऐक्विना केवल अडतालीस वर्ष की उम्र मे ही मर गया तथापि इस छोटी उम्र मे उसने अनेक रचनाए की। उसके राजनीतिक विचारो का ज्ञान उसके ग्रन्थो 'सूमा थियोलॉजिका' (The Sum Theology) तथा 'डी रिजीमाइन प्रिंसियम' (The Rule of Princes) मे होता है।

विचार-पद्धति

ऐक्विना ने न तो स्वय एक दार्शनिक होने का दावा किया है और न राजनीतिक चिन्तक होने का। मूलत वह एक धर्मशास्त्री था। परन्तु उसकी विचार-पद्धति पर अरस्तू का सर्वाधिक प्रभाव था। उसकी विचार-पद्धति को प्रभावित करने वाले अन्य स्रोतो मे से आगस्टाइन तथा जान ऑफ सैलिसबरी के विचार भी थे। इनके प्रभाव से टॉमस ने अरस्तूवाद में ईसाइयत का समन्वय किया। उसकी यह धारणा थी कि ज्ञान तथा विश्वास दोनो का स्वरूप दैवी है। अत दोनो के मध्य सघर्ष नही हो सकता। दोनो विश्व तथा ईश्वर का ज्ञान करने मे सहायक सिद्ध होते हैं। अरस्तू की विचार-पद्धति प्रकृतिवादी थी। उसके मत से वास्तविक ज्ञान विवेक द्वारा प्रकृति के नियमो के अध्ययन से होता है। यह दृष्टिकोण इसाई धर्म-प्रचारको की धारणा से सहमति नही रखता था। टॉमस ने बताया कि विश्वास विवेक का विरोधी नहीं है, वरन् उससे उच्च स्थिति रखता है। इसका आधार ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान है। अत यह दर्शन की अपेक्षा सत्य से अधिक सामीप्य रखता है।

यह उच्चतर विवेक है और इसकी प्राप्ति केवल ईसाइयो को होती है। टॉमस के 'ज्ञान की एकता' के सिद्धान्त के अनुसार विवेक, दर्शन तथा विश्वास ज्ञान-रूपी महल की तीन मजिलें हैं, जिनमे से विवेक उसकी आधारभूत तथा विश्वास शीर्षस्थ मजिल हैं। ये तीनो एक दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हैं। आरम्भ के ईसाई धर्मोपदेशकों के विचारो पर प्लेटो के नैतिकतावादी दर्शन का प्रभाव था। अत सन्त अगस्टाइन के विचारो मे प्लेटो तथा ईसाई धर्म के सिद्धान्तो का सम्मिश्रण है। बाद मे, विशेष रूप से टॉमस ऐक्विना के विचारो म, अरस्तू का प्रभाव होने के कारण उसके विचारो को अरस्तू तथा ईसाई धम का सश्लेषण कहा गया है।[1] टॉमस ने अरस्तूवाद को अपनाकर ईसाई धर्म-शिक्षा को अधिक उदार बनाने का प्रयास किया, ताकि बदलती परिस्थितियों के अन्तर्गत उन्हे अधिक मानवीय एव सामान्यतया ग्राह्य समझा जाये। इसलिए कहा गया है कि 'चर्च को अपनी उत्पत्ति के लिये प्लेटो की, तथा अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये अरस्तू की आवश्यकता थी।'[2] जिस प्रकार अरस्तू के ऊपर विचार पद्धति मे वैविध्य होने के बावजूद प्लेटो का प्रभाव निरन्तर बना रहा, उसी प्रकार टॉमस के ऊपर भी अगस्टाइन का प्रभाव बराबर बना रहा।

राज्य तथा शासन

राज्य—राज्य तथा शासन की उत्पत्ति एव उनके स्वरूप का विवेचन करने मे ऐक्विना अपने पूर्ववर्ती ईसाई धर्म प्रचारको की इस धारणा को अमान्य करता है कि राज्य तथा शासन की उत्पत्ति मनुष्य के पापो का परिणाम है। इस सम्बन्ध मे वह अरस्तूवादी है। ऐक्विना ने कहा है कि मनुष्य स्वभावत एक सामाजिक प्राणी है। अत राज्य निर्माण से पूर्व वह सामाजिक जीवन व्यतीत करता था। चूंकि सामाजिक जीवन का सचालन बिना किसी सगठन के नही हो सकता, अत समाज के सामूहिक हितो की देख-रेख के लिए एक निश्चित सगठन के रूप मे शासन की उत्पत्ति हुई होगी। ऐक्विना की दृष्टि से राजनीतिक समाज एव सत्ता का आधार मनुष्य की सामाजिकता की प्रकृति है और शासन का आधार शासितो के लाभार्थ शासक का उच्चतर विवेक तथा नैतिकता है। उसके मत से प्रकृति का यह नियम है कि श्रेष्ठतर निम्नतरो को उसी प्रकार अपनी अधीनता मे रखते हैं, जिस प्रकार परमात्मा जीवात्मा के ऊपर अपना आधिपत्य रखता है। उत्तम जीवन के लिए समाज या सगठन आवश्यक है। मनुष्य अन्य जीवधारियो की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। उसमे आत्मा तथा विवेक है, जिसके कारण अपने जीवन की जटिल समस्याओ के [illegible] के निमित्त वह साहचर्य एव समुदायगत जीवन को चाहता है। इसीलिए [illegible] की उत्पत्ति मनुष्य की सामाजिकता की प्रवृत्ति के कारण होती है। अरस्तू की [illegible]त टॉमस भी इस बात को स्वीकार करता है कि राजनीतिक सगठन का आधार [illegible] की पारस्परिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा एक-दूसरे के मध्य सेवाओं का

[1] 'Augustinianism is the fusion of Plato and Christianity Thomism is the synthesis of Aristotle and Christianity' —Ebenstein

[2] 'To be born the Church needed Plato, to last, it needed Aristotle'

आदान-प्रदान है। इसीलिए समाज के अन्तर्गत विविध प्रकार के वर्ग इन सेवाओं को सम्पन्न करते हैं। टॉमस चर्च सवास को अन्य सभी सवामों, यहाँ तक कि राज्य से भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम मानता है।

अरस्तू की भाँति टॉमस भी मानता है कि राज्य का उद्देश्य मानवों को उत्तम जीवन प्रदान करना है। उत्तम जीवन से टॉमस का अभिप्राय भी अरस्तू की भाँति सुखी, नैतिक एवं विवेकपूर्ण जीवन से था। इसके लिए शिक्षा-व्यवस्था पर दोनों बल देते हैं। दोनों की दृष्टि में राज्य केवल शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने वाला सगठन नहीं है, वरन् राज्य का उद्देश्य विध्यात्मक भलाई करना है। परन्तु टॉमस के मत से मनुष्य जीवन का उद्देश्य केवल इस ससार में उत्तम जीवन की प्राप्ति करना मात्र नहीं है। मनुष्य अपने जीवन में पूर्णता की प्राप्ति चाहता है। पूर्णता तभी प्राप्त होती है जबकि वह ईश्वर को प्राप्त कर सके, अर्थात् शाश्वत मोक्ष-प्राप्ति मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। अत उसी राज्य को पूर्ण माना जा सकता है जो मनुष्य के इन दोनों लक्ष्यों, इस जीवन में पूर्णता तथा इसके पश्चात मोक्ष-प्राप्ति का उद्देश्य पूर्ण करा सके। इन दोनों उद्देश्यों के निमित्त समाज को राज्य एवं चर्च दोनों सगठनों की आवश्यकता पड़ती है। इनमें से चर्च का दायित्व उच्चतर लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति कराना है, अत चर्च राज्य से श्रेष्ठतर सगठन है।

शासन—टॉमस अपने युग के अन्य विचारकों की भाँति राज्य तथा शासन के मध्य भेद नहीं करता। वह राज्य एवं शासन दोनों को प्राकृतिक सगठन मानता है। उसके मत से दोनों का उद्गम स्रोत ईश्वर है। ऐक्विना के अनुसार, शासक की शक्ति निरकुश नहीं, बल्कि मर्यादित है। शासन एक प्रकार का प्रन्यास है, जिसका दुरुपयोग शासक को नहीं करना चाहिए। शासनों का वर्गीकरण करने में वह अरस्तू के छ अगी वर्गीकरण को स्वीकार करता है, परन्तु राजतन्त्र को वह सबसे उत्तम एवं शासन का सर्वाधिक प्राकृतिक रूप मानता है, जबकि अरस्तू ने वैधानिक जनतन्त्र को सर्वोत्तम माना था। टॉमस का मत है कि शासन का मुख्य कार्य शान्ति तथा एकता को बनाये रखना है। इसलिए राजतन्त्र उत्तम व्यवस्था है, क्योंकि बहुतों द्वारा सचालित शासन विचार-वैविध्य के कारण शान्ति स्थापित करने में सफल नहीं हो पाता। प्रकृति का नियम है कि एक ईश्वर सृष्टि का कर्ता तथा नियामक होता है। यही नियम राज्य के शासक के बारे में भी लागू होता है। टॉमस इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं करता कि अनेक शासक अत्याचारी होते हैं। परन्तु उनके ऊपर क्या अकुश लगाना चाहिए इसका कोई ठोस समाधान प्रस्तुत करने में ऐक्विना सफल नहीं हुआ है। वह कहता है कि इसका एक उपचार तो यह है कि शासक की नियुक्ति अत्यन्त सावधानी से की जानी चाहिए, अत वशानुगत राजतन्त्र की अपेक्षा निर्वाचित राजतन्त्र अच्छी व्यवस्था है। यह एक कानूनी उपचार है, क्योंकि जो जनता शासक को नियुक्त करती है, उसे उसको पदच्युत करने का अधिकार भी है। दूसरा उपाय वह यह बताता है कि शासक की शक्तियों को प्रतिबन्धित (temper) किया जाय। परन्तु इसकी कोई स्पष्ट व्याख्या उसने नहीं की है। वह शासन के मिश्रित स्वरूप को निर्मित करने का सुझाव भी देता है। वह यह भी मानता है कि शासक को

कानून के अनुसार शासन करना चाहिए। ये समस्त उपाय नैतिक या कानूनी मर्यादा के द्योतक हैं। इस पर भी शासक का अत्याचारपूर्ण रवैया बना रहे तो उसका क्या उपाय है? उससे पूर्व सैलिसबरी के जॉन ने अत्याचारी शासक के वध करने की नीति का समर्थन किया था। परन्तु ऐक्विना इसका समर्थन नहीं करता। क्रान्तिकारी प्रतिरोध भी उसे मान्य नहीं है, क्योंकि क्रान्ति द्वारा एक शासक के पदच्युत किये जाने पर दूसरा शासक अधिक अत्याचारपूर्ण रवैया अपनायेगा। साथ ही यदि क्रान्ति असफल रहे तो शासक क्रान्तिकारियों को दबाने के लिए और अधिक अत्याचारी बन जायेगा। अत ऐक्विना यह सुझाव देता है कि अत्याचारी शासक के विरुद्ध जनता को ईश्वर की आराधना करनी चाहिए। इस नैतिक तथा धार्मिक उपचार से अत्याचारी शासक अपने को सुधारने का प्रयास करेगा। ऐक्विना यह भी मानता है कि शान्ति तथा एकता के हित मे अत्याचारी शासन को सहन करना भी उपादेय है।

ऐक्विना के अनुसार शासन का प्रमुख कार्य जनता का सामान्य हित करना है। जनता को सद्गुणयुक्त जीवन प्रदान करना तथा उसमे नैतिकता का विकास करना शासन का मुख्य कार्य है। अत राज्य को शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। सम्पूर्ण समाज मे शान्ति तथा एकता बनाये रखना, लोगों की सम्पत्ति की रक्षा, उनकी मौलिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति, दण्ड तथा पुरस्कार की व्यवस्था, प्रतिरक्षा, यातायात की सुविधा गरीबी का निवारण आदि अनेक विध्यात्मक कार्य राज्य की सरकार को करने चाहिए। इस प्रकार टॉमस शासन के कार्यों के सम्बन्ध मे लोक कल्याणकारी राज्य का आदर्श प्रस्तुत करता है।

कानून

'सभ्यता के भण्डार को मध्य युग की एक महान् देन जन-समूह की परम्परा पर आधारित कानून की सर्वोच्चता की धारणा है।'[1] यहूदी तथा ईसाई यह मानते रहे कि दैवी कानून मानवी कानून से उच्च है। स्टॉइक तथा रोमन धारणा ने कानून की विवेकशीलता के आधार पर उसे विश्व का नियन्ता स्वीकार किया। ट्यूटनो द्वारा स्थापित सामन्तशाही के अन्तर्गत भी परम्परागत कानून को श्रेष्ठ मानने की धारणा बनी रही थी। मध्य युग मे प्रभुसत्ता की धारणा अज्ञात नहीं थी। परन्तु इसका रूप भिन्न था। प्रभुसत्ता विधि दाता की नहीं बल्कि स्वय विधि की मानी जाती थी। ऐक्विना ने भी यह माना है कि शासक को कानून के अनुसार शासन करना चाहिए। उसके काल मे रोमन विधि शास्त्र का पुन अध्ययन होने लगा था। अत ऐक्विना ने कानून का विवेचन करने म अरस्तू के विधि के शासन तथा रोमन विधि की विवेकशीलता की धारणा को अपने धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण से व्यक्त किया है। कानून की परिभाषा करते हुए टॉमस का कहना है कि "कानून सामूहिक

[1] 'The great contribution of Middle Ages to the store of civilization is the conception of supremacy of law based on the custom of the community.'
—Ebenstein.

हित के लिए विवेक का आदेश है, जिसे उस व्यक्ति के द्वारा आज्ञापित किया जाता है जिसके ऊपर जन समूह की देख-रेख का भार है।'[1] टॉमस कानून को सार्वभौम तथा अपरिवर्तनीय प्रकृति का मानता है जिसकी उपेक्षा न तो पोप कर सकता है और न लौकिक शासक। उसने कानून को चार प्रकार का बताया है—

(1) शाश्वत कानून—इसका अभिप्राय दैवी विवेक पर आधारित उन शाश्वत नियमों से है जो सृष्टि का नियमन करते हैं। इन्हें शाश्वत इसलिए कहा गया है कि ईश्वर का विवेक तथा उसके द्वारा विश्व का शासन शाश्वत है।

(2) प्राकृतिक कानून—प्राकृतिक कानून का अभिप्राय शाश्वत कानून में विवेकशील प्राणियों का भागीदार होना है, यह विवेक के वह नियम हैं जिनका उद्गम विवेकशील प्राणियों का शाश्वत कानून में सहभाग है। सृष्टि का नियमन करने वाले शाश्वत नियमों के अन्तर्गत प्रत्येक प्राणी में प्रकृति कुछ प्रेरणाओं की सृष्टि करती है, जिनके द्वारा वह भलाई की खोज तथा बुराई से बचना चाहता है। साथ ही अपनी नैसर्गिक क्षमता के आधार पर अपनी सुरक्षा तथा पूर्णत्व की प्राप्ति करता है। प्रत्येक प्राणी में सामाजिकता, प्रजनन, बच्चों के पालन पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा करने, सत्य की खोज करने, ज्ञान का विस्तार करने आदि की प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत आती है।

(3) दैवी कानून—*मानव का विवेक इतना यथेष्ट नहीं है कि वह उसे सत्य तथा न्याय का समुचित ज्ञान करा सके। अत मानव को इसकी उपलब्धि कराने के लिए दैवी कानून की आवश्यकता पड़ती है, जिसका ज्ञान मानव बाइबिल के माध्यम से* उसम व्यक्त दैवी विधान द्वारा कर सकता है। यह प्राकृतिक कानून के विरुद्ध नहीं है, बल्कि ईश्वर ने प्रकृति को पूर्णता प्रदान करने के उद्देश्य से यह ज्ञान मानव को कराया है जिसका सग्रह धर्म-शास्त्रों में किया गया है।

(4) मानवीय कानून—विविध प्रकार के कानूनों की श्रृखला में यह सबसे निम्न कोटि का कानून है। यह भी विवेक का आदेश है, जिसका उद्देश्य सार्वजनिक हित है। परन्तु इसे जन समूह की रक्षा का भार ग्रहण करने वाले व्यक्ति के द्वारा लागू किया जाता है। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि मानव विवेक दैवी विवेक तथा प्राकृतिक कानून के आदेशों का समुचित ज्ञान करने की क्षमता नहीं रखता। अत मानवीय कानून उसे इस क्षमता की प्राप्ति कराने में सहायक सिद्ध होता है। मानवीय कानून की प्रभावपूर्णता इस बात पर निर्भर करती है कि वह विवेक-सगत हो। प्राकृतिक कानून के अनुरूप होने के लिए उसे सामूहिक हित से सगति रखनी चाहिए। *चूँकि इसका उद्देश्य सामूहिक हित है, अत इसका उद्गम स्रोत या तो जन-समूह की इच्छा होनी चाहिए या ऐसे व्यक्ति की इच्छा जिसके ऊपर जन-समूह की* रक्षा का भार है। इसकी यथार्थता तथा उपादेयता तभी है जबकि इसे लागू किया जाय, अन्यथा केवल तात्विक ज्ञान में इसका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता।

ऐक्विनास कानून को विवेक की उपज मानता है। कानून केवल विवेक ही

[1] 'Law is an ordinance of reason for the Common good, promulgated by him who has the care of a community' —*St Thomas Acquinas*

नहीं, अपितु न्याय की अभिव्यक्ति भी है। न्याय का अभिप्राय प्रत्येक व्यक्ति को उसका समुचित प्राप्य प्रदान करना है। अरस्तू की भाँति ऐक्विना भी न्याय के अर्थ में आनुपातिक समानता पर बल देता है। जो कानून न्याय प्रदान करने में असमर्थ है वह व्यर्थ है। इस दृष्टि से ऐक्विना की कानून सम्बन्धी धारणा विवेक तथा न्याय की अभिव्यक्ति है। कानून का आधार विवेक तथा नैतिकता दोनों हैं, क्योंकि विध्यात्मक (मानवीय) कानून प्राकृतिक कानून के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। कानून का उद्देश्य सार्वजनिक हित है। इस उद्देश्य से रहित कानून की अवज्ञा हो सकती है। कानून का स्रोत जन समूह का विवेक है। उसी के हित में जन-समूह की रक्षा का दायित्व रखने वाला व्यक्ति कानून को आज्ञापित तथा लागू करता है। इस प्रकार कानून में लोकतन्त्री तत्त्व विद्यमान रहते हैं।

राज्य तथा चर्च

राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य संघर्ष के सन्दर्भ में टॉमस ऐक्विना ने धर्मसत्ता की श्रेष्ठता के दावे को स्वीकार किया था। परन्तु अपने पूर्ववर्ती धर्मसत्ता के समर्थकों की अपेक्षा टॉमस ऐक्विना के तर्क अधिक विवेकपूर्ण तथा धार्मिक हठधर्मिता से रहित हैं। उसके मत से राज्य या लौकिक शासन का उद्देश्य मनुष्य को सर्वोत्तम सद्गुणों से युक्त जीवन की उपलब्धि कराना है। परन्तु मानव का ज्ञान तथा विवेक इस उद्देश्य की प्राप्ति करा सकने के लिए अपर्याप्त है। अत लौकिक शासक की सत्ता को सुदृढ करने के लिए धर्मसत्ता का निर्देशन आवश्यक है, जो मानव की आत्मिक पूर्णता के सर्वोच्च उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है। पोप ईसाई चर्च का प्रधान है, अत उसे पाप सम्बन्धी समस्त बातों पर निर्णय देने का अन्तिम अधिकार है। इस दृष्टि से वह लौकिक शासकों की सत्ता के समक्ष उच्चतर स्थिति रखता है। लौकिक सत्ता के आदेशों का पालन करना उसी हद तक यथेष्ट है जहाँ तक कि वे धर्मनिरपेक्ष मामलों में ईसाई राज्य के संचालन की व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हों। परन्तु धार्मिक मामलों में पोप की सर्वोच्च सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

ऐक्विना का कहना था कि ईसाई धर्म की स्थापना हो जाने पर रोम के सम्राटों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था। अत समस्त गैर-ईसाई संगठन का ईसाईकरण हो चुका था। जब रोम का पतन हुआ, तो ईसाई चर्च ही एकमात्र ऐसा संगठन था जिसने जनता की प्राचीन सभ्यता तथा ईसाई धर्म की रक्षा की। रोम के प्राचीन साहित्य, कानून तथा गैर ईसाई समाज के देवी देवताओं की सुरक्षा का दायित्व भी चर्च पर ही रहा है। इस प्रकार चर्च सामाजिक संरचना का ताज है, न कि लौकिक सत्ता का प्रतिद्वन्द्वी। यह लौकिक सत्ता के उद्देश्य का पूरक है। सेबाइन ने कहा है कि यद्यपि ऐक्विना धर्मसत्ता को राजसत्ता से श्रेष्ठता की स्थिति प्रदान करता है और कुछ परिस्थितियों में चर्च के इस अधिकार को भी मान्यता देता है कि वह अवांछनीय लौकिक शासक को पदच्युत करा सके, तथापि राज्य तथा चर्च के मध्य सम्बन्धों के बारे में वह एक उदार दृष्टिकोण रखते हुए अपने को

'गिलेशियन परम्परा के अन्तर्गत' ही मानता है।' इसका यह अर्थ है कि वह दोनो सत्ताओ को अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत पूर्ण मान्यता देता है। यद्यपि चर्च का दायित्व लौकिक सत्ता को पूर्णता प्रदान करना है, तथापि ऐक्विना यह नही मानता कि इसका अभिप्राय लौकिक मामलो मे शासक की शक्ति को कम करना है। उसने कहा है कि 'लौकिक सत्ता उसी रूप मे धार्मिक सत्ता के अधीन है जिस रूप मे शरीर आत्मा के अधीन रहता है। अत यदि कोई आध्यात्मिक अधिकारी ऐसे लौकिक मामलो मे हस्तक्षेप करता है जिनमे लौकिक सत्ता आध्यात्मिक सत्ता के अधीन है तो इसे शक्ति छीनना नही कहा जा सकता।'

मूल्यांकन तथा प्रभाव

राजनीतिक विचारधाराओ के प्रतिपादन मे टॉमस ऐक्विना न केवल अपने युग का ही महानतम विचारक है, बल्कि अरस्तू के पश्चात् वही एक महान् विचारक होने की स्थिति पा सकता है। उसने अपने दर्शन मे अपने पूर्ववर्ती विचारको की धारणाओ को शामिल करके उन समस्त विचारधाराओ को एक एकाकी पद्धति का रूप प्रदान किया है। उसका राजनीतिक दर्शन प्लेटो तथा अरस्तू को छोडकर न केवल अपने पूर्वगामी अन्य सभी विद्वानो के दर्शन से सर्वोत्कृष्ट है, बल्कि अपने पश्चात् के समस्त मध्ययुगीन विचारको के दर्शन से भी सर्वोत्कृष्ट है। एम० बी० फॉस्टर ने उचित ही कहा है कि 'वह मध्ययुगीन चिन्तन की समग्रता का प्रतिनिधित्व करता है, जैसा कि अकेले कोई अन्य नही कर पाया।'[1] उसके विचारों मे तेरहवी सदी के ज्ञान के नव जागरण की समस्त विशेषताएँ पायी जाती है। प्लेटो तथा अरस्तू का अध्ययन, स्टाइक तथा रोमन विधि-शास्त्र का अध्ययन तथा उनके निष्कर्षो का तत्कालीन ईसाई धर्म शिक्षा के साथ समन्वय करना, इन सभी कार्यों मे ऐक्विना ने अतीव सफलता प्राप्त की है। उसने न केवल पूर्ववर्ती ज्ञान को सुव्यवस्थित किया, अपितु उस पर पुन चिन्तन किया और अपने चिन्तन के आधार पर उसे सुव्यवस्थित करके क्रमबद्धता प्रदान की है। इस दृष्टि से अरस्तू के पश्चात् राजनीतिक विचारधाराओ का क्रमबद्ध दार्शनिक चिन्तन करने की परम्परा मे लगभग डेढ हजार वर्ष तक जो गतिरोध उत्पन्न हो गया था उसे टॉमस ऐक्विना ने समाप्त करके पुन उस परम्परा को जागृत किया।

राजनीतिक चिन्तन मे अरस्तू के प्रकृतिवाद की परम्परा को ईसाई धर्म के सिद्धान्तो के साथ संयुक्त करके और उनमे रोमन विधि का समावेश करके ऐक्विना ने राजनीतिक चिन्तन को यूनानी, रोमन तथा ईसाई धर्म की विचारधाराओ का सुन्दर समन्वय दिया है। उसके दर्शन मे राजनीतिक विचारधाराएँ पुन नीतिशास्त्र विधिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र का सम्मिश्रण बन गयी। सेबाइन ने कहा है कि ऐक्विना के दर्शन का उद्देश्य ईश्वर, प्रकृति तथा मानव की एक ऐसी विवेकपूर्ण योजना की खोज करना था, जिसमे समाज तथा नागरिक सत्ता अपना समुचित स्थान

[1] 'Thomas Acquinas represents, as none other singly does the totality of Medieval thought'—M B Foster

प्राप्त कर सकें ।'

ऐक्विना के दर्शन ने तत्कालीन चिन्तन तथा व्यवहार को प्रभावित करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है । उसकी अल्पायु मे मृत्यु मध्ययुगीन ज्ञान के क्षेत्र मे महान् क्षति सिद्ध हुई । टॉमस को एक सन्त कहलाने की श्रेणी उसकी मृत्यु के 50 वर्ष उपरान्त प्राप्त हुई । यह इस बात को सिद्ध करता है कि उसके दर्शन का प्रभाव वर्षों तक बना रहा । इसके उपरान्त चर्च ने सरकारी तौर से उनकी शिक्षाओ को मान्यता प्रदान की । आज तक अनेक पोप टॉमसवाद को धर्म-शिक्षा तथा विश्वासिता के निमित्त प्रामाणिक मानते आये हैं । पोप लुई त्रयोदस ने उसकी शिक्षाओ को कैथोलिक चर्च की 'आधारभूत सरक्षक तथा यश' (pre-eminent guardian and glory) घोषित किया था और यह आज्ञा जारी की थी कि समस्त शिक्षा सस्थाओं तथा अकादमियो के पाठ्यक्रमो मे उसका समावेश किया जाय ।

उसके राजनीतिक विचारो का प्रभाव भी कम नहीं है । उसकी मानवीय तथा प्राकृतिक कानून की धारणा को सत्रहवी शताब्दी मे लॉक ने अपनाया । टॉमस की भाँति लॉक ने भी यह बताया है कि शासक उसी भाँति विवेक तथा न्याय के अधीन है जिस प्रकार प्रजा, और विध्यात्मक कानून के ऊपर शासक की शक्ति का स्रोत कानून या प्राकृतिक कानून से सगति रखना है । राजनीतिक विचारधाराओ के प्रतिपादन मे टॉमस की वैज्ञानिक पद्धति ने उन्हे पर्याप्त स्थायित्व प्रदान किया है। गैटल ने कहा है कि 'उसकी रचनाओ मे राजनीति पुन एक विज्ञान के रूप मे परिणत हो गयी थी । यद्यपि उसकी पद्धति विशुद्ध रूप से मध्ययुगीन थी, तथापि वह अगस्टाइन तथा बाइबिल के द्वारा परिमार्जित अरस्तू तथा सिसरो की राजनीति थी ।'

पांचवां अध्याय

मारसीलियो ऑफ पैडुवा

(1270 ई० से 1342 ई०)

पोप की शक्ति का ह्रास

मध्ययुगीन यूरोप मे राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य पारस्परिक उच्चता सम्बन्धी विवाद के अन्तर्गत ग्यारहवी तथा बारहवीं शताब्दियो मे पोप का पक्ष सुदृढ रहा। इसका मुख्य कारण पोप ग्रेगरी सप्तम, पोप इन्नोसेन्ट तृतीय एव पोप बोनीफेस अष्टम के प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा उनके समर्थको के विचार थे। इस सत्ता-सघर्ष के काल मे दोनो पक्षो की ओर से जो विचार रखे गये उनका उद्देश्य यही था कि सम्पूर्ण ईसाई समाज का एक साम्राज्य स्थापित किया जाय जो पोप अथवा सम्राट की सर्वोच्च सत्ता के अधीन रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति पोप के दावे को सर्वोच्च मान लेने से सम्भव नहीं थी। पोप तथा चर्च की गतिविधियाँ तथा आचरण ईसाई समाज की एकता के मार्ग म बाधक सिद्ध हो रहे थे। विविध देशो मे राष्ट्रीय शासक अपने राज्यो को सुदृढ बनाते जा रहे थे। इटली के कवि दान्ते ने पोप की सर्वोच्चता के दावे को न मानकर यह योजना रखी थी कि इटली के सम्राट की सर्वोच्च सत्ता के अधीन एक सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना की जाय। पोप तथा सम्राट के मध्य छिडे इस सत्ता-सघर्ष म पोप को राजाओ की सहायता पर निर्भर रहना था। सामन्तशाही व्यवस्था के अन्तर्गत चर्चो के बिशप राजाओ के अधीन थे। पोप तथा सम्राट दोनो के समर्थको के एक सार्वभौम ईसाई राज्य की स्थापना के स्वप्नो को साकार करने की धारणा के मार्ग मे सबसे महान् बाधा इन राजाओ द्वारा राष्ट्रीय आधार पर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का प्रयास थी। इग्लैण्ड तथा फ्रास के राजाओ ने सामन्तशाही की समाप्ति करने की दिशा मे कदम उठा भी लिये थे।

पोप की सत्ता का ह्रास होने की स्थिति पोप बोनीफेस अष्टम तथा फ्रास के सम्राट फिलिप चतुर्थ के मध्य सघर्ष से उत्पन्न हुई। यह सघर्ष उसी रूप मे प्रारम्भ हुआ जिस रूप मे ग्यारहवी शताब्दी मे ग्रेगरी सप्तम तथा हेनरी चतुर्थ के मध्य सघर्ष उत्पन्न हुआ था। इसमे पोप बोनीफेस को मुँह की खानी पडी। सघर्ष प्रारम्भ होने के थोड ही समय बाद उसकी मृत्यु हो गयी थी और उसके उत्तराधिकारी अत्यन्त निर्बल सिद्ध हुए थे। चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे फिलिप ने पोप की राजधानी रोम स हटाकर फ्राम के ऐवीनन (Avignon) नामक स्थान पर बनवा लेने मे सफलता प्राप्त कर ली। इसका परिणाम यह हुआ कि पोप सम्राट के दबाव

में आ गया। कई वर्षों तक यही स्थिति बनी रही। इस अवधि में दान्ते, पेरिस के जॉन पीरी डुबॉइस आदि ने पोप की सत्ता के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त किये थे। परन्तु इस सम्बन्ध में पैडुवा के मारसीलियो तथा उसके समकालीन ओखम के विलियम ने जो विचार रखे थे, वे अधिक विवेकयुक्त तथा प्रभावशाली थे। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मारसीलियो का विशेष महत्त्व है।

मारसीलियो का परिचय

मारसीलियो इटली का निवासी था। वह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था। उसने विविध क्षेत्रों में ज्ञान अर्जित किया था। वह प्रारम्भ में चर्च से सम्बद्ध था, और मिलन के चर्च का आर्कबिशप रह चुका था। बाद में वह पेरिस के विश्वविद्यालय का रेक्टर भी रहा। वह एक चिकित्सक भी था। एक बार उसने सैनिक सेवा भी की थी। बाद में पैडुवा (इटली) के चर्च द्वारा उसे कैनन नियुक्त किया गया। फ्रांस में रहते हुए एवीनान के पोप से भी उसका सम्पर्क हुआ और पोप की गतिविधियों से उसे घृणा हो गयी। बाद में वह बवेरिया के सम्राट लुई चतुर्थ का दरबारी भी बना। इस प्रकार मारसीलियो को जीवन के विविध क्षेत्रों शैक्षिक, चिकित्सा, धर्म, राजनीति आदि का व्यावहारिक अनुभव हो चुका था। पेरिस के विश्वविद्यालय में उस युग में ज्ञान का नवजागरण हो रहा था। मारसीलियो पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उसने अरस्तू का अध्ययन किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि केवल एक ईसाई राज्य ही, जैसी कि मध्य युग में एक आम धारणा थी, उत्तम जीवन प्रदान करने वाला सच्चा राज्य नहीं हो सकता। धर्मनिरपेक्ष राज्य भी इस उद्देश्य की प्राप्ति करा सकता है। पेरिस के विश्वविद्यालय में उसका सम्पर्क एक अन्य विद्वान् जण्डन के जॉन के साथ हुआ। ऐसा कहा जाता है कि मारसीलियो ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'डिफेंसर पेसिस' जण्डन के जॉन के सहयोग से लिखी थी। उसका दूसरा ग्रन्थ 'डिफेंसर माइनर' है। मारसीलियो के राजनीतिक विचारों का ज्ञान उसके 'डिफेंसर पेसिस' के अध्ययन से होता है। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। प्रथम में वह राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप आदि का, द्वितीय में राज्य तथा चर्च के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करता है और तृतीय में इनके सम्बन्ध में अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करता है।

राज्य-विषयक धारणाएँ

राज्य का स्वरूप—राज्य के सम्बन्ध की विविध धारणाओं को मारसीलियो अरस्तू की भाँति व्यक्त करता है। उसी की भाँति वह पर्यवेक्षण तथा प्रयोग की पद्धति से अपने निष्कर्ष निकालता है। वह इन धारणाओं का केवल निगमनात्मक तथा चिन्तनात्मक विवेचन नहीं करता है। अरस्तू की भाँति मारसीलियो भी राज्य को एक जीव-सावयव की भाँति मानता है जिसकी उत्पत्ति परिवार से होती है। राज्य एक नैसर्गिक संगठन है, जिसके विविध अंग उसके साथ सावयव के अंगों की भाँति हैं और प्रत्येक अंग समन्वयात्मक प्रक्रिया द्वारा एक दूसरे के लिए तथा सम्पूर्ण के लिए कार्य करता है। इन अंगों को अरस्तू की भाँति ही मारसीलियो भी विविध

सामाजिक वर्गों (कृषक, शिल्पी, सैनिक, पुजारी तथा प्रशासकों) के रूप में मानता है। अरस्तू की भाँति मारसीलियो भी जनता को 'उत्तम जीवन' की प्राप्ति कराना राज्य का मुख्य उद्देश्य मानता है। राज्य-सावयव के विविध अंग मनुष्य की विविध आवश्यकताओं के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं और सम्पूर्ण को आत्म-निर्भर जीवन प्रदान करने के निमित्त वे मानव की सामुदायिकता की प्रवृत्ति के आधार पर पारस्परिक सहयोग से कार्य करते हैं। इस दृष्टि से राज्य का आदर्श लोक-कल्याणकारी है। अपने इस आदर्श तथा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राज्य को किसी भी प्रकार के बाह्य नियन्त्रण से मुक्त रहना चाहिए। मारसीलियो के मत से मनुष्य स्वार्थी तथा उग्र स्वभाव का होता है। अतः सामाजिक जीवन में उसकी ऐसी प्रकृति का दमन करने के लिए मारसीलियो के मत से राजनीतिक समाज की श्रेष्ठता शान्ति चाहती है। इसके लिए सहयोग आवश्यक है। सहयोग के लिए न्याय तथा कानून की आवश्यकता पड़ती है। राज्य का उद्देश्य उत्तम जीवन की प्राप्ति है। उत्तम जीवन से मारसीलियो का अभिप्राय नागरिक सुख (civil happiness) है। वह विवेक पर आधारित है, न कि विश्वास पर। मानव प्रकृति से एक सामाजिक प्राणी है। अतः राज्य की उत्पत्ति मानवों की सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है। अतः राज्य को आत्म-निर्भर होना चाहिए। उसमें यह क्षमता होनी चाहिए कि वह अपने सदस्यों को भौतिक तथा नैतिक उत्तमता प्रदान कर सके।

शासन का स्वरूप तथा वर्गीकरण—मारसीलियो राज्य तथा शासन के मध्य भेद करता है। शासन संगठनों का वर्गीकरण करने में वह अरस्तू की परम्परा को अपनाता है। शासन के उत्तम रूप शाही राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा वैधानिक जनतन्त्र हैं। उनके विकृत रूप क्रमशः अत्याचारीतन्त्र, वर्गतन्त्र तथा तानाशाही भीड़तन्त्र हैं। वर्गीकरण का एक आधार विभिन्न प्रकार के शासनों में शक्ति धारण करने वाले व्यक्तियों की संख्या है। परन्तु दूसरे आधार के सम्बन्ध में मारसीलियो अरस्तू की भाँति 'राज्य के उद्देश्य' को कसौटी नहीं मानता। उसके मत से उत्तम तथा विकृत रूपों में भेद करने की कसौटी 'शासन-संचालन की विधि' है। इससे मारसीलियो का अभिप्राय यह है कि जिस शासन-व्यवस्था में शासक जनता के सामूहिक हितों का ध्यान रखते हुए जनता की इच्छा के अनुसार शासन करते हैं वह शासन का उत्तम रूप है और जिसमें शासक जनता की राय के बिना शासन करते हैं, वह शासन का विकृत रूप है। इस दृष्टि से शासन साध्य नहीं अपितु साधन है। साध्य है लोक-कल्याण। शासनों के वर्गीकरण करने की इस कसौटी का एक निष्कर्ष यह भी है कि मारसीलियो जनता की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करता है।

शासन-संगठन—मारसीलियो लोक प्रभुसत्ता की धारणा को स्वीकार तो करता है, परन्तु वह शासन के सम्बन्ध में लोकतन्त्र का समर्थक नहीं है। उसकी दृष्टि से जनता के प्रति उत्तरदायी निर्वाचित राजतन्त्र सबसे अच्छी शासन व्यवस्था है। शासन के दो प्रकार के कार्य होते हैं विधायी तथा प्रशासनिक। प्रशासनिक कार्यों का दायित्व राजा पर तथा विधायी कार्यों की अन्तिम सत्ता जनता के हाथ में है। मारसीलियो यह भी मानता है कि विधि-निर्माण एक जटिल एवं प्राविधिक प्रक्रिया

है। अत यह कार्य विशेषज्ञो को करना चाहिए। परन्तु उन पर अन्तिम स्वीकृति जनता द्वारा दी जानी चाहिए। इस प्रकार शासन सगठन के तीन अग होगे—

(1) जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिध्यात्मक सभा,

(2) जनता द्वारा निर्वाचित तथा जनता एव जन-प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी कार्यपालिका, तथा

(3) प्रशासक के रूप मे मर्यादित राजतन्त्र, जो विधि का निर्माता न होकर उसका निर्वक्ता एव सरक्षक होगा।

कानून—अरस्तू, रोमन तथा मध्ययुगीन परम्पराओ का अनुसरण करते हुए मारसीलियो भी राजनीतिक समाज के निमित्त कानून की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाता है। परन्तु वह कानून को राज्य की तुलना मे उच्च स्थान नही देता। उसकी दृष्टि से कानून राज्य का निर्माण नही करता अपितु राज्य कानून का निर्माता है। कानून की परिभाषा करते हुए मारसीलियो का कथन है कि 'कानून विधायक का बल प्रवर्ती आदेश है जिसका परिपालन न्यायालयो द्वारा कराया जाता है।'[1] मारसीलियो द्वारा दी गयी कानून की यह परिभाषा मध्य युग के अन्य विचारको की धारणा से भेद रखती है, क्योकि वे कानून को सामूहिक हित के निमित्त 'विवेक का आदेश' मानते थे। इस दृष्टि से मारसीलियो मध्ययुगीन प्राकृतिक कानून की परम्परागत एव भावात्मक धारणा से विलग हो जाता है और उसके स्थान पर आधुनिक युगीन विध्यात्मक कानून की धारणा को मान्य करता है। मारसीलियो 'विधायक' शब्द का प्रयोग 'सामूहिक रूप से जनता' के लिए करता है। भले ही समस्त जनता कानून का निर्माण करने मे पहल नही करती, तथापि प्रस्तावित कानून के गुण-दोषो का परीक्षण वही अच्छी तरह से कर सकती है। इस सम्बन्ध म मारसीलियो अरस्तू के इस तर्क का समर्थन करता है कि मानवो का सामूहिक विवेक एक या थोडे से व्यक्तियो के विवेक से उच्चतर होता है। चूंकि कानून जनता पर लागू होता है और उसका लाभ या हानि जनता को उठानी पडेगी, अत कानून की अन्तिम स्वीकृति जनता को ही देनी चाहिए। व्यावहारिक तथा उपयोगिता की दृष्टि मे भी यह बात ठीक सिद्ध होती है। जनता द्वारा स्वीकृत कानून को लागू करने मे कठिनाइयाँ नही आयेंगी, क्योकि उसे जनता ने स्वय स्वीकार किया है, अत उसके द्वारा उसकी अवज्ञा करने के बहुत थोडे ही अवसर आ सकते हैं। यह बात शान्ति के लिए भी आवश्यक है। जनता उस कानून को मानने मे अपना नैतिक दायित्व समझेगी। इसके द्वारा कानून का स्वरूप भी उत्तम होगा क्योकि जब जनता कानून को स्वय पारित करती है, तो वह अपने लिए अहितकर बातों का उसम समावेश नहीं करेगी। कोई भी व्यक्ति स्वय अपने को हानि पहुँचाने वाला कार्य नहीं करता। एक या थोडे से व्यक्तियो द्वारा निर्मित कानूनो मे जनहित की उपेक्षा तथा विधि निर्माताओ के व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना अधिक हो सकती है। मारसीलियो यह भी मानता है कि व्यक्ति स्वार्थी होता है, परन्तु जब सब लोग सामूहिक रूप से किसी बात पर निर्णय

[1] 'Law is the coercive command of the Legislator enforceable by the courts'

लेते हैं तो उस प्रक्रिया मे व्यक्तियों के निजी स्वार्थ आम जनता के हितो से दब जाते हैं। सामूहिक रूप से कार्य करते हुए जनता अधिक विवेकपूर्ण होती है। विधि-निर्माण की अन्तिम शक्ति जनता के हाथ में मानने के साथ-साथ मारसीलियो शासको के ऊपर भी जन शक्ति की मर्यादा आरोपित करता है। इसीलिए वह राजा, कार्यपालिका एव प्रतिनिधि सभा सभी को जनता द्वारा निर्वाचित एव जनता के प्रति उत्तरदायी मानने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

कानून के भेद—कानून का विवेचन करते हुए मारसीलियो मध्ययुगीन धारणाओ का पूर्णतया परित्याग भी नही करता। मध्य युग के विचारक कानून को विवेक का आदेश कहते थ और उसका उद्देश्य सामूहिक हित मानते थे। मारसीलियो इन धारणाओ का विरोध नही करता। परन्तु वह कानून-निर्माण मे भावनामूलक विवेक के सिद्धान्त को अस्वीकार करके उसे विध्यात्मक स्वरूप प्रदान करता है। कानून को वह विधायक (जनता या उनके गुरुत्वपूर्ण अग) का बल प्रवर्ती आदेश कहता है। इसमे विवेक तथा सामूहिक हित की भावना अन्तर्निहित है। मारसीलियो शाश्वत, प्राकृतिक तथा दैवी कानून की धारणाओ का निषेध भी नही करता। उसने कानून के दो भेद बताये हैं (1) दैवी, तथा (2) मानवीय। दैवी कानून ईश्वर का प्रत्यक्ष आदेश है, जो यह निर्धारित करता है कि इस जन्म तथा अगले जन्म मे मनुष्य जीवन के उच्चतम हित की प्राप्ति के लिए कौन-सा कार्य करना चाहिए और कौन-सा नही। ऐसे कानून का उल्लघन करने पर जो दण्ड व्यक्ति को दिया जायेगा, उसे इस ससार की कोई मानव सत्ता नही दे सकती। बल्कि ऐसा दण्ड स्वय ईश्वर के द्वारा अगले जन्म मे दिया जायेगा। मारसीलियो की यह धारणा स्पष्टतया चर्च के इस दावे के विरोध मे व्यक्त की गयी है कि दैवी कानून का निर्वचन करने तथा उसकी अवज्ञा करने पर दण्ड देने का अधिकार चर्च को है। मारसीलियो के मत मे इस ससार मे अपराधियों को किसी भी प्रकार का दण्ड देने की शक्ति चर्च या चर्च के अधिकारियो को नही प्राप्त होनी चाहिए। ऐसा अधिकार तो केवल लौकिक सत्ता को प्राप्त है जो मानवीय कानून की अवज्ञा करने पर दण्ड देने का अधिकार रखती है। इस प्रकार मारसीलियो चर्च द्वारा किसी भी रूप मे बल-प्रवर्ती शक्ति का प्रयोग किये जाने की धारणा का विरोध करता है। उसके मत मे दैवी कानून शाश्वत तथा प्राकृतिक कानून के रूप मे हो सकता है। मानवीय कानून को वह 'समस्त जनता अथवा उसके 'गुरुत्वपूर्ण अग' (weightier part) का आदेश' कहता है, जो यह निर्धारित करता है कि इस ससार म जीवन के उच्चतम उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त कौनसे कार्य किए जाने चाहिए और कौन-से नही। 'गुरुत्वपूर्ण अग' शब्द का प्रयोग करते हुए वह इसकी स्पष्ट व्याख्या नही करता। अत आलोचको ने इसके कई अर्थ लगाये हैं, यथा बहुमत की स्वीकृति, या कुछ योग्य तथा विशेषज्ञ जनो की स्वीकृति, या राज्य मे विविध स्वार्थों से युक्त गुटो, निगमो तथा सघों को उनकी सदस्य-सख्या व महत्त्व की दृष्टि से गुरुत्व प्रदान करना, आदि। ऐसे कानून का उल्लघन करने वालो को विधायक द्वारा निर्मित विधि के अनुसार राज्य की निर्वाचित सत्ता ही दण्ड दे सकेगी। चर्च या उसके अधिकारियो (पोप, बिशप आदि) को ऐसी शक्ति प्राप्त नही है।

मारसीलियो का राज्य, सरकार तथा कानून के स्वरूपों का विवेचन उसके राजनीतिक विचारों को एक नया रूप प्रदान करता है जैसा मध्ययुगीन विचारकों की धारणाओं में नहीं पाया गया है। यद्यपि ऐसी कुछ धारणाएँ पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों से मिलती जुलती हैं, तथापि कानून निर्माण एवं राज्य की प्रभुत्व शक्ति के लोकतन्त्रात्मक स्वरूप को मारसीलियो ने पर्याप्त स्पष्टता दी है। उससे पूर्व लोक प्रभुसत्ता की धारणा को इतनी अधिक स्पष्टता के साथ अन्य किसी विचारक ने प्रस्तुत नहीं किया था। मारसीलियो के राजनीतिक विचारों का विशेष महत्व उसके द्वारा राज्य तथा चर्च के सम्बन्धों का निर्धारण करने के कारण है। डिफेंसर पैसिस का दूसरा भाग इसी उद्देश्य से लिखा गया था।

मारसीलियो ने अपने अनुभवों से चर्च तथा पोप के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकाले थे कि ईसाई समाज के अन्तर्गत समस्त संघर्षों तथा मतभेदों का कारण पोप तथा उसके द्वारा स्वयं अपनी प्रभुत्व-सम्पन्न शक्ति का दावा करना है। मारसीलियो को चर्च की बढ़ती हुई सम्पत्ति तथा चर्च अधिकारियों और पोप के द्वारा लौकिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति से घृणा थी। उसका मत था कि चर्च मानव के आध्यात्मिक उद्देश्यों को सम्पन्न करने वाली संस्था मात्र है, अतः उसके पास अतुल भौतिक सम्पत्ति का होना अवांछनीय है। इसके कारण पोप तथा चर्च अधिकारियों में भौतिकतावादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ है और समूचे यूरोप की अशान्ति का यही एकमात्र कारण है।

मारसीलियो का दावा था कि चर्च राज्य के एक प्रशासनिक विभाग से अधिक और कुछ नहीं है। अतः नागरिक सरकार को उस विभाग के संगठन एवं प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का पूरा अधिकार प्राप्त रहना चाहिए। मारसीलियो ने निर्वाचित राजतन्त्र, निर्वाचित प्रतिनिधि सभा तथा लोक प्रभुसत्ता के सिद्धान्तों को चर्च पर भी लागू किया। उसने बताया कि पोप किसी भी अर्थ में चर्च के ऊपर एक दैवी सत्ता के रूप में नहीं है। चर्च स्वयं एक निगमात्मक संस्था है। उसकी सर्वोच्च सत्ता चर्च में विश्वास करने वाले समस्त व्यक्तियों के हाथ में है। अतः समूचे ईसाई जन-समूह को अपनी एक प्रतिनिध्यात्मक संस्था (सामान्य चर्च परिषद्) का निर्वाचन करना चाहिए, जिसमें चर्च का प्रबन्ध करने वाले अधिकारी एवं जनसाधारण दोनों का प्रतिनिधित्व हो। यही परिषद् पोप का निर्वाचन करेगी और पोप इसके प्रति उत्तरदायी होगा। इस प्रकार मारसीलियो के अनुसार चर्च विशुद्ध रूप में एक मानवीय संस्था है। इसका मुख्य कार्य मानवों को आध्यात्मिक शिक्षा देना है। चर्च अधिकारी ऐसे हकीमों की भाँति हैं जो अपने रोगियों को सलाह दे सकते हैं, परन्तु सलाह न मानने वालों को अपनी सलाह मानने के लिए विवश नहीं कर सकते। यदि अविश्वासिता कोई अपराध हो तो उसका दण्ड देने का अधिकार उन्हें नहीं है, क्योंकि ऐसा अपराध दैवी कानून का उल्लंघन माना जायेगा, जिसका दण्ड अगले जन्म में ईश्वर ही दे सकता है न कि कोई मानवीय संस्था। चर्च के नियमों का उल्लंघन

करने पर व्यक्ति को धर्म-बहिष्कृत किया जा सकता है। परन्तु धर्म-बहिष्कृत होना व्यक्ति की राज्य की सदस्यता पर कोई प्रभाव नहीं डालता। स्वय राज्य किसी व्यक्ति को धर्म या चर्च पर विश्वास रखने के लिए बाध्य नही कर सकता। परन्तु यदि उसका ऐसा आचरण नागरिक कानून का उल्लघन करने वाला सिद्ध होगा तो राज्य की सत्ता उसे दण्ड देगी। धार्मिक अविश्वासिता किसी भी अर्थ मे नैतिक या नागरिक अपराध नही है।

सामान्य चर्च परिषद् चर्च के प्रशासन तथा कार्य-विधियों का नियमन करने के लिए नियम बनायेगी और पोप तथा विशप उनके अनुसार कार्य करेंगे। इसी परिषद् को पोप तथा बिशपो की नियुक्ति करने तथा पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त होगा। चर्च की सम्पत्ति सार्वजनिक सम्पत्ति है। उसकी रक्षा का दायित्व लौकिक शासको पर है। अत वे इस पर करारोपण कर सकते हैं। मारसीलियो का मत है कि चर्च के पास उतनी ही सम्पत्ति रहनी चाहिए जो कि चर्च सगठन के सचालन तथा चर्च द्वारा किये जाने वाले धर्मार्थ कार्यों के लिए आवश्यक हो। यदि चर्च के पास इससे अधिक सम्पत्ति है तो लौकिक सत्ता उसका विनियोजन करके लोक-कल्याण तथा जनता की सुरक्षा के कार्यों म व्यय करने की अधिकारी है। यदि चर्च अधिकारी भ्रष्ट आचरण करें तो वह नागरिक कानून के अन्तर्गत अपराध माना जायेगा और लौकिक सत्ता ऐसे अपराधियो को दण्ड देगी। धार्मिक मामलो मे धर्म-शास्त्रो के नियम अन्तिम तथा प्रामाणिक माने जाने चाहिए न कि पोप या चर्च द्वारा जारी किये गये नियम (Canon law) या आज्ञप्तियाँ। दैवी कानून का निर्वचन करने की शक्ति पोप के स्थान पर सामान्य चर्च परिषद् को प्राप्त होनी चाहिए। राज्य तथा चर्च के मध्य सम्बन्धो का विवेचन करने मे मारसीलियो मध्ययुग का सबसे पहला ऐसा विचारक है जिसने न केवल चर्च को पूर्णतया राज्य क अधीन माना, प्रत्युत् चर्च को मानवीय सगठन बताया और उसके सचालन म जनता की प्रभुत्व शक्ति का समर्थन किया और इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष राजनीति का मार्ग प्रशस्त किया। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि मारसीलियो की चर्च सुधार की धारणा अस्पष्ट ही रही। उसने इस बात का कोई स्पष्ट समाधान प्रस्तुत नही किया कि चर्च सगठन सार्वभौम ईसाई समाज का होगा अथवा विभिन्न राजनीतिक समाजों के विभिन्न चर्च होगे।

मारसीलियो के राजनीतिक विचारो का मूल्याकन तथा प्रभाव

सम्पूर्ण मध्य युग मे जिसकी अवधि लगभग 1000 वर्ष की मानी जाती है, यूरोप म केवल दो विचारक ऐसे हुए हैं जिन्हे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास म महान् होने की श्रेणी प्राप्त हो सकती है। वे हैं टामस ऐक्विना और मारसीलियो। इन दोनो विचारको का राजनीतिक चिन्तन तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी क ज्ञान तथा विद्या के नवजागरण काल म यूनानी दार्शनिक अरस्तू की राजनीति से प्रभावित था। टामस की विचारधाराएँ ईसाई धर्म के प्रभाव से भरी होने के कारण धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक चिन्तन का रूप नही ले सकीं। इसके विपरीत मारसीलियो

यद्यपि चर्च से सम्बद्ध रहा था, तथापि राजनीतिक चिन्तन मे उसने पूर्णतया धर्म-निरपेक्षता का मार्ग अपनाया है। इतना ही नही, उसने तो यह अनुभव किया कि राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति मे तत्कालीन ईसाई चर्च तथा पोप की गतिविधियाँ सबसे महान् बाधा थी। अत सत्ता-सघर्ष के युग मे उसने पोपशाही का डटकर विरोध किया और चर्च के सगठन तथा प्रशासन मे सुधार लाने की व्यवस्था भी सुझायी। अत जहाँ टॉमस ऐक्विना ने अरस्तूवाद को अपनाकर राजनीतिक सत्ता को धर्म के अधीन रखा, वहाँ मारसीलियो ने धर्मसत्ता को पूर्णतया राजनीतिक सत्ता के अधीन रखकर अरस्तू के राजनीतिक आदर्श को धर्मनिरपेक्षता के साथ अपनाया और अपने को मध्य युग का अरस्तू बनाने का श्रेय प्राप्त किया।

मारसीलियो की विचारधारा मे लोक प्रभुसत्ता की धारणा उसका मौलिक तथा केन्द्रीय विचार है। यह धारणा इस बात को प्रदर्शित करती है कि मारसीलियो नगर राज्यीय राज्य-व्यवस्था का समर्थक था। वह मध्य युग के सार्वभौमिकतावाद की प्रवृत्ति का समर्थन नही करता। वह न तो धर्मसत्ता के समर्थको की भाँति पवित्र रोमन साम्राज्य के रूप के पोप की प्रभुसत्ता से युक्त एक सार्वभौम ईसाई विश्व राज्य की कल्पना करता है और न दान्ते की भाँति एक सम्राट के अधीन ईसाई जगत् के विश्व साम्राज्य की कल्पना करता है। उसके मत मे राज्य व्यवस्था का सर्वोत्तम आदर्श 'शान्ति' है और राज्य का सबसे महान् उद्देश्य 'उत्तम जीवन' की प्राप्ति कराना है। राज्य तथा चर्च दोनो को क्रमश भौतिक तथा आत्मिक शान्ति प्राप्त कराने का उद्देश्य रखना चाहिए। इनकी प्राप्ति के निमित्त मारसीलियो की विचारधारा मे राष्ट्रीयता एव धर्मनिरपेक्षता की धारणाएँ विद्यमान थी। राज्य तथा चर्च स्वय साध्य नही, अपितु मनुष्य को उत्तम जीवन प्रदान कराने के साधन हैं। धर्म का अभिप्राय मनुष्य तथा उसके ईश्वर के मध्य निजी सम्बन्धों का आधार प्रस्तुत करके मनुष्य को नैतिकता की शिक्षा प्रदान करना है। धर्म का उद्देश्य केवल आध्यात्मिकता नही है बल्कि उसका सामाजिक महत्त्व भी है। इसलिए सामाजिक शान्ति के हित मे राज्य को ही धर्म का नियमन करना चाहिए। इस दृष्टि से नैतिक तथा धार्मिक सस्थाओ के ऊपर भी जनता का नियन्त्रण बना रहना चाहिए। इन धारणाओं को अपने राजनीतिक चिन्तन मे प्रमुख स्थान देकर मारसीलियो ने अपने दर्शन को मध्ययुग की विचारधारा से मुक्त करने का प्रयास किया।

मारसीलियो ने विध्यात्मक कानून की धारणा को भी स्पष्टता प्रदान करने का प्रयास किया। उसकी मानवीय कानून की धारणा को आधुनिक अर्थ मे विध्यात्मक कानून ही माना जा सकता है। यद्यपि मारसीलियो के दर्शन मे अरस्तूवाद तथा आधुनिकतावाद की धारणाएँ विद्यमान है तथापि उसे मध्य युग के प्रभाव से मुक्त नहीं कहा जा सकता। मारसीलियो ने अपनी विचारधाराओं को आध्यात्मवाद से सयुक्त किया है। वह पोप तथा चर्च के प्रभाव से राजनीति को पूर्णतया छुटकारा नहीं दिला सका। दान्ते की भाँति मारसीलियो ने भी इटली के प्रति राष्ट्र-प्रेम की भावना भरी थी। दान्ते एक निरकुश तथा प्रबुद्ध राजतन्त्र के अधीन विश्व साम्राज्य की कल्पना करके पोप के प्रभाव को नष्ट करना चाहता था, परन्तु मारसीलियो के

मस्तिष्क में पोप की सत्ता को नष्ट करने के लिए राष्ट्रीय शक्तियों के विकास की धारणा थी। पोप की सत्ता को मर्यादित करने तथा चर्च सुधार के लिए मारसीलियो की सामान्य चर्च परिषद् की धारणा नवीन परन्तु अस्पष्ट है। इस परिषद् का स्वरूप राष्ट्रीय होगा या सार्वभौम, इसका विवेचन वह नहीं करता। चूंकि पोप का पद विविध राष्ट्रीय राज्यों से सम्बन्ध रखता था, अतः परिषद् सार्वभौम स्वरूप की ही हो सकती थी। परन्तु इसका संगठन कैसे होता है यह भी अस्पष्ट ही है।

भावी राजनीतिक विचारधाराओं के विकास में मारसीलियो की चर्च के सम्बन्ध में सामान्य चर्च परिषद् की धारणा का विशेष महत्त्व है। मारसीलियो की इस धारणा को इंग्लैण्ड में ओखम के विलियम ने विकसित किया और पन्द्रहवीं शताब्दी के कनसीलियर आन्दोलन में इस विचारधारा का सर्वाधिक प्रभाव था। कनसीलियर आन्दोलन-काल में जिन परिषदों का आयोजन किया गया था, तथा विभिन्न विचारकों ने जो विचार रखे थे, वे सब मारसीलियो से प्रभावित थे। यद्यपि आन्दोलन असफल रहा क्योंकि यह न तो चर्च में वांछित सुधार ला सका और न पोप की सत्ता को मर्यादित करने में प्रभावशाली कदम उठा सका, तथापि चर्च एवं राज्य दोनों क्षेत्रों में लोक-प्रभुसत्ता तथा प्रतिनिधिक संस्थाओं को महत्त्व देने तथा प्रधान शासक की शक्ति को मर्यादित करने के सन्दर्भ में जो चिन्तन बाद की शताब्दियों में होता आया है, उस पर मारसीलियो के प्रभाव को अमान्य नहीं किया जा सकता। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता, लोक-प्रभुसत्ता की मान्यता, मर्यादित शासन का सिद्धान्त, राष्ट्रवाद आदि के विकास को मारसीलियो की महत्त्वपूर्ण देन है। मारसीलियो के पश्चात् पोप की सत्ता के विरुद्ध जो अभियान चलते रहे उनसे पोप अपनी शक्ति को पुनः सदा सर्वदा के लिए असमर्थ रहा।

छठा अध्याय

मैकियाविली

(1469 ई० से 1527 ई०)

परिचयात्मक

मारसीलियो के विचारो ने चर्च-सुधार के कनसीलियर आन्दोलन को प्रभावित किया था। परन्तु यह आन्दोलन न तो सफल हुआ और न इस आन्दोलन के विचार तत्कालीन राजनीतिक वातावरण मे राज्य तथा धर्मसत्ता के मध्य संघर्ष का कोई व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत कर सके। मध्य युग की सार्वभौम ईसाई राज्य की धारणा भी समाप्त हो चुकी थी। रोमन कैथोलिक चर्च की सार्वभौम एकता भी समाप्त होने जा रही थी। पोप तथा चर्च के भ्रष्टाचारो ने धर्मसत्ता की श्रेष्ठता के दावे को अलोकप्रिय बना दिया था। इंग्लैण्ड, फ्रास तथा स्पेन मे जो राज्य-व्यवस्थाएँ कायम हुई थी, उनका उद्देश्य राष्ट्रीयता के आधार पर राजतन्त्रों को सुदृढ करना था। इन देशो की शासन-व्यवस्थाओं ने सामन्तशाही संस्थाओं को पंगु बना दिया था। ये राज्य अपने राष्ट्रीय हितो एवं समस्याओ के बारे मे अधिक चिन्तित थे, न कि चर्च, पोप-पद या ईसाई जन-समूह की सार्वभौम एकता के लिए। ऐसे समय मे इटली, जो किसी युग मे विशाल साम्राज्य रह चुका था, अनेक छोटे-छोटे राज्यो में विभक्त था। उसके एकीकरण के प्रयासो के बावजूद वहाँ पाच राज्य विवर्तमान थे जिनमे से रोम पोप की प्रभुता के अधीन था। शेष मे कहीं राजतन्त्र तथा कहीं गणतन्त्र कायम थे। ये राज्य परस्पर एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे और साथ ही इनमे से प्रत्येक को पड़ोसी विशाल राज्यो स्पेन, फ्रास, जर्मनी आदि के आक्रमणो का भी खतरा था।

जीवन-परिचय

मैकियाविली का जन्म 1469 ई० मे इटली के इन्ही राज्यो मे से फ्लोरेन्स के राज्य मे हुआ था। सम्भवत उसकी शिक्षा-दीक्षा समुचित ढग की नही हो पाई थी। परन्तु उसे इतिहास तथा इटालवी शास्त्री का पर्याप्त ज्ञान था। उस काल मे फ्लोरेन्स के नगर-राज्यो मे मैडिसी परिवार का शासन था। परन्तु 1494 ई० मे इन शासको को पदच्युत करके वहाँ गणतन्त्री व्यवस्था कायम कर दी गई थी। उसी वर्ष मैकियाविली को भी सार्वजनिक जीवन मे प्रवेश करने तथा शासकीय पद पर नियुक्त होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण मैकियाविली

को शासन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण पदो पर कार्य करने का अवसर मिला । वह विदेश तथा कूटनीतिक विभाग से सम्बद्ध था और कई प्रतिनिधि-मण्डलो के साथ उसे अन्य राज्यो की यात्रा मे जाने का अवसर भी मिला था । मैकियाविली रोमेग्ना (Romagna) के निरकुश शासक सीजर बोर्जिया के व्यक्तित्व से बहुत अधिक प्रभावित था।

मैकियाविली एक सच्चा देश-भक्त तथा राष्ट्र-प्रेमी राजनेता था । उसका एकमात्र हित इटली को एकीकृत तथा सुदृढ राष्ट्रीय राज्य के रूप मे देखना था। 1506 ई० मे उसने फ्लोरेन्स के गणराज्य को सुदृढ बनाने के लिए नागरिक सेना के निर्माण की योजना रखी थी। परन्तु 1512 ई० में फ्लोरेन्स मे मैडिसी शासको को पुन अपनी सत्ता स्थापित कर लेने मे सफलता प्राप्त हो गई । परिणामस्वरूप मैकियाविली की नागरिक सेना भी समाप्त हो गई और गणतन्त्र भी समाप्त हो गया। मैकियाविली के विरुद्ध षड्यन्त्र का आरोप लगाया गया और उसे कारागार का दण्ड दिया गया । बाद मे उसे मुक्त कर दिया गया था, परन्तु उसे एक प्रकार का प्रवास का जीवन व्यतीत करने को विवश होना पडा ।

मैकियाविली के राजनीतिक विचारो का ज्ञान उसके द्वारा लिखे गये दो ग्रन्थो 'प्रिन्स' (The Prince) तथा 'डिसकोर्सेज' (The Discourses) से होता है। वह 1512 ई० मे डिसकोर्सेज की रचना कर रहा था, जिसका उद्देश्य एक सुदृढ गणराज्य की स्थापना करने की विधि बताना था। परन्तु जब उसी वर्ष मैडिसी शासको ने फ्लोरेन्स पर पुन अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तो मैकियाविली ने 'डिसकोर्सेज' की रचना रोक कर 'प्रिन्स' की रचना प्रारम्भ कर दी । 'प्रिन्स' मे वह शासन-कला के सम्बन्ध मे उन बातो का विवेचन करता है जिनका अनुसरण राज्य की स्थापना हो जाने पर शासक को करना चाहिए । अनेक आलोचको का ऐसा भी ख्याल है कि मैकियाविली ने 'प्रिन्स' में जिस शासक की कल्पना की है उसका नायक सीजर बोर्जिया है, और इस ग्रन्थ को तुरन्त लिखने का उद्देश्य मैडिसी शासक को यह ग्रन्थ भेंट करना था, ताकि वह प्रसन्न होकर मैकियाविली को अपने मन्त्री के रूप मे शासकीय पद पर नियुक्त कर ले । यह ग्रन्थ प्रकाशित किये जाने के उद्देश्य से नही लिखा गया था, बल्कि मैडिसी शासक के मार्ग-दर्शन के लिए ही लिखा गया था। परन्तु इससे मैकियाविली का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ । मैकियाविली को प्रारम्भ मे कोई पद नही मिला । बाद मे उसे एक बहुत साधारण महत्व का पद मिल गया। 'प्रिन्स' तथा 'डिसकोर्सेज' की रचना साथ-साथ हुई थी । अत दोनो के विचारों तथा उद्देश्यों मे कोई मौलिक भेद नही है । इन दो ग्रन्थो के अतिरिक्त उसने 1520 ई० मे 'दी आर्ट ऑव वार' (The Art of War) लिखी । 1527 ई० मे उसकी मृत्यु हो गई । मैकियाविली एक महत्त्वाकाक्षी, किन्तु सदैव असफलता प्राप्त करते रहने वाला राजनयिक था । परन्तु उसका देश-प्रेम महान् था ।

राजनीतिक विचार-पद्धति

मैकियाविली के राजनीतिक विचारों के स्रोत मुख्यतया उसका ऐतिहासिक अध्ययन तथा तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत उसके व्यक्तिगत

राजनीतिक उद्देश्य थे। वह सबसे पहला राजनीतिक विचारक था जिसने मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन की परम्पराओं का परित्याग किया। चर्च तथा राज्य के मध्य सम्बन्धो का विवेचन उसके लिए गौण बातें थी। मुख्य उद्देश्य था उन साधनो की खोज करना जो इटली को रोमन साम्राज्य की भाँति एक विशाल, एकीकृत तथा सुदृढ राज्य बना सकें। अत उसकी विचार-पद्धति चिन्तनात्मक या धर्मशास्त्रो के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों पर आधारित नही थी। राजनीतिक विचारो का प्रतिपादन करने मे वह प्राकृतिक कानून दैवी कानून आदि की भावनामूलक धारणाओ का परित्याग करता है। वह एक यथार्थवादी विचारक है, अत यथार्थ तथ्यो की खोज करके उनका विश्लेषण करना और विशेष के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकालना उसकी चिन्तन-पद्धति की मुख्य विशेषता थी। वह प्लेटो एव मध्य युग के विचारको की भाँति निगमनात्मक या दार्शनिक चिन्तन पद्धति को नही अपनाता। सेबाइन ने कहा है कि 'उसकी विचार पद्धति पर्यवेक्षण की है जिसका निदेशन उसके चातुर्य तथा सामान्य भावनाओ ने किया है।'[1] उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। वह ऐतिहासिक पद्धति का भी अनुगमन करता है। उसका कथन था कि 'जिस व्यक्ति को यह ज्ञात करना है कि भविष्य मे क्या होगा, उसे यह ज्ञात करना चाहिए कि अतीत मे क्या हुआ था?'[2] उसका विश्वास था कि अतीत मे जिन परिस्थितियो के अन्तर्गत घटनाएँ घटती रही थी, भविष्य मे भी उनकी पुनरावृत्ति उसी प्रकार होती है। परन्तु मैकियाविली के राजनीतिक विचारो के मुख्य स्रोत मानव प्रकृति के सम्बन्ध मे उसकी धारणाएँ तथा उस काल की वास्तविक राजनीतिक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे उसके व्यक्तिगत विचार थे। इन दृष्टियो से मैकियाविली अरस्तू की पद्धति को तो अपनाता है, परन्तु अरस्तू की तुलना मे मैकियाविली का दृष्टिकोण तथा चिन्तन प्रतिभा बहुत ही सकीर्ण है। मैकियाविली का उद्देश्य ऐसे राज्य की स्थापना का आधार प्रस्तुत करना था जो सुदृढ तथा विस्तारवादी आदर्शों से युक्त हो। साथ ही वह जिन शासन-सिद्धान्तो की खोज करना चाहता था, उन्हे वह शासको के दृष्टिकोण से लेता है न कि शासितो के। अत मैकियाविली का राज्य-दर्शन उद्देश्य की व्यापकता तथा क्रमबद्धता से रहित एव चिन्तनात्मक विवेचन से मुक्त है। वह केवल व्यावहारिक राजनीतिक तथा एक कुशल शासक के मार्ग-दर्शन का परिचायक है। मैकियाविली राजनीतिक तथा शासन कला के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने मे धर्म तथा नैतिकता के सिद्धान्तो का अनुगमन नही करता। उसका मूल मन्त्र था—'साध्य ही साधन के औचित्य को सिद्ध करता है' (The end justifies the means)। इसी के कारण उसकी विचारधारा को उसी के नाम से 'मैकियाविली-वाद की सज्ञा दी जाती है।

[1] 'His method, is as far as he had one, was observation guided by shrewdness and commonsense'—Sabine

[2] 'He that would see what shall be, let him consider what hath been'—Machiavelli

मानव प्रकृति तथा राज्य

राज्य-विषयक धारणाओं की व्याख्या करने में मैकियाविली सर्वप्रथम मानव स्वभाव के सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। उसकी धारणा यह है कि सामान्यतया मनुष्य कृतघ्न, लोभी, स्वार्थी, डरपोक तथा धोखेबाज होता है। आवश्यकतावश ही उसे इन दुर्गुणों से मुक्त करके अच्छा बनाया जा सकता है। प्रारम्भ में मानव जंगली जानवरों की तरह का जीवन व्यतीत करते थे। आत्म-रक्षा की भावना से वह परिवारों में रहने लगे और प्रतिरक्षा की आवश्यकता से समाज की सृष्टि 'अवसरवशात्' हुई। सामाजिक स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य के स्वभाव में आप से आप परिवर्तन नहीं होता। मैकियाविली का यह निष्कर्ष यूनानी विचारकों से बिल्कुल भिन्न है, जो मनुष्य को स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी मानते थे। साथ ही मानव में अनेक नैतिक सद्गुणों के अस्तित्व को स्वीकार करते थे और राज्य या समाज को नैसर्गिक समुदाय मानते थे। मैकियाविली का निष्कर्ष है कि मनुष्य व्यक्तिगत क्षमता में अत्यन्त स्वार्थी होता है। उसे सबसे अधिक चिन्ता अपने देह तथा अपनी भौतिक समृद्धि की होती है।

मैकियाविली के मानव-प्रकृति सम्बन्धी ये निष्कर्ष महान् सकीर्णताओं से भरे हुए हैं। सम्भवतः ऐसा निष्कर्ष निकालने में वह इटली की तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित था। यदि मैकियाविली किसी अन्य देश में या अन्य युग में उत्पन्न हुआ होता तो उसका मानव स्वभाव के सम्बन्ध में कुछ और दृष्टिकोण रहा होता। वह अधिकांश मानवों को मुख्यतया आक्रामक, विवेकहीन तथा भावनाओं के निर्देशन पर कार्य करने वाले मानता है। उसके मत में प्रत्येक मनुष्य में प्रेम तथा भय दो शक्तिशाली प्रवृत्तियाँ रहती हैं। मनुष्य सदैव नई वस्तुओं की प्राप्ति तथा यश की प्राप्ति की ही कामना करता है। उसे सम्पत्ति अर्जित करने की चिन्ता सदैव बनी रहती है। यह प्रवृत्ति उसमें सबसे अधिक शक्तिशाली होती है। मनुष्य के लिए सम्पत्ति का मोह अपने सम्बन्धियों से कहीं अधिक मात्रा में होता है। मैकियाविली की प्रसिद्ध उक्ति है कि 'मानव अपने पिता की मृत्यु को शीघ्र भूल जाता है, परन्तु पैतृक सम्पत्ति के खो जाने की बात को कभी नहीं भूलता।'[1] अतः सामाजिक जीवन में मनुष्य-मात्र का निरन्तर यही उद्देश्य रहता है कि वह अपनी सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, सुरक्षा, यश तथा धन को बनाये रखे। इन बातों के सम्बन्ध में वह अपने निकटतम कुटुम्बी-जनों के हितों तक की उपेक्षा करते हुए अपने स्वार्थ की सबसे अधिक चिन्ता करता है। अतएव अपनी जान-माल की सुरक्षा के लिए ही मनुष्य को समाज की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए मैकियाविली अपने शासक को यह सलाह देता है कि वह किसी व्यक्ति की सम्पत्ति को छीनने का प्रयास न करे क्योंकि ऐसा आचरण मानव की प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य करना होगा और इसमें मनुष्य शासक के विरुद्ध हो जायेंगे। परिणामस्वरूप शान्ति, व्यवस्था तथा न्याय की सुरक्षा सम्भव नहीं रहेगी। मनुष्य के आचरण को नियमित तथा नियन्त्रित करने के लिए कानून

[1] 'Men more readily forget the death of a father than the loss of a patrimony' —Machiavelli

की और उचित अनुचित का निर्धारण करने के लिए न्याय की आवश्यकता पड़ती है, अन्यथा सामाजिक जीवन सम्भव नही हो सकता। इसके अतिरिक्त मैकियावली मनुष्य को स्वभावत ईर्ष्यालु, महत्त्वकांक्षी, स्वतन्त्रता प्रेमी तथा दूसरो के ऊपर अपना प्रभुत्व बनाये रखने का अभिलाषी कहता है। वह भलाई की अपेक्षा बुराई करने पर अधिक तुला रहता है। मानव प्रकृति का ऐसा निराशाजनक चित्रण करने मे मैकियावली की एक भारी दुर्बलता परिलक्षित होती है। इसकी ऐसी धारणा का न कोई क्रमबद्ध दर्शन है और न ही इसमे वास्तविकता प्रतीत होती है। उसके ऐसे निष्कर्ष उसकी सकीर्ण विचारधारा के द्योतक है। मैकियाविली की सबसे बडी दुर्बलता यही रही है कि उसने मानव स्वभाव की उपर्युक्त कमियो का आवश्यकता से अधिक सामान्यीकरण किया है। यदि उसके युग मे इटली मे कुछ मानव स्वभावत ऐसे रहे थे तो मैकियाविली का समस्त मानवो के सम्बन्ध मे ऐसे सामान्य निष्कर्ष निकालना उसकी महान दुर्बलता है।

मैकियाविली राज्य सम्बन्धी विविध धारणाओ यथा राज्य के स्वरूप, उत्पत्ति उद्देश्य आदि का चिन्तनात्मक तथा दार्शनिक विवेचन नही करता। इस दृष्टि से उसका दर्शन राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तो का विवेचन भी नही माना जा सकता। मैकियाविली की राज्य सम्बन्धी धारणा उसके मानव स्वभाव के बारे मे निकाले गये निष्कर्षों पर आधारित है। राज्य की उत्पत्ति मानव की नैसर्गिक सामाजिकता की प्रवृत्ति पर आधारित न होकर उसकी जान माल की सुरक्षा पर आधारित है, क्योकि मनुष्य स्वार्थी है, उसे सबसे बडी चिन्ता अपने जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा के बारे मे है। साथ ही मनुष्य डरपोक भी है, वह स्वय अपने जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा नही कर सकता। अत राज्य की आवश्यकता है, जो व्यक्ति को ऐसे सरक्षण दे सके। इस दृष्टि मे राज्य नैसर्गिक नही है, बल्कि अनसरवशात् उसकी उत्पत्ति हुई है। राज्य सम्बन्धी बातो का विवेचन करने मे मैकियाविली का मुख्य उद्देश्य राज्य की स्थापना, उसके विस्तार, उसकी सुरक्षा तथा शासन व्यवस्था का विवेचन इस रूप मे प्रस्तुत करना था, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति सुखी जीवन व्यतीत कर सके और मनुष्य को स्वार्थमयी प्रवृत्ति का निराकरण करके उसे सामाजिक बनाया जा सके साथ ही राज्य भी सुदृढ तथा विस्तृत हो सके। अत उसकी विचारधारा चिन्तनात्मक राजनीति न होकर व्यावहारिक राजनीति है। सेबाइन ने कहा है कि 'वह राजनीति, शासन कला तथा युद्धकला के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर न लिखता है न सोचता है।'[1] चूंकि मैकियाविली मनुष्य को सद्गुणो, नैतिकता आदि के अस्तित्व को स्वीकार न करके उसमे बुराइयो को ही देखता है, अत उसका सिद्धान्त था कि बुराई का निराकरण बुराई के द्वारा ही हो सकता है। इसलिए राज्य के शासक के लिए नैतिकता के नियमो पर चलना आवश्यक नही है। उसे उन समस्त तरीको को अपनाना चाहिए जिनके द्वारा वह मानव के असामाजिक आचरणो को समाप्त कर सके। मैकियाविली की राज्य सम्बन्धी ऐसी धारणा आरम्भिक चर्च

[1] "He writes about nothing and thinks about nothing except politics, statecraft and the art of war" —Sabine

सम्थापकों से मिलती-जुलती है, जो राज्य को मनुष्य के पापों के परिणामस्वरूप उत्पन्न संस्था मानते थे। परन्तु अन्तर यह है कि चर्च संस्थापक राज्य को धर्म तथा नैतिकता के नियमों का अनुसरण करके मानव को नैतिक बनाना तथा धर्माचरण करने की प्रेरणा देते हुए राज्य को चर्च के अधीन रखने की शिक्षा देते थे। इसके विपरीत मैकियावेली का शासक धर्म तथा नैतिकता के नियमों के अधीन नहीं रहेगा। वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार का आचरण करने को स्वतन्त्र है चाहे वह नैतिक तथा धार्मिक हो या नहीं। उसके विचार से राज्य-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक अथवा गणतन्त्रात्मक हो सकती है। राज्य की स्थापना हो जाने पर उसे सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए प्रारम्भ में राजतन्त्रात्मक व्यवस्था अपनायी जानी चाहिए। वह वंशानुगत राजतन्त्र की अपेक्षा निर्वाचित राजतन्त्र को उत्तमतर व्यवस्था मानता है। जब राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था की स्थापना समुचित रूप से हो जाय और नागरिकों के मध्य यथासम्भव आर्थिक समानता विद्यमान रहे तो ऐसी परिस्थिति में गणतन्त्री राज्य-व्यवस्था उत्तम होती है। गणतन्त्र से मैकियावेली का अभिप्राय लोकतन्त्रात्मक शासन से है। उसके ग्रन्थों 'प्रिंस' तथा 'डिसकोर्सेज' की विषय-वस्तु मुख्यतया इन दो प्रकार की व्यवस्थाओं के विवेचन से सम्बन्ध रखती है। प्रिंस मूल रूप में राजनीतिक प्रभुत्व के विस्तार के निमित्त राजतन्त्र का अध्ययन है और डिसकोर्सेज इसी उद्देश्य के लिए गणतन्त्री व्यवस्था का अध्ययन है।

शासनों का विवेचन

अरस्तू की भाँति मैकियावेली भी शासन के छः रूपों को मानता है, साथ ही रोमन विचारक पॉलिबियस की भाँति मिश्रित शासन को उत्तम प्रकार की शासन व्यवस्था स्वीकार करता है। परन्तु शासन के रूपों का विवेचन उसने सरसरी तौर पर किया है। वह विविध शासन-पद्धतियों के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों की बारीकियों का दार्शनिक एवं चिन्तनात्मक विवेचन नहीं करता। उसके मत से राजतन्त्र या लोकतन्त्र दो ही शासन-व्यवस्थाएँ उत्तम हो सकती हैं। आपत्ति काल में जब राज्य में अशान्ति छायी रहती है तो सुदृढ़ राज्य की व्यवस्था के निमित्त राजतन्त्र उत्तम होता है। परन्तु शान्ति काल में अधिकारियों का चयन करने, उन्हें सम्मानित करने, परम्परागत राजनीतिक तथा वैधिक संस्थाओं को बनाये रखने तथा जनता में राज्य-व्यवस्था के प्रति निष्ठा तथा विश्वास बनाये रखने के लिए लोकतन्त्री शासन-प्रणाली अधिक उत्तम होती है। इन्हीं उद्देश्यों तथा धारणाओं की पुष्टि हेतु 'प्रिंस' तथा 'डिसकोर्सेज' में उसने इनके विवेचन अलग-अलग किये हैं। यह कहा जाता है कि 'प्रिंस आपत्तिकाल का एक कार्यक्रम था और डिसकोर्सेज सुस्थापित समय के लिए शासन-व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करता है।'[1] मैकियावेली को कुलीनतन्त्री शासन से बहुत घृणा थी। उसका मत है कि कुलीन वर्ग के

[1] *Prince* was the programme for troubulous times and the *Discourses* provides the picture of government for settled periods'

लोगो मे निरन्तर केवल अपनी सत्ता का प्रयोग करते रहने की आकाक्षा रहती है, जबकि जनसाधारण शान्ति तथा व्यवस्था की चाह करते है। कुलीनतन्त्री शासन म स्वतन्त्र सरकार का अस्तित्व सम्भव नही हो सकता। मैकियाविली स्वेच्छाचारी शासन का समर्थक भी नही है। इसलिए वह निर्वाचित राजतन्त्र का समर्थन करता है।

राजनीतिक आदर्श

राज्य विस्तार—'मैकियाविली का राज्य-दर्शन राज्य का सिद्धान्त होने की अपेक्षा राज्य की सुरक्षा का सिद्धान्त है।'[1] राज्य की सुरक्षा की प्रथम आवश्यकता राज्य का विस्तार तथा उसकी सुदृढता है। अत अपने दोनो ग्रन्थो मे वह राज्य के प्रभुत्व-विस्तार के सुझाव देता है। 'डिसकोर्सेज' मे उसने लिखा है कि शासक को राज्य की जनसख्या की वृद्धि करने की चिन्ता करनी चाहिए, प्रजाजनो की अपेक्षा मित्रो का अधिग्रहण करना चाहिए विजित क्षेत्रो मे उपनिवेश स्थापित करने चाहिए, विजित देशो से प्राप्त लूट की सम्पत्ति से कोष वृद्धि करनी चाहिए, राज्य को धनी तथा व्यक्ति को निर्धन बनाये रखना चाहिए और पर्याप्त सावधानी के साथ एक सुप्रशिक्षित सेना की स्थापना करनी चाहिए। राज्य की सुरक्षा एव विस्तार दोनो कार्यों के लिए सेना अत्यावश्यक है। सेना ही राज्य की वास्तविक शक्ति है न कि धन। 'युद्ध की गत्यात्मक शक्ति मनुष्य है न कि धन।'[2] रुपये से उत्तम सैनिको की प्राप्ति नही हो सकती, प्रत्युत उत्तम सैनिक धन-अर्जन के साधन होते हैं। अत शासक को ऐसे सैनिकों की सेवा निर्मित करनी चाहिए जो निष्ठावान् हो, तथा उच्च मनोबल रखते हो। केवल धन के लालच से काम करने वाले सैनिको की सेना (mercenary) वाछनीय नही है। सेना की सुदृढता के लिए शक्ति तथा कौशल दोनो चीजें आवश्यक हैं। केवल शारीरिक दृष्टि से वीर सैनिक सफल सेना का निर्माण नहीं कर सकते, उत्तम कौशल का होना प्रथम आवश्यकता है। अत शासक को अपने नागरिको की सुदृढ तथा सुप्रशिक्षित सेना का निर्माण करना चाहिए। सेना के लिए पर्याप्त उपकरणो का सग्रह किया जाय और सेना मे अनुशासनहीनता किसी भी रूप मे न आने पाये। मैकियाविली का मत था कि राज्य मे 17 से 40 वर्ष तक की आयु के प्रत्येक स्वस्थ पुरुष को अनिवार्य सैनिक शिक्षा दी जानी चाहिए। ऐसी सेना के द्वारा ही शासक अपने राज्य की सुदृढता तथा सीमा-विस्तार के कार्य कर सकता है, इसके अभाव म राज्य को न केवल बाहरी राज्यो के आक्रमण का भय रहता है, बल्कि आन्तरिक दृष्टि से भी राज्य की सुरक्षा नही रह सकती। मैकियाविली की यह योजना उसकी राष्ट्रीय देशभक्ति का सूचक है, इसके द्वारा वह इटली को एक एकीकृत तथा सुदृढ राष्ट्रीय राज्य निर्मित करने का स्वप्न साकार करना चाहता था।

[1] 'Machiavelli's doctrine is the theory of the preservation of the state rather than the theory of state'

[2] 'Men and not money are the sinews of war' —Machiavelli

राज्य-सुरक्षा—मैकियाविली का कथन है कि 'प्रत्येक राज्य की सरकार को
अपनी शक्ति का विस्तार करना चाहिए अन्यथा उसे नष्ट होना पड़ेगा।' राज्य
की स्थापना तथा विस्तार कर लेने के उपरान्त सबसे प्रथम आवश्यकता इस बात की
होता है कि राज्य की आन्तरिक तथा बाह्य दोनों दृष्टियों से सुरक्षा की जाय। अत
शासक को राज्य की सीमा के अन्दर रहने वाले जन-समूहों की स्थापित संस्थाओं
तथा परम्पराओं का सम्मान करना चाहिए। मैकियाविली का मत था कि जिस
जन-समूह को उत्तम शासन प्राप्त रहता है और जिसकी स्थापित परम्पराओं को
बनाये रखा जाता है, उस जन-समूह को इससे अधिक अन्य स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति
की कोई कामना नहीं रहती। अत राज्य की सुरक्षा एक उत्तम विधिदाता (शासक)
पर निर्भर रहती है। मैकियाविली के मत से विधि-निर्माण तथा परम्पराएँ एक-दूसरे
के आश्रित रहती हैं। अत परम्पराओं का परिवर्तन कानून में भी परिवर्तन चाहता
है। इसलिए राज्य के संविधान में लोचपूर्णता होनी चाहिए। शासक को इस बात
का ध्यान रखना चाहिए कि विधि-निर्माण के द्वारा जनता के राष्ट्रीय चरित्र का
निर्धारण करे। कानून के द्वारा ही जनता में नैतिकता तथा नागरिक गुणों का संचार
होता है। शासक या विधिदाता राज्य तथा समाज का निर्माणकर्ता होता है। उसके
विवेक तथा दूरदर्शिता पर ही सामाजिक नैतिकता का निर्माण होता है। शासक
राज्य तथा कानून का निर्माता होने के नाते स्वयं कानून से मर्यादित नहीं है, बल्कि
उससे ऊपर है। कानून ही नागरिक गुणों का स्रोत है। यद्यपि शासक कानून से
ऊपर है, तथापि राज्य के शासन में उसे विधि का शासन बनाये रखना चाहिए। यह
बात राजतन्त्र तथा गणतन्त्र दोनों की व्यवस्थाओं के लिए अत्यावश्यक है। किसी
राज्य की सुरक्षा उसके अन्तर्गत विधि-व्यवस्था की उत्तमता पर निर्भर रहती है।
कानून की रक्षा तथा उसके समुचित परिपालन के लिए एक सफल शासक को सुदृढ़
सेना की व्यवस्था भी करनी पड़ती है, जिसकी सहायता से वह राज्य के आन्तरिक
विरोधी तत्त्वों का दमन करके समस्त जन-समूह में सार्वजनिक तथा देशभक्ति की
भावनाओं का संचार कर सकता है।

धर्म तथा नैतिकता—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों में मैकियाविली के
विचारों की इस दृष्टि से कटु आलोचना हुई है कि उसने उनके प्रतिपादन में धर्म तथा
नैतिकता के सिद्धान्तों की उपेक्षा की है। मैक्सी ने कहा है कि 'वह एक ऐसा व्यक्ति
था जिसके विचारों की सिद्धान्तत सर्वत्र निन्दा की गयी है, परन्तु व्यवहार में सभी
उनका अनुसरण करते हैं।' मैकियाविली पूर्णतया व्यवहारवादी राजनयिक तथा
लेखक था। उसने जो कुछ लिखा है वह चिन्तनात्मक राजनीति न होकर कूटनीतिक
साहित्य की श्रेणी में आता है, और व्यावहारिक राजनीति में उसके विचारों को
कूटनीतिज्ञ बराबर अपनाते आये हैं। उसका मुख्य उद्देश्य शासन की यान्त्रिकता,
एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना के साधनों, राज्य की शक्ति का विस्तार करने की
नीतियों तथा राज्य का विनाश करने वाली भूलों का विवेचन करना था। वह केवल
व्यावहारिक शासन-कला तथा युद्ध-कला का विवेचन करता है, इनकी सफलता के
लिए वह धार्मिक एवं सामाजिक नैतिकता की या तो उपेक्षा करता है, या उन्हें गौण

स्थिति प्रदान करता है। आलोचक मैकियाविलीवाद के सिद्धान्तों को कई रूपो मे व्यक्त करते है यथा 'शक्ति ही औचित्य है' (might makes right); 'आवश्यकता कानून नही जानती' (necessity knows no laws), 'साध्य ही साधन का औचित्य बताता है' (end justifies the mean), आदि। ये ऐसी धारणाएँ हैं, जिनके अन्तगत नैतिकता की उपेक्षा सम्भव है। बहुधा मैकियाविली शासक के उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त चतुराई के साथ प्रयुक्त की जाने वाली अनैतिकता के गुणो की भी प्रशसा करता है। इसी कारण आलोचको ने उसकी बहुत निन्दा की है। परन्तु जैसा सेबाइन ने कहा है अधिकाशत वह इतना 'अनैतिक' नही है जितना 'नैतिकता से रहित' है।[1] इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि उसके विचार 'अधार्मिक' नही हैं, प्रत्युत् 'धार्मिकता से रहित' हैं। मैकियाविली के विचारो के समर्थन मे यह कहा जा सकता है कि धर्म तथा नैतिकता की दृष्टि से व्यक्ति एव राज्य को एक ही स्थिति प्रदान करना उसे मान्य नही था। धर्म तथा नैतिकता व्यक्ति की अन्तरात्मा से सम्बन्ध रखते हैं। यदि एक ही मानदण्ड से राज्य तथा व्यक्ति को आँका जाय तो राज्य के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा का कार्य सार्वजनिक शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखना और सार्वजनिक कल्याण को उचित-अनुचित के साधारण विचारो के अन्तर्गत रखना कठिन हो जायेगा। इस सम्बन्ध मे मैक्सी ने यह तर्क दिये है कि यदि झूठ बोलना अनैतिक है तो राष्ट्र की सुरक्षा के हित मे झूठ बोलना भी अनुचित होगा, सविदा भग करना अनुचित है तो शासकों को देश-रक्षा की उपेक्षा करके भी सविदा को मानना पड़ेगा, आत्म-रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी दशा मे दूसरे की हत्या करना अनुचित है तो राज्य को भी अपनी रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी भी रूप मे दूसरे की हत्या नही करनी चाहिए, अर्थात् राज्य किसी हत्यारे को फाँसी नही दे सकेगा, क्योकि हत्यारे का कृत्य सदा राज्य की आत्म-रक्षा के लिए बाधक होना आवश्यक नही है, इत्यादि। बहुधा व्यावहारिक राजनीति मे शासक तथा राजनेता झूठ भी बोलते ही हैं, सविदा का उल्लघन करते हैं और हत्या भी करते या करवाते हैं। उदाहरण के लिए, जब 1860 मे लिंकन अमरीका के राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार था तो उसने दास-प्रथा पर हाथ न लगाने की प्रतिज्ञा की थी। परन्तु राष्ट्रपति बनने पर उसने दास-प्रथा के विरुद्ध कदम उठाया। क्या उसका यह कृत्य अनैतिक माना जाये? ऐसे अनगिनत दृष्टान्त इतिहास मे मिलेंगे। मैकियाविली को इसीलिए दोषी ठहराना उचित नही है कि उसने स्पष्टवादिता के साथ ऐसा व्यवहार करने की सलाह शासक को दी है और यह सिद्धान्त अपनाया है कि 'राज्य नैतिकता को नही जानता। जो कुछ वह करता है वह न तो नैतिक है, न अनैतिक, प्रत्युत् नैतिकता-विहीन है।'[2] उसके मत से राजनीति की कला का सर्वोच्च सिद्धान्त व्यावहारिकता (expediency) है। यदि किसी कार्य का परिणाम राज्य के उद्देश्य के अनुकूल है तो यह उचित एव व्यावहारिक है, अन्यथा वह

[1] 'But for the most part he is not so much immoral as non-moral.'
[2] The state knows no ethics What it does is neither ethical, nor unethical, but entirely non-ethical.'

अव्यावहारिक तथा अनुचित है।

यद्यपि मैकियाविली शासकों को उद्देश्य-प्राप्ति के हित में ऐसे साधन अपनाने की सलाह देता है जिन्हें नैतिकता-विहीन माना जा सकता है और उसने कहा है कि 'शासक को केवल राज्य को बनाये रखने की चिन्ता करनी चाहिए और उस हेतु वह जो साधन अपनाता है वे सदैव सम्माननीय माने जायेंगे'[1], तथापि उसे इस बात पर भी पूर्ण विश्वास था कि यदि जनता नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट हो जायेगी तो उसमें शासन चलाना असम्भव हो जायेगा। मैकियाविली सैनिकों तथा नागरिकों के नैतिक-राष्ट्रीय-चरित्र को सर्वाधिक महत्त्व देता है। यही धारणा उसकी धर्म के सम्बन्ध में भी थी। उसने यह अनुभव किया कि पोप तथा ईसाई धर्म-प्रवर्तकों की धार्मिक अन्ध-श्रद्धा ही इटली के पतन का कारण थी। पोप न तो स्वयं इटली को छिन्न-भिन्न होने से बचाने में समर्थ था और न वह किसी लौकिक सत्ता को ही ऐसा करने देता था। अतः राजनीति के सम्बन्ध में वह धार्मिक अन्ध विश्वासिता तथा हठ-धर्मिता का विरोधी था। उसने अपने राजनीतिक विचारों के प्रतिपादन में मध्य-युगीन उन सब परम्पराओं का परित्याग किया है जो भावना-मूलक धार्मिक विश्वासों के आधार पर राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन करती थीं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह धर्म-विरोधी था। उसके मत से धार्मिक विश्वासिता व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है, जिसका राजनीतिक व्यावहारिकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः किसी धर्म-विशेष की शिक्षाएँ राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित न करें। मैकियाविली का मत है कि शासक को राज्य की सुरक्षा तथा शान्ति के हित में जनता के धर्म, रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं को बनाये रखना चाहिए। उनका विरोध वह तभी करे जबकि वे राज्य के उद्देश्यों के मार्ग में बाधक सिद्ध हों। इस दृष्टि से मैकियाविली को अधार्मिक न कहकर धार्मिकता-रहित मानना अधिक उपयुक्त होगा। यद्यपि पोप का विरोध मारसीलियो ने भी किया था, तथापि उसमें तथा मैकियाविली में अन्तर यह था कि 'मारसीलियो ईसाई नैतिकता को परलोक की चीज बताकर विवेक की स्वायत्तता का समर्थन करता है, जबकि मैकियाविली उनकी उपेक्षा इसलिए करता है कि वे परलोक की चीजें हैं।'[2]

कानून—मैकियाविली की धारणा, जैसा सेबाइन ने लिखा है, यह थी कि एक सफल राज्य व्यवस्था की स्थापना एक एकाकी शासक के द्वारा की जानी चाहिए। और वह जिन कानूनों तथा शासन-प्रणाली की व्यवस्था करता है, उनसे जनता के राष्ट्रीय चरित्र का निर्धारण होता है। इस दृष्टि से मैकियाविली राज्य में विधिदाता की सर्वोच्च सत्ता को मान्यता देता है। उसके मत से समाज में फैले भ्रष्टाचार तथा व्यक्तियों में नागरिकता के सच्चे गुणों के अभाव को दूर करने के लिए कानून की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे कानून का निर्माण करना तथा उसके

[1] Let the prince then look to the maintenance of the state and the means will always be deemed honourable and will receive general approbation

[2] Marcilio defended the autonomy of reason by making Christian morals other wordly and Machiavelli condemns them because they are other-wordly —Sabine

परिपालन की व्यवस्था करना शासक के दायित्व हैं ताकि वह अपनी शासक नीति के सफल सञ्चालन के लिए उपयुक्त कानूनों का सृजन कर सके। समाज की समस्त आर्थिक, धार्मिक, नैतिक संस्थाओं का नियमन उसी के द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार होना चाहिए। यद्यपि प्रभुसत्ता की आधुनिक धारणा का विवेचन मैकियाविली के पश्चात जीन बोदा के विचारों से प्रारम्भ होता है, तथापि मैकियाविली के विचारों में 'कानून को सम्प्रभु का आदेश' मानने की धारणा विद्यमान है। कानून के सम्बन्ध में मैकियाविली प्राचीन यूनानियों, रोमन विधिवेत्ताओं तथा मध्ययुगीन विचारकों की धारणाओं को नहीं मानता। दैवी कानून, प्राकृतिक कानून तथा शाश्वत कानून की मान्यताएँ मैकियाविली के विचारों में नहीं पायी जाती। उसके विचार से कानून न तो दैवी विवेक है न मानवीय विवेक, और न ही कानून का स्रोत जनता की परम्पराएँ या रीति रिवाज हैं। कानून शासक का विवेक तथा आदेश है। स्वयं शासक कानून के ऊपर है। कानून का मुख्य उद्देश्य राज्य की सुरक्षा तथा व्यवस्था है और उसकी उत्तमता की कसौटी शासक के उद्देश्य की सफलता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं कि मैकियाविली विधि के क्षेत्र में जन परम्पराओं की पूर्णतया अवहेलना करता है। वह अपने शासक को यह सुझाव भी देता है कि उसे जनता की परम्पराओं तथा उनके रीति रिवाजों का समुचित आदर करना चाहिए। परन्तु यदि वे राज्य की सुरक्षा के मार्ग में बाधक सिद्ध हों, तो वह उनकी अवहेलना कर सकता है। इस दृष्टि से मैकियाविली निरंकुश तन्त्र तथा स्वायत्त शासन (लोकतन्त्र) दोनों को अपनी कानून सम्बन्धी धारणा के द्वारा मान्यता देता है। 'उसका प्रिंस' आपत्ति काल के लिए एक कार्यक्रम था और 'डिस्कोर्सेज' व्यवस्थित काल हेतु शासन व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करता है। 'प्रिंस' में लेखक निरंकुश शासन का समर्थन करता है। यह इसी उद्देश्य से कि राज्य की सुरक्षा के लिए आपत्ति के समय शासक को निरंकुश रहना आवश्यक है। परन्तु जब राज्य की स्थापना हो जाती है और उसकी सुरक्षा को कोई संकट न दीख पड़े तो शासक विधि-निर्माण में निरंकुशता के स्थान पर जन-परम्पराओं का भी आदर कर सकेगा। परन्तु मैकियाविली इस सम्बन्ध में लोक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता।

सफल शासक के गुण—मैकियाविली की रचनाओं का एकमात्र उद्देश्य राज्य की सुरक्षा तथा विस्तार एवं सुदृढ़ राज्य की स्थापना के साधनों का विवेचन करना था। अतः इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वह शासक के मार्गदर्शन के निमित्त अनेक निर्देश देता है। इनकी कार्यान्विति में वह उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक आदि की चिन्ता नहीं करता। उसका कथन है कि शासक को यह ज्ञान रहना चाहिए कि 'वह बुराई कैसे कर सकेगा' और आवश्यकतानुसार उसे इनका प्रयोग करने या न करने का निर्णय स्वयं लेना चाहिए। इसी प्रकार आवश्यकतावश उसे कृतज्ञ या कृतघ्न बनने का निर्णय भी लेना चाहिए। शासक को ऐसी युक्ति से आचरण करना चाहिए कि वह जनता के समक्ष पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके। वह जनता का प्रेम भाजन बनने का प्रयत्न करता रहे। परन्तु यदि ऐसा न भी हो तो कम से कम वह जनता के समक्ष घृणा का पात्र न बने। यदि जनता उससे भयभीत

रहती हो तो कोई बुराई नही है। शासक को जनता की सम्पत्ति तथा पत्नियों को
छीनने का कभी भी प्रयास नही करना चाहिए, प्रत्युत् उनकी रक्षा करनी चाहिए।
राज्य की सुरक्षा के लिए उसे राज्य को धनी तथा व्यक्ति को निर्धन बनाने का प्रयास
करना चाहिए। "यह आवश्यक नही कि शासक मे समस्त अच्छे गुण हो, परन्तु यह
आवश्यक है कि वह अपने मे अच्छे गुणो का प्रदर्शन कर सके। वह यह दर्शाये कि
वह दयालु है, धार्मिक है, मानवीय है आदि। परन्तु यदि आवश्यकता पडे तो वह
तुरन्त अपने इन गुणो के विपरीत आचरण करने मे भी समर्थ रहे।"[1] वह न तो
स्वयं चापलूसी करे और न चापलूसो का विश्वास करे। मानव स्वार्थी होता है, अत
शासक के लिए आवश्यक नहीं कि वह अपने मन्त्रियो का विश्वास करके उनकी
सलाह को बिना स्वय सोचे-समझे मान ले। अपने अधीनस्थ कर्मचारियो को सत्य
बात कहकर भयभीत किये रखे। सत्य का ज्ञान करने के लिए वह हर किसी पर
विश्वास न कर ले। सत्य वक्ताओ को पुरस्कृत करके प्रोत्साहित करे और असत्यवादियो
को दण्डित करे। सम्मान तथा पुरस्कार स्वय दे, परन्तु दण्ड दूसरो के हाथ से
दिलाये। उसे अवसरवादी होना चाहिए।

मैकियाविली तथा आचार्य कौटिल्य के विचारो की तुलना

भारतीय एव पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तको म कौटिल्य तथा मैकियाविली
के राजनीतिक विचारो मे अनेक बातो म समता पायी जाती है। इसीलिए बहुधा
कौटिल्य को भारतीय मैकियाविली या मैकियाविली को इटालियन कौटिल्य कहा
जाता है। परन्तु समता-विषयक ये उक्तियाँ आशिक रूप मे ही सत्य हैं। यह ठीक
है कि दोनो के राजनीतिक उद्देश्य एक दूसरे से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।
मैकियाविली इटली को एक महान राष्ट्रीय राज्य के रूप म देखना चाहता था
जिसका शासक मैडिसी सम्राट लोरेंजो होता और मैकियाविली उसका प्रमुख
सलाहकार मन्त्री होता। इसलिए उसने मैडिसी राजा के मार्गदर्शन के लिए अपने
ग्रन्थो मे शासन, युद्ध तथा प्रशासनिक आचरण की कला के व्यावहारिक सिद्धान्तो
का विवेचन किया था। परन्तु लेखक को राजा की ओर से निराशा का सामना
करना पडा। इसके विपरीत कौटिल्य भी एक सक्रिय राजनेता थे जिनकी कूटनीति
के कारण ही नन्द वंश का नाश करके चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत का सम्राट होने का
अवसर मिला और सम्राट ने उन्हे अपना प्रमुख मत्रणादाता बनाया। कौटिल्य
अर्थशास्त्र भी 'प्रिंस' तथा 'डिसकोर्सेज' की भाँति ही सम्राट के निर्देशन के लिए
लिखी गयी रचना मानी जाती है। दोनो लेखको के समक्ष राज्य को सुदृढ एव
शक्तिशाली बनाने की समस्याएँ थी और तत्कालीन परिस्थितियो म दोनो का निष्कर्ष
यही था कि एक शक्तिशाली राजतन्त्री व्यवस्था ही समस्या का समाधान हो सकती

[1] It is not necessary for a prince to have all the good qualities but it is very necessary to appear to have them He should appear as merciful faithful humane religious upright etc but with a mind so framed that if he requires not to be so he may be able to know how to change to the opposite' —Machiavelli

है। इस दृष्टि से जहाँ तक दोनो की रचनाओ मे शासन तथा युद्ध कला के सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत करने का प्रश्न है दोनो मे विचारसाम्य है, परन्तु जहाँ तक दोनो के राजनीतिक दर्शन के व्यापक तथ्यो का प्रश्न है उपर्युक्त समता-विषयक तथ्य पृष्ठ-भूमि मे आ जाते हैं और मैकियाविली के विचारो की सकीर्णता कौटिल्य के व्यापक दर्शन के समक्ष विलुप्त हो जाती है।

मानव स्वभाव—मैकियाविली के राज्य सम्बन्धी विचारो का आधार उसके मानव स्वभाव के सम्बन्ध मे निकाले गये निष्कर्ष तथा इटली की तत्कालीन पतनो-मुख स्थिति थी। उसने सामाजिक मानव के स्वभाव का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह न मनोवैज्ञानिक तथ्यो पर आधारित है न ऐतिहासिक तथ्यो पर। उससे पूर्व पाश्चात्य जगत् मे यूनानी, रोमन तथा मध्ययुगीन ईसाई साहित्य मे मानव, राजनीतिक समाज सस्थाओ तथा जीवन के बारे मे जो व्यापक अध्ययन किया जा चुका था उन सबकी मैकियाविली ने उपेक्षा की और अपने कुछ सकीर्ण निष्कर्ष निकालकर उन्हे राजनीतिक आचरणो की आधारशिला बनाया। इसके विपरीत कौटिल्य का शास्त्रीय अध्ययन अत्यन्त व्यापक था। उन्होने राजनीतिक समस्याओ तथा आचरणो के समाधान के निमित्त पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य के विविध ग्रन्थो का उल्लेख किया है। वैदिक साहित्य, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र जो मूल रूप मे उन्हे उपलब्ध रहे होगे, उन सब को कौटिल्य अर्थशास्त्र मे प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया गया है और जहाँ पर लेखक उनसे असहमति व्यक्त करते हैं वहाँ पर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। अत कौटिल्य ने मानव स्वभाव का मनगढत दयनीय चित्र खीचकर उसे सामाजिक या राजनीतिक बनाने की मैकियाविली की सी कोई धारणा नही बनायी है। उनके राजनीतिक दर्शन का आधार वैदिक धर्म की श्रेष्ठता तथा तत्कालीन राजनीतिक वातावरण एव विविध हिन्दू शास्त्र थे।

राज्य सम्बन्धी विचार—मैकियाविली के बारे मे कहा जाता है उसका दर्शन राज्य का सिद्धान्त न होकर राज्य की सुरक्षा का सिद्धान्त है। परन्तु कौटिल्य अर्थ-शास्त्र हिन्दू राजनीतिक दर्शन की ऐसी सर्वप्रथम रचना है जो अरस्तू के 'पॉलिटिक्स' से किसी भाँति कम महत्त्व का राजनीतिक चिन्तन नही मानी जा सकती। राज्य की उत्पत्ति को कौटिल्य ने सविदागत माना है और राज्य के उद्देश्य को उत्तम जीवन प्रदान करना माना है। उत्तम जीवन का अर्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र मे राज्य के लोक कल्याणकारी आदर्श का प्रतीक है। राज्य के स्वरूप को कौटिल्य सावयविक सिद्ध करते हैं। सप्ताग राज्य सिद्धान्त, जो समूचे हिन्दू राजनीतिक ग्रन्थो की आधार-भूत धारणा रही है, सर्वप्रथम कौटिल्य की रचना मे ही उसका विवेचन मिलता है। मैकियाविली के राज्य दर्शन मे राज्य की उत्पत्ति को मनुष्य की दुष्ट प्रकृतियो का दमन करके उसे सामाजिक बनाने के उद्देश्य से आवश्यकतावश हुई मान लिया गया है। यह राज्य सम्बन्धी धारणा का एक सकीर्ण विचार है।

शासन सिद्धान्त—मैकियाविली के समक्ष शासनो का वर्गीकरण करने तथा उनके गुण-दोषो का शास्त्रीय विवेचन करने के सम्बन्ध मे व्यापक सामग्री उपलब्ध थी। परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य राजतन्त्र तथा गणतन्त्र के गुणो को व्यक्त करने तक

सीमित रहा। कुलीनतन्त्र से उसे घृणा थी। कौटिल्य भी राजतन्त्रवादी थे। परन्तु उनका राजतन्त्र निरंकुश या स्वेच्छाचारी नहीं कहा जा सकता। उन्होंने तत्कालीन भारत में निवर्तमान विविध शासन व्यवस्थाओं का भी उल्लेख किया है और उनके गुण-दोषों का भी विवेचन किया है। उस युग में भारत में गणराज्य, द्वैराज्य, वैराज्य आदि अनेक व्यवस्थाएँ थीं। कौटिल्य उनको उपेक्षित नहीं रखते। शासन प्रणाली के विवेचन में कौटिल्य ने मन्त्रि-परिषद्, प्रशासनिक विभागों, कर-व्यवस्था, प्रशासनिक नियन्त्रण, वित्त-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था का जैसा व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया है उसकी समता मैकियाविली के ग्रन्थ तो दूर रहे, आज तक शायद ही कोई राजनीतिक चिन्तक इतने अधिक विवरणों के साथ उन्हें प्रस्तुत कर सका होगा। एक विशाल साम्राज्य के लिए कौटिल्य अर्थशास्त्र में दिये गये प्रशासनिक विवरण सम्भवतः आधुनिक भारत के विशालतम संविधान की तुलना में भी उच्चतर प्रकृति के सिद्ध होते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र तत्कालीन मौर्य साम्राज्य की शासन व्यवस्था के निमित्त लिखी गयी एक व्यापक संविधानिक व्यवस्था एवं प्रशासनिक, न्यायिक तथा आर्थिक संहिता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बारे में जो कूटनीतिक एवं सैद्धान्तिक विचार अर्थशास्त्र में प्रस्तुत किये गये हैं, वे भले ही वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के सन्दर्भ में उसी रूप में लागू न हो सकें तथापि उनके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का अनुगमन आज के अन्तर्राष्ट्रीय आचरणों में बहुधा किया जाना रहता है। गुप्तचर प्रथा, दौत्य सम्बन्ध, युद्ध-नीति आदि के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के विचार अनुपम हैं। मैकियावली के समक्ष भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ पर्याप्त जटिल थीं, परन्तु वह उनका विवेचन करने में असमर्थ रहा है।

युद्ध-कला—मैकियाविली ने अपने शासक को राज्य विस्तार करने तथा उसे सुदृढ बनाने की सलाह देकर एक सुदृढ राष्ट्रीय सेना निर्मित करने तथा युद्ध में अपनायी जाने वाली नीतियों से अवगत कराया है। अर्थशास्त्र में इन बातों का विवेचन मैकियाविली की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक मिलता है। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार चतुरंगिणी सेना के संगठन, षाड्गुण्य मन्त्र, विविध प्रकार के युद्धों आदि का विवेचन करते हुए कौटिल्य ने सम्राट को युद्ध-कला का जो ज्ञान कराया है उसकी समता मैकियाविली के ग्रन्थ नहीं कर सकते।

धर्म तथा नैतिकता—मैकियाविली के दर्शन की सबसे बड़ी आलोचना इस बात पर हुई है कि उसने धर्म-विहीन राजनीति का सहारा लिया है। मैकियाविली के लिए ऐसा करना आवश्यक था, क्योंकि उसके युग में पोपशाही के भ्रष्टाचारों ने न केवल इटली की राजनीति को भ्रष्ट किया था अपितु सारे यूरोप की शान्ति को नष्ट कर दिया था और पोप के विरुद्ध राजनीतिक चिन्तकों तथा राजनेताओं के विचार पर्याप्त मात्रा में प्रकट होने लगे थे। परन्तु मैकियाविली को धार्मिक विश्वासों से विरोध नहीं था। वह धर्म को राजनीति में प्रविष्ट नहीं होने देना चाहता था। इसके विपरीत आचार्य कौटिल्य हिन्दू धर्म ग्रन्थों, आचार, व्यवहार तथा धर्म के कानून को सर्वोपरि मानकर शासकों को उनके अनुसार ही आचरण करने की शिक्षा

देते हैं। उनके मत से राजा का प्रमुख दायित्व वैदिक धर्म, वर्णाश्रम तथा आश्रम धर्म का संरक्षण, अनुपालन तथा परिपालन कराना था। राजा राज्य का सम्प्रभु अवश्य था, परन्तु वह धर्म से ऊपर नहीं था। उसका वही आदेश कानून हो सकता था जिसका विरोध धार्मिक कानून न करें। राजनीतिक तथा शासनिक आचरणों मे राजा शासक, प्रशासक न्यायाधीश आदि सभी के ऊपर धार्मिक कानून की मर्यादा थी। यहाँ तक कि राज्य की सुरक्षा तथा युद्ध के कार्यों में भी शासक धर्मगत कानून के विरुद्ध आचरण नहीं कर सकते थे।

मैकियाविली ने व्यक्ति तथा राज्य दोनो के लिए पृथक् नैतिकता के आदर्श बताये हैं। व्यक्ति को उन नैतिक नियमो का अनुसरण करना पड़ेगा जो उसे एक सही नागरिक बनने के लिए आवश्यक हैं, और सामाजिक एवं राजनीतिक सुरक्षा के लिए वांछनीय हैं। परन्तु राज्य के शासक पर वे नैतिकता के नियम लागू नहीं हो सकते। राज्य का प्रमुख उद्देश्य अपनी सुरक्षा तथा शक्ति का संचय करना है। अत शासक जहाँ पर राज्य की सुरक्षा को संकटग्रस्त देखता है वहाँ पर राज्य की सुरक्षा के हित मे वह नैतिकता के प्रतिबन्धो से मुक्त रहेगा। उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त वह जिन साधनों को अपनायेगा वे सभी उचित माने जायेंगे। मैकियाविलीवाद इसी उक्ति का द्योतक है कि 'साध्य ही साधन के औचित्य की कसौटी है।' सक्रिय तथा कूटनीतिक राजनीति मे इस सिद्धान्त के कारण मैकियाविली की बहुधा आलोचना तो की जाती है, परन्तु व्यवहार मे सदैव ही राजनेता इस सिद्धान्त को मानते रहते हैं। कौटिल्य के बारे मे भी यह कहना उचित नहीं है कि उन्होंने भी इस सिद्धान्त को मान्य किया है। अव्यवस्थित राजनीतिक परिस्थिति से निबटने के लिए कौटिल्य ने भी ऐसे कठोर नियमो का प्रतिपादन किया है जहाँ पर कि शासक कठोर तथा निर्दयी हो सकता है। मैकियाविली ने शासक मे जिन योग्यताओ का होना स्वीकार किया है वे राजा को छली बना सकते हैं। कौटिल्य भी राजा के निमित्त लगभग ऐसी योग्यताएँ निर्धारित करते हैं। परन्तु वे राजा को छली नहीं अपितु कुशल बनाना चाहते हैं। साथ ही राजा, मन्त्रियो एवं प्रशासकों (तीर्थों) के निमित्त अपने व्यक्तिगत आचरण को उच्चतम बनाने के लिए अनेक संयम बरतने की शिक्षा देते हैं।

कौटिल्य ने अपराधियो के निमित्त कठोर दण्ड व्यवस्था का विधान बताया है। आज दृष्टियो से वे विधान अमानुषिक लगते हैं। गुप्तचर व्यवस्था पर्याप्त कठोर प्रवृत्ति की बतायी गयी है। इसी प्रकार प्रशासनिक आचरण मे अनेक कठोर व्यवस्थाएँ भी बतायी गयी हैं। इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मैकियाविली की भाँति कौटिल्य भी राज्य की सुरक्षा तथा सुव्यवस्था के निमित्त मानवीय नैतिकता के नियमो की उपेक्षा करते हैं।

निष्कर्ष—इन थोड़ी सी बातों मे दोनो के मध्य कुछ दृष्टियों से समानता अवश्य है। दोनो ने राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था, युद्ध कला तथा राजतन्त्री व्यवस्था को सर्वोत्तम मानने के सम्बन्ध मे लगभग एक सी व्यवस्थाएँ दी हैं। परन्तु जहाँ तक विचारो की गहनता का सम्बन्ध है, मैकियाविली को एक राजनीतिक

चिन्तक या दार्शनिक नहीं माना जा सकता। उसके विचार मुख्यतया शासन कला युद्ध कला तथा कूटनीतिक साहित्य की श्रेणी में ही आते हैं। इसके विपरीत कौटिल्य का अर्थशास्त्र इस श्रेणी का ग्रन्थ होने के साथ-साथ भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास की सर्वोत्तम रचना है। इसमें लेखक ने समूचे हिन्दू राजनीतिक साहित्य का अवलम्बन करके उनमें अपने विचारों को रखकर इसे राजनीति का एक दार्शनिक आधार प्रदान किया है। कौटिल्य का राजा मैकियावली के काल्पनिक राजा की प्रतिमूर्ति न होकर वास्तविक राजा है जिसका मार्ग दर्शन करने के निमित्त कौटिल्य ने राजा के एक प्रमुख सलाहकार, दार्शनिक एवं गुरु के रूप में यह रचना लिखी है। जिन समस्याओं को कौटिल्य ने इस ग्रन्थ में लिया है उनके समाधान के निमित्त उन्होंने शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक तर्क तथा सुझाव दिये हैं। वे स्वप्न-लोकी आदर्श न होकर व्यावहारिक राजनीति के तथ्य हैं। निस्सन्देह मैकियावली तथा कौटिल्य दोनों के शासन कला सम्बन्धी विचारों में बहुत साम्य है और इस दृष्टि से दोनों को यथार्थवादी तथा व्यावहारिक राजनीति के प्रतिपादकों की श्रेणी में रखा जा सकता है, परन्तु कौटिल्य की तुलना में मैकियावली का राज-दर्शन बहुत ही संकीर्ण है।

मैकियावली के विचारों का मूल्यांकन

एक राजनीतिक चिन्तक के रूप में मैकियावली ने अपनी रचनाओं में जो कुछ भी लिखा है उसके आधार पर जहाँ एक ओर उसकी कटु आलोचना की जाती रही है वहाँ दूसरी ओर उसके कई विचारों के व्यावहारिक महत्त्व को भी भुलाया नहीं जाया जा सकता। उसके विचारों में निम्नांकित कमियाँ हैं

(1) क्रमबद्धता का अभाव—मैकियावली सही माने में न तो एक दार्शनिक था और न ही उसके विचार एक क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन का प्रतिपादन करते हैं। वह एक कूटनीतिज्ञ था जिसे अपना उद्देश्य पूर्ण करने में निराशा का सामना करना पड़ा। मानव स्वभाव का जो नैराश्यपूर्ण चित्र उसने प्रस्तुत किया है, वह न तो व्यक्तिगत तथा समूह मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित है और न ही मैकियावली ने मनोविज्ञान के तर्कों द्वारा यह दर्शाया है कि मानव स्वभाव में ही बुरा क्यों होता है। उसे सही दिशा में लाने के लिए नैतिकता रहित साधनों का प्रयोग सुझाना भी असम्बद्ध है। मैकियावली के विचारों में राज्य विषयक विभिन्न धारणाओं का विवेचन नहीं किया गया है। अतः सक्रिय राजनीति के निमित्त उसने जो कुछ लिखा है, उसमें क्रमबद्धता का अभाव स्वाभाविक है।

(2) धर्म विहीन राजनीति असामयिक थी—मैकियावली मध्य युग से आधुनिक युग के संक्रमण काल का विचारक है। मध्य युग की सम्पूर्ण राजनीति धर्म प्रेरित थी। ऐसे युग में धर्म विहीन राजनीति का प्रतिपादन करना समयोचित नहीं था। ऐसा माना जाता है कि मैकियावली अपने युग के साथ न चलकर अपने युग से काफी आगे बढ़ गया। वह युग धर्म सुधार का था जिसके निमित्त कई आन्दोलन चल रहे थे और काफी आगे तक चलते रहे। मैकियावली धर्मनिरपेक्ष राजनीति

पर बल देता और धर्म को राजनीति से विलग रखने की बात न कहता जैसा कि उसके पूर्व मारसीलियो ने और उसके बाद बोदा ने किया था, तो सम्भवत उसके विचारो मे असामयिकता का दोष कम आता।

(3) नैतिकता विहीन राजनीति उचित नहीं—मैकियाविली की आलोचना उसकी इस धारणा को लेकर बहुत हुई है कि 'राज्य नैतिकता नही जानता वह जो कुछ जानता है वह न तो नैतिक है और न अनैतिक, प्रत्युत् वह पूर्णतया नैतिकता रहित है।' इसके विरोध मे सी० जे० फॉक्स की इस उक्ति को मान्य किया जाता है कि जो बात नैतिकता की दृष्टि से गलत है वह राजनीतिक दृष्टि से सही नहीं हो सकती।' व्यक्तिगत तथा सामाजिक नैतिकता के मानदण्डो को पृथक् करना तथा उनके पृथक समाधान प्रस्तुत करना मैकियाविली के विचारो मे सकीर्णता का द्योतक माना गया है। राज्य को नैतिकता विहीन आचरण बरतन की सलाह देना उचित नही कहा जा सकता। राज्य को अपने कार्य-कलापो द्वारा व्यक्तिगत एव सामाजिक नैतिकता की अभिवृद्धि का प्रयास करना चाहिए।

(4) स्वार्थपूर्ण एव सकीर्ण राजनीति का प्रतिपादक—मैकियाविली के विचारो की आलोचना का एक आधार यह भी है कि वह एक राजनीतिक महत्त्वाकाक्षी था। उसने जो कुछ लिखा वह राज्य के शासक को प्रसन्न रखने की सलाह देते हुए लिखा ताकि शासक उसके विचारो से प्रसन्न होकर उसे राज्य मे किसी प्रमुख राजनीतिक पद पर आसीन कर ले। इस दृष्टि से उसके विचारो मे स्वार्थ तथा सकीर्णता आ गयी।

(5) साध्य को साधन का औचित्य बताना उचित नहीं है—मैकियाविली के इस सिद्धान्त की कटु निन्दा की जाती है कि उसके अनुसार, 'साध्य साधन का औचित्य दर्शाता है' (end justifies the means)। इसका अभिप्राय यह था कि राजनीति मे शासको को अपने राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए जो भी साधन अपनाने पडे वे ठीक हैं। मैकियाविली के मत से शासक का मुख्य उद्देश्य राज्य विस्तार तथा राज्य की सुरक्षा है। इस उद्देश्य की प्राप्ति निमित्त वह जो भी साधन अपनाये वे सब औचित्यपूर्ण हैं। उसके निमित्त शासक को नैतिकता या अनैतिकता अथवा धर्म या अधम की चिन्ता नही करनी चाहिए। राजनीति के अन्तर्गत इस सिद्धान्त को मैकियाविलीवाद कहा जाता है। गांधी जी इस सिद्धान्त के बिलकुल विपरीत हैं, उनके मत से 'साधन की पवित्रता पर ही साध्य की पवित्रता निर्भर करती है।' अनैतिकता तथा अवाछनीय तरीको से किसी साध्य की पूर्ति, चाहे वह साध्य कितना ही पवित्र क्यो न हो, अवाछनीय है।

(6) मैकियाविली अपने युग का बालक है—मैकियाविली की आलोचना का एक आधार यह भी है कि उसके विचारो मे परिपक्वता का अभाव है। वे न तो एक परिपक्व अनुभवी राजनेता के विचार कहे जा सकते हैं और न एक प्रबुद्ध दार्शनिक के विचार। उसने युग की राजनीतिक परिस्थितियो को गहराई से समझने की चेष्टा नही की। उसका लक्ष्य सकीर्ण रहा। तत्कालीन राजनीति को जो विविध तत्त्व प्रभावित करते थे, उन सबको वह अपने राजनीतिक दर्शन मे समाविष्ट नहीं कर

पाया। निस्सन्देह उसके विचारो मे मध्य-युगीन प्रवृत्तियो का परित्याग देखने को मिलता है, परन्तु वह उनके परित्याग का व्यापक दार्शनिक आधार प्रस्तुत नही कर पाया। उसके विचारो मे आधुनिकता की प्रवृत्तियाँ अवश्य हैं, परन्तु उनका प्रस्तुतीकरण इतना आकस्मिक रहा है कि वह 'अपने युग का बालक' मात्र सिद्ध होता है। उसे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे आधुनिकता का प्रवर्तक होने का श्रेय प्राप्त नही हो पाया।

मूल्यांकन—उपर्युक्त कमियो के बावजूद मैकियाविली का राजदर्शन कई दृष्टियो मे पर्याप्त महत्त्व रखता है

(1) यथार्थवादिता—अरस्तू के पश्चात राजनीतिक विचारधाराओ के प्रतिपादन म वास्तविक राजनीतिक समस्याओ की उपेक्षा करके राजनीति को पारलौकिकता की समस्याओ मे सम्बद्ध करके दैवी कानून, प्राकृतिक कानून, सार्वभौमिक राज्य आदि का प्रत्यय मूलक धारणाओ से सम्बद्ध करके व्यक्त करने की परम्परा का सर्वप्रथम मैकियाविली ने निरस्कृत किया। उसके विचारो म व्यावहारिक राजनीति तथा यथार्थवादिता प्रकट हुई। योरोपीय राजनीति के अन्तर्गत पन्द्रहवी शताब्दी मे राष्ट्रीय आधार पर सम्प्रभु राज्यो का अभ्युदय हो रहा था। मैकियाविली ने इटली की परिस्थिति को देखकर उस भी एक सुदृढ राष्ट्रीय सम्प्रभु राज्य के रूप म निर्मित करने के निमित्त जो विचार रखे हैं व उसकी यथार्थवादिता के प्रमाण हैं। सार्वभौम विश्व राज्य की धारणा उस युग के लिए स्वप्नलोकी आदर्श हो चुकी थी। अत मैकियाविली के विचार राष्ट्रीय सम्प्रभु राज्य की स्थापना का कार्यक्रम दर्शाते हुए उसे एक यथार्थवादी विचारक सिद्ध करते हैं।

(2) कूटनीतिक साहित्य के क्षेत्र मे महत्त्व—राजनीतिक चिन्तन या दर्शन की दृष्टि स भले ही मैकियाविली की रचनाओ म कमियाँ हो परन्तु इस तथ्य को सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि कूटनीतिक साहित्य की दृष्टि म 'प्रिंस' एक अनुपम रचना है। इस छोटे स ग्रन्थ म शासन कला, युद्ध की कला एव कूटनीति विषयक जो विचार लेखक ने रखे हैं भले ही धर्म, नैतिकता, दर्शन एव सैद्धान्तिक राजनीति की दृष्टि से कमियाँ बतायी जाती रही हैं, परन्तु सक्रिय एव व्यावहारिक राजनीति म कोई भी महत्त्वाकांक्षी शासक या राजनेता मैकियाविली द्वारा व्यक्त विचारो के विपरीत आचरण नही करता। इसीलिए कहा जाता है कि मैकियाविली की आत्मा कूटनीतिक राजनीति म कभी विनष्ट नहीं हो सकती।

(3) राजनीतिक चिन्तन म आधुनिकता का प्रतिपादक—विद्वानो के मध्य इस धारणा के सम्बन्ध म मतभेद है कि मैकियाविली को पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास म आधुनिकता का प्रतिपादक कहा जाय। कुछ, विद्वान आधुनिक युग का आरम्भ बोदा से मानते हैं जो सोलहवी सदी का चिन्तक था। यदि मैकियाविली को यह श्रेय नहीं दिया जाता तो इसके दो मुख्य आधार हो सकते हैं, प्रथमत उसे सही मान म एक चिन्तक मानने म विद्वानो को आपत्ति हो सकती है, द्वितीयत मैकियाविली के पश्चात पुन राजनीतिक विचार मध्ययुगीन प्रवृत्तियो के अधीन हो गए जैसा कि सुधार आन्दोलन की अवधि म लूथर, काल्विन आदि के

विचारों से ज्ञात होता है। परन्तु ऐतिहासिक तिथि क्रम एवं राजनीतिक चिन्तनात्मक स्वरूप को यदि न लिया जाय तो मैकियाविली ने जो भी लिखा है वह स्पष्टतः चिन्तनात्मक राजनीति या उसका शास्त्रीय अध्ययन न होते हुए भी सक्रिय तथा व्यावहारिक राजनीति का विवेचन अवश्य है। इस दृष्टि से राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मैकियाविली के विचार स्पष्टतः न तो प्राचीन राजनीतिक आदर्श हैं और न ही उनमें मध्ययुगीन प्रवृत्तियाँ हैं। वे स्पष्टतः आधुनिक राज्यों की समस्याओं के लिए भी उपयुक्त बैठती हैं। आधुनिक युग राष्ट्रीय राज्यों का है जिनके मध्य परस्पर युद्ध होते रहते हैं। राष्ट्रीय राज्य सम्प्रभुता की धारणा पर स्थापित हुए हैं। भले ही सम्प्रभुता की आधुनिक धारणा बोदां ने व्यक्त की थी और मैकियाविली के विचारों में ऐसी कोई धारणा व्यक्त नहीं की गयी है तथापि जैसी राज्य व्यवस्था वह चाहता है, वह स्पष्टतया प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य की धारणा है। देश भक्ति तथा राष्ट्र प्रेम की जिस भावना से प्रेरित होकर उसने अपने विचार रखे हैं वे स्पष्टतः आधुनिक हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य की धारणा उसके विचारों में स्पष्टतः पायी जाती है जो आधुनिकता को दर्शाती है। अतः जैसा डब्ल्यू० टी० जॉन्स ने कहा है, 'भले ही वह एक राजनीतिक सिद्धान्तवादी नहीं है, वह किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा आधुनिक राजनीतिक विचारधारा का जनक है।' डनिंग भी मैकियाविली को मध्य युग से आधुनिक युग के आरम्भ का विचारक मानता है।

(4) भावी चिन्तकों पर मैकियाविली का प्रभाव—मैकियाविली की विचार पद्धति भले ही उसे एक उच्च कोटि का चिन्तक सिद्ध नहीं करती तथापि अरस्तू के बाद रोमन तथा मध्य युग में राजनीतिक चिन्तन जिसे सैद्धान्तिक मतभेद में फँसकर व्यावहारिकता को खो बैठा था, उसे मैकियाविली ने पुनः जाग्रत किया। उसने अरस्तू की भाँति ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा विश्लेषण की पद्धति अपनायी और राजनीति को यथार्थवादिता के आधार पर व्यक्त किया। जीन बोदां के विचारों में मैकियाविली के प्रभाव को अनदेखा नहीं किया जा सकता। दोनों ने राष्ट्रीय राज्यों की धारणा ली है और राजनीति को धर्म से पृथक् रखा है। हॉब्स द्वारा चित्रित मानव स्वभाव की व्याख्या मैकियाविली के विचारों का ही प्रभाव है। राज्य की सुरक्षा तथा एक सुदृढ़ राज्य व्यवस्था के समर्थक सभी विचारक तथा शासक मैकियाविली के अनुचर हैं। धर्म विहीन राजनीति का प्रतिपादन करने में कार्ल मार्क्स ने भी वही दृष्टिकोण रखा है जो मैकियाविली का था। अतएव राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मैकियाविली के विचारों की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मैक्सी का निष्कर्ष है कि 'मैकियाविली एक ऐसा विचारक है जिसे राजनीति के साहित्य में बहुत बदनाम किया गया है, और जिसकी धारणाओं का सैद्धान्तिक दृष्टि से विरोध किया जाता रहा है, परन्तु व्यवहार में जिनका अनुसरण निरन्तर किया जाता है।'

(5) आधुनिक राष्ट्रवाद का जनक—राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता के समर्थक सभी विचारकों को हम राष्ट्रवादी कह सकते हैं। मैकियाविली इस श्रेणी का सबसे

प्रथम विचारक है। भले ही राष्ट्रीय प्रभुसत्ता की धारणा का ज्ञान उसे नही था अथवा इसका सैद्धान्तिक विवेचन करने की उसने चेष्टा नही की, तथापि देश प्रेम तथा राष्ट्र भक्ति की जिस भावना से प्रेरित होकर उसने 'प्रिंस' नामक ग्रन्थ की रचना की है इससे स्पष्ट होता है कि मैकियाविली को आधुनिक राष्ट्रवाद का जनक कहना अनुचित नहीं होगा। रूसो तथा हीगल के विचारों मे आधुनिक राष्ट्रवाद की चिन्तनात्मक व्याख्या की गयी है। उन पर मैकियाविली के विचारो के प्रभाव को उपेक्षित नही रखा जाना चाहिए। राष्ट्रीय आधार पर इटली के एकीकरण तथा उसे अन्य तत्कालीन राष्ट्रीय राज्यो की भांति सुदृढ बनाने की धारणा मैकियाविली का प्रथम उद्देश्य था। युद्ध मे विजित राज्यो की जनता की राष्ट्रीय भावना का सम्मान करने की सलाह वह शासक को देता है। इससे स्पष्ट है कि मैकियाविली राष्ट्रीयता के तत्वो की महत्ता को समझता था।

इस प्रकार व्यावहारिक राजनीति, शासन कला, कूटनीति तथा युद्ध की कला के सम्बन्ध मे मैकियाविली के विचारो का पर्याप्त महत्त्व है। भले ही चिन्तनात्मक राजनीति का प्रतिपादन उसने नही किया है, तथापि सक्रिय राजनीति के साहित्य को मैकियाविली की देन अनुपम है।

सातवाँ अध्याय

जीन बोदाँ

(1530 ई० से 1596 ई०)

राजनीतिक वातावरण

सुधार आन्दोलनों का प्रभाव—पन्द्रहवीं शताब्दी के कनसीलियर आन्दोलन का उद्देश्य पोप की सत्ता को मर्यादित करना तथा चर्च शासन की प्रमुख शक्ति सामान्य चर्च परिषद् के हाथ में रखना था। यद्यपि आन्दोलन असफल रहा, तथापि इसका एक प्रभाव यह हुआ कि राजनीतिक समाज के सम्बन्ध में भी राजा की सत्ता को मर्यादित करने तथा जनता की प्रभुसत्ता को मानने की धारणा विकसित होने लगी। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में मैकियाविली की धर्मविहीन राजनीति राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य के संघर्ष को दूर करने की समयोचित व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकी। इस बीच यूरोप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो रहे थे और मध्ययुगीन सार्वभौमिकतावाद की प्रवृत्ति का अन्त हो रहा था। कैथोलिक चर्च की एकता भी भंग हो गयी थी। इसके विरुद्ध विभिन्न राष्ट्रों में प्रोटेस्टेंट चर्च बनते जा रहे थे। सोलहवीं शताब्दी में लूथर, काल्विन, ज्विंग्ली, मैलेंक्थन आदि के विचारों ने न केवल प्रोटेस्टेंट धर्म-सुधार आन्दोलन का ही सूत्रपात किया, बल्कि उनके अनुसार राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त तथा व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा से शास्त्रों का निर्वचन करने की धारणाओं को बल मिला। कनसीलियर तथा धर्म-सुधार आन्दोलनों की अवधि के विचारों से राजनीतिक जगत में नये संघर्षों की उत्पत्ति हुई। इनका एक प्रभाव निरंकुशतावाद तथा लोकतन्त्र के मध्य का संघर्ष और दूसरा स्वयं ईसाई जगत में रोमन कैथोलिक चर्च तथा प्रोटेस्टेंट चर्च के समर्थकों के मध्य संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ। इन संघर्षों ने एक ओर तो स्वयं राष्ट्रीय राज्यों के अन्दर आन्तरिक संघर्ष उत्पन्न कर दिये और दूसरी ओर विभिन्न धर्मावलम्बी राज्यों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति तथा कलह उत्पन्न हुए। ऐसे वातावरण में आवश्यकता इस बात की थी कि राजनीतिक विचारधाराओं द्वारा ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाये, जो राज्यों की आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने का समाधान प्रस्तुत करने के साथ-साथ विभिन्न राष्ट्रीय राज्यों के मध्य भी समानता तथा शान्ति का कोई वैधिक समाधान प्रस्तुत करें।

मॉनार्कोमैक्स तथा पॉलीटिक्स वर्ग—इस काल में फ्रांस में विचारकों के दो वर्ग उत्पन्न हो गये थे। उनमें से एक वर्ग मॉनार्कोमैक्स (monarchomacs) कहलाता

था जो राजाओं की निरकुशता का विरोधी तथा जनता एव उनकी प्रतिनिध्यात्मक सस्थाओं की सत्ता का समर्थक था। दूसरा वर्ग पॉलीटिक्स (politiques) का था, जो धर्म के मामलो मे सहिष्णुता की नीति का समर्थक था, परन्तु राज्य मे शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के हित मे राजतन्त्र की सत्ता का समर्थन करता था। इस वर्ग पर लूथर तथा मैकियाविली के विचारो का प्रभाव था। राज्यो की आन्तरिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने मे फ्रास के पॉलीटिक वर्ग के विचारक जीन बोदा के राज्य के प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति हेतु प्राकृतिक कानून की धारणा को लेकर हालैण्ड के विचारक ह्यूगो ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा का शिलान्यास किया।

बोदा की जीवनी तथा विचार-पद्धति

जीन बोदा का जन्म 1530 मे फ्रास मे हुआ था। उसने इतिहास, कानून एव विभिन्न सविधानो का व्यापक अध्ययन किया था। फ्रास की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो मे वह पॉलिटिक वर्ग के विचारको के गुट से सम्बद्ध था। राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिपादन मे बोदा के ऊपर अरस्तू तथा मैकियाविली का प्रभाव परिलक्षित होता है। उसने ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक तथा पर्यवेक्षण की पद्धतियों को अपनाकर राजनीतिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। बोदा फ्रास के तत्कालीन शासक हेनरी तृतीय के अधीन शासन के उच्च पदो पर भी कार्य कर चुका था। अत उसे व्यावहारिक राजनीति का भी अनुभव प्राप्त था। एक विधि-शास्त्री होने के नाते उसकी यह धारणा थी कि राजनीति की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए न्याय तथा नैतिकता के नियमो का अवलम्बन किया जाना चाहिए। मैकियाविली की भांति उसने राजनीति तथा नैतिकता के मध्य भेद तो किया, परन्तु उन्हे पृथक् नही किया। उसका यह विश्वास था कि राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन के लिए सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक आदि विविध परिस्थितियो के राजनीति पर पडने वाले प्रभावो का ज्ञान करना भी आवश्यक है। तत्कालीन राजनीतिक वातावरण को धार्मिक सघर्षों ने बहुत विकृत कर दिया था। अत पॉलीटिक वर्ग के विचारको की भांति बोदा ने धर्मनिरपेक्षता की नीति अपनाकर राजनीतिक विचारधाराओं का विवेचन किया है। उसकी धर्म निरपेक्षता इतनी स्पष्ट थी कि आज तक कोई भी विद्वान् यह नही बता पाया है कि बोदा किस धर्म-विशेष का अनुयायी था। वह न तो कैथोलिक था और न प्रोटेस्टेंट। कुछ लोग उसे यहूदी कहते है, कुछ उसे धर्महीन व्यक्ति कहते है, परन्तु उसके विचारो मे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह ईश्वरवादी तथा धार्मिक प्रकृति का व्यक्ति था। देवी-देवताओं तथा धार्मिक अन्धविश्वासिता के प्रति भी उसकी निष्ठा थी।

राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिपादन मे बोदा की विचारधाराओं मे अरस्तू की वैज्ञानिक पद्धति के दर्शन होते हैं। डनिंग ने कहा है कि 'बोदा ने राजनीतिक विचारधारा को वह रूप तथा पद्धति प्रदान की जो अरस्तू के पश्चात् बिल्कुल दूर चली गयी थी और कम से कम बाहरी तौर से उसे पुन एक विज्ञान का

रूप प्रदान किया।' यद्यपि मैकियाविली के दर्शन मे भी ऐसे प्रयासो का आभास होता है, तथापि मैकियाविली का दर्शन राजनीतिक विचारधाराओ का चिन्तनात्मक विवेचन न होकर व्यावहारिक राजनीति की कला अधिक है। बोदा की प्रसिद्ध रचना 'De Republic' अथवा 'Six Books Concerning the State' है, जिससे उसके राजनीतिक विचारो का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त बोदा ने अर्थशास्त्र, इतिहास, विधिशास्त्र आदि पर भी रचनाएँ की हैं।

राज्य सम्बन्धी विचार

राज्य की परिभाषा—राज्य की परिभाषा करने मे बोदा अरस्तू के सिद्धान्त को अपनाता है। उसके मत से राज्य की उत्पत्ति का कारण मानव की सामाजिकता की प्रवृत्ति है। इसके फलस्वरूप मानव विविध प्रकार के सवासो मे रहते हैं। परिवार एक ऐसा ही प्राकृतिक सवास है। इसके उपरान्त जीवन की पूर्णता के लिए मानव विविध प्रकार के आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सवासो का निर्माण करते हैं। कम्यून या निगम भी नागरिक सवासो की श्रेणी मे आते हैं। अन्तत सर्वोच्च एव बृहत्तम सवास 'राज्य' का निर्माण होता है, जिसमे सब छोटे-बडे सवास सगठित रूप से विलीन हो जाते हैं। राज्य की परिभाषा करते हुए बोदा ने लिखा है कि 'राज्य विभिन्न परिवारो तथा उनके सामूहिक मामलो का ऐसा योग है जिसका शासन विवेक तथा एक सम्प्रभु के द्वारा किया जाता है।'[1] इस दृष्टि से राज्य का एक प्रधान लक्षण उसमे सम्प्रभु शक्ति का होना है, जो अन्य सवासो मे नही होती। छोटे सवासों के अपने कोई निरपेक्ष पृथक् अधिकार नही होते।

नागरिकता—राज्य की पारिभाषिक व्याख्या करने के साथ-साथ बोदा नागरिकता की परिभाषा भी करता है। उसके विचार से 'नागरिक किसी दूसरे की सम्प्रभुता के अधीन रहने वाला स्वतन्त्र मानव है।'[2] इस दृष्टि से स्वतन्त्रता तथा सम्प्रभु की अधीनता नागरिकता के मुख्य लक्षण हैं। बोदा की नागरिकता सम्बन्धी धारणा अरस्तू से भिन्न है। अरस्तू के मत से नागरिक वह है जो राज्य के विधायी एव न्यायिक कार्यों मे भाग लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य का प्रत्येक व्यक्ति नागरिक नही हो सकता, परन्तु बोदा की धारणा का नागरिक राज्य की सम्प्रभु सत्ता के अधीन रहते हुए स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति है। अरस्तू का नागरिक राज्य की सम्प्रभु शक्ति के प्रयोग मे भाग लेता है, परन्तु बोदा का नागरिक सम्प्रभु के अधीन है। बोदा परिवार को राज्य की इकाई मानता है। उसकी धारणा मे नागरिकता का आधार भी परिवार ही है। इस दृष्टि से बोदा का नागरिक राज्य का प्रत्येक व्यक्ति नही है बल्कि परिवार का मुखिया ही राज्य की नागरिकता का अधिकारी हो सकता है। अन्य समस्त व्यक्ति प्रजाजनों की श्रेणी मे आते हैं।

[1] 'A state is an aggregation of families and their common affairs ruled by a sovereign and by reason' —Bodin

[2] 'A citizen is a free man subject to the Sovereign power of another' —Bodin

प्रभुसत्ता

राजनीतिक चिन्तन को बोदा की सबसे महान् देन उसकी प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा है, जिसका जन्मदाता होने का यश उसी को प्राप्त है। प्रभुसत्ता की परिभाषा करते हुए उसने लिखा है कि 'प्रभुसत्ता नागरिकों तथा प्रजाजनों के ऊपर ऐसी सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर कानूनों का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।'[1] बोदा की धारणा यह थी कि मूल रूप में प्रभुसत्ता जनता के हाथ में रहती है, परन्तु परम्परागत ढंग से जनता उस शक्ति को शासकों को अर्पित कर देती है। यह शक्ति मानव-समाज की सबसे शक्तिशाली इच्छा है, जिसमें अन्य छोटी इच्छाएँ विलीन हो जाती हैं। बोदा का मत है कि कानून द्वारा शासित प्रत्येक राजनीतिक समाज में एक या थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में एक ऐसी सत्ता रहती है जो कानूनों का निर्माण करती है। इसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह को राजनीतिक सम्प्रभु कहा जाता है। भले ही सम्प्रभु को ऐसी सत्ता जनता से प्राप्त होती है, परन्तु ऐसा प्रत्यायोजन बिना किसी शर्त के होता है। इस दृष्टि से बोदा प्रभुसत्ता के दो प्रमुख लक्षणों को मानता है—(1) सर्वोच्च शक्ति तथा (2) निरन्तरता।

राज्य की प्रभुसत्ता को सर्वोच्च सत्ता मानने का अभिप्राय यह है कि राज्य में विध्यात्मक या नागरिक कानूनों का निर्माण करने की एकमात्र शक्ति सम्प्रभु को प्राप्त रहती है। इस दृष्टि से कानून सम्प्रभु का आदेश है। सम्प्रभु उस कानून से ऊपर है जिसका निर्माण स्वयं उसने किया है। बोदा यह भी मानता है कि राज्य की प्रभुसत्ता को धारण करने वाला व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अपने पूर्ववर्ती सम्प्रभु द्वारा बनाये गये कानूनों से मर्यादित नहीं है। वह उनको संशोधित अथवा निरस्त कर सकता है। निरन्तरता से बोदा का अभिप्राय यह था कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति का प्रत्यायोजन सम्प्रभु को किसी निश्चित अवधि के लिए नहीं किया जाता और न ही किसी शर्त के साथ ऐसा प्रत्यायोजन किया जाता है। प्रभुसत्ता की निरन्तरता बनी रहने के लिए बोदा वंशानुगत राजतन्त्रात्मक व्यवस्था को उचित मानता है। उसका मत है कि यदि सम्प्रभु की निरन्तरता का यह अर्थ लिया जाय कि जो कभी समाप्त नहीं होती है, तो सम्प्रभुता का अस्तित्व असम्भव हो जायगा, क्योंकि अमरत्व जनता का लक्षण है। परन्तु प्रभुसत्ताधारी निश्चित काल के लिए किन्हीं शर्तों के अन्तर्गत प्रभुत्व-शक्ति प्राप्त नहीं करता। इसके विपरीत वह इस शक्ति को बिना किसी प्रकार की शर्तों के धारण किए रहता है। वंशानुगत राजतन्त्र में राजा के बाद उसकी सन्तान को प्रभुत्व-शक्ति संक्रमित होती रहने से उसकी निरन्तरता बनी रहती है।

प्रभुसत्ता का एक लक्षण उसका अदेय होना भी है। प्रभुसत्ताधारी इस शक्ति को किसी अन्य को हस्तान्तरित नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रभुसत्ता अविभाज्य भी है। प्रभुसत्ता के अविभाज्य होने की धारणा को बोदा के राज्य तथा शासन के मध्य भेद करने तथा शासनों के रूपों के विवेचन में ज्ञात किया जा सकता है। बोदा के अनुसार प्रभुसत्ता को धारण करना राज्य का लक्षण है और सरकार के रूपों का

[1] 'Sovereignty is the supreme power over citizens and subjects unrestrained by laws.'—Bodin

निर्धारण करने की कसौटी प्रभुसत्ता के प्रयोग करने की पद्धति है । राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र या लोकतन्त्र राज्य के रूप नहीं हैं, बल्कि शासन के रूप हैं। शासन के रूपो का निर्धारण उन व्यक्तियों की सख्या के द्वारा किया जाता है, जिनके हाथ मे प्रभुत्व शक्ति रहती है। बोदा भी अरस्तू की भाँति मिश्रित सरकार की धारणा को अमान्य करता है, क्योकि यह धारणा प्रभुत्व शक्ति के विभाजित होने की परिचायक है। यह सम्भव हो सकता है कि एक राजा अपनी शक्ति का प्रत्यायोजन करके लोकतन्त्रात्मक ढग से शासन करे, साथ ही यह भी सम्भव है कि एक लोकतन्त्री सरकार स्वेच्छाचारिता के साथ शासन करे। परन्तु किसी भी स्थिति मे इसे प्रभुसत्ता का विभाजन नहीं माना जा सकता। केवल प्रशासन सम्बन्धी मामलो मे विविध तत्त्वो का सयुक्त भाग रह सकता है न कि सम्प्रभु शक्ति को धारण करने के सम्बन्ध मे।

प्रभुसत्ता का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विधि निर्माण है । अत सम्प्रभु का आदेश ही विधि है । परम्पराएँ कानून का स्रोत नही मानी जा सकती। कानून परम्परा को बदल सकता है, न कि परम्पराएँ कानून को । परम्परा के पीछे कोई अनुशास्ति (sanction) नही होती, परन्तु कानून के पीछे अनुशास्ति का रहना उसका विशिष्ट लक्षण है। अत कानून तथा परम्पराएँ सम्प्रभु की इच्छा पर निर्भर हैं। कानून निर्माण के अतिरिक्त सम्प्रभु के अन्य कार्य निम्नलिखित है युद्ध तथा शान्ति की घोषणा करना, प्रशासको की नियुक्ति, न्यायिक कार्यों की अन्तिम शक्ति, क्षमा प्रदान करना, मुद्रा का नियमन करना, कर-निर्धारण, आदि।

प्रभुसत्ता पर मर्यादाएँ—बोदा ऐसे युग का विचारक था जिसे मध्य युग से आधुनिक युग की ओर सक्रमण का काल कहा जा सकता है। राजनीतिक विचारधारा के प्रतिपादन मे बोदा का राज्य की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त पूर्णतया एक आधुनिक धारणा है । बोदा ने धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक विचारधारा का प्रतिपादन करके भी अपने को आधुनिक विचारक कहलाये जाने का यश प्राप्त किया है। परन्तु सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने मे वह अपने विचारो को मध्ययुगीन धारणाओ के प्रभावों से पूर्णतया मुक्त नही कर पाया। यद्यपि उसने राज्य की प्रभुसत्ता को निरपेक्ष, अविभाज्य, अदेय तथा निरन्तरतायुक्त चित्रित किया है, तथापि वह प्रभुसत्ता को पूर्णतया अमर्यादित नही रख सका। उसने प्रभुसत्ता पर निम्नाकित मर्यादाएँ लगाई हैं, उनके कारण उसके सिद्धान्त मे अनेक असगतियाँ तथा भ्रम उत्पन्न हो गये हैं

(1) सम्प्रभु के ऊपर प्रथम मर्यादा दैवी तथा प्राकृतिक कानूनो की है। बोदा इन कानूनो के अस्तित्व को स्वीकार करने के साथ-साथ उन्हे मानवीय कानून की अपेक्षा उच्चतर मानता है। उसके विचार से इनकी सृष्टि सम्प्रभु मानव श्रेष्ठ के द्वारा नही की गई है। इसलिए राज्य का मानव-सम्प्रभु इन कानूनों से ऊपर नहीं है । बोदा की दृष्टि से प्राकृतिक कानून का एक नियम यह है कि मानव को अपने द्वारा की गई सविदा का उल्लघन नहीं करना चाहिए। अत यदि सम्प्रभु अपनी स्थापना के समय किसी प्रकार की सविदा करता है तो वह अपने द्वारा निर्मित

कानूनों के द्वारा उस संविदा का उल्लंघन नहीं कर सकता। ऐसा कार्य प्राकृतिक कानून का उल्लंघन होगा। इसी प्रकार मानव के विवेक पर आधारित प्राकृतिक कानून के किसी भी नियम का उल्लंघन सम्प्रभु के लिए अवांछनीय है।

(2) दैवी तथा प्राकृतिक कानून के अतिरिक्त बोदा राष्ट्रों के कानून (laws of nations) की धारणा से भी परिचित था। विभिन्न राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों, समझौतों, सन्धियों आदि का आधार राष्ट्रों का कानून है। उसका उल्लंघन करना राज्य की प्रभुत्व शक्ति की रक्षा के लिए अनुचित है। अतः सम्प्रभु को राष्ट्रों के कानून के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए।

(3) इसके अतिरिक्त सम्प्रभु के ऊपर नागरिकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार की भी मर्यादा है। अरस्तू की भांति बोदा भी सम्पत्ति को नागरिक का एक अलंघ्य अधिकार मानता है। सम्पत्ति राज्य तथा नागरिकता का आधार है, क्योंकि राज्य का आधार परिवार है और परिवार का आधार उसकी सम्पत्ति है। इसलिए व्यक्ति की सम्पत्ति का सम्प्रभु द्वारा किसी भी रूप में अतिक्रमण किया जाना राज्य के आधार को ही नष्ट करना होगा। अतएव सम्प्रभुता के ऊपर सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार की मर्यादा है।

(4) इसी प्रकार सांविधानिक कानून का उल्लंघन करने का अधिकार भी सम्प्रभु को प्राप्त नहीं है। सांविधानिक कानून के द्वारा राज्य की स्थापना और विविध शासकीय संस्थाओं की व्यवस्था तथा नागरिकों के अधिकारों की सृष्टि की जाती है। सम्प्रभु इन सांविधानिक व्यवस्थाओं के विरुद्ध कोई कानून नहीं बना सकता, अन्यथा राज्य का आधार ही समाप्त हो जायेगा। इस दृष्टि से सम्प्रभु उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकता और न राज्य के किसी भाग का हस्तान्तरण ही कर सकता है।

आलोचना—बोदा की प्रभुसत्ता की धारणा में अनेक अस्पष्टताएँ तथा असंगतियाँ हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि बोदा राज्य के उद्देश्य एवं प्रभुसत्ता की धारणा के बारे में पूर्णतया स्पष्ट नहीं रह पाया। एक ओर वह सम्प्रभु को निरपेक्ष सत्ता धारण करने वाला मानता है तो दूसरी ओर उसके ऊपर अनेक प्रकार की मर्यादाएँ आरोपित करता है। जब वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के अलंघ्य अधिकार को मान्यता देता है तो इसका यह अर्थ हुआ कि सम्प्रभु किसी व्यक्ति की सम्पत्ति के ऊपर कर नहीं लगा सकता। परिवार की सम्पत्ति में परिवार के सब सदस्य भी शामिल हैं, जिनके ऊपर सम्प्रभु का कोई अधिकार नहीं होगा। इस दृष्टि से बोदा की प्रभुसत्ता का स्वरूप केवल राजनीतिक प्रभुसत्ता का रह जाता है, न कि वैधिक प्रभुसत्ता का। प्रभुत्व शक्ति राज्य की सम्पत्ति नहीं रह जाती। बोदा की धारणा में प्रभुत्व शक्ति की निरपेक्षता केवल विध्यात्मक (positive) कानूनों तक सीमित है, जिन्हें सम्प्रभु स्वयं बनाता है परन्तु उसकी सत्ता के ऊपर अस्पष्ट तथा अलिखित दैवी, प्राकृतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मर्यादा भी आरोपित की गयी है। इन अस्पष्टताओं के कारण बोदा का सम्प्रभु वास्तविक सम्प्रभु नहीं रह जाता। यह भी स्पष्ट नहीं है कि दैवी, प्राकृतिक, अन्तर्राष्ट्रीय एवं सांविधानिक कानून की व्याख्या

कौन है। इस दृष्टि से यद्यपि बोदा ने सर्वप्रथम प्रभुसत्ता की धारणा का प्रतिपादन करके राजनीतिक चिन्तन को अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, तथापि उसकी इन कमियों का निराकरण तभी हो सका जबकि उसकी एक सदी के पश्चात् इंग्लैण्ड के विचारक हॉब्स ने प्रभुसत्ता की इस धारणा को स्पष्टता प्रदान की।

राज्य तथा सरकार—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बोदा राज्य तथा सरकार के मध्य भेद करता है। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र या लोकतन्त्र राज्यों के भेद हैं, जबकि राज्य की प्रभुत्व शक्ति क्रमशः एक, कुछ या बहुत से व्यक्तियों के हाथ में रहती है। इनके अतिरिक्त राज्य के और कोई रूप नहीं हो सकते। मिश्रित राज्य की धारणा बोदा को अमान्य है। इसके विपरीत सरकार के रूपों का निर्धारण करने की कसौटी प्रभुसत्ता के प्रयोग करने की विधि है। बोदा के अनुसार एक राजतन्त्री राज्य की सरकार कुलीनतन्त्री या लोकतन्त्री भी हो सकती है। इसी प्रकार स्वेच्छाचारी तन्त्र, शाही राजतन्त्र या अत्याचारी तन्त्र राज्य के भेद नहीं हैं, अपितु सरकार के रूप हैं। इन विविध तत्त्वों का मिश्रण सरकार में ही सम्भव है न कि प्रभुसत्ता के धारण करने में। सरकार के विविध रूपों में से बोदा शाही राजतन्त्रात्मक सरकार को सर्वोत्तम व्यवस्था मानता है। उसके मत से कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र में सत्ताधारियों के मध्य गुटबन्दी तथा पारस्परिक मतभेद प्रशासनिक कुशलता को हानि पहुँचाते हैं। आपातकाल में कठिनाइयों का सामना करने के लिए शक्ति का केन्द्रीयकरण आवश्यक होता है, जो राजतन्त्री व्यवस्था में सरलता से सम्पन्न हो सकता है। बोदा का युग राष्ट्रीय राजतन्त्रों का युग था। अतः राष्ट्रीय एकता तथा सुदृढ़ता की व्यावहारिकता को देखते हुए उसके द्वारा राजतन्त्र का समर्थन करना उसकी यथार्थवादिता का द्योतक है। उसने कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र के गुणों को भी सैद्धान्तिक दृष्टि से अमान्य नहीं किया है।

क्रान्तियाँ तथा राज्य की सुरक्षा—अरस्तू की भाँति बोदा भी राज्यों में क्रान्तियों के कारणों का विवेचन करता है। अरस्तू के मत से क्रान्ति का अर्थ राज्य या संविधान के रूप में परिवर्तन का होना था। बोदा के अनुसार क्रान्ति के दो रूप हो सकते हैं—पहला, जिसका प्रभाव राज्य की प्रभुसत्ता पर पड़ता है, दूसरा, ऐसी क्रान्ति जो प्रभुसत्ता के रूप को परिवर्तित नहीं करती परन्तु राज्य के कानून एवं संस्थाओं के रूप में परिवर्तन लाती है। बोदा का मत है कि जहाँ प्रभुसत्ता के निवास स्थान में परिवर्तन होता है, वहीं पर क्रान्ति के अस्तित्व को स्वीकार किया जाना चाहिए। उसका विश्वास है कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। अतः परिवर्तन को रोकना उचित नहीं, अपितु परिवर्तन के ढंग का नियमन किया जाना चाहिए। क्रान्तियाँ कई कारणों से होती हैं, यथा दैवी, मानवीय, प्राकृतिक आदि। सम्पत्ति की असमानता भी क्रान्ति को जन्म देती है। बोदा का मत है कि भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा जलवायु भी किसी जन समूह की राजनीतिक चेतना तथा व्यवहार को प्रभावित करने में सहायक सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, उत्तरी प्रदेशों के लोग शारीरिक दृष्टि से मजबूत किन्तु मानसिक दृष्टि से निर्बल होते हैं। दक्षिणी प्रदेशों में यह बात विपरीत होती है। मध्यवर्ती प्रदेशों के लोगों में उक्त दोनों के गुण दोषों

का सम्मिश्रण पाया जाता है। इससे बोदा का अभिप्राय फास मे था। यद्यपि बोदा किसी धर्म-विशेष के प्रति अभिरुचि नही रखता और राजनीतिक विचारो के प्रतिपादन मे उसने पूर्णतया धर्मनिरपेक्षता का अवलम्बन किया है, तथापि वह अधार्मिक या अनीश्वरवादी नही था। वह अन्धविश्वासिता को भी महत्व देता था। उसके मत से ग्रहो तथा नक्षत्रो की गतियाँ तथा ज्योतिष के पन्निनार्थ भी राज्य के जीवन पर प्रभाव डालते हैं। अत राज्य की सुरक्षा म इनके प्रभावो की उपेक्षा नही की जानी चाहिए। नागरिको को विचार-अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करना, शस्त्र धारण करने की स्वतन्त्रता देना, आदि भी क्रान्ति को जन्म दे सकते हैं। अत बोदा का सुझाव है कि सम्प्रभु को इन समस्त बातों की जानकारी रखनी चाहिए और उसे राज्य की शान्ति, व्यवस्था, सुरक्षा एव जन-हित के निमित्त इनको ध्यान मे रखते हुए शासन, कानून एव प्रशासन की व्यवस्था को सुदृढ करना चाहिए।

धर्म—बोदा का मत है कि राज्य के अन्तर्गत परस्पर विरोधी गुट एव दल अशान्ति तथा अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं। धार्मिक मतभेद भी इन सघर्षों के कारणो मे से एक है। बोदा के युग मे कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट सघर्ष बहुत अधिक विकसित हो चुका था और इसके कारण भीषण रक्तपात होने लगे थे। अतएव बोदा ने अनुभव किया कि सम्प्रभु को धर्म-सम्बन्धी मतभेदो म पूर्णतया सहिष्णुता की नीति अपनानी चाहिए। किसी व्यक्ति को धर्म परिवर्तन या धार्मिक विश्वासिता के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए, अन्यथा लोगो म नास्तिकता तथा अधार्मिकता बढ जाती है। इसका कुप्रभाव राज्य क प्रति निष्ठा उत्पन्न करान म पडता है। अत एक बुद्धिमान सम्प्रभु को धार्मिक भेदभाव की नीति का परित्याग करना चाहिए। जनता की धार्मिक निष्ठा राज्य के प्रति निष्ठा प्राप्त करन म सहायक सिद्ध होती है।

बोदा के राजनीतिक विचारो का महत्त्व तथा प्रभाव

(1) बोदा के चिन्तन मे अरस्तूवाद का पुनरुद्भव हुआ—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास म बोदा मध्य युग म आधुनिक युग के सक्रमणकाल का विचारक है। अरस्तू न राजनीतिक चिन्तन क लिए ऐतिहासिक तुलनात्मक, पर्यवेक्षणात्मक एव आगमनात्मक विधियो को अपनाकर राजनीतिशास्त्र को एक विज्ञान का स्वरूप प्रदान करन मे जो सफलता प्राप्त कर ली थी, वह समूच मध्य युग म समाप्त रही। मध्य युग की विचारधाराओ पर धार्मिक सघर्षों, सामन्तशाही एव प्राकृतिक और दैवी कानून की भावनामूलक धारणाओ का प्रभाव बना रहा। दूसरी ओर सार्वभौमिकतावाद की कल्पनामूलक धारणा भी बनी रही। इन सब के कारण राजनीतिक चिन्तन की वैज्ञानिकता के विकास को कोई प्रोत्साहन नही मिल पाया। यद्यपि एक्विना तथा मारसीलियो न अरस्तूवाद को अपनाकर राजनीतिक विचारधारा को नवीनता प्रदान करन का प्रयास किया था, तथापि उनके विचार भी मध्ययुगीन धर्म तथा चर्च व राज्य के साथ सघर्ष म अपन को मुक्त नही कर पाय। अत वे राजनीतिक व्यवहार की यथार्थता स दूर ही रहे। मैकियावेली न धर्म तथा नैतिकता म विहीन राजनीति की कला का चित्रण करन म ऐतिहासिक तथा

व्यावहारिक पद्धति का अनुगमन किया परन्तु उसका दर्शन राज्य सम्बन्धी धारणाओं का चिन्तनात्मक तथा दार्शनिक विवेचन सिद्ध नहीं हो पाया। इस दृष्टि से बोदा ने मध्ययुगीन प्रभाव से बहुत कुछ अंश में मुक्त रहकर पुनः राजनीतिक चिन्तन को अरस्तूवादिता के रूप में लाने का प्रयास किया। यद्यपि पाल जनेट, पोलक, ब्लन्ली प्रभृति लेखकों की धारणा है कि बोदा का राजनीतिक दर्शन अरस्तू पर सुधार करने का एक असफल प्रयास था[1] तथापि हम डनिंग के मत से सहमत हो सकते हैं कि बोदा ने पुनः राजनीति को कम से कम बाहरी रूप से वह स्वरूप प्रदान किया जिसे अरस्तू के पश्चात् अस्त-व्यस्त स्थिति में रहना पड़ गया था। यह भी सत्य है कि बोदा के समक्ष अरस्तू की अपेक्षा पर्याप्त अधिक सामग्री विद्यमान थी। स्वयं अरस्तू का ग्रन्थ, उसके पश्चात् रोमन कानून, मध्ययुग की ऐतिहासिक सामग्री एवं राष्ट्रों के संविधान आदि का विकास जो कि अरस्तू के बाद की 18वीं शताब्दियों तक हो चुका था वह बोदा की विचारधारा को विकसित होने के लिए पर्याप्त सामग्री थी। तथापि बोदा में अरस्तू की सी प्रतिभा का अभाव उसे यह क्षमता प्रदान न कर सका कि वह राजनीतिक चिन्तन को अरस्तू के ऊपर सुधार के रूप में प्रस्तुत कर सके। यह भी स्मरणीय है कि बोदा के समक्ष इतनी अधिक समस्याएं थीं कि उन सबका समाधान करने के निमित्त जिन तर्कों तथा सिद्धान्तों को अपनाया उनके द्वारा वह उन विविध समस्याओं के हल के लिए कोई सपन्न तथा संगतिपूर्ण समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। मैकियावेली ने केवल राजनीति के व्यावहारिक पक्ष को लिया था। बोदा ने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों को लिया। अतः अपने निष्कर्षों की खोज में उसके समक्ष अनेक जटिल समस्याएं थीं।

(2) मध्ययुगीन चिन्तन की प्रवृत्ति से मुक्ति तथा आधुनिकता का आरम्भ— सबाइन ने कहा है कि बोदा का राजनीतिक दर्शन प्राचीन तथा अर्वाचीन का विचित्र सम्मिश्रण है। वह आधुनिक विचारक सिद्ध हुए बिना ही मध्ययुगीन विचारक भी नहीं रह पाया।[2] बोदा के राजनीतिक चिन्तन में अनेक मध्ययुगीन धारणाओं का स्थान नवीन धारणाओं ने ले लिया है यथा मध्ययुगीन सार्वभौमिकतावाद के स्थान पर राष्ट्रीय राज्य की धारणा, राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त के स्थान पर राष्ट्रीय प्रभुसत्ता की धारणा, सामन्तवादी व्यवस्था के स्थान पर प्रभुत्व सम्पन्न राजतन्त्रों की धारणा तथा विध्यात्मक कानून के अनुसार नागरिकता की धारणा, धार्मिक संघर्षों के मध्य में राजनीतिक समस्याओं का विवेचन करने के स्थान पर धर्म निरपेक्ष राजनीति को अपनाना और अन्ततः राजनीतिक चिन्तन एवं आदर्शों की व्याख्या करने में धर्मशास्त्रों तथा धार्मिक सिद्धान्तों के स्थान पर वैज्ञानिक ढंग से (तुलना, पर्यवेक्षण, विश्लेषण की पद्धति द्वारा) सिद्धान्तों का निरूपण करना आदि। इनके कारण बोदा को आधुनिक राजनीतिक चिन्तक होने की स्थिति प्राप्त

[1] Bodin's philosophy was an ambitious but unsuccessful attempt to improve upon Aristotle. —Janet

[2] Bodin's political philosophy was a singular mixture of old and new. He had ceased to be medieval without becoming modern. —Sabine

हुई है। परन्तु उनके दर्शन मे प्राचीनता के तत्वो का अस्तित्व भी बना रहा है। उसका राज-दर्शन धर्मनिरपेक्ष अवश्य है, परन्तु धर्म-विहीन नही है। धार्मिक अन्धविश्वासिता, ज्योतिष, जादू-टोना आदि के प्रभाव को राजनीति मे स्थान देना, दैवी तथा प्राकृतिक कानून को सम्प्रभु शक्ति से उच्चतर मानना, प्रशासनिक व्यवहार मे उसका उदारवाद तथा प्रबुद्धवाद, परम्परागत संस्थाओ को राज्य के स्थायित्व के लिए महत्त्वपूर्ण मानना आदि ऐसी धारणाएँ थी जो उसके दर्शन मे प्राचीनता के अस्तित्व को बनाये रखती हैं। यो तो मध्य युग के पश्चात् मैकियाविली की विचार-धाराओ मे आधुनिकता के अनेक लक्षण आ गये थे। उसने भी धर्म-विहीन राजनीति अपनायी थी और सार्वभौमिकतावाद के स्थान पर राष्ट्रीयता के आधार पर निर्मित राज्य-व्यवस्था का समर्थन किया था तथापि मैकियावेली न तो सही माने म एक राजनीतिक चिन्तक बन पाया और न उसका दर्शन सामयिक सिद्ध हो पाया, क्योंकि उसके विचार अपने युग की परिस्थितियो स बहुत आगे बढ चुके थे। परिणाम यह हुआ कि उसके पश्चात् पुन धर्म सुधार आन्दोलन चल पडा, जिसने राजनीतिक चिन्तन को पुन मध्ययुगीन प्रवृत्तियो मे भर दिया। बोदा के राज-दर्शन ने भविष्य के चिन्तन तथा व्यवहार को प्रभावित करने म बहुत सामयिक योगदान किया। उसके पश्चात् के चिन्तको ने उसकी विचारधारा को विकसित तथा परिवर्धित करके उसे आधुनिकता की दिशा प्रदान की। अत राजनीतिक चिन्तन म मैकियाविली की अपेक्षा बोदा को आधुनिकता का प्रतिपादक माना जाता है।[1]

(3) आधुनिक प्रभुसत्ता की धारणा का जनक—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को बोदा की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसकी प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा है। सेबाइन ने कहा है कि 'प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के सम्बन्ध म बोदा का वक्तव्य सामान्यतया उसके राजनीतिक दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है।[2] निस्सन्देह उसके प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त म अनेक कमियाँ थी विशेष रूप म अनेक मर्यादाओ को आरोपित करने के कारण। परन्तु बोदा के लिए व्यावहारिक दृष्टि से उन मर्यादाओ को आरोपित करना आवश्यक हो गया था। तत्कालीन परिस्थितियो के अन्तर्गत बोदा के समक्ष यह समस्या थी कि राज्य की शान्ति-व्यवस्था तथा सुरक्षा के लिए सत्ता अनिवार्य थी। साथ ही वह फ्रांस की सांविधानिक व्यवस्था तथा जन-परम्पराओ को बनाये रखना भी आवश्यक मानता था। अत जैसा हारमॉन ने कहा है, 'बोदा ने सम्प्रभु पर केवल वही मर्यादाएं आरोपित की हैं जो कि राज्य की सुरक्षा के लिए नितान्त आवश्यक थी।'[3] वह यह मानता था कि सम्प्रभु द्वारा जनता की सम्पत्ति का अतिक्रमण एवं दैवी, प्राकृतिक तथा सांविधानिक कानून का अतिक्रमण, राज्य को विनष्ट कर देगा। सामन्तशाही तथा धर्मान्धता के समर्थकों ने

[1] In political thought it was Bodin and not Machiavelli who may be called the pioneer of modernity

[2] Bodin's statement of the principle of sovereignty is generally agreed to be the most important part of his political philosophy —Sabine

[3] 'Bodin placed upon the sovereign only those limitations that were necessary to the preservation of the state itself' —Harmon

बोदा का विरोध किया। परन्तु बोदा ने जो कुछ लिखा वह उपयोगितावाद, व्यवहारवाद, प्राचीनतावाद एवं विवेकवाद पर आधारित था, न कि कोरी सिद्धान्तवादिता पर।

प्रभाव—इस दृष्टि से बोदा का राजनीतिक दर्शन सोलहवीं शताब्दी की फ्रांस की राजनीतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्यक्त एक व्यावहारिक विचारधारा है। परन्तु उसका सैद्धान्तिक पक्ष तत्कालीन यूरोप के राष्ट्रीय राज्यों की समस्याओं का भी दार्शनिक एवं चिन्तनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। बोदा की विचारधारा की महत्ता इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि उसने भविष्य के महानतम विचारकों को प्रभावित किया। डनिंग ने कहा है कि 'उसका (बोदा का) वास्तविक कार्य राज्य तथा शासन विज्ञान के सिद्धान्त को पुनः उस रूप में प्रस्तुत करना था जहाँ कि अरस्तू ने इसे इतिहास तथा पर्यवेक्षण की आधारशिला पर स्थापित किया था, साथ ही बोदा उसे नीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र की अधीनता में ही नहीं रखना चाहता था।'[1] बोदा के विचारों से हालैंड के विधिवेत्ता ग्रोशियस को प्रेरणा मिली जिसने उसके सिद्धान्तों को अपनाकर अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के निमित्त प्राकृतिक कानून की धारणा पर आधारित प्रभुत्व सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया इसके पश्चात् हॉब्स तथा फिल्मर ने निरंकुश प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को बोदा के ऊपर सुधार के रूप में व्यक्त किया। 'हॉब्स ने प्रभुसत्ता को उन सभी अयोग्यताओं तथा मर्यादाओं से छुटकारा दिलाया जिन्हें आरोपित करने की असंगति बोदा ने की थी।' उन्नीसवीं शताब्दी के उपयोगितावादी विधि-शास्त्री आस्टिन ने पुनः प्रभुसत्ता की धारणा को उन्हीं आधारों पर कानूनी ढंग से व्यक्त किया जिन्हें बोदा ने दार्शनिक आधार पर व्यक्त किया था। बोदा के प्राकृतिक कानून को महत्त्वपूर्ण मानने की धारणा लॉक ने अपनायी।

बोदा के विविध राजनीतिक विचारों का प्रभाव अठारहवीं सदी में फ्रांस के विचारक माटेस्क्यू पर भी पड़ा है। उसने बोदा की समस्त विचारधाराओं तथा विचार-पद्धतियों को अपनाया और अपने दृष्टिकोण से उनका विकास किया। डनिंग ने कहा है कि 'मान्टेस्क्यू बोदा का सुयोग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुआ था, और जिन रूपों में इन दोनों ने अपने विचार रखे थे वे उन्नीसवीं शताब्दी के दर्शन में पुनः प्रभावी सिद्ध हुए।'[2] बोदा सबसे पहला विचारक था जिसने राजनीतिक विचारों के प्रतिपादन में सामान्य नियमों का निर्धारण करने के लिए मानव विकास को आधारभूत वैज्ञानिक तत्त्व माना और कोरे धार्मिक विश्वासों का परित्याग किया। बोदा का राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का सिद्धान्त आज के युग में तक व्यावहारिक राजनीति का एक प्रमुख तत्त्व है। *यह सिद्धान्त राजनीतिक विचारधाराओं को बोदा की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।*

[1] 'His real work was to set the theory of state and the science of government once more where Aristotle had placed it on a foundation of history and observation, and by the side of, not dependent from the sciences of ethics and theology.'—W. A. Dunning

[2] 'In Montesquieu Bodin found a worthy successor and the dominant philosophy of the late nineteenth century placed itself, once more within the lines which were marked out by these two.'—Dunning

टॉमस हॉब्स
(1588 ई० से 1679 ई०)

परिचयात्मक

हॉब्स सत्रहवीं शताब्दी का इग्लैण्ड का सबसे महान् राजनीतिक चिन्तक था। उसका जन्म मेम्सबरी के एक पादरी के घर हुआ था। 20 वर्ष की अवस्था मे ऑक्सफोर्ड से उसने स्नातक की उपाधि प्राप्त की। इससे पूर्व ही वह एक लैटिन ग्रन्थ का अग्रेजी मे अनुवाद करके साहित्य के क्षेत्र मे ख्याति प्राप्त कर चुका था। इसके उपरान्त वह इग्लैण्ड के एक सम्भ्रान्त कैवेंडिश परिवार मे निजी शिक्षक के रूप मे कार्य करने लगा। इस परिवार के साथ हॉब्स को कई बार फ्रास तथा यूरोप के अन्य देशो मे जाने का अवसर मिला। वहाँ उसने अन्य भाषाओ का अध्ययन किया। उसकी अभिरुचि गणित तथा भौतिक विज्ञान मे बहुत अधिक थी। इस बीच न्यूटन, गैलीलियो, डिकार्ट, गैसेंडी आदि ने गणित तथा भौतिकशास्त्र मे अनेक नवीन खोजें की थीं। हाब्स उनसे बहुत प्रभावित था। हॉब्स के जीवन काल मे इग्लैण्ड का राजनीतिक वातावरण डाँवाँ-डोल स्थिति मे था। स्टुअट वश के कैथोलिक राजा जेम्स प्रथम ने राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त की मान्यता को लेकर निरकुश शासन की नीति अपनायी थी। उसके लडके चार्ल्स प्रथम ने भी यही रवैया अपनाया। इग्लैण्ड मे इस बीच राजतन्त्र समर्थको तथा ससद की सर्वोच्च सत्ता के समर्थको के मध्य भीषण सघर्ष चला हुआ था। 1640 म ससद समथक प्यूरिटन दल ने क्रान्ति को उग्र कर दिया। दीघ ससद ने चार्ल्स प्रथम के दो प्रमुख सलाहकारों के ऊपर अभियोग चलाया तो गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। कालान्तर मे ससद ने चार्ल्स प्रथम के ऊपर भी ऐसा ही अभियोग चलाकर 1649 मे उसे फासी पर लटका दिया। 1649 से 1660 तक इग्लैण्ड मे गणतन्त्र कायम रहा। क्रामवेल इसका प्रधान था। परन्तु 1660 मे क्रामवेल की मृत्यु हो जान पर पुन चार्ल्स प्रथम के पुत्र को जो उस समय फ्रास मे था, चार्ल्स द्वितीय के नाम से राजगद्दी स्वीकार करने के लिए बुला लिया गया। चार्ल्स द्वितीय भी कैथोलिक था। अत उसकी नीतियो से क्रान्ति समाप्त नही हुई। 1685 मे उसकी मृत्यु के बाद उसके भाई जेम्स द्वितीय को गद्दी पर बैठाया गया। परन्तु 1688 मे जेम्स की कैथोलिक समथक नीति से ऊबकर प्यूरिटन क्रान्तिकारियो ने उसकी पुत्री मेरी तथा दामाद विलियम आव आरेंज को जो प्रोटस्टेंट धर्मावलम्बी थे, सयुक्त रूप से राजपद प्राप्त करने का आमन्त्रण दिया,

और जेम्स को गद्दी छोडने के लिए विवश किया। यह क्रान्ति रक्तहीन सिद्ध हुई। इस घटना से इंग्लैण्ड की 47 वर्ष से चली हुई गृह-क्रान्ति समाप्त हो गयी।

हॉब्स पर गृह-युद्ध का प्रभाव—हॉब्स के जीवन तथा विचारधाराओ पर इस राजनीतिक वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पडा। उसने अनुभव किया कि इंग्लैण्ड का सामाजिक वातावरण अराजकता की स्थिति मे है, जिसमे व्यक्ति की सुरक्षा की कोई गारन्टी नही है। राजसत्ता तथा ससद की सत्ता के समर्थकों के मध्य चार्ल्स प्रथम के काल मे जो सघर्ष उत्पन्न हुआ था उसमे हॉब्स ने राजा के समर्थन मे विचार व्यक्त किये थे। जब ससद ने राजतन्त्र समर्थकों की पकड-धकड शुरू की तो हॉब्स डरकर फ्रांस भाग गया। वहा उसे चार्ल्स प्रथम के पुत्र को जो बाद मे चार्ल्स द्वितीय के नाम से राजा बना, गणित की शिक्षा देने का अवसर मिला। चार्ल्स प्रथम को मृत्यु-दण्ड दिये जाने पर हॉब्स ने 1651 मे अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवाइथन' (Leviathan) प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ के विचार भौतिकवादी, धर्म-विरोधी तथा निरकुश राजतन्त्र के समर्थक थे। अत फ्रास के कैथोलिक राजतन्त्र ने इसका घोर विरोध किया और हॉब्स के जीवन म पुन सकट की स्थिति आ गयी। वह भागकर इंग्लैण्ड चला आया और तत्कालीन शासक क्रामवेल तथा ससद के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। क्रामवेल जो स्वय एक निरकुश शासक था को यह सन्तोष था कि हॉब्स निरकुश शासक का समर्थक तथा कैथोलिक विरोधी है, अत उसने हॉब्स को अभय दान दे दिया। बाद मे चार्ल्स द्वितीय के राजा बन जाने पर राजा द्वारा हॉब्स को गुरुवत् सम्मान मिला। लेवाइथन से पूर्व हॉब्स ने 'डी साइव' (De Cive) की रचना कर ली थी। जीवन के अन्तिम वर्षो मे उसने 'डी होमाइन' (De Homine) तथा 'डी कॉरपोर (De Corpore) की रचना की। उसने अनेक लैटिन भाषी ग्रन्थो का अग्रेजी मे अनुवाद भी किया। परन्तु हॉब्स के राजनीतिक विचारो का ज्ञान मुख्यतया 'लेवाइथन' मे और कुछ अश मे 'डी साइव' से होता है। 1679 मे 92 वर्ष की आयु मे हॉब्स का देहान्त हो गया। परन्तु वह आजन्म शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ रहा।

राजनीतिक विचार स्रोत तथा पद्धति

हॉब्स के राजनीतिक चिन्तन पर निम्नांकित चार मुख्य प्रभाव थे :

(1) गणित तथा भौतिक विज्ञानों का विकास—हॉब्स के मत से अतीत मे सामाजिक अस्थिरता का कारण अवैज्ञानिक ढग से समाज का अध्ययन किया जाना है। उसने बताया कि जिस प्रकार रेखागणित मे सत्य का ज्ञान करने के लिए 'सरल से जटिल की ओर चलने' का नियम है, इसी प्रकार समाज के सम्बन्ध मे भी अध्ययन-विधि ऐसी ही होनी चाहिए, अर्थात् पहले सरल चीज 'मानव' का अध्ययन किया जाय, तब 'समुदाय' का तथा अन्त मे जटिल सगठन 'समाज' का। राजनीतिक एव सामाजिक व्यवस्था का ठीक-ठीक ज्ञान करने की यही विधि है। हॉब्स का यह मत था कि समूचा विश्व पदार्थ मात्र है और उसकी क्रिया यान्त्रिक है। विश्व मे समस्त सामाजिक सगठनों की गति-विधियाँ पदार्थो की भाँति गति के नियमो (laws of

motions) के अनुसार सचालित होती हैं। मानव भी एक प्रकार का पदार्थ है, जिसके व्यवहारो का नियमन उस पर बाह्य पदार्थों की गति के कारण होता है। मनुष्य के विविध सवेग दो प्रकार के होते हैं इच्छा तथा निवृत्ति। पदार्थों की जो गति मानव मन को आकर्षित करे वह मनुष्य मे इच्छा की, तथा जो प्रतिकूल प्रभाव डाले वह निवृत्ति की उत्पत्ति करती है। इन्ही नियमो के आधार पर समाज की सम्पूर्ण गतिविधियों को समझा जा सकता है। हॉब्स ने अपने राजनीतिक विचारो का विकास करने मे इस भौतिकवादी तथा वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर राजनीतिक चिन्तन मे अपने को सबसे पहला वैज्ञानिक भौतिकवादी विचारक होने की ख्याति प्राप्त की है।

(2) **राजनीतिक वातावरण**—हॉब्स के राजनीतिक विचारो का दूसरा प्रभाव तत्कालीन इगलैण्ड के राजनीतिक वातावरण का है। उसे यह समाधान हो गया था कि इग्लैण्ड मे जो अराजक स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, उसमे व्यक्ति की सुरक्षा का एकमात्र उपाय यही है कि राजनीतिक सत्ता एक निरकुश शासक के हाथ मे रहनी चाहिए जिसकी सत्ता को जनता स्वभावत स्वीकार करे।

(3) **व्यक्तिगत स्वभाव**—तीसरा प्रभाव हॉब्स के व्यक्तिगत स्वभाव का है। हॉब्स स्वय एक डरपोक स्वभाव का व्यक्ति था। अत वह अन्य व्यक्तियो के सम्बन्ध मे भी यही सोचता था कि उनकी आत्म-रक्षा समाज के अन्दर तभी सम्भव है जब कि एक सम्पूर्ण सत्ताधारी व्यक्ति शासन की निरपेक्ष सत्ता से युक्त हो और उसका प्रधान उद्देश्य व्यक्तिमात्र का सरक्षण करना हो।

(4) **सविदावादी विचार परम्परा**—हाब्स के राजनीतिक विचारो पर चौथा प्रभाव तत्कालीन चिन्तन प्रणाली का भी था। उस युग के अन्य विचारक राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे समझौता सिद्धान्त की विचारधारा को अपना रहे थे। हॉब्स ने उसी चिन्तन प्रणाली को एक क्रमबद्ध दार्शनिक विवेचन के द्वारा और अधिक स्पष्टता प्रदान की, और उसके पश्चात् उसे लॉक तथा रूसो ने भी अपनाया।

दार्शनिक तथा निगमनात्मक पद्धति—हॉब्स एक दार्शनिक था। उसका उद्देश्य राज्य तथा शासन सम्बन्धी धारणाओं की दार्शनिक एव तार्किक व्याख्या करना था न कि इनके सम्बन्ध मे विभिन्न तथ्यो को सग्रह करके उनके विश्लेषण द्वारा सामान्य नियमो का प्रतिपादन करना। अत उसकी चिन्तन पद्धति निगमनात्मक है। हॉब्स के राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत मानव प्रकृति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, समाज तथा राज्य के निर्माण से पूर्व प्राकृतिक स्थिति का विवेचन, उसकी कठिनाइयाँ तथा उनके निवारण के निमित्त सविदा द्वारा राज्य की उत्पत्ति और उसके उपरान्त प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता, कानून, शासन आदि की व्याख्या शामिल हैं। उसने राज्य तथा धर्म के मध्य सम्बन्धों का भी विवेचन किया है जोकि तत्कालीन राजनीतिक वातावरण की एक प्रमुख समस्या थी।

मानव स्वभाव तथा प्राकृतिक स्थिति

प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति हॉब्स न तो राज्य को नैसर्गिक सस्था मानता

है, न रोमन विचारकों की भाँति कानून पर आधारित समुदाय और न ही मध्ययुगीन ईसाई विचारकों की भाँति वह उसे मनुष्य के पापों की उपज संस्था कहता है। वह राज्य तथा राजसत्ता के दैवी सिद्धान्त को भी नहीं मानता। हाब्स के मत से राज्य मानवकृत कृत्रिम समुदाय है जिसका प्रमुख कार्य प्राकृतिक मानव की रक्षा करना है। इस दृष्टि से वह मानव इतिहास के दो चरणों की कल्पना करता है। प्रथम चरण वह है जबकि मानव असामाजिक एवं अराजनीतिक स्थिति में था। द्वितीय चरण राजनीतिक समाज की स्थापना के बाद का है। इसका विवेचन करने में हॉब्स की विचार-वस्तु व्यक्ति है। वह अपने शरीर-मनोविज्ञान के आधार पर मानव प्रकृति का विवेचन करने में भौतिकवादी विज्ञान का अनुसरण करता है। उसके मत से मनुष्य के विविध संवेगों (सुख-दुःख, प्रेम-घृणा, आशा निराशा, उत्साह-भय, दया-रोष आदि) की उत्पत्ति का मूल कारण उसके मौलिक संवेग इच्छा तथा निवृत्ति है, जिनकी उत्पत्ति उसकी चेतना में बाह्य पदार्थों की गति से होती है। भले बुरे का ज्ञान इन्हीं के कारण होता है। अच्छाई वह है जो मनुष्य की आत्म-रक्षा से संगति रखती है और इससे विरोध रखने वाली बात बुराई है। मैकियावेली की भाँति हॉब्स भी मनुष्य को स्वभावतः स्वार्थी कहता है। मनुष्य में एकमात्र अभिलाषा आत्म-रक्षा की रहती है। मनुष्य के समस्त अनुभवों में भय तथा शक्ति की इच्छा मौलिक रूप में विद्यमान रहती है। 'मनुष्य आजन्म अविच्छिन्न रूप से शक्ति प्राप्त करने की कामना करता है।' मनुष्य के कार्यों की इति जीवन भर कभी नहीं होती। अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए मनुष्य निरन्तर संघर्ष करता रहता है। वह दूसरों का अहित करने में भी प्रयत्नशील रहता है। आत्म रक्षा तथा स्वार्थ-सिद्धि के कार्यों में रत रहने की भावना सब मानवों में समान रूप से विद्यमान रहती है। अतएव स्वभावतः मनुष्य असामाजिक होता है।

प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य के अन्दर प्रतियोगिता, आत्मविश्वास-हीनता तथा यश-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहने की प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं। इनका सम्बन्ध मनुष्य की आत्म-रक्षा (self-preservation) के साथ होता है। हॉब्स इसे प्राकृतिक अधिकार कहता है। अतः प्राकृतिक स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के साथ युद्ध की स्थिति में रहता है। न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित आदि शक्तिशाली के हित की बातें हैं। अतः प्राकृतिक स्थिति में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत चरितार्थ होती है। ऐसी स्थिति में सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, कला, विज्ञान आदि की प्रगति असम्भव है। कृषि-उद्योग, व्यापार-व्यवसाय, यातायात आदि के क्षेत्रों में कोई उन्नति नहीं हो सकती। परिणामस्वरूप मानव-जीवन, एकाकी, दरिद्र, घृणास्पद, नष्टप्राय तथा क्षणिक (solitary, poor, nasty, brutish and short) होता है। प्राकृतिक स्थिति के जीवन के सम्बन्ध में ऐसे निष्कर्ष निकालने का हॉब्स का उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्यों को दर्शाना न होकर अपने दार्शनिक एवं तार्किक विचारों का विश्लेषण करना था। गृह-युद्ध की अवधि में इंगलैण्ड की अराजक स्थिति के सम्बन्ध में हॉब्स के यही निष्कर्ष थे। इस दृष्टि से हॉब्स का प्राकृतिक स्थिति के जीवन का

विवेचन गृह युद्ध की अवधि में इंग्लैण्ड की अराजक स्थिति जीवन का परिचायक है। ऐसे दु खमय जीवन से व्यक्ति को संरक्षण प्रदान कराने के निमित्त राजनीतिक समाज के निर्माण का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करना हॉब्स का उद्देश्य था।

हाब्स के मत से प्राकृतिक स्थिति में मानव के समस्त आचरणों का संचालन प्राकृतिक अधिकारों की धारणा के अनुसार होता है, जिसका अर्थ है मनुष्य को ऐसी स्वतन्त्रता प्राप्त रहना जिसके आधार पर वह आत्म-रक्षा के लिए जो कुछ ठीक समझे करे। ऐसी स्वतन्त्रता में प्रतिबन्ध का अभाव रहता है। अत प्राकृतिक अधिकारों की धारणा का आधार मनुष्य का विवेक नहीं है बल्कि तृष्णा या इच्छा शक्तियाँ हैं जो उसकी चेतना में मौलिक संवेग के रूप में विद्यमान रहती हैं। परन्तु मानव चेतना में विवेक तत्त्व भी होता है। प्राकृतिक स्थिति में मानव आचरण का नियमन तथा निर्देशन मानव के विवेक के द्वारा न होकर उसकी तृष्णा के द्वारा होता है। परन्तु जब मनुष्य में विवेक की उत्पत्ति होती है तो उसका विवेक उसे प्राकृतिक अधिकारों का त्याग करके सामाजिक जीवन व्यतीत करने की दिशा में जाने की प्रेरणा देता है। मानव विवेक प्राकृतिक कानून की धारणा को उत्पन्न कराता है। हाब्स के मत में 'प्राकृतिक कानून सत् विवेक का आदेश है, जो मनुष्य में जीवन-रक्षा से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों को करने अथवा न करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है।' हॉब्स ने तीन मुख्य प्राकृतिक कानून माने हैं—प्रथम, मनुष्य शान्ति प्राप्त करना चाहता है, द्वितीय, शान्ति की प्राप्ति के लिए मनुष्य पारस्परिक संविदा द्वारा अपने प्राकृतिक अधिकारों का त्याग करने को सहमत होता है और तृतीय, सामाजिक शान्ति तथा सुरक्षा के निमित्त मनुष्य संविदा को बनाये रखते हैं। हॉब्स की दृष्टि में यही न्याय है। इस प्रकार प्राकृतिक अधिकारों का त्याग करने की प्रेरणा मनुष्य का विवेक देता है जिससे प्राकृतिक कानून की उत्पत्ति होती है और मानव प्राकृतिक अधिकारों का त्याग करने की संविदा करते हैं।

संविदा द्वारा राज्य की उत्पत्ति

हाब्स की धारणा है कि प्राकृतिक स्थिति में अपने जीवन की सुरक्षा का कोई उपाय न देखने वाले मानवों में जब विवेक की उत्पत्ति होती है, तो वे अपने प्राकृतिक अधिकार का त्याग करके एक सामूहिक सत्ता का निर्माण करने को उद्यत हो जाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के साथ इन शब्दों में संविदा करता है—

'मैं अपने को शासित करने के अधिकार का परित्याग करके अमुक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को यह अधिकार इस शर्त पर सौंपता हूँ कि तुम भी इसी भाँति अपने अधिकार का परित्याग करके इसे सौंप दो और उसके ऐसे अधिकार को मान्य करो।'[1]

इस प्रकार की संविदा करने वाले समस्त व्यक्तियों का समूह राज्य कहलाता है और जिस व्यक्ति या व्यक्ति समूह को संविदा द्वारा व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारों

[1] "I authorize and give up my right of governing myself, to this man or to this assembly of men on this condition, that thou give up thy right to him and authorize all his actions in the like manner."

को सौंपते हैं वह राज्य का प्रभुसत्ताधारी शासक है, जिसे हॉब्स ने लेवाइथन (विशालकाय) की संज्ञा दी है। हॉब्स का मत है कि 'जिन संविदाओं के पीछे तलवार की शक्ति नहीं होती, वे कोरे शब्द जाल हैं और वे मनुष्य की सुरक्षा के लिए शक्ति हीन होते हैं।'[1] अतः जब मानव अपने प्राकृतिक अधिकार का परित्याग करके उसे सम्प्रभु को अर्पित कर देते हैं, तो सम्प्रभु को यह शक्ति प्राप्त हो जाती है कि वह संविदा को बनाये रखने के लिए बल-प्रवर्ती सत्ता का प्रयोग करे। 'ऐसी बल-प्रवर्ती शक्ति के अभाव में मनुष्यों द्वारा की गयी प्रतिज्ञाएँ उनकी आकांक्षाओं, लालच, क्रोध तथा अन्य सवेगों को वश में करने के निमित्त अत्यन्त निर्बल सिद्ध होती हैं।'[2] हॉब्स के अनुसार, राजनीतिक समाज का निर्माण करने के लिए जो संविदा की जाती है, उसमें संविदा शासक तथा नागरिकों के मध्य नहीं होती, बल्कि व्यक्तियों (शासितों) के मध्य ही होती है अतः शासक के ऊपर संविदा की कोई शर्त लागू न होने से वह निरंकुश सत्ताधारी रहता है। उसका प्रमुख दायित्व शान्ति बनाये रखना, व्यक्तियों को सुरक्षा प्रदान करना तथा बल प्रवर्ती शक्ति द्वारा व्यक्तियों के द्वारा की गयी संविदा को बनाए रखना है। संविदा द्वारा व्यक्ति अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों का त्याग कर देते हैं। मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करना है। यदि सम्प्रभु व्यक्तियों को सुरक्षा प्रदान न कर सके तो संविदा नष्ट हो जाने पर व्यक्ति पुनः प्राकृतिक स्थिति में प्रत्यावर्तित हो जायेंगे। संविदा द्वारा जो समाज बनता है वह एक सम्पुष्ट इकाई या राज्य है। उसके अन्तर्गत अनेक इच्छाओं के स्थान पर अब एक इच्छा का निर्माण हो जाता है। संविदा शर्त-रहित तथा अन्तिम है। वह न केवल संविदा करने वालों को ही आबद्ध करती है, अपितु भावी पीढ़ियों को भी आबद्ध करती है। अतः राज्य एक वास्तविक एकता का रूप धारण कर लेता है।

प्रभुसत्ता, कानून तथा स्वतन्त्रता

प्रभुसत्ता—हॉब्स से पूर्व जीन बोदां ने राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए यह बताया था कि प्रभुसत्ता राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर कानून का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।' परन्तु प्रभुसत्ता के लक्षणों का विवेचन करते हुए बोदां ने उसके ऊपर दैवी, प्राकृतिक, सांविधानिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मर्यादा भी आरोपित कर दी थी। सम्प्रभु उनके विरुद्ध आचरण नहीं कर सकता था। साथ ही नागरिक के सम्पत्ति के अलंध्य अधिकार की मान्यता द्वारा भी बोदां प्रभुसत्ता को मर्यादित मानता था। परन्तु हॉब्स ने सम्प्रभु को इन सब अक्षमताओं से पूर्णतया मुक्त कर दिया जैसा कि सेबाइन ने लिखा है, 'हॉब्स प्रभुसत्ता को उन समस्त अयोग्यताओं से पूर्णतया मुक्त करता है जिन्हें बोदां ने असंगतिपूर्ण ढंग से बनाये रखा था।'[3] हॉब्स के मत से संविदा द्वारा व्यक्ति अपने समस्त प्राकृतिक

[1] 'Covenants without the sword, are but words and of no strength to secure a man at all'—Hobbes

[2] 'The bonds of words are too weak to bridle men's ambitions, avarice anger and other passions without the fear of some coercive power'—Hobbes

[3] 'Hobbes relieved sovereignty completely from the disabilities which Bodin had inconsistently left standing'—Sabine

अधिकारों का त्याग करके उन्हें सम्प्रभु को बिना शर्त अर्पित कर देते हैं। हॉब्स ने समाज, राज्य तथा शासन के मध्य भी कोई भेद नहीं किया है। उसकी दृष्टि में सम्प्रभु शासक तथा जनता के मध्य कोई संविदा नहीं हुई है, जो कि सम्प्रभु की सत्ता को मर्यादित कर सके। दैवी तथा प्राकृतिक कानून सच्चे अर्थ में कानून नहीं हैं जो कि सम्प्रभु की सत्ता को मर्यादित कर सकें। यदि इन्हें किसी रूप में कानून माना भी जाय तो उनका निर्वचन करने वाली कोई मानवीय सत्ता राज्य के सम्प्रभु से ऊपर नहीं हो सकती है। प्राकृतिक कानून विवेक का आदेश है। परन्तु राज्य की स्थापना हो जाने पर वह केवल सम्प्रभु के विवेक का ही आदेश हो सकता है, न कि किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का। उनका उल्लंघन करने पर सम्प्रभु किसी सांसारिक सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। अतः प्रभुसत्ता असीम तथा अमर्यादित है।

कानून—हॉब्स की कानून सम्बन्धी धारणा भी प्रभुसत्ता के उपर्युक्त लक्षणों का आभास कराती है। हॉब्स का कहना है कि 'वास्तविक कानून उस व्यक्ति का आदेश है, जिसे दूसरों को आदेश देने का अधिकार प्राप्त है।[1] इस दृष्टि से भी दैवी या प्राकृतिक कानून सच्चे अर्थ में कानून नहीं हैं, क्योंकि वे अधिकृत रूप से *सम्प्रभु के आदेश नहीं हैं। यदि वे सम्प्रभु के आदेश द्वारा निर्मित हैं, तो सम्प्रभु की शक्ति उनसे प्रतिबन्धित नहीं हो सकती।* कानून की भाँति नैतिकता के नियम भी सम्प्रभु की इच्छा को व्यक्त करते है। जिस व्यवहार को सम्प्रभु नैतिक कहे वही नैतिकता है। अतः यदि धार्मिक या नैतिक नियमों की सम्प्रभु के ऊपर कोई मर्यादा है तो यही कि जिसे वह स्वयं अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। हॉब्स अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यथार्थता पर भी विश्वास नहीं करता। उसकी दृष्टि में पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में सभी राज्य परस्पर प्राकृतिक स्थिति में होते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ या व्यवहार सम्प्रभु की सत्ता पर कोई मर्यादा नहीं लगा सकते। हॉब्स का निष्कर्ष यह है कि कानून सम्प्रभु का आदेश है, जो स्वयं सम्प्रभु को प्रतिबन्धित नहीं कर सकता। *अतः राज्य या शासक की सत्ता कानूनी दृष्टि से असमर्यादित एवं निरंकुश है। हॉब्स ने कहा है कि 'जो व्यक्ति दूसरे को बन्धन में रख सकता है वही उसे मुक्त भी कर सकता है अतः जो केवल अपने ही बन्धन में है वह वास्तव में बन्धनों से रहित है।*

सम्प्रभु ही राज्य के वास्तविक कानूनों का निर्माण करने की एकमात्र सत्ता धारण करता है। जन परम्पराएँ तथा रीति रिवाज कानून के स्रोत नहीं हैं। कोई परम्परा तभी तक लागू रह सकती है जब तक कि उसे सम्प्रभु का मूक-समर्थन प्राप्त रहता है। *हॉब्स के मत से समस्त कानूनों, विशेषकर अलिखित प्राकृतिक कानून का निर्वचन करने की आवश्यकता पड़ती है। कानून के सम्बन्ध में जो वैधानिक टीकाएँ* की जाती हैं, वे प्रामाणिक नहीं हो सकती, क्योंकि एक टीका का विरोध दूसरी टीका करती है। अतः कानून का निर्वचन करने की यह कसौटियाँ प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती हैं। ऐसा अधिकार केवल सम्प्रभु को प्राप्त है। न्यायाधीशों के निर्णय में

[1] 'Law proper is the word of him, that by right hath command over others'—Hobbes

भी यही कमियाँ रहती हैं । अत सम्प्रभु स्वय अन्तिम न्यायाधीश भी है । हॉब्स के मत से लेवाइथन सहमति का शासन नही है । नागरिक का एकमात्र अधिकार आत्म रक्षा का अधिकार है । विधि निर्माण मे भाग लेने का या शासन-सचालन के कार्यों मे भाग लेने का उसे कोई अधिकार सविदा द्वारा प्राप्त नही है ।

सम्प्रभु के अधिकार—इस प्रकार हॉब्स का सम्प्रभु स्वय विधायक, अधिशासक तथा न्यायाधीश है । हॉब्स शासन के अगो के मध्य शक्ति-पृथक्करण की धारणा को स्वीकार नही करता । सम्प्रभु कानून का निर्माण करता है, शासन के विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति करता है, युद्ध तथा शान्ति की घोषणा करता है और नागरिको के विवादो मे अन्तिम निर्णायक वही है । वह सम्पूर्ण सेना तथा प्रशासनिक यन्त्र का सर्वोच्च सत्ताधारी है । सम्पत्ति का नियमन उसी के आदेशानुसार होता है और शासन की विविध सस्थायें एव अधिकारी तथा कर्मचारीगण सम्प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नही हैं । यदि सम्प्रभु के विरुद्ध जनता कोई आवाज उठा सकती है तो तभी, जबकि जनता के आत्म-रक्षा के अधिकार की प्राप्ति मे बाधा हो । ऐसी स्थिति मे हॉब्स का मत है कि किसी भी रूप मे क्रान्ति द्वारा सम्प्रभु को पदच्युत करने उसका वध करने अथवा दूसरे सम्प्रभु को पदासीन करने का प्रयास प्राकृतिक स्थिति मे प्रत्यावर्तित हो जाने की बात का द्योतक होगा ।

स्वतन्त्रता—हॉब्स की निरकुश प्रभुसत्ता की धारणा का यह अर्थ नही है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उन्मूलन करके एक सर्वाधिकारवादी तथा सर्वसत्तावादी (totalitarian and authoritarian) राज्य की स्थापना करना चाहता है । वास्तव म, हॉब्स एक व्यक्तिवादी विचारक था । उसकी विचारधारा का केन्द्र व्यक्ति है । हॉब्स की एकमात्र चिन्ता व्यक्ति की सुरक्षापूर्ण तथा सुखी जीवन प्रदान करने की है । वह व्यक्ति के स्वभाव मे जिन कमियो को देखता है, उन्हे दूर करके उसे उत्तम, नैतिक तथा सभ्य जीवन प्रदान करना चाहता है । अतएव उसकी राजनीतिक विचारधारा म व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन । 'राज्य की निरकुश प्रभुसत्ता का समर्थन करके उसके व्यक्तिवाद का पूरक है ।' वह राज्य को साध्य मानकर व्यक्ति को राज्य मे विलीन कर देने की नीति का समर्थन नहीं करता । साथ ही व्यक्तिवादी विचारको की भाँति वह व्यक्ति के अलघ्य अधिकारों की धारणा का भी समर्थन नही करता । वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की धारणा का अन्ध समर्थन नहीं करता । उसके मन मे स्वतन्त्रता 'गति के विरुद्ध वाह्य बाधाओं का अभाव' है । अत एक विवेकशील प्राणी जो कुछ करना चाहता है उसके विरुद्ध बाधाओ का न होना ही स्वतन्त्रता है । सविदा द्वारा व्यक्तियो की पृथक् इच्छाओ के स्थान पर एकमात्र सम्प्रभु की इच्छा का निर्माण होता है । उसी के द्वारा कानूनो का निर्माण किया जाता है । अत उन कानूनो का पालन करने मे ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता निहित है । परन्तु जिन कार्यों को करने के लिए सम्प्रभु ने व्यक्तियो को मना नही किया है, उन्हे वे स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं । साथ ही जिन अधिकारो का परित्याग मौलिक सविदा द्वारा नही किया गया है उनका उपभोग करने के लिए भी व्यक्ति

स्वतन्त्र है।

संविदा का उल्लंघन करना अन्याय है अत किसी औपचारिक कानून की अनुपस्थिति मे यदि सम्प्रभु किसी व्यक्ति की हत्या करे या उसकी सम्पत्ति को छीन ले, तो इसमे सम्प्रभु का कार्य अन्यायी नही कहा जायेगा, न उस व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण माना जायेगा, क्योंकि सम्प्रभु तथा व्यक्ति के मध्य ऐसी कोई संविदा नही हुई थी। संविदा द्वारा व्यक्ति ने आत्म रक्षा की स्वतन्त्रता का परित्याग नही किया है, अत सम्प्रभु की आज्ञा के विरुद्ध व्यक्ति आत्म हत्या करने से इनकार कर सकता है। अपनी आत्म रक्षा के अहित मे किसी अभियोग मे स्वय को अभियोगी स्वीकार करने से मना कर सकता है।

हाब्स की विचारधारा मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता, विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, विकास की स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति की स्वतन्त्रता आदि के व्यक्ति के अलघ्य अधिकारो की धारणा नही है और यदि सम्प्रभु इन अधिकारो का अतिक्रमण करता है तो वह अन्याय नही है। परन्तु हाब्स सम्प्रभु को यह सलाह भी देता है कि उसे यथासम्भव न्यायता का ध्यान रखना चाहिए और उन छोटी छोटी बातो के सम्बन्ध मे जो राज्य की सत्ता तथा एकता को बनाये रखने मे बाधक सिद्ध न हों, अनावश्यक रूप से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को छीनने का प्रयास नही करना चाहिए। यदि शासक व्यक्तियो की स्वतन्त्रता का वाछनीय रूप से अतिक्रमण करेगा तो यह भय हो सकता है कि उसके विरुद्ध जनता क्रान्ति कर देगी और उस दशा मे राज्य पुन प्राकृतिक स्थिति मे प्रत्यावर्तित हो जायगा। इस दृष्टि से हाब्स की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा से उसका उपयोगितावाद स्पष्ट होता है। सम्प्रभु के कानूनो तथा आदेशो की उपादेयता इसी बात पर निर्भर करती है कि वे व्यक्तियो तथा समाज दोनो के हित मे लाभकारी हो।

शासनो के रूप

हाब्स राज्य तथा शासन के मध्य भेद नही करता। परन्तु वह शासन के विविध रूपो का विवेचन करते हुए यह दर्शाता है कि प्रभुसत्ता अविभाज्य है। उसके मत से शासन तीन प्रकार का हो सकता है। यदि सम्प्रभु सत्ता एक व्यक्ति के हाथ मे है तो वह राजतन्त्र, यदि थोडे से अभिजात व्यक्तियो के हाथ मे रहे तो कुलीनतन्त्र तथा यदि बहुत से व्यक्तियो के हाथ मे रहे तो प्रजातन्त्र कहलाता है। इनके अतिरिक्त शासन के अन्य कोई रूप नही हो सकते। अत्याचारीतन्त्र वर्गतन्त्र या अराजकता शासनो के रूप नही हो सकते क्योंकि ये व्यवस्थाएँ शासन के अभाव की द्योतक हैं और शासन का अभाव शासन का कोई रूप नही हो सकता। इसी प्रकार यह भी कोई तर्क नही है कि यदि कोई व्यक्ति किसी शासन को पसन्द करता उसे एक रूप का कहे और पसन्द न करे तो दूसरे रूप का कहे। बोदा की भाति हाब्स भी मिश्रित शासन को शासन का कोई रूप नही मानता। उसकी दृष्टि मे ऐसी धारणा विभाजित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की द्योतक है। परन्तु प्रभुसत्ता अविभाज्य एव अदेय है। सम्प्रभु प्रभुसत्ता का हस्तान्तरण नही कर सकता। वह इससे सम्बद्ध

कार्यों का प्रत्यायोजन अपने अधीनस्थ अधिकारियों को कर सकता है। शासन के उपर्युक्त तीन रूपों में से हॉब्स राजतन्त्र को सर्वोत्तम व्यवस्था मानता है। इसमें राजा जनता की समृद्धि में अपनी समृद्धि की कामना करता है। इसमें भ्रष्टाचार की सम्भावना कम रहती है, क्योंकि सम्प्रभु शक्ति को धारण करने वाले एक व्यक्ति के ऐसे प्रियजन थोड़े से ही होंगे जिनके लिए वह पक्षपात करे। राजतन्त्र में उत्तराधिकारी की योग्यता की समस्या हो सकती है। परन्तु यह समस्या अन्य रूपों में भी कम जटिल नहीं होती। अधिक व्यक्तियों के हाथ में सम्प्रभु सत्ता रहने की एक कठिनाई यह भी होती है कि उनमें बहुधा मतैक्य के अभाव में ठोस नीतियों का निर्धारण करना तथा शीघ्र निर्णय लेना कठिन होता है।

राज्य की सुरक्षा

वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर अंकुश—हॉब्स की धारणा थी कि संविदा द्वारा राज्य का निर्माण हो जाने पर पुन प्राकृतिक स्थिति में प्रत्यावर्तन की अवस्था नहीं आनी चाहिए। अत राज्य की सुरक्षा परमावश्यक है। राज्य का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के साथ-साथ स्वयं अपनी सुरक्षा को बनाये रखना भी है। अत सम्प्रभु का प्रथम कर्तव्य यह है कि उसे अपनी सत्ता में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए। यदि एक बार शिथिलता आ जाती है तो आवश्यकता पड़ने पर उसमें कठोरता लाने से जनता में असन्तोष बढ़ने की सम्भावना हो जायेगी। अतएव सम्प्रभु को प्रत्येक व्यक्ति को भले-बुरे का निर्णय स्वयं करने की छूट नहीं देनी चाहिए, क्योंकि यह बात तो प्राकृतिक स्थिति में रहती है। राजनीतिक समाज की स्थापना हो जाने पर प्रत्येक व्यक्ति का विवेक ऐसे निर्णय लेने की क्षमता नहीं रख सकता। इसी प्रकार अन्त करण की स्वतन्त्रता का अधिकार नागरिकों को प्रदान करना भी राज्य की सुरक्षा के लिए हानिकारक है। सामान्य रूप से विश्वास अन्त करण की प्रेरणा धर्म-गुरुओं के उपदेशों के द्वारा दी जाती है। उनका उद्देश्य स्वार्थपूर्ण होता है। दैवी आदेश का स्रोत धर्म-गुरुओं को मानना उचित नहीं है। समाज में कोई भी संवास (धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि) सम्प्रभुसत्ता से ऊपर नहीं हो सकते। वे सब अपनी शक्ति सम्प्रभु से ही प्राप्त करते हैं और उनकी शक्ति भी सम्प्रभु राज्य की सत्ता के द्वारा मर्यादित होती है। वे राज्य की प्रभुसत्ता के साथ प्रतियोगिता का दावा नहीं कर सकते। यदि उनकी स्वतन्त्र सत्ता को माना जायेगा तो प्रभुसत्ता का विभाजन हो जायेगा और नागरिक कभी भी दो सम्प्रभुओं के अधीन नहीं रह सकते। राज्य की सुरक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति पर सम्प्रभु का पूर्ण नियन्त्रण रहे। सम्प्रभु को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि समाज में सम्पत्ति के वितरण में अत्यधिक विषमता न आने पाये क्योंकि वह क्रान्ति को जन्म देगी। राज्य व्यक्ति की सम्पत्ति पर करारोपण करके उनसे होने वाली आय से व्यक्ति की सम्पत्ति की सुरक्षा करेगा।

राज्य तथा चर्च—राज्य की सुरक्षा तथा शान्ति और व्यवस्था के हित में हॉब्स चर्च को सबसे प्रधान बाधा मानता था। उसका निष्कर्ष था कि इंग्लैण्ड तथा

फ्रांस की राजनीति में अशान्तिपूर्ण वातावरण का मुख्य कारण धार्मिक संघर्ष तथा विविध चर्च संगठन थे। हॉब्स की किसी धर्म विशेष के प्रति निष्ठा नहीं थी। परन्तु वह अनीश्वरवादी भी नहीं था। उसके मत में राज्य की सम्प्रभु शक्ति के साथ प्रतियोगिता करने वाले विविध संगठनों में से चर्च सबसे प्रमुख संगठन था। विविध चर्च अपनी सत्ता का दावा केवल हठधर्मितापूर्ण उपदेशों के द्वारा करते हैं। अतः हॉब्स उन सबका सम्प्रभु की सत्ता के अधीन रखना चाहता था। मारसीलियो की भांति हॉब्स भी चर्च की सत्ता को पूर्णतया राजनीतिक सत्ता की अधीनता में रखने के सिद्धान्त को मानता है। उसके मत में चर्च संगठन राज्य के अन्दर विविध निगमों की भांति है। अतः चर्च संगठन के नियमों तथा कार्यकलापों का नियमन राज्य के सम्प्रभु के आदेशों के अन्तर्गत ही होना चाहिए। चर्च अधिकारियों का यह दावा निराधार एवं तर्कहीन है कि ईश्वर ने उन्हें कोई रहस्य बताये हैं और इसलिए वे अन्य मानवों से श्रेष्ठता की स्थिति में हैं। हॉब्स की यह धारणा थी कि संसार में एकमात्र सत्ता लौकिक शासक की होती है। वही स्वयं राज्य चर्च की स्थापना करेगा। उसी के निर्देशन में धार्मिक कार्यकलाप चलेंगे और धर्म के नियमों का उल्लंघन करने पर वही अपराधी को दण्ड देने का अधिकारी होगा।

हॉब्स के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन

(1) एक महान दार्शनिक के रूप में हॉब्स की गणना—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों में विशुद्ध रूप से राजनीतिक समस्याओं का दार्शनिक चिन्तन करने वाला विचारक प्लेटो के पश्चात हॉब्स ही हुआ है। प्लेटो ने यूनान की तत्कालीन नगर-राज्य व्यवस्था के सन्दर्भ में निगमनात्मक पद्धति का अनुसरण करते हुए जिस रूप में अपने विचारों को एक क्रमबद्ध दर्शन का रूप प्रदान किया था, उसी प्रकार हॉब्स ने भी सत्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय विशेष रूप से इंग्लैण्ड की राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने राजनीतिक विचारों को एक क्रमबद्ध दर्शन का रूप प्रदान किया। यद्यपि मध्य युग में अनेक विचारकों ने अरस्तू की विचार पद्धति को अपना कर राजनीतिक विचारधारा को यथार्थ बनाने का प्रयास किया था, तथापि वे अपने विचारों को धार्मिक मतभेदों तथा संघर्षों के प्रभाव से मुक्त नहीं कर पाये। मैकियावेली ने धर्म विहीन राजनीति का प्रतिपादन किया था परन्तु उसका दर्शन राजनीतिक समस्याओं का चिन्तनात्मक अध्ययन नहीं बन पाया और न ही उसके विचार अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल थे। बोदां ने अपनी विचारधारा को आधुनिक स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की थी परन्तु वह अपने राजनीतिक विचारों को मध्ययुगीन धार्मिक मतभेदों के प्रभावों से मुक्त नहीं कर पाया। परिणामस्वरूप उसके विचारों में अनेक असंगतियाँ आ गयीं। हॉब्स ने मैकियावेली तथा बोदां की कमियों को दूर किया और अपने विचारों को अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के साथ-साथ चिन्तन-पद्धति में भी वैज्ञानिकता का समावेश किया।

(2) हॉब्स की महानता पर लेखकों के मत—यद्यपि हॉब्स की महानता के सम्बन्ध में आधुनिक लेखकों तथा आलोचकों के मध्य मतैक्य नहीं है और न ही

उसके विचारो ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को प्रभावित करने मे सहायता प्रदान की, तथापि इसमे उसके विचारो की महत्ता मे कोई कमी नही आती। वोहान (Vaughan) उसकी रचना लैवाइथन को 'प्रभावहीन तथा निष्फल' कहता है। आर० एच० मुरे के अनुसार हॉब्स के विचारो की तत्काल प्रभावहीनता का कारण उसका नास्तिकतापूर्ण दृष्टिकोण, भौतिकवादिता तथा निरकुशतावाद का समर्थन करना था। डनिग ने हॉब्स को 'राजनीतिक चिन्तको की प्रथम श्रेणी' के अन्तर्गत रखा। सेबाइन ने कहा है कि 'हॉब्स वास्तव मे सबसे पहला महान् आधुनिक दार्शनिक था जिसने राजनीतिक विचारधारा को आधुनिक चिन्तन प्रणाली से घनिष्ठतया सम्बद्ध करने का प्रयास किया।' गैटल के मत से 'हॉब्स की विचारधारा का अनुसरण उसके काफी पश्चात् हुआ, जबकि बैंथम, ऑस्टिन, स्पेंसर आदि ने उन्हें अपनाया।' स्वय हॉब्स के युग मे ही उसके समर्थक तथा विरोधी दोनो थे। एक आधुनिकतम लेखक हारमॉन का निष्कर्ष है कि 'हॉब्स की रचना तर्कशास्त्र का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। मैक्सी ने कहा है कि 'हॉब्स अग्रेज जाति का एक महानतम चिन्तक था जिसका नाम तब तक बना रहेगा जब तक कि मानव राजनीतिक मामलो मे अपना ध्यान लगाने की चिन्ता करते रहेगे।'

(3) विचारों मे तार्किक क्रम का निर्दोष होना—हॉब्स के राजनीतिक विचारो की सबसे महान् विशेषता यह है कि उसके राजनीतिक दर्शन रूपी इमारत की निर्माण कला मे किसी भी प्रकार का दोष सिद्ध नही किया जा सकता। उसके निष्कर्ष भले ही सत्य न हों, परन्तु जिस तार्किक क्रम से उनका विश्लेषण करते हुए उन्हे विकसित किया गया है, उसमे हॉब्स ने कोई कमी नही रखी। हाब्स अपने विचारो का विकास मानव स्वभाव का विवेचन करते हुए प्रारम्भ करता है। मानव मनोविज्ञान का उसका निष्कर्ष पूर्णतया सही नही प्रतीत होता, क्योकि वह मानव प्रकृति की कमियो को ही लेता है और अच्छाइयो की उपेक्षा करता है। डब्लू० टी० जोन्स ने ठीक ही कहा है कि 'वह (हॉब्स) जिन बातो की स्वीकारोक्ति करता है उनमे तो वह गलती नही करता, परन्तु जिन बातो को अस्वीकार करता है उनके सम्बन्ध मे उसकी गलती है।' इस दृष्टि से कैट्लिन का निष्कर्ष सही है कि 'हॉब्स के बुरे दर्शन का अधिकाश भाग उसके बुरे मनोविज्ञान के कारण है।' अतएव मानव स्वभाव का गलत चित्रण करने के कारण ही हॉब्स के दर्शन की आलोचना की गयी है।

(4) यथार्थ का न कि कल्पनामूलक तथ्यों का विश्लेषण—प्राकृतिक स्थिति के जीवन का चित्रण करने मे हॉब्स उसकी ऐतिहासिकता को सिद्ध करने की चिन्ता नही करता, प्रत्युत् उसका उद्देश्य परिस्थितियो का विश्लेषण करना मात्र था। उस स्थिति मे मानव जीवन का दयनीय चित्र प्रस्तुत करके हाब्स एक निरकुश तथा पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राजतन्त्र का समर्थन करता है, क्योकि उसका विश्वास था कि अराजक स्थिति के दुष्परिणामो से मानव की रक्षा तभी हो सकती है, जबकि सब व्यक्ति एक सामूहिक निरकुश सम्प्रभु के आदेशो के अन्तर्गत अपने को शामिल करने की सविदा करके अपनी समस्त प्राकृतिक स्वतन्त्रताओ का परित्याग कर दें। इसीलिए उसने सविदा के आधार पर राजनीतिक समाज की रचना होने के सिद्धान्त का प्रति-

पादन किया है। परन्तु उसके इन निष्कर्षों को पूर्णतया दोषरहित भी नहीं माना जा सकता।

(5) कल्पनामूलक निष्कर्षों को तर्कसम्मत सिद्ध किया गया है—प्राकृतिक स्थिति का स्वार्थी, प्रतिद्वन्द्विता की भावना से भरा तथा शक्ति-सचय की ही कामना करने वाला व्यक्ति किस प्रकार अपने समस्त अधिकार त्यागने को सहमत हो गया, यह बात विवेक तथा तर्क की कसौटी में खरी नहीं उतरती, जैसा कि लॉक ने कहा है 'यह तो ऐसा ही है, मानो कि लोग लोमड़ी व गन्धमार्जार के भय से बचने को बहुत चिन्तित रहते थे और शेर द्वारा खाये जाने में उन्हें कोई भय नहीं था।' परन्तु हॉब्स ने मानव में विवेक तत्व के अस्तित्व तथा उसके सक्रिय होने के तर्क को बहुत सावधानी से प्रस्तुत करते हुए अपने विचारों के क्रम में कमी नहीं आने दी। निरकुशता-वाद का समर्थन करने में वह संविदा के सिद्धान्त को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करता है। संविदा करने वाले पक्ष व्यक्तिगत मानव हैं, जो स्वयं तो संविदा से बाध्य हैं, परन्तु संविदा के परिणामस्वरूप जिस सत्ताधारी की सृष्टि होती है और जिसे व्यक्ति अपने समस्त अधिकार सौंप देते हैं, उस पर संविदा की कोई शर्त लागू नहीं हो सकती क्योंकि वह संविदा का एक पक्ष नहीं है। उसकी सत्ता असीम तथा अमर्यादित है। वह व्यक्तियों को परस्पर संविदा बनाये रखने के निमित्त अपनी सत्ता के अधीन रखता है। ऐसी धारणा हॉब्स के तार्किक क्रम के औचित्य को सिद्ध करती है, भले ही वह तर्कसम्मत सिद्ध न हो।

(6) व्यक्तिवाद तथा निरकुशतावाद के मध्य समन्वय—हॉब्स का निरकुशता-वाद उसकी राजनीतिक विचारधारा का प्रमुख तत्व अवश्य है, परन्तु हॉब्स को मात्र निरकुशतावादी विचारक कहना उचित नहीं है। वह राज्य को केवल एक पुलिस राज्य के रूप में नहीं मानता, जिसका उद्देश्य पूर्णतया नकारात्मक हो और जो केवल अपनी सुरक्षा, शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए ही अस्तित्व रखता हो। हॉब्स एक व्यक्तिवादी एवं उपयोगितावादी विचारक था, क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को हर प्रकार से सुरक्षा प्रदान करना था। राज्य की उपयोगिता तभी है जबकि वह व्यक्ति को सुरक्षा तथा सुखमय जीवन प्रदान करने में समर्थ हो सके। इस दृष्टि से हॉब्स अन्य निरकुशतावादियों यथा जर्मनी के उग्र प्रत्ययवादियों की भांति राज्यवादी नहीं है। इस श्रेणी के वाद के हीगल-पंथी विचारक आते हैं। परन्तु अन्य व्यक्तिवादी विचारकों मिल स्पेंसर आदि की भाँति वह राज्य की सत्ता को मर्यादित रखना भी नहीं चाहता। बल्कि वह शासक से यह अपेक्षा करता है कि वह जनता को सुखी तथा सुरक्षापूर्ण जीवन प्रदान करे। इस प्रकार उसकी विचार-धारा में व्यक्तिवाद तथा निरकुशतावाद के मध्य समन्वय स्थापित किया गया है।

(7) धर्म-निरपेक्ष राजनीति को पूर्ववर्ती चिन्तकों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता प्रदान की है—हॉब्स की राज्य-व्यवस्था में शासक की सत्ता पूर्णतया अमर्यादित है। अतः उसकी विचारधारा में शासन जनता के द्वारा न होकर जनता के लिए है। हॉब्स को भौतिकवादी ही मानना भी उचित नहीं है। वह मैकियावेली की भाँति राजनीतिक व्यवहार के सन्दर्भ में धर्म तथा नैतिकता को ताक पर नहीं रख देता।

प्रत्युत् वह मानव मे नैतिक गुणो का सृजन करना चाहता है ताकि मानव प्राकृतिक स्थिति के विवेकहीन आचरण का परित्याग करके विवेक से उत्पन्न प्राकृतिक कानून के नियमो के अनुसार आचरण करने मे प्रवृत्त हो सकें। उसका निष्कर्ष यह था कि ऐसा तभी सम्भव है, जबकि समस्त मानव एकमात्र सम्प्रभु के विवेक के आदेशो का पालन करें, क्योकि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने विवेक से कार्य करने लगेगा तो वह व्यवस्था प्राकृतिक स्थिति की द्योतक होगी। प्रत्येक व्यक्ति का पृथक् विवेक ही स्वार्थ की भावना को प्रेरित करता है। हाब्स को नास्तिक कहना भी उचित नही है। वह सघर्षरत चर्चों का विरोधी है न कि धर्म, आध्यात्मिकता या ईश्वर का। इसीलिए वह राजकीय धर्म की स्थापना पर बल देता है, जिसका नियमन राज्य के सम्प्रभु द्वारा किया जाना चाहिए, न कि ऐसे निजी सगठनो के द्वारा जो राज्य की सत्ता के साथ प्रतियोगिता के आकाक्षी हो।

(8) सम्प्रभुता की धारणा को स्पष्टता प्रदान करना—राजनीतिक विचारधाराओं के विकास मे हॉब्स का एक प्रधान अनुदाय कानूनी दृष्टि से सम्प्रभुता राज्य की धारणा को स्पष्टता प्रदान करना है। यद्यपि राज्य की प्रभुसत्ता की धारणा का सूत्रपात जीन बोदा ने किया था और उसके पश्चात् ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून की धारणा के आधार पर उसका विकास करने का प्रयास किया था, तथापि इन विचारको ने प्रभुसत्ता पर अनेक प्रकार की मर्यादाएँ आरोपित करके प्रभुसत्ता के सिद्धान्त मे अनेक असगतियाँ उत्पन्न कर दी थी। हाब्स ने इन असगतियो को दूर करके प्रभुसत्ता की धारणा को स्पष्टता प्रदान की। भले ही लोकतन्त्रवादी तथा व्यक्ति के अलघ्य अधिकारो को मान्यता देने वाले व्यक्तिवादी विचारक हॉब्स की इस धारणा से विरोध रखें, क्योकि हॉब्स राज्य तथा सम्प्रभु के विरुद्ध व्यक्ति के किसी अधिकार या स्वतन्त्रता को मान्यता नही देता, तथापि हाब्स को तानाशाही का समर्थक भी नहीं माना जा सकता। आज के लोकतन्त्र के युग मे भी कोई व्यक्ति यह कल्पना नही कर सकता कि व्यक्ति को नैतिक बनाने मे केवल शिक्षा तथा धर्म की सस्थाएँ ही सफल सिद्ध हो सकेंगी। मैक्सी ने उचित ही कहा है कि 'हम मे से आज कोई भी इस बात को मानने के लिए राजी नही हो सकता कि पुलिस को पेंशन दे दी जाय और अपने भाग्य को चर्च तथा शिक्षा सस्थाओ की उपादेयता पर छोड़ दिया जाय।' मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियो मे अन्य व्यक्तियो एव समाज को हानि पहुँचाने वाले कृत्य के विरुद्ध राज्य की बल-प्रवर्ती सत्ता ही एकमात्र उपचार है। व्यक्ति को राज्य के कानून भले ही नैतिक न बना सकें, क्योकि नैतिकता व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है, तथापि सामाजिक नैतिकता के मार्ग मे बाधक तत्त्वो को रोकना राज्य के कानून द्वारा ही सम्भव हो सकता है। बहुधा राज्य के कानून नैतिकता का विकास करने मे सहायक होते ही हैं। आज के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के युग मे राज्य की असीम प्रभुसत्ता का सिद्धान्त सुमान्य बना हुआ है जिसे तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय कानून मर्यादित नही कर सकता। यद्यपि लोकतन्त्र के विकास ने अप्रत्यक्ष रूप से या सावैधानिक प्रावधानो के द्वारा शासन की सत्ता को मर्यादित करने मे व्यक्ति के अधिकारो तथा सवासो की सत्ता को मान्यता दी है, तथापि यह नही कहा जा सकता

कि राज्य की असीम प्रभुसत्ता की धारणा का लोप हो गया है। इस दृष्टि से हॉब्स की प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा का राजनीतिक चिन्तन व्यवहार के क्षेत्र में महान् योगदान है।

प्रभाव

(1) हॉब्स के विचारों का तत्कालीन परिस्थितियों में पर्याप्त विरोध हुआ—हॉब्स के राजनीतिक विचार इंग्लैण्ड की तत्कालीन गृह-युद्ध की भूमिका में व्यक्त किये गये थे। हॉब्स ने अनुभव किया कि इंग्लैण्ड का तत्कालीन राजनीतिक वातावरण पूर्णतया अराजक स्थिति का द्योतक था। अत अपने राजनीतिक दर्शन द्वारा वह उसी के निराकरण तथा समाधान हेतु निरंकुश राजतन्त्र का समर्थक रहा है। परन्तु उस युग के धर्म एवं राजतन्त्र तथा संसद के अधिकारों के मध्य उत्पन्न हुए संघर्ष हेतु हॉब्स के विचार प्रभावशाली समाधान प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो पाये। इंग्लैण्ड में संसद की सत्ता के समर्थकों की विजय ने राजा की सत्ता को मर्यादित करने की दिशा में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर ली थी। दूसरी ओर हॉब्स के धर्म तथा चर्च की सत्ता को प्रभावहीन करने के विचारों को लोकप्रियता प्राप्त नहीं हो पायी। स्वयं राजतन्त्र के समर्थक हॉब्स के विचारों से सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि हॉब्स राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त का विरोधी था, जबकि इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के कैथोलिक राजा अपने दैवी अधिकार का दावा करते आ रहे थे। संसद की सत्ता के समर्थकों के लिए तो उसके विचारों का विरोध करना स्वाभाविक ही था। सभी चर्च उससे असन्तुष्ट थे, क्योंकि हॉब्स ने किसी भी चर्च का समर्थन नहीं किया। परिणामस्वरूप हॉब्स के विचारों का तत्काल कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

(2) भावी राजनीतिक चिन्तकों तथा चिन्तन पद्धति को प्रभावित किया है—परन्तु हॉब्स के विचारों ने भविष्य के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। उसके चिन्तन की वैज्ञानिक प्रणाली ने राजनीतिक चिन्तन में प्रयोगात्मक तथा व्यावहारिकतावाद की प्रवृत्ति के विकास को प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप भविष्य में चिन्तन का स्वरूप विवेक-मूलक तथा तर्क-सम्मत होने लगा, न कि केवल धार्मिक हठधर्मिता तथा अन्ध-विश्वासिता से मुक्त और कल्पनावादी। हॉब्स ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में व्यक्ति के हितों को प्रमुखता दी थी और व्यक्ति का अध्ययन करने में इच्छा तथा निवृत्ति के दो तत्त्वों को व्यक्ति में स्वीकार करते हुए उन्हें भले-बुरे की पहचान का मानदण्ड स्वीकार किया था।

(3) उपयोगितावादी चिन्तकों के लिए हॉब्स के विचारों ने पर्याप्त सामग्री प्रदान की है—हॉब्स के इन मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों को इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध उपयोगितावादी विचारकों बैंथम, मिल, आस्टिन आदि ने अपनाया। बैंथम का सुखवाद तथा उपयोगितावादी दर्शन, हॉब्स की विचारधारा से प्रभावित था। इसके अनुसार राज्य की उपयोगिता का मानदण्ड उसके कार्यकलापों से होने वाले अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख पर निर्भर है। हॉब्स भी उपयोगितावादी चिन्तकों की श्रेणी में आता है, क्योंकि उसका भी निष्कर्ष यही था कि व्यक्ति में दो मौलिक सत्य—इच्छा

तथा निवृत्ति होते हैं, जो भले-बुरे की जाँच का मानदण्ड प्रस्तुत करते है। हॉब्स के राज्य की निरकुश प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की व्याख्या जॉन ऑस्टिन ने विधिशास्त्रीय दृष्टि से की थी। अत ऑस्टिन पर हॉब्स का प्रभाव स्पष्ट है।

(4) राज्य की उत्पत्ति के संविदावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने मे लॉक तथा रूसो ने हॉब्स के क्रम को अपनाया है—यद्यपि लॉक तथा रूसो के विचार हॉब्स से पृथक् हैं तथापि राज्य की उत्पत्ति के सविदा सिद्धान्त का विकास करने मे इन दोनो ने हॉब्स के चिन्तन-क्रम को अपनाया। जहाँ तक हॉब्स के निरकुशतावाद का सम्बन्ध है, रूसो की विचारधारा मे उसका अनुसरण किया गया है। हॉब्स का निरकुशतावाद सर्वाधिकारवादी तथा सर्वसत्तावादी नही है।

सक्षेप मे, हॉब्स की विचारधारा राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे उसे इग्लैण्ड का सबसे महान् राजनीतिक चिन्तक सिद्ध करती है, जिसने भावी चिन्तन एव विचार-धाराओ के विकास मे महान् योगदान किया।

(1632 ई० से 1704 ई०)

परिचयात्मक

इंग्लैण्ड की गृह-क्रान्ति का दूसरा विचारक—सत्रहवीं शताब्दी की इंग्लैण्ड की गृह-क्रान्ति के युग में हॉब्स के पश्चात् दूसरा महान् विचारक जॉन लॉक हुआ है। उक्त क्रान्ति की तीन घटनाएँ—चार्ल्स प्रथम को मृत्यु दण्ड देना (1649), पुनः राजतन्त्र की स्थापना करके चार्ल्स प्रथम के पुत्र चार्ल्स द्वितीय को गद्दी देना (1660) तथा चार्ल्स द्वितीय के भाई जेम्स द्वितीय को राजपद छोड़ने को विवश करके उसके स्थान पर उसकी पुत्री तथा दामाद को संयुक्त रूप से राजगद्दी देना (1688)—अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इनमे यह सिद्ध हो गया था कि इंग्लैण्ड मे राजा की सत्ता को मर्यादित करने और संसद की सत्ता को सर्वोपरि मानने की धारणा सुस्थापित हो चुकी थी। हॉब्स ने चार्ल्स प्रथम को फांसी दिये जाने के कृत्य को अराजकता तथा अविवेकपूर्ण प्राकृतिक स्थिति के रूप मे मानकर संविदा सिद्धान्त के द्वारा निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया था। उसके विपरीत लॉक राजा की निरंकुशता का विरोधी तथा संसद की सर्वोच्च सत्ता का समर्थक था और उसका उद्देश्य 1688 ई० की क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करना था। अतः वह व्यक्ति के अधिकारों द्वारा शासन की सत्ता को मर्यादित रखने की नीति का समर्थक था।

लॉक का जीवन परिचय—लॉक का जन्म 1632 ई० म सोमरसेटशायर मे एक वकील के घर हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उसने ऑक्सफोर्ड के क्राइस्ट चर्च कालेज से स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात उसे ऑक्सफोर्ड मे ही अध्यापक के पद पर नियुक्ति मिली। परन्तु लॉक की अभिरुचि चिकित्साशास्त्र मे थी। अतः उसने एक प्रख्यात चिकित्साशास्त्री डेविड टामस के साथ चिकित्साशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। इस बीच लॉक का परिचय लार्ड ऐशले से हुआ, जो उसके गुरु के पास इलाज के लिए आया था। लार्ड ऐशले लॉक से बहुत प्रभावित हुआ। कालान्तर म उसने लॉक को अपना निजी चिकित्सक एवं व्यक्तिगत सचिव बना लिया। 1660 मे ऐशले के प्रयासो से जब चार्ल्स द्वितीय को राजपद प्राप्त हुआ तो राजा ने ऐशले को अर्ल ऑफ शैफ्ट्सबरी बनाया। शैफ्टस्बरी एक सक्रिय राजनयिक एवं ह्विग दल का संस्थापक था। उसके सम्पर्क से लॉक को भी अच्छे राजकीय पद प्राप्त करने तथा सक्रिय राजनीति का अनुभव

प्राप्त करने का अवसर मिला। परन्तु चार्ल्स द्वितीय की कैथोलिक समर्थक नीतियों से शैफ्टसबरी तथा राजा के मध्य सम्बन्ध बिगड़ने लगे। इसके कारण शैफ्टसबरी को एक बार पदमुक्त होना पड़ा। वह हालैण्ड चला गया। लॉक भी इस संघर्ष से प्रभावित हुआ और वह भी विदेश चला गया। शैफ्टसबरी की मृत्यु (1683) के उपरान्त लॉक हालैण्ड में ही रहा। उसका स्वास्थ्य भी निर्बल हो चुका था। वह वहाँ अपनी चिकित्सा कराने के साथ साथ अपने ग्रन्थों को भी लिखता रहा। इस बीच हालैण्ड में उसका सम्पर्क विलियम तथा मेरी के साथ हुआ। लॉक ने स्वयं भी उन्हें राजपद दिलाने के षड्यन्त्र में सक्रिय भाग लिया। जब 1688 ई० में उन्हें इंग्लैण्ड की राजगद्दी मिली तो लॉक भी इंग्लैण्ड चला आया। क्रान्ति ह्विग दल के आह्वान पर हुई थी, जिसका लॉक भी एक सक्रिय कार्यकर्ता था। क्रान्ति की सफलता के दूसरे ही वर्ष लॉक का ग्रन्थ 'Two Treatises of Government' प्रकाशित हुआ। लॉक को राजदम्पति ने राजदूत का पद देना चाहा जिसे वह निर्बल स्वास्थ्य के कारण ग्रहण न कर सका। परन्तु उसने व्यापार-आयुक्त का पद स्वीकार कर लिया, जो पर्याप्त महत्त्व का पद माना जाता था। इस बीच उसने अपनी रचनाएँ 'Four Letters on Toleration' लिखीं। उसका स्वास्थ्य गिरता गया। परन्तु जीवन के अन्तिम क्षणों तक वह अध्ययन तथा लिखने का कार्य करता रहा। उसने राजनीति के अतिरिक्त शिक्षा अर्थशास्त्र दर्शन धर्मशास्त्र आदि विविध विषयों पर छोटी छोटी रचनाएँ की थी। 1704 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

राजनीतिक विचारों के स्रोत

पूर्ववर्ती विचारक—लॉक न तो हॉब्स की तुलना में एक उच्च कोटि का दार्शनिक था, और न उसकी विचारधाराओं में मौलिकता है प्रत्युत् उसने जो भी लिखा है वह उसके पूर्ववर्ती विचारकों द्वारा कही गयी बातों का खण्डन मण्डन है, जिन्हें उसने एक क्रमबद्ध विचारधारा का रूप दिया है। इस दृष्टि से लॉक की विचारधारा का एक प्रमुख स्रोत पूर्ववर्ती विचारकों की धारणाएँ हैं। सत्रहवीं शताब्दी के विवेकवादी दर्शन का प्रतिनिधित्व लॉक भी करता है। उससे पूर्व मिल्टन, प्यूफनडार्फ हूकर हैरिंग्टन फिल्मर तथा हॉब्स ने जिन विचारधाराओं को व्यक्त किया था उनमें से लॉक ने बहुतों को ग्रहण किया और कुछों का खण्डन किया। राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिपादन में वह युग संविदावाद का था। अतः लॉक भी राज्य का विवेचन संविदावाद के सिद्धान्तों के अनुसार करता है।

तत्कालीन राजनीति—लॉक के विचारों का दूसरा प्रेरणा-स्रोत उसका तत्कालीन राजनीति में सक्रिय भाग लेना है। वह ह्विग दल के संस्थापक अर्ल आव शैफ्टसबरी का सचिव था अतः उसकी विचारधाराएँ ह्विग दल की नीतियों की समर्थक एवं प्रतिपादक हैं। यह दल मर्यादित राजतन्त्र तथा संसद की सर्वोच्चता का समर्थक था। लॉक के मानव मनोविज्ञान सम्बन्धी निष्कर्ष भी उसकी अपनी परिस्थितियों के अन्तर्गत प्राप्त किये गये अनुभवों पर आधारित हैं। उदाहरणार्थ, लॉक के जीवन में भी कई अवसरों पर अनेक कठिनाइयाँ आयीं और उसे प्राण रक्षा

के लिए भागना तथा छिपना पड़ा था। परन्तु इन अवसरों पर उसे अपने मित्र-जनों का पर्याप्त सौहार्द प्राप्त हुआ। अतः मानव-स्वभाव का चित्रण करने में उसके निष्कर्ष हॉब्स के विपरीत हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक स्थिति का विवेचन करने में तथा उसके आधार पर राज्य-सम्बन्धी विचारों का विकास करने में भी वह अपने सामाजिक एवं राजनीतिक अनुभवों का अनुसरण करता है।

ज्ञान-सिद्धान्त—लॉक की विचारधारा का एक स्रोत उसका ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त है। इसके अनुसार वह यह दर्शाता है कि मनुष्य के समस्त इन्द्रियजन्य अनुभव मनुष्य के मस्तिष्क में संचित होते हैं और मस्तिष्क में उनके विश्लेषण, तुलना तथा एकीकरण की प्रक्रिया होती है। जब मस्तिष्क इस क्रिया द्वारा उन अनुभवों के सम्बन्ध में सहमति या असहमति व्यक्त करता है, तभी उसे ज्ञान कहा जाता है। इस दृष्टि से लाक राज्य-सम्बन्धी अनेक धारणाओं यथा दैवी सिद्धान्त, निरकुशता-वाद आदि को ज्ञान पर आधारित नहीं मानता। उसका राजनीतिक दर्शन विवेक तथा नैतिकता पर आधारित है। इसी आधार पर वह धर्मान्धता का विरोधी किन्तु धार्मिक सहिष्णुता की नीति का समर्थक है।

मानव स्वभाव तथा प्राकृतिक स्थिति

राज्य का उद्देश्य—डब्ल्यू० टी० जोन्स ने कहा है कि 'लाक तथा हॉब्स राज्य के इस उद्देश्य के बारे में सहमत हैं कि उसका अस्तित्व शान्ति, सुरक्षा तथा व्यक्तियों के कल्याण के लिए है, परन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के साधनों के बारे में उनमें मौलिक भेद है क्योंकि मानव स्वभाव के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं।' हॉब्स तथा लॉक दोनों व्यक्तिवादी तथा संविदावादी विचारक हैं। अतः उनका दृष्टिकोण यह है कि राज्य व्यक्तियों के कुछ मूलभूत अधिकारों की रक्षा करने तथा उन्हें कल्याणकारी व शान्ति तथा सुरक्षा का जीवन प्रदान करने हेतु कृत्रिम ढग से निर्मित सगठन है। दोनों विचारक राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में अरस्तू की भाँति हेतुवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, परन्तु वे राज्य को नैसर्गिक सघात नहीं मानते। उद्देश्य प्राप्ति के साधनों के सम्बन्ध में हॉब्स का निष्कर्ष यह है कि जब तक राजनीतिक समाज का संचालन एक निरकुश सम्प्रभु के द्वारा नहीं किया जायेगा तब तक समाज के सदस्यों को शान्ति, सुरक्षा तथा कल्याण प्राप्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत लाक की मान्यता यह है कि व्यक्ति को यह सुविधाएँ तभी प्राप्त हो सकती हैं जबकि शासक के ऊपर समाज की सत्ता का नियन्त्रण बना रहे और उसकी सत्ता नैतिक कानून तथा विधिगत नियमों से मर्यादित हो।

मानव स्वभाव—हॉब्स तथा लॉक के विचारों में परस्पर विरोधी धारणाओं का कारण मानव मनोविज्ञान के सम्बन्ध में उनके परस्पर विरोधी निष्कर्षों का होना है। हॉब्स का प्रकृतिवादी मनोविज्ञान मानव को स्वार्थी असामाजिक तथा सघर्षरत प्राणी मानता है। इसके विपरीत लॉक का मनोविज्ञान मानवीय प्रकृति का है। लॉक मनुष्य को केवल-मात्र एक प्राणी नहीं मानता, अपितु वह उसे एक विवेक-शील, नैतिक तथा सामाजिक प्राणी मानता है। उसकी दृष्टि से मानव होने के नाते

सभी मनुष्य समाज में अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का समान रूप से उपभोग करते हैं। समाज में कोई मानवीय सत्ता व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को प्रतिबन्धित नहीं कर सकती, बल्कि मानव के अधिकार प्राकृतिक कानून की विवेकशीलता द्वारा नियमित होते हैं। प्राकृतिक कानून की विवेकशीलता मनुष्य को नैतिक तथा सामाजिक बनाती है। इसी के कारण मनुष्य अपने अधिकारों का ज्ञान करने के साथ-साथ अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का भी सम्मान करता है।

प्राकृतिक स्थिति—हॉब्स की भाँति लॉक भी राजनीतिक समाज की स्थापना से पूर्व प्राकृतिक स्थिति की कल्पना करता है। हॉब्स द्वारा चित्रित प्राकृतिक स्थिति असामाजिक तथा अराजनीतिक है, जिसमें व्यक्ति एक-दूसरे के साथ अविवेकपूर्ण आचरण करते हैं और किसी की सुरक्षा की गारण्टी नहीं रहती। इसके विपरीत लॉक प्राकृतिक स्थिति का चित्रण करते हुए उसे अराजनीतिक स्थिति तो मानता है, परन्तु असामाजिक नहीं मानता। उसके मत से 'प्राकृतिक स्थिति में प्राकृतिक कानून विद्यमान रहता है, और वही सबके ऊपर शासन करता है। इस कानून का स्रोत विवेक है, जो प्रत्येक व्यक्ति को यह सिखाता है कि चूंकि सब व्यक्ति समान तथा स्वतन्त्र हैं, अतः किसी को दूसरे के जीवन, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य तथा सम्पत्ति को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।' इस प्रकार लॉक ने प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य के तीन प्राकृतिक अधिकारों (जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति) के अस्तित्व को स्वीकार किया है। कभी कभी वह इन समस्त अधिकारों को केवल 'सम्पत्ति' के अधिकार की संज्ञा देता है और कभी इन तीन अधिकारों के साथ चौथे अधिकार 'स्वास्थ्य' को भी जोड़ देता है। उसका मत है कि प्राकृतिक कानून का अनुसरण करते हुए तथा इन अधिकारों का उपभोग करते हुए मनुष्य प्राकृतिक स्थिति में 'शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहयोग तथा सुरक्षा, (peace, goodwill, mutual assistance and preservation) का जीवन व्यतीत करते हैं। प्राकृतिक स्थिति में मानवीय विवेक की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करना यह दर्शाता है कि लॉक नैतिक अधिकारों तथा कर्तव्यों को मानव समाज में अन्तर्निहित मानता है। कानून की उत्पत्ति नैतिकता से होती है।

इसके उपरान्त लॉक यह भी दर्शाता है कि प्राकृतिक स्थिति के जीवन में एक कठिनाई थी। राजनीतिक समाज न होने के कारण उसमें लिखित कानूनों का अभाव था। साथ ही उसमें न कोई समान दण्ड-विधान था और न प्राकृतिक कानून का निर्वचन करने वाली तथा उसका अतिक्रमण करने वालों को दण्ड देने वाली सार्वजनिक सत्ता थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वविवेक से ही इन शक्तियों को प्रयुक्त करता था। चूंकि मनुष्य में स्वार्थ की प्रवृत्ति भी रहती है, अतः ऐसा करने में व्यक्ति अपने मामले में स्वयं ही निर्णायक का कार्य करता था और इसके कारण उसका व्यवहार पक्षपातपूर्ण हो जाता था। दण्ड देने में उसकी कुप्रवृत्ति, संवेग तथा बदला लेने की भावना उसे उग्र बना देती थी। अतः न्याय नहीं रह पाता था, और कानून की विवेक-संगतता नष्ट हो जाती थी। लॉक ऐसी प्राकृतिक स्थिति के अस्तित्व को

केवल कल्पना मात्र नही मानता, बल्कि इसकी ऐतिहासिक सत्यता देखाने का प्रयोग भी करता है।

संविदा

संविदा का आधार—लॉक का कहना है कि प्राकृतिक स्थिति के जीवन की तीन कठिनाइयो (उसमे किसी निश्चित लिखित तथा ज्ञात कानून के अभाव, उसका निर्वचन करने वाली सत्ता के अभाव, तथा उसमे एक निष्पक्ष निर्णायक एव निर्णयो को कार्यान्वित करने वाली सत्ता के अभाव) के कारण 'मानव जाति प्राकृतिक स्थिति के समस्त लाभो को समझते हुए भी तुरन्त राजनीतिक समाज निर्मित करने की दिशा मे प्रवृत्त हो जाती है।' अत प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के साथ परस्पर संविदा करते हुए प्राकृतिक कानून का स्वय निर्वचन करने, उसका स्वय निर्णायक होने एव निर्णयो को कार्यान्वित करने के अपने प्राकृतिक अधिकार का परित्याग करके उसे सम्पूर्ण समाज की सत्ता को अर्पित कर देता है। परन्तु अपने जीवन, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य एव सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारो को अपने पास बनाये रखता है। जिन अधिकारो का व्यक्तियो के द्वारा परित्याग कर दिया जाता है, वह इसीलिए कि उनके द्वारा अपने पास सुरक्षित रखे गये अधिकारो की रक्षा हो सके। लॉक ने कहा है कि 'व्यक्तियो के (राजनीतिक) समाज मे प्रविष्ट होने का कारण उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा है।'[1] सम्पत्ति के अन्तर्गत जीवन, स्वास्थ्य तथा स्वतन्त्रता भी शामिल है। अत संविदा के फलस्वरूप एक ऐसे राजनीतिक समाज की उत्पत्ति होती है, जो अपनी सत्ता संविदा करने वाले व्यक्तियो से प्राप्त करता है, परन्तु उसकी सत्ता व्यक्ति के 'सम्पत्ति' के प्राकृतिक अधिकारो से उसी रूप मे मर्यादित रहती है, जिस रूप में व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक कानून द्वारा मर्यादित रहते हैं।

संविदा का स्वरूप—इस प्रकार राजनीतिक समाज की सत्ता का आधार जन-सहमति है। लॉक ने कहा है कि 'प्रकृतित समस्त मानव स्वतन्त्र, समान तथा स्वाधीन हैं, अत किसी भी व्यक्ति को उसकी निजी सहमति के बिना उसकी सम्पत्ति से विहीन या दूसरे की राजनीतिक सत्ता के अधीन नही रखा जा सकता।' यह मूल संविदा सर्व-सम्मति से की जाती है। परन्तु जो इसमे शामिल नहीं होते उन्हे बाध्य नहीं किया जा सकता। वे प्राकृतिक स्थिति मे बने रह सकते हैं। संविदा अवयस्कों को भी बाध्य नही करती। जिन लोगो ने संविदा की है वे तो इससे बाध्य हैं क्योंकि उनकी संविदा स्पष्ट है। परन्तु अल्प-वयस्क अपने सरक्षको तथा अभिभावको द्वारा की गयी संविदा को वयस्क होने पर स्वीकार कर ले तो उनकी संविदा अन्तर्निहित (tacit) मानी जायेगी। यदि वे न चाहे तो प्राकृतिक स्थिति मे बने रह सकते हैं। अत हॉब्स के प्रतिकूल लाक का संविदा सिद्धान्त भावी पीढ़ियों को संविदा मानने के लिए बाध्य नही मानता। सेबाइन का मत है कि लॉक के संविदा सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट नही होता कि संविदा द्वारा राज्य का निर्माण होता है

[1] 'The reason why people enter into society is the preservation of their

अथवा सरकार का भी। यद्यपि अपने पूर्ववर्ती विचारकों ऐलथुजियस तथा प्यूफनडॉर्फ की भांति लॉक सरकार का निर्माण करने के लिए राजनीतिक समाज द्वारा दूसरी संविदा की धारणा व्यक्त नहीं करता, तथापि वह राज्य तथा शासन के मध्य भेद करता है और शासन को समाज की सत्ता द्वारा मर्यादित मानता है, अत उसकी धारणा मे एक ही संविदा द्वारा राज्य तथा सरकार दोनो की उत्पत्ति को माना गया है।

संविदा तथा बहुमत को सहमति का सिद्धान्त—संविदा द्वारा राजनीतिक समाज की उत्पत्ति को दर्शान के साथ-साथ लॉक 'बहुमत की सहमति' के सिद्धान्त को भी इसमे अन्तर्निहित मानता है। उसकी इस धारणा की तीव्र आलोचना हुई है। लाक का तर्क है कि किसी भी जन-समूह की कार्य-विधि उसके सदस्यो की सहमति से सचालित किये जाने का अर्थ यह है कि 'वह जन-समूह एक ही दिशा मे आगे बढ, और यह भी सामान्य नियम है कि समूह उसी दिशा म बढता है जिस दिशा मे वृहत्तर शक्ति उसे ले जाती है।' अत जन-समूह की सहमति का अर्थ बहुमत की सहमति है। यद्यपि लाक का यह तर्क बहुत सन्तोषजनक नही है, तथापि इसमे उसकी व्यवहारवादिता स्पष्ट है। लॉक यह नही कहता कि यदि समाज का सचालन अल्पसख्यको की सहमति से होगा तो समाज नष्ट हो जायेगा, अपितु वह यह दर्शाता है कि समाज के उत्तम सचालन के लिए बहुमत की सहमति वाछनीय है। लॉक का यह तर्क लोकतन्त्र की सफल कार्यान्विति के व्यावहारिक पक्ष को दर्शाता है, क्योंकि बहुमत के शासन के अतिरिक्त लोकतन्त्र का अन्य कोई वैकल्पिक समाधान नही हो सकता। साथ ही लॉक इस बहुमख्यको के अत्याचार के रूप म भी नही लेता। उसका उद्देश्य यह दर्शाना है कि अल्पसख्यकों का शासन सफलता का सूचक नही है। व्यवहार मे किसी समस्या पर सम्पूर्ण जनता का एकमत हो सकना सम्भव नही है। अत बहुमत की सहमति ही एकमात्र समाधान है।

प्रभुसत्ता तथा सरकार

प्रभुसत्ता या सर्वोच्च शक्ति—लॉक से पूर्व राज्य की प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा का विवचन बोदा, ग्रोशियस, हॉब्स आदि अनेक विचारको ने किया था। अधिकाश विचारक निरकुश प्रभुसत्ता की धारणा के समर्थक थे। उनके अनुसार राज्य का प्रधान शासक सम्प्रभु है। हॉब्स ने राज्य तथा शासन के मध्य भेद नही किया है। लॉक इन विचारो से सहमत नही है। उसने 'प्रभुसत्ता' (Sovereignty) शब्द का प्रयोग तक नही किया है। वह 'सर्वोच्च शक्ति' शब्द का प्रयोग करता है। उसने कहा है कि निरकुश स्वेच्छाचारी शक्ति, अथवा निश्चित स्थापित कानूनो के बिना शासन का सचालन समाज तथा सरकार के उद्देश्यो मे सगति नही रखते।'[1] संविदा द्वारा निर्मित राजनीतिक समाज सर्वोच्च सत्ता धारण करता है।

[1] 'Absolute arbitrary power, or governing without settled established laws, can neither of them consist with the ends of society and government.'
—Locke

परन्तु सर्वोच्च शक्ति सदैव सक्रिय नहीं रहती। इस शक्ति का प्रयोग समाज के अभिकर्त्ता या न्यासधारी के रूप में सरकार का व्यवस्थापिका अंग करता है। परन्तु सरकार के भंग हो जाने पर सर्वोच्च शक्ति अर्थात सम्पूर्ण समाज पुनः सक्रिय हो जाता है और बहुमत द्वारा सम्पूर्ण समाज इस शक्ति की अभिव्यक्ति करके पुनः सरकार की स्थापना करता है।

सरकार की स्थापना तथा उसके रूप—सरकार की स्थापना सर्वोच्च शक्ति से युक्त राजनीतिक समाज के द्वारा की जाती है। यद्यपि इसमें कोई संविदा होने की धारणा लॉक ने नहीं बतायी है, तथापि इसके अन्तर्गत भी एक प्रकार की संविदा की भावना अन्तर्निहित है। सरकार समाज की सत्ता द्वारा मर्यादित तथा उसके प्रति उत्तरदायी है। लॉक के मत से सरकार तथा राज्य के मध्य संविदा होने का प्रश्न नहीं है, क्योंकि संविदा समान शक्ति से युक्त संस्थाओं के मध्य हो सकती है, जबकि राजनीतिक समाज तथा सरकार समान शक्ति से युक्त नहीं हैं। सरकार जन समूह की इच्छा को कार्यान्वित करती है, अतः वह उसकी अभिकर्त्ता या न्यासधारी के रूप में है। सरकार राजतन्त्रात्मक (निर्वाचित अथवा वंशानुगत) वर्गतन्त्रात्मक, लोकतन्त्रात्मक, अथवा मिश्रित किसी भी रूप की हो सकती है। वर्गीकरण की कसौटी यह है कि सर्वोच्च शक्ति से युक्त समाज शासन सम्बन्धी कार्यों (विधि-निर्माण एवं उसके कार्यान्वयन) को सम्पादित करने की शक्ति एक व्यक्ति, थोड़े से व्यक्तियों, सम्पूर्ण समाज, अथवा इनके मिश्रित रूप में, जिस प्रकार चाहे प्रदान कर सकता है।

सरकार के अंग तथा उनके कार्य

(1) **व्यवस्थापिका**—सरकार के विविध प्रकार के कार्यों में से विधायिनी कार्य को लॉक सबसे महत्त्वपूर्ण मानता है। सामान्यतया विधायन की सर्वोच्च शक्ति सम्पूर्ण समाज के हाथ में रहती है, परन्तु सम्प्रभु समाज इस शक्ति को सरकार के विधायी अंग के हाथ में रखता है, जो सम्पूर्ण समाज के प्रति उत्तरदायी होता है। इस दृष्टि से लॉक विधि-निर्माण हेतु प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्थापिका को वांछनीय समझता है। व्यवस्थापिका सम्पूर्ण जन-समूह की सत्ता से उसी प्रकार मर्यादित है जिस प्रकार जन-समूह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों से तथा प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक कानून की सत्ता द्वारा मर्यादित है। अतः व्यवस्थापिका ऐसी आज्ञप्तियाँ जारी नहीं कर सकती जो कि जनता के प्राकृतिक अधिकारों एवं प्राकृतिक कानून के विरुद्ध हों। लॉक ने कहा है 'व्यवस्थापिका को अधिकृत स्थायी कानूनों एवं अधिकृत न्यायाधीशों के माध्यम से न्याय प्रदान की व्यवस्था करनी चाहिए।'[1] विधायिका किसी व्यक्ति को उसकी सहमति के बिना सम्पत्ति से विहीन नहीं कर सकती। शासन संचालन के लिए सरकार को धन की आवश्यकता पड़ती है। अतः सम्पत्ति पर कर लगाना आवश्यक है, परन्तु यह कार्य विधायिका जन समूह या उसके प्रतिनिधियों की सहमति से ही कर सकती है। जन-समूह द्वारा प्राप्त सत्ता

[1] 'The Legislative is bound to dispense Justice by promulgated standing Laws and known authorized Judges.'—Locke

को व्यवस्थापिका किसी अन्य सस्था को प्रत्यायोजित नही कर सकती ।

(2) **कार्यपालिका**—चूँकि व्यवस्थापिका का कार्य विधि-निर्माण करना है जिसका उद्देश्य जन-समूह की इच्छा को कानून के रूप मे व्यक्त करना होता है, अत यह कार्य थोडे से समय मे पूर्ण हो जाता है। विधायिका को निरन्तर क्रियाशील रहने की आवश्यकता नही पडती । परन्तु उस विधि को कार्यान्वित करने का काम निरन्तर चलता रहता है । यह कार्य सरकार के पृथक् अग 'कार्यपालिका' के द्वारा किया जाना चाहिए । लॉक ने यह भी सकेत दिया है कि विधि-निर्माण तथा उसके कार्यान्वयन का काय एक ही सस्था के हाथ मे नही रहना चाहिए, क्योंकि ऐसी व्यवस्था म विधायक निष्पक्ष रूप से विधि-निर्माण नही कर पायेंगे । लॉक के इस सिद्धान्त को बाद म फ्रास के विचारक माण्टस्क्यू ने विस्तारपूर्वक समझाकर शासन में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था । लॉक ने विधायी एव अधिशासनिक कार्यों हेतु पृथक् सगठनो की व्यवस्था दी है, परन्तु वह इन्हें एक-दूसरे से पृथक् अथवा स्वतन्त्र रखने की धारणा को व्यक्त नही करता । उसके मत से कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीन तथा उसके प्रति उत्तरदायी रहना चाहिए, क्योकि वह भी व्यवस्थापिका के समक्ष ऐसी ही स्थिति मे है, जैसी स्थिति मे व्यवस्थापिका सम्पूर्ण जन-समूह के समक्ष होती है ।

(3) **सघात्मक तथा न्यायिक कार्य**—सरकार के अन्य कार्यों के अन्तर्गत लॉक सघात्मक (federative) कार्य को भी बताता है, जिसके अन्तर्गत अन्य राज्यो के साथ सम्बन्धों का नियमन करना, युद्ध, शान्ति, सन्धि आदि की व्यवस्था करना आते है । परन्तु यह कार्यपालिका के हाथ म ही रहना चाहिए, क्योंकि इसके लिए सेना की आवश्यकता पडती है । सेना का नियन्त्रण कार्यपालिका के हाथ मे रहता है । अत उसका विभाजन उचित नही है । लॉक के युग म न्याय का कार्य भी कार्यपालिका के ही अधीन माना जाता था । अत लॉक इसके लिए पृथक् न्यायपालिका की व्यवस्था नही बनाता । नि सन्देह वह पृथक् तथा निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था का समर्थन करता है, परन्तु न्यायपालिका के पृथक्करण तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को नही अपनाता ।[1]

(4) **परमाधिकार**—इसके अतिरिक्त लॉक शासन के सम्बन्ध मे कार्यपालिका के परमाधिकार (prerogative) की बात भी कहता है । उसका मत है कि व्यवस्थापिका सदैव कार्यशील नही रहती । अत उसकी अनुपस्थिति मे किसी आकस्मिक परिस्थिति का सामना करने के लिए कार्यपालिका को आवश्यक विधि निर्माण का कार्य करने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिए । परन्तु ऐसे परमाधिकार का प्रयोग करते हुए कार्यपालिका को 'जन-कल्याण' का उद्देश्य सामने रखना चाहिए । लॉक की दृष्टि स 'जन-कल्याण' की धारणा का निर्णय अन्ततोगत्वा जनता ही कर सकती है ।

क्रान्ति का प्रतिरोध—लॉक की विचारधारा मे सर्वत्र मर्यादित शासन का सिद्धान्त विद्यमान है । वह व्यक्ति के ऊपर प्राकृतिक कानून की, समाज के ऊपर व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो की, सरकार के ऊपर जन-समूह की और कार्यपालिका

[1] Harmon, *op cit*, 252

के ऊपर व्यवस्थापिका की मर्यादा आरोपित करता है। जहाँ तक शासन की शक्ति का सम्बन्ध है, उसकी उत्पत्ति संविदागत नहीं है। अत जो सरकार अपनी सत्ता तथा शक्ति का दुरुपयोग करती है, उसे पदच्युत करने की शक्ति जनता को प्राप्त होनी चाहिए। सैबाइन के अनुसार, 'सरकार का विघटन या तो विधायी शक्ति के निवास स्थान में परिवर्तन करने पर किया जाता है, या उसके द्वारा जनता मे प्राप्त प्रन्यास का उल्लघन करने पर किया जाता है।'[1] लॉक ने इग्लैण्ड की गृह-क्रान्ति की अवधि मे यह अनुभव किया था कि राजा ने ससद के बिना निरकुश ढग से अपने परमाधिकारो के अनुसार शासन करने का रवैया अपनाया था, जिसका अर्थ जनता द्वारा ससद को प्रदत्त व्यवस्थापिका शक्ति का स्थान परिवतन करना था साथ ही दीर्घ ससद ने अपने अधिकारो का अवाछनीय ढग से प्रयोग करके जनता द्वारा प्रदत्त प्रन्यास का उल्लघन किया था। लॉक न तो व्यवस्थापिका को अमर्यादित रखना चाहता था और न कार्यपालिका को। उसके मत से यदि ये अग अपने अधिकारो का दुरुपयोग करें, तो जनता क्रान्ति करके उन्हे पदच्युत कर सकती है। परन्तु ऐसा करने मे यथासम्भव नैतिक शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए। बल-प्रयोग तभी किया जाना चाहिए जब वह अपरिहार्य हो।

प्राकृतिक अधिकार

जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति—प्राकृतिक कानून की धारणा तथा उस पर आधारित प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता लॉक के राजनीतिक विचारो के केन्द्रीय तत्त्व हैं। लॉक का मत है कि ईश्वर ने मनुष्य को जीवन दिया है और स्वस्थ जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता दी है। इसका उपभोग करने के लिए परमात्मा ने ससार मे अनेक वस्तुओ की सृष्टि की है। प्रारम्भ मे प्रकृति की इन समस्त वस्तुओ पर मानवो का सामूहिक स्वामित्व था। मानव प्राकृतिक नियमो के अनुसार इन वस्तुओं का उपभोग करते थे। अपनी आवश्यकता से अधिक अथवा केवल बर्बाद करने के लिए उनका अनावश्यक रूप से सचय नही किया जाता था। इसीलिए ईश्वर ने मनुष्य मे विवेक की भी सृष्टि की है। धीरे-धीरे प्रकृति की वस्तुओ पर व्यक्तिगत स्वामित्व स्थापित करने की धारणा का विकास हुआ। मनुष्य स्वतन्त्र है और अपने शरीर तथा श्रम पर उसका पूर्ण अधिकार है। अत प्रकृति की किसी वस्तु पर यदि अपनी आवश्यकता हेतु मनुष्य अपने श्रम को लगाता है तो वह वस्तु उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाती है। यह बात भूमि के सम्बन्ध मे भी सत्य है। समाज मे सब मनुष्य समान शारीरिक तथा श्रम-शक्ति नही रखते। अत अपनी श्रम-शक्ति के आधार पर अर्जित सम्पत्ति की मात्रा भी सबके पास समान नहीं हो सकती। परन्तु नैतिकता तथा प्राकृतिक कानून का विवेक समाज के अहित मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के अवाछनीय अर्जन को नियन्त्रित करने मे सहायक सिद्ध होते हैं। कालान्तर मे चतुर

[1] 'A government is dissolved either by a change in the location of legislative power or by a violation of trust which the people have reposed in it.' —Sabine

मनुष्यों ने अपने श्रम द्वारा उत्पादित अतिरिक्त माल को संचित किये रखने के लिए मुद्रा का आविष्कार किया और अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादित वस्तुओं को बरबाद होने से सुरक्षित रखने के लिए उनका विक्रय करके मुद्रा के रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति को संचित करना प्रारम्भ किया।

प्राकृतिक अधिकार राज्य की स्थापना से पूर्व है—इस दृष्टि से लॉक व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को नैतिक एवं प्राकृतिक मानता है, क्योंकि वह व्यक्ति की निजी शक्ति तथा श्रम का प्रतिफल है। यदि उस पर कोई मर्यादा है तो प्राकृतिक कानून के विवेक तथा नैतिकता की है। व्यक्ति समाज के अहित में उनका संचय नहीं कर सकता। अतः जीवन, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार हैं, जो राज्य की स्थापना से पूर्व अपना अस्तित्व रखते थे। इन्हीं की रक्षा के लिए व्यक्ति संविदा द्वारा राज्य की स्थापना करते हैं। इनकी सृष्टि समाज या राज्य के द्वारा नहीं की जाती। परन्तु इन अधिकारों की रक्षा का तथा प्राकृतिक कानून की धारणा के अन्तर्गत इनके नियमन का अधिकार समाज की सत्ता को संविदा द्वारा प्राप्त होता है। यदि राज्य सम्पत्ति पर कर लगाता है तो कर लगाने की व्यवस्था व्यक्तियों की सहमति से अर्थात् जन-समूह के बहुमत की सहमति से की जाती है। प्राकृतिक कानून की भावना के अन्तर्गत सार्वजनिक हित का ध्यान रखते हुए समाज की सत्ता व्यक्तिगत सम्पत्ति के अवांछनीय संचय को रोक सकती है। इस दृष्टि से लॉक न तो यदृभाव्यम् (laissez faire) की नीति को अपनाता है और व्यक्तिगत सम्पत्ति के ऊपर राज्य की निरकुश सत्ता के नियन्त्रण को स्वीकार करता है। अतः यह धारणा भ्रामक है कि लॉक ने राज्य के दैवी अधिकार सिद्धान्त के स्थान पर व्यक्तिगत सम्पत्ति के दैवी अधिकार के सिद्धान्त को स्थानापन्न किया है। व्यक्ति के इन प्राकृतिक अधिकारों को राज्य से पूर्व मानने तथा उन्हें प्राकृतिक कानून पर आधारित मानकर उनके द्वारा राज्य की सत्ता को मर्यादित करने की लॉक की धारणा उसको व्यक्तिवादी चिन्तकों की श्रेणी प्रदान करती है।

राज्य तथा धर्म

धार्मिक सहिष्णुता—लॉक के युग में राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य श्रेष्ठता सम्बन्धी संघर्ष समाप्त हो चुका था। परन्तु प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक चर्चों के समर्थकों के मध्य का संघर्ष इंग्लैण्ड की राजनीति को विकृत करने के लिए उत्तरदायी था। यह बात यूरोप के अन्य देशों में भी थी। इंग्लैण्ड में कैथोलिक स्टुअर्ट राजाओं की निरकुशतावादी प्रवृत्ति ने प्रोटेस्टेंट प्रजा को रुष्ट कर दिया था। स्वयं लॉक भी चार्ल्स द्वितीय तथा जेम्स द्वितीय का विरोधी था। उसने इनके स्थान पर प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बी विलियम तथा मेरी को राजगद्दी दिलाने की क्रान्ति में सक्रिय भाग लिया था। परन्तु कैथोलिक राजतन्त्र का विरोधी होते हुए भी लॉक धार्मिक सहिष्णुता की नीति का समर्थक था। उसका यह विश्वास था कि किसी समाज में विभिन्न धर्मावलम्बियों का अस्तित्व उसकी सामुदायिक एकता को नष्ट नहीं करता, प्रत्युत जहाँ बलपूर्वक धार्मिक समानता लाने या लोगों को किसी धर्म-विशेष को मानने के

लिए विवश करने अथवा किसी धर्म-विशेष के सदस्यों के प्रति पक्षपात करने का प्रयास किया जाता है, वहाँ राष्ट्रीय एकता को हानि पहुँचती है।

धर्मनिरपेक्षता—लॉक की धर्मनिरपेक्षता तथा धार्मिक सहिष्णुता की धारणाएँ उसके प्राकृतिक अधिकारों की धारणा से स्पष्ट हो जाती हैं। वह व्यक्ति के स्वतन्त्रता के प्राकृतिक अधिकार को मानता है। धार्मिक विश्वास व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है। नागरिक शासक केवल बाहरी शक्ति का प्रयोग करते हैं। चर्च एक ऐच्छिक सगठन है, जिसका कार्य व्यक्ति को आत्मिक ज्ञान का मार्ग-दर्शन कराना है। वह किसी व्यक्ति को किसी धर्म-विशेष पर विश्वास करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। अपने सदस्यों को भी चर्च-विरोधी विश्वासों को मानने मे चर्च धर्म-बहिष्कृत करने, सलाह देने तथा फटकारने से अधिक और कोई दण्ड नहीं दे सकता। नागरिक प्रशासन चाहे किसी धर्म या चर्च को मानता हो, उसका कार्य उसके नागरिक दायित्वों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यदि राज्य बलात् लोगों को धर्म परिवर्तन करने को विवश करेगा तो या तो लोग राज्य छोड़कर चले जायेंगे और उनके द्वारा होने वाले लाभ से मातृभूमि वंचित हो जायेगी अथवा यदि वे राज्य मे ही रहेंगे तो भूमिगत षड्यन्त्रों द्वारा राज्य को हानि पहुँचायेंगे। परन्तु लॉक ऐसे धर्म तथा चर्च के प्रति सहिष्णुता की नीति का समर्थन नहीं करता जिनकी निष्ठा विदेशी राजाओं के प्रति रहती है। नास्तिकों या सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध आचरण करने वाले धर्मावलम्बियों के प्रति सहिष्णुता की नीति का कोई औचित्य लॉक ने स्वीकार नहीं किया है। सक्षेप मे, लॉक की सहिष्णुता की नीति का आधार राजनीतिक सुरक्षा है। यदि धर्म इसके मार्ग मे बाधक हो तो राज्य उसके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है।

लॉक के राजनीतिक विचारों की आलोचना

यद्यपि लॉक का राजनीतिक दर्शन हॉब्स की तुलना मे निम्नतर कोटि का है और उसमे मौलिकता का भी अभाव है, तथापि जैसा एक आधुनिक लेखक हार्मॉन का मत है, 'लॉक की विचारधारा की महत्ता इस बात पर है कि वह पूर्ववर्तीय रचनाओं का सारांश है, वह पढ़ने योग्य है और यह भी कि उसे विशेष रूप से उचित समय पर प्रस्तुत किया गया था।' लाक की समस्त विचारधाराओं की आधारशिला उसका विवेकवाद है। राजनीति, धर्म, शिक्षा आदि जिन विषयों पर भी उसने लिखा है, उनके सम्बन्ध मे उसके निष्कर्ष तथा उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त विवेक की कसौटी पर खरे उतरे हैं। लॉक के विचार कल्पनात्मक न होकर उसके व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित है। अत उसका दर्शन यथार्थवादी है। यही कारण है कि उसने अट्ठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी की अनेक विचारधाराओं को प्रभावित किया है।

विचारों मे असगति दोष—लॉक से पूर्व हॉब्स के राजनीतिक विचारों को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। यद्यपि लॉक हॉब्स के विचारों का खण्डन करना चाहता था, तथापि उसमे उतनी प्रतिभा तथा क्षमता नहीं थी कि वह इस उद्देश्य मे सफल सिद्ध हो सकता। अत उसने फिल्मर के निरकुशतावाद की अपनी आलोचना

का लक्ष्य बनाया। परन्तु ऐसा करने में भी उसके विचारों में अनेक असंगतियाँ आ गईं। उसने अपनी विचारधारा के विकास में इतनी समस्याओं को ले लिया कि वह उन्हें युक्तिपूर्ण ढंग से एक तार्किक संरचना का रूप देने में असफल रहा। सैबाइन के मत से लॉक की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि 'वह कभी भी प्राथमिक सिद्धान्तों पर नहीं पहुँच सका।' उदाहरणार्थ, वह व्यक्ति के सम्पत्ति के अलघ्य अधिकार को मानता है। साथ ही राज्य द्वारा उनके नियमन की नीति को भी समर्थन देता है। यह एक बड़ी असंगति है। लॉक एक व्यक्तिवादी विचारक है, परन्तु साथ ही वह बहुमत पर आधारित लोकतन्त्र का समर्थन करते हुए व्यक्ति के अधिकारों पर समाज के बहुमत के नियन्त्रण को स्वीकृति देता है। वह शासन के व्यवस्थापिका अंग को सर्वोच्च स्थिति प्रदान करता है, परन्तु दूसरी ओर कार्यपालिका के परमाधिकारों का भी समर्थन करता है। उसने प्राकृतिक स्थिति का जो चित्रण किया है, उससे लगता है कि मानो वह स्थिति व्यवस्थित राजनीतिक समाज की थी, परन्तु फिर संविदा द्वारा राज्य की स्थापना करने के सम्बन्ध में उसके तर्क निर्बल सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि संविदा के उपरान्त वह जिस व्यवस्था का विवेचन करता है, यह प्राकृतिक स्थिति की अपेक्षा अधिक बुरी है। इस प्रकार लॉक की विचारधारा में अनेक अस्पष्टताएँ तथा असंगतियाँ आ गई हैं।

जटिलता तथा संकीर्णता का दोष—लॉक के विपरीत हॉब्स ने एकमात्र समस्या अराजक स्थिति की ली थी और उसके समाधान के निमित्त एक सीधा सुझाव निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना को लिया था। उसने अपने सम्पूर्ण विचारों को इन्हीं धारणाओं की पुष्टि करने तक सीमित रखा। परन्तु लॉक की समस्या स्वतन्त्रता तथा सत्ता दोनों के औचित्य को सिद्ध करने की थी। साथ ही वह दोनों के मध्य सन्तुलन की स्थिति स्थापित करना चाहता था। उसने सामाजिक जीवन की अन्य अनेक समस्याओं को भी अपने दर्शन में लिया। परन्तु वह उन सबके समाधान हेतु अपने वैज्ञानिकवाद के आधार पर कोई संगतिपूर्ण निष्कर्ष नहीं खोज सका। सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना के सम्बन्ध में भी उसके निष्कर्ष भ्रामक थे। वह मनुष्य को स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी नहीं मानता। अपितु राजनीतिक समाज को कृत्रिम ढंग से कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त एक संगठन के रूप में मानता है। समाज की रचना के सम्बन्ध में लॉक का यह दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण है कि व्यक्ति अपने कुछ प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के निमित्त ही एक संगठित राजनीतिक समाज की स्थापना करते हैं। वास्तव में समाज-संगठन का आधार धर्म, संस्कृति, भौगोलिक परिस्थितियाँ, मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति आदि भी हैं। लॉक इन तत्वों की उपेक्षा करता है। यह उसके राजनीतिक विचारों में संकीर्णता का द्योतक है।

महत्व तथा प्रभाव

(1) लॉक के विचार राजनीतिक व्यवहार में आज तक माने जाते रहे हैं—लॉक के विचारों में उपर्युक्त कमियों तथा दोषों के बावजूद उनका व्यावहारिक

महत्त्व बहुत अधिक है। यद्यपि हाब्स के विचार दार्शनिक तथा तार्किक दृष्टि से दोष रहित है, तथापि उसके निष्कर्षों का व्यावहारिक महत्त्व बहुत कम है। निरंकुशतावाद का समर्थन जर्मन आदर्शवादी हीगल ने किया और बाद में फासीवाद को उससे प्रेरणा मिली। परन्तु यह दोनों विचारधाराएँ हॉब्सवादी न होकर रूसोवादी हैं। हॉब्स के सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विकास इग्लैण्ड के विधिशास्त्रियों ने किया और उपयोगितावादी दर्शन में भी उसका प्रभाव पाया जाता है। परन्तु समूचे रूप में हाब्स के राजनीतिक दर्शन का व्यावहारिक महत्त्व भावी पीढ़ियों के लिए विशेष प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुआ। इसके विपरीत लॉक की विचारधाराएँ उसके युग में लेकर आज तक राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार की प्रमुख विषय-वस्तु बनी हुई हैं।

(2) लॉक द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की धारणा आज तक मान्य होती रही है—लॉक की प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को व्यक्तिवादी विचारकों ने अपनाया और उनकी रक्षा के लिए राज्य की सत्ता को मर्यादित करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यद्यपि व्यक्तिवाद आज अपने उन्नीसवीं सदी के रूप में नहीं रह गया है तथापि लोकतन्त्रवाद, मानवतावाद तथा समाजवाद सभी के अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन तथा स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकारों को स्वीकार किया जाता है। इन्हें विभिन्न राज्यों के संविधानों के अन्तर्गत सुरक्षित रखने की व्यवस्था अपनाई जा रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी इन्हें मानवीय अधिकारों के रूप में घोषित किया है। सम्पत्ति का अलघ्य अधिकार भले ही समाजवादियों तथा साम्यवादियों की दृष्टि से मान्य न हो, परन्तु किसी न किसी सीमा तक वे भी उसकी स्वीकृति देते हैं।

(3) निरंकुशतावाद के विरुद्ध विभिन्न क्रान्तियों का प्रेरणा-स्रोत—शासन सम्बन्धी विवेचन के अन्तर्गत लॉक की शक्ति-पृथक्करण सम्बन्धी धारणा का विकास उसके तुरन्त पश्चात् माटेस्क्यू ने किया। वह लॉक से अत्यन्त प्रभावित हुआ था। अमरीकी संविधान-निर्माताओं के लिए लॉक ने उनके दार्शनिक मार्गदर्शक होने की ख्याति प्राप्त की। उसके सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों ने अमरीकी स्वतन्त्रता-संग्राम के नेताओं को प्रेरणा दी थी। उनका यही विचार था कि ब्रिटिश सरकार को उनकी सहमति के बिना उनकी सम्पत्ति पर कर लगाने का कोई अधिकार नहीं है। फ्रांसीसी क्रान्ति पर भी लॉक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की धारणा के प्रभाव को अमान्य नहीं किया जा सकता। इस क्रान्ति का उद्देश्य निरंकुशतन्त्र को समाप्त करना था। रूस की विचारधारा पर भी लॉक का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। लॉक के बहुमत की सहमति, लोक प्रभुसत्ता तथा कार्यपालिका के व्यवस्थापिका के अधीन मानने की धारणाओं को रूसो ने अपनाया है। संक्षेप में, लॉक के विचारों ने आधुनिक विविध विचारधाराओं व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, पूँजीवाद, समाजवाद आदि के विकास हेतु सामग्री प्रदान की है।

(4) लोकतन्त्र तथा वैधानिकतावाद के निमित्त लॉक के विचार आज तक प्रभावी सिद्ध होते रहे हैं—राजनीतिक चिन्तन को लॉक की प्रमुख देन लोकतन्त्रवाद तथा वैधानिकवाद है। आज दिन जिस रूप में इग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था तथा लोकतन्त्र

प्रचलित है, वह पूर्णतया लॉक की विचारधारा के अनुरूप हैं। विविध लोकतन्त्री देशो की शासन-पद्धतियो मे शासन के अगो को मर्यादित करने की परम्परा पर लॉक का प्रभाव स्पष्ट है। यह उक्ति सही है कि 'जहाँ हॉब्स लॉक से भिन्नता रखता है, वहाँ भावी पीढ़ियाँ लॉक के साथ हैं।' मैक्सी का निष्कर्ष है कि 'लॉक की विचारधारा मे यथार्थता, उसकी अगाध नैतिक विश्वासिता, स्वतन्त्रता के प्रति उसका वास्तविक प्रेम, मानव अधिकारो तथा मानवो के प्रति सम्मान, जिनके साथ उसकी उदारता तथा सद्भावना शामिल हैं, इन सबने उसे मध्यमवर्गीय क्रान्ति का आदर्श प्रवक्ता सिद्ध किया है।

(5) आज की परिस्थितियों के सदर्भ मे लॉक के विचारो का गहराई से अध्ययन करने की आवश्यकता है—लॉक के विचारो का आज की सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक व्यवस्थाओ के सन्दर्भ मे सही निष्कर्ष नही निकल सकता, क्योकि उसकी विचारधाराएँ सत्रहवीं शताब्दी की परिस्थितियो के सदर्भ मे व्यक्त की गई थी। सम्भवत यदि लॉक अपने युग के बाद की या आज की परिस्थितियो के अन्तर्गत लिखता तो उसके सम्पत्ति सम्बन्धी विचार कुछ भिन्न प्रकृति के होते। मैक्सी का निष्कर्ष है कि 'लॉक के विचारों का समुचित निष्कर्ष निकालने के लिए हमे उनका और अधिक गहराई के साथ अध्ययन करना चाहिए। उनमे हम ऐसी सामग्री पायेंगे, जिन्हे हम अपने आधुनिक समाज की आवश्यकता के अनुसार प्रयुक्त कर सकेंगे।'

दसवाँ अध्याय

जीन जैक्विस रूसो

(1712 ई० से 1778 ई०)

परिचयात्मक

अट्ठारहवीं सदी तक फ्रांस की राजनीतिक स्थिति—सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'राजनीतिक विचारधाराओं का विकास शून्य में नहीं होता।' सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में हॉब्स तथा लॉक के राजनीतिक विचारों का प्रादुर्भाव देश की कलहपूर्ण राजनीतिक परिस्थितियों के प्रसंग में हुआ था। इस शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जब वहाँ राजनीतिक स्थिरता आ गयी तो वहाँ का जन-जीवन राजनीतिक उपलब्धियों के अन्तर्गत देश के विविध क्षेत्रों में विकास के कार्यों में लग गया। अतः वहाँ कुछ काल तक महान् राजनीतिक दार्शनिकों की सामग्री न मिलने से राजनीतिक चिन्तन भी सुप्त सा रहा। दूसरी ओर सत्रहवीं तथा अट्ठारहवीं शताब्दी में फ्रांस की राजनीतिक परिस्थितियों ने पुनः फ्रांस को राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र बना दिया। फ्रांस में लुई चतुर्दश का शासन काल स्वेच्छाचारितावादी राजतन्त्र का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण था। उसने देश की परम्परागत लौकिक संस्थाओं का दमन करके न केवल लोकतन्त्री तत्त्वों का विनाश किया था, किन्तु देश के अभिजात्य वर्ग का भी पूर्णतया दमन किया और अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु विशाल सेना-संचय, शाही ठाट-बाट तथा नौकरशाही के विकास में अपार धन खर्च करके प्रजा को कर-भार से लाद दिया। इस प्रकार फ्रांस की आर्थिक दशा शोचनीय हो गई। निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी तन्त्र के विरुद्ध फ्रांस में अट्ठारहवीं सदी के प्रारम्भ में माण्टेस्क्यू ने समाजशास्त्रीय ढंग से राजनीतिक चिन्तन किया और स्वतन्त्रता तथा सांविधानिकवाद का उदारवादी दर्शन प्रस्तुत किया। परन्तु उसके विचार फ्रांस की तत्कालीन परिस्थिति का सुधार न कर सकते थे। 1715 ई० में लुई चतुर्दश की मृत्यु के समय उसका उत्तराधिकारी लुई पन्द्रहवाँ एक अल्पवयस्क बालक था। अतः उसके संरक्षकों ने वही पुराना निरंकुशतावादी रवैया अपनाया और राजा के प्रौढ़ हो जाने पर वही वसीयत उसे मिली। देश की दशा इतनी डांवाडोल थी कि राजा उसे संभालने में समर्थ नहीं हो सका।

फ्रांसीसी क्रान्ति के पूर्व का वातावरण—चिन्तन के क्षेत्र में 18वीं सदी का काल ज्ञान तथा तर्क का युग था। उस युग के विद्वानों ने विगत शताब्दी के विद्वानों की विचारधाराओं का संग्रह किया था। अनेक विद्वानों ने ज्ञान के विविध क्षेत्रों

(धर्म, नैतिकता, समाजशास्त्र, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि) के सम्बन्ध मे विविध प्रकार के विचार रखे। परन्तु फ्रास की स्थिति को सुधारने के सम्बन्ध मे कोई भी विचारक सक्रिय क्रान्ति का आह्वान न कर सका। यो तो फ्रास की आर्थिक स्थिति इतनी अधिक खराब न थी कि क्रान्ति अनिवार्य होती। परन्तु वास्तव मे वहाँ की सामाजिक सस्थाओ का सन्तुलन बिगड चुका था। इसके कारण सामाजिक जीवन मे अस्थिरता आ गई थी और यही आगामी क्रान्ति का कारण हुआ। वहाँ के दार्शनिको तथा चिन्तको ने जो सुझाव रखे थे, वे इतने वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण तथा विवेक पूर्ण ढग से प्रस्तुत किये गये थे कि उनके द्वारा क्रान्ति की कल्पना नही की जा सकती थी। समाज मे ऐसे सगठनो, सस्थाओ तथा कार्यक्रमो का नितान्त अभाव था जो एक योजनाबद्ध क्रान्ति का आह्वान कर सकते। अत विवेक, ज्ञान तथा तर्क सब निष्फल सिद्ध हुए। क्रान्ति का आह्वान करने वाली शक्ति एक ऐसे राजनीतिक चिन्तक के विचार थे, जो आजन्म एक अस्थिरता का जीवन व्यतीत करता रहा और जिसने अपने विचारों के प्रतिपादन मे विवेक, विज्ञान तथा तर्क का सहारा न लेकर सवेग तथा भावना का आश्रय लिया। वह विचारक जीन जैक्विस रूसो था।

रूसो का जीवन परिचय—रूसो का जन्म जिनेवा के कैंटन में 1712 ई० मे हुआ था। जन्म के साथ ही उसकी माँ का देहान्त हो गया। उसका पिता एक उग्र स्वभाव का घडी-साज था, जो रूसो के बालकपन मे एक बार अपने एक पडोसी से भीषण कलह करके दण्ड से बचने के लिए भाग गया। रूसो का पालन-पोषण तथा आरम्भिक शिक्षा की व्यवस्था उसके पडोसियो ने की। उसे एक नक्काशी करने वाले के साथ रोजगार दिलाया गया। परन्तु 16 वर्ष की अवस्था मे रूसो उससे लडकर भाग गया। यहाँ से लेकर मृत्यु-पर्यन्त रूसो का जीवन आवारा-गर्दी का सा बना रहा। वह अनेक अवसरो पर अनेक सज्जनो तथा महिलाओ का कृपा-पात्र बना, जिन्होने उसे रोजगार दिलाने तथा शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ दी। परन्तु वह अपने स्वभाव की दुर्बलता के कारण कभी किसी का कृतज्ञ नही रह पाया। उसमे मित्र बनाने की, विशेषकर महिलाओ को, बडी प्रतिभा थी, साथ ही मित्रो से अनबन कर देने मे भी वह देरी नही लगाता था। इस बीच उसे प्लेटो, अरस्तू आदि की रचनाओ को पढने का अवसर मिला। इतिहास का भी उसने थोडा बहुत अध्ययन किया, काव्य कला तथा सगीत मे उसकी विशेष अभिरुचि थी। परन्तु अस्थिरता के जीवन की स्थिति के कारण वह किसी भी विषय का क्रमबद्ध तथा सुसम्बद्ध ज्ञान न कर सका।

1749 ई० मे डीजन की अकादमी से एक निबन्ध-प्रतियोगिता घोषित की गई, विषय था, 'विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को शुद्ध किया है या भ्रष्ट ?' रूसो ने भी निबन्ध प्रस्तुत किया और बताया कि विज्ञान तथा कलाओ की प्रगति ने नैतिकता का विनाश किया है। इस प्रतियोगिता मे रूसो को प्रथम पुरस्कार मिला इसके कारण उसकी प्रतिभा प्रकट हो गई। थोडी धनराशि भी मिली। परन्तु इसके कारण रूसो के जीवन मे स्थिरता नही आई। एक बार फिर रूसो ने उक्त अकादमी की प्रतियोगिता मे 'असामनता की उत्पत्ति' (Origin of Inequalty) पर निबन्ध

प्रस्तुत किया, परन्तु इस बार उसे पुरस्कार नहीं मिल पाया। 1754 से 1762 ई० तक की अवधि में रूसो ने अपने महानतम ग्रन्थों की रचना की। उसकी प्रमुख रचनाएँ निम्नांकित हैं

(1) A Discourse on the Moral Effects of the Arts and Sciences—(इसमें उसे पुरस्कार मिला था)।

(2) A Discourse on the Origin of Inequality

(3) A Discourse on Political Economy.

(4) The Social Contract (राजनीति का ग्रन्थ)।

(5) The Emile (शिक्षा पर लिखा गया ग्रन्थ)।

(6) The New Heloise (एक उपन्यास)।

(7) The Confessions, the Dialogues, the Reveries तथा the Considerations on the Government of Poland

परिस्थितियोंवश रूसो ने एक-दो बार अपना धर्म-परिवर्तन भी किया। उसकी अभिरुचि समाज के निम्न वर्ग के प्रति भी बहुत थी। उसने एक धोबिन महिला थिरेसी को अपना प्रेमभाजन बनाया। उसके साथ रूसो के अवैध सम्बन्धों के फलस्वरूप पाँच बच्चे भी पैदा हुए और उन सभी को अनाथालयों के सुपुर्द कर दिया गया। 58 वर्ष की उम्र में रूसो ने उस महिला के साथ विधिवत् विवाह कर लिया। जब उसकी रचनाओं का प्रकाशन हुआ तो उनके क्रान्तिकारी विचारों के कारण शासन-सत्ता ने उन्हें जब्त कर लिया और रूसो को पेरिस से भागना पड़ा। स्वयं उसके केंद्र—जेनेवा—तक में उन्हें जला दिया गया। रूसो इंग्लैंड भी गया और प्रसिद्ध विद्वान ह्यूम का कृपापात्र बना। परन्तु बाद में उससे भी लड़कर इंग्लैण्ड से भाग चला आया। जीवन के अन्तिम क्षणों तक उसने लिखने का कार्य जारी रखा। 1778 ई० में पक्षाघात के आक्रमण से उसकी मृत्यु हो गई।

राजनीतिक विचार

ज्ञान तथा विवेक की अपेक्षा संवेगों पर आधारित विचार—रूसो न तो स्वयं एक सक्रिय राजनीतिज्ञ था और न एक विधिशास्त्री। अट्ठारहवीं शताब्दी के ज्ञान तथा तर्क के युग में उसे एक क्रमबद्ध दार्शनिक या यथार्थवादी राजनीतिक चिन्तक भी नहीं कहा जा सकता है। उसका ऐतिहासिक अध्ययन भी अपर्याप्त एवं असम्बद्ध था। परन्तु रूसो की बौद्धिक प्रतिभा की अलौकिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसके स्वभाव तथा परिस्थितियों ने उसे आवारागर्दों का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया था। परन्तु परिस्थितियों की प्रतिकूलताओं के बावजूद उसने अपने विचारों को जिस प्रतिभापूर्ण ढंग से व्यक्त किया है, उसके आधार पर उसे एक विनष्ट प्रतिभावान व्यक्ति (a spoiled genius) कहना युक्तिसंगत होगा। रूसो की विचारधाराएँ विवेक तथा तर्क पर आधारित न होकर उसकी अन्तर्प्रेरणा, संवेग तथा कल्पना पर आधारित हैं। सही माने में रूसो को संवेगों का पुँज (a bundle of sentiments) कहना अधिक यथार्थ होगा। परन्तु रूसो का कल्पनावाद (roman-

ticism) स्वप्नलोकी (utopian) न होकर यथार्थवादी था। रूसो ने फ्रांस की तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का जो अनुभव किया था, उसके कारण उसने यह निष्कर्ष निकाला कि समाज ने ज्ञान, सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्रों में जो प्रगति की है उससे मानवमात्र का कल्याण नहीं हुआ है, बल्कि वर्तमान समाज ने मनुष्य को भ्रष्ट बनाने में मदद दी है। अत रूसो का उद्देश्य ऐसी विचारधारा को व्यक्त करना था जिसके आधार पर एक सुव्यवस्थित समाज के निर्माण तथा सचालन की व्यवस्था की जा सके और मनुष्य को मानवोचित लाभ पहुँच सके।

दार्शनिक पद्धति—हारमान का मत है कि रूसो के विचारों की व्याख्या उतने ही ढगों से की गई है जितने व्याख्याकार हुए हैं। इसका कारण यह है कि उसके विचार उतने ही जटिल प्रकृति के हैं जितना जटिल स्वय रूसो का जीवन रहा था। उसके विचारों के एक अध्ययनकर्त्ता ब्रूम का कहना है कि 'रूसो एक रचनात्मक विचारक है जो उन विशिष्ट समस्याओं को जिन्हें वह सार्वजनिक दृष्टि से आवश्यक समझता है, गम्भीरता के साथ लेता है। रूसो ने अपने पूर्ववर्ती विचारकों का भी अध्ययन किया है। वह अरस्तू की अपेक्षा प्लेटो से सामीप्य रखता है और उनका दर्शन ग्रोशियस लॉक, डिकार्टे आदि नैतिकतावादी चिन्तकों के विचारों से अधिक सहमति-पूर्ण है। रूसो की चिन्तन-पद्धति पूर्णतया दार्शनिक है। अपने पूर्ववर्ती विचारकों हॉब्स तथा लाक की भाँति रूसो भी व्यक्ति के हित का ध्यान रखता है। परन्तु उसका दर्शन व्यक्तिवादी न होकर समाजवाद तथा आदर्शवाद की ओर अधिक उन्मुक्त है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक है, परन्तु वह स्वतन्त्रता तथा सत्ता के मध्य सन्तुलन तथा समन्वय स्थापित करना चाहता है। उसका विश्वास था कि मनुष्य स्वभावत अच्छा होता है। उसके बुरा बन जाने का कारण समाज है। अत समाज सचालन की ऐसी व्यवस्था की खोज की जानी चाहिए जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपनी नैसर्गिक मानवता को बनाये रखने मे समर्थ हो सके। अपने विचारों के विकास मे रूसो ने अपने पूर्ववर्ती सविदावादी विचारकों हॉब्स तथा लॉक के क्रम को अपनाया है। परन्तु उसके निष्कर्ष उक्त दोनों के विचारों के मध्य समन्वय का मार्ग अपनाते हैं, और उसका मानवतावाद तथा नैतिकतावाद उसे एक सविदावादी चिन्तक होने के साथ-साथ एक प्रत्ययवादी चिन्तक भी बनाता है।

मानव प्रकृति तथा प्राकृतिक स्थिति

मानव स्वभाव के सम्बन्ध मे रूसो हॉब्स तथा लॉक के विचारों के मध्य का मार्ग अपनाता है। उसकी दृष्टि मे न तो मनुष्य स्वभावत स्वार्थी है और न अत्युत्तम प्राणी, बल्कि वह 'स्वभावत अच्छा' है। वह न तो हॉब्स की कल्पना का विवेकहीन प्राणी है और न लाक की कल्पना का विवेकशील प्राणी, वरन् वह एक निश्चिन्त 'अर्ध-सभ्य मानव' (noble savage) है। वह आत्म निर्भर तथा आत्म-तुष्ट है। हॉब्स के द्वारा चित्रित प्राकृतिक स्थिति असामाजिक, अराजनीतिक, अथच एक अराजक समाज की स्थिति थी और लॉक द्वारा चित्रित प्राकृतिक स्थिति सामाजिक परन्तु राजनीतिक समाज के निर्माण से पूर्व की स्थिति थी। रूसो जिस प्राकृतिक

स्थिति का वर्णन करता है, वह उस आरम्भिक मानव-जीवन की स्थिति है, जबकि समाज का निर्माण नहीं हुआ था। रूसो इसे ऐतिहासिक न मानकर दार्शनिक विवेक की धारणा मानता है। इस स्थिति में मानव को न अपनी चिन्ता थी, न अन्यों की। उसका आचरण विवेक से निर्देशित न होकर प्राकृतिक प्रवृत्तियों से निर्देशित होता था। रूसो का कथन है कि 'विचारशील मानव ही शरारतपूर्ण होता है' (thinking man is a depraved animal)। प्राकृतिक मानव न नैतिक था, न अनैतिक, न सुखी था, न दुःखी। उसके पास कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। सम्पत्ति स्वार्थ, प्रेम, घृणा, भलाई, बुराई आदि प्रवृत्तियाँ तो सामाजिक जीवन में उत्पन्न होती हैं। मानव-समाज का निर्माण मनुष्य के विवेक द्वारा नहीं होता, बल्कि उसकी भावनाओं के द्वारा होता है।

रूसो के मत से आयु, स्वास्थ्य, शरीर तथा बुद्धि की असमानता प्राकृतिक है। परन्तु नैतिक तथा राजनीतिक असमानता सामाजिक जीवन की देन है। इस जीवन में चतुर तथा शक्तिशाली व्यक्ति अधिक सम्पत्ति अर्जित करके तथा दुर्बलों को अपने द्वारा निर्मित कानूनों को मानने के लिए विवश करके अपने अधीन बनाये रखने अथवा अपनी दासता स्वीकार करने को विवश कर लेते हैं। प्राकृतिक स्थिति तथा सामाजिक स्थिति के जीवन की इन दशाओं का चित्रण करने का रूसो का यह अभिप्राय नहीं था कि वह सामाजिक जीवन की स्थिति का विरोध करके मनुष्य को प्राकृतिक स्थिति में प्रत्यावर्तित हो जाने की धारणा का समर्थन करता है। प्रत्युत रूसो यह दर्शाता है कि तत्कालीन सामाजिक वातावरण में दोष उत्पन्न हो गये थे। अतः वह अपने दार्शनिक तर्कों द्वारा इसके कारणों पर प्रकाश डालकर समाज-निर्माण की व्यवस्था को नये रूप से समझाना चाहता है, जिसके आधार पर सामाजिक जीवन की अच्छाइयों को ग्रहण करके उनके दोषों को दूर करने का समाधान प्रस्तुत किया जा सके। रूसो तिवर्तमान सामाजिक जीवन के दोषों का मुख्य कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति को मानता है। रूसो ने कहा है कि 'नागरिक समाज का सबसे प्रथम संस्थापक उस व्यक्ति को माना जा सकता है, जिसने सबसे पहले किसी भूमि के खण्ड को घेर कर घोषणा की होगी कि यह मेरा है' अन्य लोगों को भी इस बात पर विश्वास करता हुआ पाया होगा।' रूसो की धारणा थी कि प्रकृति की सब वस्तुओं पर सबका समान अधिकार है। परन्तु जब भूमि के खण्डों को व्यक्तिगत स्वामित्व में लेने, उसमें कृषि करने तथा बाद में धातु का प्रयोग होने की बातों में विश्वास होने लगा तो मानव में स्वार्थ की प्रवृत्ति का अभ्युदय हुआ। चतुर तथा शक्तिशाली व्यक्तियों ने इसका लाभ उठाकर अन्यों का शोषण प्रारम्भ किया। फलस्वरूप समाज में मानवीय नैतिकता समाप्त होने लगी। रूसो ने यह विचार अपने प्रारम्भ के निबन्धों में व्यक्त किये हैं।

सामाजिक संविदा

'सोशल कान्ट्रैक्ट' नामक ग्रन्थ में रूसो ने अपने राजनीतिक विचारों का विकास करते हुए राजनीतिक समाज की उत्पत्ति, स्वतन्त्रता, कानून, शासन आदि का

क्रमबद्ध दार्शनिक विवेचन किया है। राज्य की उत्पत्ति के सविदागत स्वरूप की व्याख्या करते हुए रूसो सर्वप्रथम स्वतन्त्रता तथा सत्ता की व्याख्या करता है। ग्रन्थ का आरम्भ रूसो की इस प्रसिद्ध उक्ति से होता है, 'मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा है, परन्तु वह सर्वत्र बेडियो से जकडा हुआ है।'[1] रूसो के इस कथन का अर्थ यह है कि समाज बनने से पूर्व प्राकृतिक स्थिति मे मनुष्य स्वतन्त्र था, परन्तु सामाजिक जीवन की जटिलताओ ने उसे अनेक बन्धनो मे जकड लिया है और उसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी है। परन्तु रूसो का यह अभिप्राय नही है कि सामाजिक जीवन अवाछनीय है, इसलिए मनुष्य को पुन प्राकृतिक स्थिति मे आ जाना चाहिए। रूसो का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को स्वतन्त्र तथा स्वाधीन होना चाहिए क्योकि यही जीवन उत्तम जीवन है। सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन मे मनुष्य इसलिए स्वतन्त्र नही है कि अधिकाश राजनीतिक समाज शक्ति के आधार पर निर्मित हुए हैं जिनमे मनुष्य सामान्य इच्छा के आदेश का पालन नही कर पाता। अत वह स्वतन्त्र नही रह पाया है। मनुष्य को इस रूप मे स्वतन्त्र होना चाहिए कि वह समाज मे सामान्य इच्छा के आदेशो का पालन करते हुए जो कुछ करना चाहे, उसे करने के लिए स्वतन्त्र रहे। रूसो के मत से जो व्यक्ति यह समझता है कि वह दूसरो का स्वामी है, वह उन दूसरो की अपेक्षा अधिक दासता की स्थिति मे है, अत स्वतन्त्र नहीं है।

रूसो की प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा न तो यह है कि मनुष्य अप्रतिबन्धित स्वतन्त्रता का उपभोग करे, जिसमे शक्ति की प्रधानता रहती है और न यही कि मनुष्य विवेक पर आधारित प्राकृतिक कानून का अनुसरण करते हुए अपने तथा प्राकृतिक अधिकारो का उपभोग करने मे पूर्ण स्वतन्त्र रहे। यह दोनो धारणाएँ क्रमश हॉब्स तथा लॉक की प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणाएँ थी। रूसो इन्हे स्वच्छन्दता मानता है। उसकी दृष्टि मे वास्तविक स्वतन्त्रता प्रतिबन्धो का अभाव नही है, बल्कि उन प्रतिबन्धो के अन्तर्गत आचरण करना है, जिन्हे व्यक्ति स्वय अपने ऊपर लगाता है। ऐसा करने मे व्यक्ति सामान्य इच्छा के आदेशानुसार कार्य करता है। अत स्वतन्त्रता का आधार न शक्ति है, न मनुष्य का विवेक, वरन् सामान्य इच्छा है। इस दृष्टि से रूसो हॉब्स तथा लाक दोनों की सविदा की धारणाओं का विरोध करता है। रूसो के मत से व्यक्ति आत्म-रक्षा हेतु अपनी स्वतन्त्रता किसी निरकुश सत्ता को बेच नही सकता और न किसी युग के व्यक्तियो द्वारा की गई ऐसी सविदा भावी पीढियो को अनुबन्धित कर सकती है। यदि सविदा करते हुए व्यक्ति कुछ अधिकार अपने पास रख लेते हैं, तो उनके प्रयोग मे वे स्वय निर्णायक रहेगे। ऐसी स्थिति मे पुन अव्यवस्था फैलने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता नही रह पायेगी।

रूसो की सविदा की धारणा—अत रूसो का मत है कि सर्वप्रथम मौलिक समस्या का परीक्षण किया जाय कि प्राकृतिक स्थिति से सामाजिक स्थिति मे आ जाने पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा कैसे हो सकती है। रूसो के अनुसार, 'समस्या

[1] 'Man is born free, but everywhere he is in chains'

यह है कि इस रूप के एक संगठन की खोज की जाय, जो प्रत्येक सदस्य के शरीर तथा सम्पत्ति का सामूहिक शक्ति के द्वारा संरक्षण तथा प्रतिरक्षण करे और उसमे प्रत्येक एक-दूसरे के साथ अपने को संयुक्त करते हुए भी केवल अपनी ही आज्ञा का पालन करे और पहले की भाँति ही स्वतन्त्र रह सके।'[1] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए समाज निर्माण का रूप संविदागत हो सकता है जिसमे व्यक्ति इस रूप मे संविदा करेंगे, 'हममे से प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक रूप से अपने देह तथा अपनी सारी शक्ति को सामान्य इच्छा के निर्देशन मे रखता है, और अपनी सामूहिक क्षमता मे हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अभिन्न अग के रूप मे ग्रहण करते हैं।'[2] जब व्यक्ति ऐसी संविदा कर चुकते हैं तो तुरन्त ही पृथक् व्यक्तियो के स्थान पर एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय का निर्माण हो जाता है, जिसकी स्वय अपनी इच्छा, अपना जीवन तथा अस्तित्व है, जो उसमे शामिल होने वाले व्यक्तियों की इच्छा, जीवन तथा अस्तित्व का योग है। इसी को रूसो राज्य, सम्प्रभु तथा शक्ति की संज्ञा देता है।

अनुबन्ध के आधार पर समाज का स्वरूप—रूसो की अनुबन्ध की धारणा राज्य के सावयव स्वरूप का बोध कराती है, जिसके आधार पर राज्य स्वय अपनी इच्छा तथा व्यक्तित्व से युक्त सावयव बनता है और जिसकी इच्छा तथा व्यक्तित्व मे प्रत्येक अवयव की इच्छा तथा व्यक्तित्व शामिल है। समाज एक 'जीवित निकाय' एक 'सार्वजनिक व्यक्ति' तथा एक 'नैतिक प्राणी' के रूप मे है, जो किसी विशिष्ट इच्छा के द्वारा नियमित न होकर 'सामान्य इच्छा' के द्वारा नियमित होता है। समाज व्यक्ति की नैतिकता तथा कल्याण की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक है। व्यक्ति का हित समाज के हित से बँधा हुआ है। व्यक्ति के अधिकार प्राकृतिक नहीं हैं, बल्कि सामाजिक हैं। समाज निर्माण से पूर्व उनका अस्तित्व नहीं था। इस प्रकार के व्यक्ति के उत्तम जीवन के लिए रूसो समाज को आवश्यक मानता है। परन्तु वह अरस्तू की भाँति व्यक्ति को स्वभावत राजनीतिक प्राणी या समाज को प्राकृतिक नहीं मानता, बल्कि वह समाज निर्माण की प्रक्रिया को कृत्रिम एव संविदागत मानता है।

रूसो की संविदा की धारणा 'हॉब्स के निरंकुशतावाद तथा लॉक के जन-सहमति के सिद्धान्तो का सम्मिश्रण है।' संविदा करते हुए व्यक्ति अपनी सारी शक्ति का आत्म समर्पण तो उसी भाँति करते हैं जैसे कि हॉब्स ने कल्पना की थी। परन्तु शक्ति का समर्पण किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को नही किया जाता, बल्कि सम्पूर्ण जन-समूह की सामान्य इच्छा के प्रति किया जाता है, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा शामिल है। रूसो के इन विचारों मे लॉक की भाँति जन-समूह की सत्ता का आधार जन सहमति है। व्यक्ति द्वारा अधिकारो के खोये जाने या स्वतन्त्रता का

[1] 'The problem is to find a form of association which will defend and protect with the whole common force the person and goods of each associate and in which each, while uniting himself with all, may still obey himself alone, and remain as free as before.'—Rousseau

[2] 'Each of us puts his person and all his power in common under the supreme direction of the general will, and, in our corporate capacity, we receive each member as an indivisible part of the whole.'—Rousseau

परित्याग किये जाने का प्रश्न नहीं है। संविदा द्वारा निर्मित समाज की इच्छा व्यक्ति के अधिकार एवं स्वतन्त्रताओं का स्रोत है। रूसो के मत से 'सामाजिक व्यवस्था एक पवित्र अधिकार है जो अन्य अधिकारों का आधार है।'[1] संविदा के आधार पर निर्मित समाज में व्यक्ति प्राकृतिक प्रवृत्तियों से निदेशित न होकर नैतिक सामान्य इच्छा द्वारा निदेशित होता है। अतः तृष्णा के स्थान पर अधिकारों की, संवेगों के स्थान पर कर्त्तव्य की, इच्छा के स्थान पर विवेक की और स्वार्थ के स्थान पर सार्वजनिक हित की भावना का उदय होने से प्राकृतिक स्वतन्त्रता नागरिक स्वतन्त्रता में परिणत हो जाती है। यही वास्तविक तथा नैतिक स्वतन्त्रता है। मनुष्य के आचरण का नियमन सामान्य इच्छा के आदेश द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार होता है। सामान्य इच्छा समस्त व्यक्तियों की नैतिक इच्छाओं का योग है। अतः इन कानूनों का पालन करने में मनुष्य की स्वतन्त्रता बनी रहती है, क्योंकि 'वास्तविक स्वतन्त्रता उन कानूनों का पालन करने में निहित है, जिन्हें हम स्वयं अपने लिए निर्धारित करते हैं।'[2]

सामान्य इच्छा

सामान्य इच्छा तथा सामूहिक इच्छा—सामान्य इच्छा (General will) का सिद्धान्त रूसो की राजनीतिक विचारधारा का मूलभूत तत्व है। यद्यपि रूसो ने सामान्य इच्छा की परिभाषा नहीं की है, तथापि इसके लक्षणों तथा विशेषताओं का जो दार्शनिक विवेचन उसने प्रस्तुत किया है, वह रूसो के राजनीतिक विचारों की आधार-शिला है। रूसो का कथन है कि राजनीतिक समाज एक जीव सावयव के तुल्य है। यह एक ऐसे नैतिक प्राणी की भाँति है जिसकी अपनी इच्छा होती है। रूसो इसी इच्छा को सामान्य इच्छा कहता है। सामान्य इच्छा की धारणा को व्यक्त करते हुए वह समाज की सामूहिक इच्छा की धारणा और सामान्य इच्छा के मध्य भेद दर्शाता है। यद्यपि वह यह मानता है कि सामान्य इच्छा तथा सामूहिक इच्छा दोनों समाज के सम्पूर्ण सदस्यों की इच्छाओं का योग हैं, परन्तु रूसो के मत से सामान्य इच्छा तथा सामूहिक इच्छा (Common will) के मध्य भारी अन्तर है। 'सामूहिक इच्छा वैयक्तिक हितों का ध्यान रखती है, जिसके कारण वह विशेष इच्छाओं का योगमात्र रह जाती है, परन्तु सामान्य इच्छा सामूहिक हितों का ही ध्यान रखती है।' रूसो की धारणा में प्रत्येक व्यक्ति में दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं—यथार्थ तथा वास्तविक। यथार्थ (actual) इच्छा स्वार्थ भावना से तथा वास्तविक (real) इच्छा सामूहिक हित की भावना से प्रेरित होती है। सामूहिक हित से प्रेरित समाज के सब व्यक्तियों की इच्छाओं का योग सामान्य इच्छा है। इस दृष्टि से सामान्य इच्छा समाज के सब व्यक्तियों की यथार्थ इच्छाओं का योग नहीं है। इसकी कसौटी सामूहिक हित है। यदि समाज किसी ऐसे कानून का निर्माण करे जो किसी

[1] 'Social order is a sacred right which is the basis of all other rights' —Rousseau

[2] 'Obedience to a law which we prescribe to ourselves is liberty' —Rousseau

विशेष वर्ग के ही हित में हो, तो उसे सामान्य इच्छा द्वारा निर्मित कानून नहीं कहा जा सकता। किसी समस्या पर विचार करते समय व्यक्तियों के मध्य मतभेद हो सकता है। अत उसे सामान्य इच्छा के अनुरूप बनाने के निमित्त रूसो का तर्क यह है कि विविध इच्छाओं में से धनात्मक तथा ऋणात्मक तत्वों को अलग कर दिया जाये, जो एक-दूसरे को निरस्त कर देते हैं, और जो शेष बचेगा वही सामान्य इच्छा कहलायेगी। परन्तु व्यक्तिगत इच्छा की अभिव्यक्ति करने में सदस्य परस्पर विरोधी गुटों के रूप में राय व्यक्त न करें, बल्कि पृथक् नागरिकों के रूप में ऐसा करें, अन्यथा स्वार्थमय गुटों के रूप में राय व्यक्त करने का परिणाम यह होगा कि इच्छा सामान्य न होकर विशेष हो जायेगी जिसका उद्देश्य किसी गुट-विशेष का हित होगा, न कि सामूहिक। इस दृष्टि से रूसो समाज के अन्तर्गत विविध प्रकार के स्वार्थ-प्रेरित गुटों के अस्तित्व को अवांछनीय मानता है।

सामान्य इच्छा तथा बहुमत—रूसो के मत से समाज-निर्माण का कार्य सर्वसम्मति से होना चाहिए। उसके उपरान्त सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति बहुमत द्वारा हो सकती है। परन्तु यह बात भी भ्रामक है कि बहुमत ही सामूहिक हित का निर्णायक, अथच सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति करने वाला हो सकेगा। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि अल्पसंख्यक जो बहुमत की बात को नहीं मानते, कैसे स्वतन्त्र रह पायेंगे? इस सम्बन्ध में रूसो का तर्क यह है कि उनकी स्वतन्त्रता छिनने का प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि 'जब किसी जन-सभा में किसी कानून को प्रस्तावित किया जाता है तो सदस्यों से यह नहीं पूछा जाता कि वे प्रस्ताव का समर्थन करते हैं या नहीं। बल्कि यह ज्ञात किया जाता है कि प्रस्ताव सामान्य इच्छा के अनुकूल है या नहीं।' जनता को इस बात पर विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। यदि अल्पसंख्यक विरोधी मत रखते हैं, तो वे सामान्य इच्छा की सही परख नहीं करते। उनकी धारणा स्वार्थपूर्ण होने से विशेष इच्छा की अभिव्यक्ति करती है, न कि सामान्य इच्छा की। लोकतन्त्र के संचालन में बहुमत की बात को निर्णायक मानने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प भी नहीं हो सकता।

सामान्य इच्छा तथा प्रभुसत्ता—रूसो के सामान्य इच्छा-सिद्धान्त के अनुसार समाज-निर्माण की संविदा करते हुए व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों को सामान्य इच्छा के निर्देशन में रख देते हैं। अतः राजनीतिक समाज में सामान्य इच्छा सम्प्रभु सत्ताधारी होती है। वह समस्त विशेष इच्छाओं को सामूहिक हित की दिशा में प्रेरित करती है। समाज में विविध सवर्गों तथा व्यक्तियों की स्वार्थमयी तथा विशिष्ट इच्छाओं को अपने में विलीन करके सामान्य इच्छा राज्य के विविध अंगों के मध्य सावयविक एकता स्थापित करती है। चूँकि इसका उद्देश्य सामूहिक हित होता है, अतः विविध विशिष्ट इच्छाएँ सामान्य इच्छा में विलीन हो जाती हैं और राजनीतिक समाज अपनी इच्छा से युक्त व्यक्तित्व धारण करता है। सामान्य इच्छा कानून का स्रोत है। इसका नैतिक आधार है, क्योंकि यह राज्य के सदस्यों की ऐसी इच्छाओं का योगफल है जिनका उद्देश्य सामूहिक हित है। अतः यही उचित-अनुचित तथा न्याय-अन्याय के मध्य भेद करने की कसौटी है।

रूसो के अनुसार प्रभुसत्ता सामान्य इच्छा की कार्यान्विति है।[1] अत सामान्य इच्छा तथा प्रभुसत्ता के लक्षण एक से हैं। सामान्य इच्छा अदेय है। इसका हस्तान्तरण या प्रतिनिधित्व नही किया जा सकता। अत. प्रभुसत्ता किसी व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-समूह को हस्तान्तरित नही की जा सकती। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति निरन्तर होनी रहती है। इसलिए प्रभुसत्ता का एक गुण उसकी निरन्तरता है। प्रभुसत्ता का हस्तान्तरण करने का अर्थ है समाज का विनाश जिस प्रकार व्यक्ति बिना अपने शरीर का विनाश किये अपने प्राणो का हस्तान्तरण नही कर सकता, उसी प्रकार राज्य का विनाश किये बिना प्रभुसत्ता का हस्तान्तरण नही हो सकता। इसलिए प्रभुसत्ता या सामान्य इच्छा का विभाजन भी नहीं हो सकता। सामान्य इच्छा की एक विशेषता उसमे एकता का होना है। किसी एक समस्या पर सामान्य इच्छा अनेक प्रकार की नही हो सकती। अतएव प्रभुसत्ता का विभाजन नही हो सकता। राज्य मे सम्प्रभु-सामान्य-इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए जिन अभिकरणो की स्थापना की जाती है, वे सरकार का निर्माण करते हैं। अत सरकार की स्थापना सम्प्रभु-राज्य की सामान्य इच्छा के द्वारा की जाती है, और उसे पूर्णतया सम्प्रभु के अधीन तथा उसके निदेशन मे कार्य करना पडता है। यह सम्भव नही है कि राज्य मे सरकार का कोई अभिकरण सम्प्रभु बन जाये। सरकार सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नही करती, अपितु उसकी अभिकर्ता के रूप मे रहती है।

लोक प्रभुसत्ता की धारणा—हॉब्स की भांति रूसो भी प्रभुसत्ता को निरकुश तथा अमर्यादित मानता है। उसने कहा है, 'जिस प्रकार प्रकृति ने प्रत्येक मानव को अपने अंगो के ऊपर निरकुश शक्ति प्रदान की है उसी प्रकार सामाजिक संविदा राजनीतिक समाज को अपने समस्त अगो के ऊपर निरकुश शक्ति प्रदान करती है।' परन्तु प्रभुसत्ता का आधार जन-सहमति है जो सदैव सक्रिय रहती है। अत जनता अपने ऊपर किसी अन्य की सत्ता की मर्यादा को स्वीकार नही करती। व्यक्ति स्वार्थी भी होता है। अत कभी-कभी स्वार्थवश उसकी इच्छा सामान्य इच्छा से विरोध कर सकती है। इसलिए उसकी स्वार्थी इच्छा को दबाने के लिए सामान्य इच्छा को अमर्यादित तथा निरकुश होना चाहिए। इसलिए संविदा के आधार पर व्यक्ति अपने समस्त अधिकारो को सामान्य इच्छा के निदेशन मे अर्पित कर देते है। अतएव 'रूसो का सामाजिक अनुबन्ध हॉब्स के ऐसे दीर्घकाय (लेवाइथन) की तरह है, जिसका सिर कटा है।'[2] यद्यपि लॉक के संविदा सिद्धान्त के अन्तर्गत भी व्यक्ति अपने प्राकृतिक स्थिति के कुछ अधिकार सम्पूर्ण समाज की सत्ता को अर्पित कर देते हैं, और उसके पश्चात् राजनीतिक समाज की इच्छा की अभिव्यक्ति समाज के बहुमत द्वारा होने की धारणा बतायी गयी है, तथापि लॉक की दृष्टि से राजनीतिक समाज की सत्ता व्यक्ति के सम्पत्ति (जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति तथा स्वास्थ्य) के प्राकृतिक अधिकारो द्वारा मर्यादित है। लोकतन्त्रवाद लॉक की विचारधारा का भी मूल तत्त्व है। उसके विचार

[1] 'Sovereignty is the exercise of the general will'—Rousseau

[2] Rousseau's Social Contract is Hobbes's Leviathan with its head chopped off

से शासन की सत्ता समाज की सत्ता द्वारा मर्यादित है। परन्तु रूसो की विचारधारा में लोकतन्त्र की मात्रा लॉक की अपेक्षा कहीं अधिक है। रूसो की सामान्य इच्छा सदैव सक्रिय रहती है। जबकि लॉक की धारणा में सम्प्रभु जन-समुदाय सदैव सक्रिय नहीं रहता। इस प्रकार रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थन करता है। इस दृष्टि से 'रूसो उतना ही निरकुशतावादी है जितना हॉब्स, और वह लॉक की अपेक्षा अधिक लोकतान्त्रिक है।'[1]

आलोचना—यद्यपि रूसो ने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के द्वारा प्रभुसत्ता के लक्षणों की स्पष्ट व्याख्या की है और साथ ही उसके आधार पर लोक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया है, तथापि उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त दोषमुक्त नहीं है।

रूसो ने सामान्य इच्छा की धारणा को अनेक दार्शनिक तर्कों के आधार पर व्यक्त करके उसे भावमूलक तथा जटिल विचार बना दिया है। सामान्य इच्छा तथा सामूहिक इच्छा के भेद को समझने की कसौटी अस्पष्ट है। कौन-सी इच्छा सामूहिक *हित में है और कौन-सी विशेष हित में, इसका निर्धारण स्वय सामान्य इच्छा ही कर* सकती है, जो स्वय एक भावात्मक विचार है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि बहुमत ही क्योंकर सामान्य इच्छा का निर्धारक है। कभी अल्पमत की राय सामूहिक हितों की और बहुमत की राय विशेष हितों की अभिव्यक्ति करने की दिशा में प्रवृत्त रहे तो कोई आश्चर्य नहीं। अत यह धारणा अल्पसख्यकों के ऊपर बहुसख्यकों के अत्याचार की द्योतक हो सकती है।

सामान्य इच्छा के निर्माण के सम्बन्ध में भी रूसो के तर्क भ्रामक हैं। किसी राय के सम्बन्ध में धनात्मक तथा ऋणात्मक तत्त्वों के परस्पर कट जाने से शेष को सामान्य इच्छा मान लेने की बात सामाजिक जीवन के गत्यात्मक स्वरूप का विवेचन करने की अपेक्षा केवल अकात्मक विवेचन की द्योतक है। यह निष्कर्ष सही नहीं माना जा सकता कि धनात्मक तथा ऋणात्मक भाग सवेगात्मक राय के द्योतक हैं और शेष विवेकमय। यह मानना भी सही नहीं है कि बहुमत की इच्छा से विरोध रखने वाले व्यक्ति गलत सोचते हैं और इसलिए सामान्य इच्छा के आदेश का पालन करने में वे पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव करेंगे, या उन्हे स्वतन्त्र होने के लिए विवश किया जायेगा। राज्य के कानूनों का पालन करने में ही व्यक्ति स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकता है, ऐसी धारणा एक विवेकशील व्यक्ति के सम्बन्ध में भले ही औचित्य रखती हो, परन्तु बहुधा अनेक अपराधी ऐसे होते हैं जो राज्य के कानूनों द्वारा दण्डित किये जाने से बचना चाहते हैं। अत उनके बारे में यह मानना कि उन्हें स्वतन्त्र होने के लिए विवश किया जायेगा, एक भ्रामक धारणा है। यह स्वतन्त्रता का निषेध है। सामान्य इच्छा की धारणा राज्य को निरकुश सत्ता प्रदान करती है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जैसी धारणा का अभाव है। इस दृष्टि से राज्य स्वय साध्य हो जायेगा, और राज्य के अधिकारी जो शासन-यन्त्र का निर्माण करते हैं और सामान्य इच्छा के अधिकर्त्ता माने गये हैं, स्वय सम्प्रभु बन जायेंगे, और अपने कृत्यो

[1] Rousseau is as absolutist as Hobbes and more democratic than Locke.

को सामान्य इच्छा से समीकृत करने लगेंगे। सामान्य इच्छा की धारणा छोटे-छोटे जन-समूहों वाले राज्यों में भले ही उचित रूप में प्रयुक्त हो सके, किन्तु विशाल राष्ट्रीय राज्यों में उसकी सही-सही कार्यान्विति सम्भव नहीं है, जहाँ विविध स्वार्थों तथा हितों से युक्त अनेक सवास तथा गुट होते हैं। ऐसी स्थिति में सामूहिक हित से युक्त सामान्य इच्छा का निर्धारण करना कठिन है। सामान्य इच्छा को सम्प्रभु के रूप में मानना भी प्रभुसत्ता की सही व्याख्या करना नहीं है। राज्य में प्रभुसत्ताधारी कोई निश्चित मानव-श्रेष्ठ ही हो सकता है। सामान्य इच्छा सदृश भावात्मक धारणा को सम्प्रभु नहीं माना जा सकता।

गुण—इन दोषों के बावजूद रूसो का सामान्य इच्छा सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन हेतु एक महान् योगदान सिद्ध हुआ है। रूसो के पश्चात् प्रत्ययवादी राजनीतिक चिन्तकों काट, हीगल, ग्रीन आदि ने इस सिद्धान्त को अपनाया है और उसका विकास करके आदर्शवादी राजनीतिक विचारधारा का प्रतिपादन किया है। ग्रीन ने इसी के आधार पर यह दर्शाने का प्रयास किया है कि 'राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति।' उग्र आदर्शवादियों ने राज्य के निरकुशतावाद का समर्थन करने में भी इस सिद्धान्त का अवलम्बन किया है। यद्यपि आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में रूसो द्वारा चित्रित सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति नहीं रही है, तथापि आधुनिक लोकतन्त्रों में जनमत सामान्य इच्छा का ही दूसरा रूप है। लोकतन्त्र में बहुमत के महत्त्व को स्वीकार करना तथा जिन राज्यों में उपक्रम, लोक-निर्णय, प्रत्याह्वान आदि की प्रथाएँ प्रचलित हैं, वह इसी धारणा की अभिव्यक्ति मानी जा सकती है।

राज्य तथा सरकार

निरकुश प्रभुसत्ता का समर्थक होते हुए भी रूसो राज्य तथा सरकार के मध्य भेद करता है। संविदा द्वारा निर्मित प्रभुत्वसम्पन्न एवं सर्वोच्च शक्ति से युक्त जन-समूह राज्य कहलाता है। इसके विपरीत 'सरकार सम्प्रभु राज्य तथा प्रजाजनों के *मध्य निर्मित वह सगठन है जो उनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता है और* सम्प्रभु द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करते हुए नागरिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाये रखना है।' रूसो विधायी अंग को सरकार का अंग नहीं मानता क्योंकि प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। विधि-निर्माण सम्प्रभु का कार्य है, जो सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। यह सत्ता अदेय है, अत समाज द्वारा इसका हस्तान्तरण किसी प्रतिनिध्यात्मक संस्था को नहीं किया जा सकता। रूसो के मत से 'इंग्लैण्ड की जनता केवल संसद के प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते समय ही स्वतन्त्र रहती है, शेष अवधि में वह दासता की स्थिति में रहती है।' इस दृष्टि से रूसो सम्पूर्ण समाज को प्रभुत्वसम्पन्न विधायिका शक्ति प्रदान करने की बात का समर्थन करता है।

कार्यपालिका—रूसो की धारणा में सरकार का अभिप्राय केवल कार्यपालिका अंग से है। चूंकि अधिशासनिक कार्य का सम्बन्ध 'विशेष कार्यों के साथ है न कि

सामान्य कार्यों के साथ, अत सम्पूर्ण जनता उसमें भाग नहीं ले सकती। सरकार का जो संगठन मुख्य कार्यपालिका से सम्बन्ध रखता है, वही सरकार कहलाता है, शासन के अन्य कर्मचारी प्रशासक वर्ग का निर्माण करते हैं।

विधायिका—रूसो इस बात से भी अनभिज्ञ नहीं था कि विधि-निर्माण एव सम्प्रभु सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति हेतु सम्पूर्ण जन समूह का सदैव तथा एक साथ समवेत हो सकना कठिन है। अत उसका सुझाव है कि राज्य के विभिन्न नगरो मे जनता समय-समय पर एकत्र हो और सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति करती रहे। आगे रूसो मधानात्मक व्यवस्था की योजना का भी उल्लेख करता है (यद्यपि वह उसकी व्याख्या नही कर पाया)। रूसो के मत से कार्यपालिका (सरकार) व्यवस्थापिका (सम्पूर्ण जन-समाज) के द्वारा निर्मित, उसके प्रति उत्तरदायी तथा उसकी अभिकर्ता मात्र है। उसके कोई विशेषाधिकार नहीं हैं। सरकार का वर्गीकरण करने की कसौटी भी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्तियो की संख्या है। अत सरकार राजतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा लोकतन्त्री अथवा मिश्रित किसी भी रूप की हो सकती है। सरकार के रूपो का विवेचन करने मे रूसो की विचारधारा अत्यन्त निर्बल सिद्ध हुई है। इस सम्बन्ध मे उसकी एकमात्र विशेषता यह है कि वह प्रभुसत्ता के लोकतन्त्री स्वरूप पर जोर देता है। उसके मत से निर्वाचित कुलीनतन्त्री व्यवस्था (कार्यपालिका) सरकार का सबसे अच्छा रूप है।

राज्य तथा सरकार के उद्देश्य—रूसो के मत से राज्य या शासन का मुख्य उद्देश्य जनता की 'सुरक्षा तथा समृद्धि' है। उत्तम सरकार वह है जो इस धारणा को सफल बना सके कि नागरिको की स्वतन्त्रता बनी रहे और समाज मे आर्थिक समानता विद्यमान रहे। चूँकि राज्य म सम्प्रभु शक्ति समूचे समाज के हाथ मे रहती है, अत यदि जन समूह प्रबुद्ध चेतना रखता है तो इस उद्देश्य की प्राप्ति मे कठिनाई नही आ सकती। परन्तु ऐसा सर्वत्र सम्भव नही है। अत राज्य मे प्रबुद्ध 'विधायक' की आवश्यकता है जो विधि का प्रारूप तैयार करे और सम्प्रभु जन-समूह के प्रति उत्तरदायी हो। जनता उसके द्वारा प्रस्तावित विधि के सम्बन्ध मे सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति करेगी। साथ ही जनता तथा सरकार के मध्य ट्रिब्यूनेट की स्थापना का सुझाव भी रूसो ने दिया है, जो जनता के प्रति उत्तरदायी रहते हुए शासन तथा जनता दोनो को सरक्षण प्रदान करेगा और गलत कानूनो को ठीक करने का सुझाव देगा। आपातकाल के लिए अधिनायकवादी व्यवस्था का प्रावधान करने का सुझाव भी रूसो ने दिया है। जनमत को सुशिक्षित करने हेतु रूसो गुण-दोष-परीक्षण (censorship) की योजना का समर्थन करता है।

राज्य तथा धर्म—अन्तत रूसो एक नागरिक धर्म (civil religion) की स्थापना का भी समर्थन करता है। उसका मत था कि समाज मे अनेक विचारो के उत्पन्न होने का एक कारण ईसाई धर्म-प्रचारको की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता तथा धर्म को राज्य मे प्राथमिकता देने की धारणा थी। रूसो द्वारा प्रस्तावित नागरिक धर्म हठधर्मिता के सिद्धान्तो पर बल नही देगा, अपितु उसके नियम सम्प्रभु समाज द्वारा बनाये जायेंगे और उनका उल्लघन करने पर नागरिक दण्ड की व्यवस्था होगी,

न कि धार्मिक दण्ड को। रूसो की इस धारणा का रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट दोनो वर्गो ने घोर विरोध किया था।

सावयविक संविदाएँ—रूसो यह भी मानता है कि राजनीतिक समाज के जीवन मे कभी ऐसी स्थितियाँ भी आती हैं जबकि समाज का नियमन सामान्य इच्छा के द्वारा न होकर विशेष इच्छा के आधार पर होने लगता है। ऐसी स्थिति मे राज्य का ह्रास होने लगता है। अत उसका यह सुझाव है कि ऐसे राजनीतिक पतन को रोकने के लिए समय-समय पर सामाजिक संविदा की पुष्टि हेतु जनता की सभाओ को बुलाने का आयोजन किया जाना चाहिए, जो निवर्तमान कार्यपालिका के बने रहने की बात पर अपना प्रस्ताव करें।

रूसो के राजनीतिक विचारो का मूल्याकन

रूसो के विचारो की विशेषताएँ—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तको मे रूसो सबसे प्रथम विचारक है जिसके राजनीतिक दर्शन ने आधुनिक चिन्तन पद्धति का सूत्रपात किया। यद्यपि वह अट्ठारहवी शताब्दी के विवेक तथा तर्कवाद के युग का विचारक था और उसने सत्रहवी शताब्दी के विचारको की राज्य के सम्बन्ध मे संविदावादी धारणा को अपनाया है, तथापि रूसो को केवलमात्र संविदावादी विचारक मानना उचित है। अपने ग्रन्थ सोशल कन्ट्रैक्ट को स्वय उसने 'राजनीतिक औचित्य के सिद्धान्त' (Principles of Political Rights) नाम देना उचित ठहराया था। रूसो की विचारधारा में लोकतन्त्रवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद, राज्य-सावयववाद, आदर्शवाद तथा निरकुशतावाद सभी के तत्त्व पाये जाते हैं। किसी न किसी रूप मे उसे व्यक्तिवादी मानना भी उपयुक्त ही है। यही कारण है कि रूसो की विचारधारा मे उपर्युक्त सभी विचारधाराओ के विकास के निमित्त सहायक सिद्ध हुई है। राजनीतिक विचारधाराओ के प्रतिपादन मे रूसो माटेस्क्यू की भाँति निवर्तमान राज्यो के अध्ययन का उद्देश्य नही रखता अपितु 'वह उन आवश्यक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है जो किसी न्याय-सगत समाज के निर्माण का आधार प्रस्तुत करें।'

हॉब्स तथा लॉक की तुलना—राज्य की उत्पत्ति मे सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन करने म रूसो का उद्देश्य हाब्स तथा लॉक की अपेक्षा कही अधिक व्यापक है। हाब्स ने अपने युग की इग्लैण्ड की अराजक स्थिति के समाधान तथा व्यक्ति की रक्षा के उद्देश्य से निरकुश राजतन्त्र को सर्वोत्तम व्यवस्था सिद्ध करने के लिए संविदा की धारणा का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया था। उसके दर्शन मे व्यक्तिवाद, निरकुशतावाद तथा भौतिकवाद की धारणाएँ विद्यमान हैं। इसके विपरीत लॉक का उद्देश्य ह्विग दल की नीतियो के आधार पर मर्यादित शासन का समर्थन करना था। वह जनता की प्रतिनिधि सभा (ससद) सर्वोच्च शक्ति को राजनीतिक व्यवस्था का प्रमुख तत्त्व मानता है और स्वेच्छाचारी शासक के विरुद्ध जनता के क्रान्ति के अधिकार को स्वीकार करते हुए 1688 ई० की रक्तहीन क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करना चाहता था। लॉक के दर्शन मे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, जिनका अतिक्रमण करने को

शक्ति शासन या समाज को नहीं होनी चाहिए। अतः लॉक की विचारधारा व्यक्तिवाद, वैधानिक शासन तथा मर्यादित सम्प्रभुता के सिद्धान्तों का समर्थन करने में नैतिकवादी दृष्टिकोण अपनाती है। यद्यपि रूसो के प्रारम्भिक विचार भी व्यक्तिवादी हैं क्योंकि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता, समानता तथा समृद्धि को प्रमुखता देता है और इन्हीं की प्राप्ति हेतु समाज-निर्माण एवं समाज तथा राज्य के दायित्व का विवेचन करता है, तथापि उसके राजनीतिक विचार व्यक्तिवादी नहीं कहे जा सकते। उसका प्राकृतिक स्थिति का विवेचन व्यक्ति के ऐसे अलंध्य प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता को स्वीकार नहीं करता जो कि समाज या राज्य की स्थापना के पूर्व थे और जिनकी रक्षा के लिए ही राज्य का निर्माण संविदा द्वारा किया जाता हो अपितु रूसो की दृष्टि में व्यक्ति के अधिकार सामाजिक होते हैं। राज्य के निर्माण का उद्देश्य व्यक्तियों की पारस्परिक संविदा द्वारा ऐसी सामाजिक व्यवस्था का सृजन करना है, जो सम्पूर्ण सदस्यों की सामान्य इच्छा पर आधारित हो और जो समस्त सदस्यों को स्वतन्त्रता तथा समानता के आधार पर शान्तिपूर्ण जीवन प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो। ऐसे समाज का आधार शक्ति न हो बल्कि समाज की नैतिक सामान्य इच्छा हो। इस व्यवस्था में प्रभुत्व शक्ति सम्पूर्ण समाज के हाथ में रहेगी। प्रत्येक सदस्य उस सम्प्रभु समाज का अभिन्न अंग होगा। प्रभुसत्ता के प्रयोग में सामूहिक रूप से प्रत्येक सदस्य की विवेकपूर्ण इच्छा कार्य करेगी। इस दृष्टि से 'रूसो का सामाजिक संविदा का विवेचन हॉब्स की पद्धति द्वारा विकसित किया गया लॉक का सारांश है' क्योंकि रूसो की धारणा में भी व्यक्ति संविदा के द्वारा समूचे समाज को अन्तिम सत्ता प्रदान करते हैं। साथ ही हॉब्स की भाँति राज्य की प्रभुसत्ता असीम तथा निरंकुश मानी गई है, क्योंकि संविदा द्वारा व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अधिकार सामान्य इच्छा को उसी रूप में परिवर्तित कर देते हैं, जिस रूप में हॉब्स की संविदा के अन्तर्गत व्यक्ति लैवायथन को अपने समस्त अधिकार सौंप देते हैं।

हॉब्स की भाँति निरंकुशतावादी तथा लॉक से अधिक लोकतन्त्रवादी—रूसो के अनुसार प्रभुसत्ता असीम, निरंकुश, अविभाज्य तथा अदेय है। हॉब्स भी सम्प्रभु के उन्हीं लक्षणों को बताता है। परन्तु हॉब्स की विचारधारा में जनता ऐसे निरंकुश सम्प्रभु का निर्माण करती है जिसमें उसका अपना कोई निजी अस्तित्व नहीं है। इसके विपरीत रूसो की धारणा में प्रभुत्वसम्पन्न सामान्य इच्छा का निर्माण सम्पूर्ण सदस्यों की सामूहिक हित का ध्यान रखने वाली इच्छाओं के योग से होता है। अतः राज्य में सम्पूर्ण समाज की सामान्य इच्छा भी निरंकुश, असीम, अदेय तथा अविभाज्य है। रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की प्रतीक है जिसमें लोकप्रभुसत्ता के सिद्धान्त की मान्यता स्पष्ट है। यद्यपि लॉक भी लोकतन्त्र का समर्थक है और समाज की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करता है, तथापि लॉक का लोकतन्त्र प्रत्यक्ष न होकर प्रतिनिध्यात्मक है। लॉक की शासन-निर्माण की धारणा भी संविदागत प्रतीत होती है। उसमें शासन के विविध अंगों के मध्य शक्ति-पृथक्करण को मानना तथा विधायी अंग को सर्वोच्च स्थिति प्रदान करना, कार्यपालिका को व्यवस्थापिका द्वारा, व्यवस्थापिका को सम्पूर्ण समाज द्वारा तथा सम्पूर्ण समाज को

व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों द्वारा मर्यादित मानना, यह सब वैधानिक एवं प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र की धारणाएँ हैं। रूसो सरकार या कार्यपालिका को पूर्णतया सम्पूर्ण समाज की सत्ता का अभिकर्त्ता मात्र मानता है। इस प्रकार वह 'हॉब्स की भाँति निरकुशतावादी और लॉक की अपेक्षा अधिक लोकतन्त्रवादी है।'

सम्प्रभु व्यक्ति बनाम सम्प्रभु राज्य—लॉक की विचारधारा मे व्यक्ति को सम्प्रभु माना गया है, क्योंकि उसके प्राकृतिक अधिकार अलघ्य है और राज्य की सत्ता उनका अतिक्रमण नही कर सकती। इसके विपरीत हॉब्स की विचारधारा मे राज्य सम्प्रभु है। हॉब्स राज्य तथा शासन के मध्य भेद नही करता, अत राज्य मे सविदा द्वारा निर्मित शासक ही सम्प्रभु है। उसे जनता अपने सम्पूर्ण अधिकार प्रदान कर देती है, परन्तु लाक की व्यवस्था मे व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारो का समर्पण पूर्णतया नही करते, बल्कि केवल उनका निर्वचन करने तथा उनका परिपालन कराने की शक्ति का त्याग करते हैं, 'रूसो की विचारधारा लॉक के सम्प्रभु व्यक्ति तथा हाब्स के सम्प्रभु राज्य की धारणाओं के मध्य सामजस्य स्थापित करती है।' रूसो भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक है। परन्तु वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्राकृतिक एव अलघ्य अधिकार के रूप मे नही मानता। राज्य की सम्प्रभु शक्ति अधिकारों की सृष्टि करती है और वही उनका सरक्षण करती है। उस सम्प्रभु शक्ति के प्रयोग मे प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा शामिल है। उसके आदेशो का पालन करते हुए व्यक्ति अपने अधिकारो तथा स्वतन्त्रता को प्राप्त करता रहता है। लॉक एक व्यक्तिवादी विचारक था, अत वह राजनीतिक समाज को सच्चे अर्थ मे सर्वोच्च सत्ता प्रदान करने मे असफल रहा, क्योंकि सविदा द्वारा जिस सर्वोच्च समाज की सत्ता का निर्माण किया गया, वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो से मर्यादित थी। इसके विपरीत रूसो की सामान्य इच्छा ने जनता को सम्प्रभु बनाया, यद्यपि रूसो निरकुशतावादी है।

हॉब्स, लाक तथा रूसो के राज्य-सम्बन्धी सविदावादी विचारों के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष भी निकलते हैं कि 'रूसो की राजनीतिक विचारधारा हॉब्स के निरकुशतावाद तथा लाक के सावैधानिकवाद के मध्य समझौता है' अथवा 'रूसो का सिद्धान्त हाब्स के वैधिक-सम्प्रभुता तथा लाक के राजनीतिक-सम्प्रभुता के सिद्धान्तो का सम्मिश्रण है।' हॉब्स के निरकुशतावाद के अन्तर्गत राज्य, शासक तथा सम्प्रभु के मध्य कोई भेद नही किया गया है। अत वैधिक दृष्टि से सम्प्रभु की सत्ता के ऊपर कोई भी मर्यादा नही है। उसका आदेश कानून है, जिसका पालन करने के लिए जनता बाध्य है। उसके ऊपर कोई सावैधानिक अकुश नही है। इसी प्रकार रूसो की विचारधारा के अन्तर्गत भी सामान्य इच्छा का आदेश कानून है जिसके *ऊपर कोई सत्ता नही है। शासक उसका अभिकर्त्ता मात्र है। शासक सम्प्रभु नही है।* यद्यपि रूसो प्रभुसत्ता को अमर्यादित मानता है, तथापि उसकी विचारधारा मे 'प्रभुसत्ता स्वय सम्प्रभु द्वारा मर्यादित है।' सामान्य इच्छा, जिसे रूसो प्रभुसत्ता मानता है, कोई निश्चित मानव श्रेष्ठ नही है, अपितु केवल एक भावनामूलक धारणा है। वास्तव मे स्वय जनता सम्पूर्ण रूप मे सम्प्रभु है न कि व्यक्तिगत रूप मे। अत. समग्र रूप मे सम्प्रभु जनता सामान्य इच्छा (प्रभुसत्ता) की निर्धारक शक्ति है। यह

विचार लोक-प्रभुसत्ता की धारणा का सूचक है, जिसके अन्तर्गत शासकों के ऊपर जनता की सामान्य इच्छा पूर्ण सांविधानिक मर्यादा आरोपित करती है।

रूसो का निरंकुशतावाद—"रूसो की विचारधारा में समाजवाद, निरंकुशतावाद तथा लोकतन्त्र के बीज विद्यमान थे।"[1] रूसो से पूर्व का निरंकुशतावाद मुख्य रूप से शासकों का निरंकुशतावाद था, उसे हम राजाओं या शासकों का स्वेच्छाचारितावाद (despotism) कह सकते हैं न कि राज्य का निरंकुशतावाद (state-absolutism)। राज्य के निरंकुशतावाद की धारणा का विकास हम राज्य की प्रभुसत्ता की धारणा के विकास के पश्चात् बोदां तथा हाब्स की विचारधारा में पाते हैं। यह दोनों विचारक निरंकुश राजतन्त्र के समर्थक थे। परन्तु रूसो के निरंकुशतावाद में निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर राज्य की निरंकुशतावादी धारणा पायी जाती है। संविदा के आधार पर जिस राजनीतिक समाज की रचना होती है वह पृथक् व्यक्तियों का ऐसा समूह मात्र नहीं है जिसका उद्देश्य उन व्यक्तियों के हितों का साधन करना मात्र हो, अपितु समाज एक सावयव है, और व्यक्ति उसके अभिन्न अंग हैं। सामान्य इच्छा उस सावयव को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती है। राजनीतिक समाज की अपनी निजी इच्छा, व्यक्तित्व तथा अस्तित्व होने से वह अपने अवयवों (व्यक्तियों) से घनिष्ठतया सम्बद्ध, परन्तु उनके ऊपर निरंकुश सत्ता धारण किये रहता है। रूसो की इस धारणा को उसके पश्चात् प्रत्ययवादी (आदर्शवादी) विचारकों ने अपनाया। जर्मन आदर्शवादी विचारक हीगल ने राज्य की निरंकुशतावादी विचारधारा का प्रतिपादन करने में रूसो से प्रेरणा ली, जो बीसवीं शताब्दी के फासीवादी अधिनायकवाद के लिए प्रेरणा का स्रोत बना। अतः उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में राज्य की जो निरंकुशतावादी धारणाएं विकसित हुई हैं उनके बीज रूसो की विचारधारा में विद्यमान थे। रूसो ने राज्य की समस्याओं का विवेचन करते हुए आपातकाल में अधिनायकवादी व्यवस्था का प्राविधान करने, सेन्सरशिप, ट्रिब्यूनेट, राजकीय धर्म आदि की जो व्यवस्था बताई थी, वे भी किसी न किसी रूप में निरंकुशतावादी प्रवृत्तियों की द्योतक थीं। रूसो का सामान्य इच्छा-सिद्धान्त तथा व्यक्तियों के अधिकारों को समाज द्वारा प्रदत्त धारणा के रूप में मानना और राज्य के कानूनों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का स्रोत मानना उसके निरंकुशतावाद के परिचायक हैं।

लोकतन्त्र—परन्तु जहाँ रूसो निरंकुशतावादी है, वहाँ वह पूर्णतया लोकतन्त्रवादी भी है। उसका सामान्य इच्छा-सिद्धान्त लोक प्रभुसत्ता की धारणा का प्रतीक है, और लोक-प्रभुसत्ता की धारणा लोकतन्त्र की आत्मा है। यद्यपि रूसो का सिद्धान्त *प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थन करता है, जो आधुनिक युग के राज्यों में सम्भव नहीं* जान पड़ता और न ही रूसो के युग के विशाल राष्ट्रीय राज्यों में सम्भव था, तथापि रूसो की लोकतन्त्र के प्रति निष्ठा इस बात से प्रकट होती है कि वह कोरे स्वप्नलोकी विचार नहीं व्यक्त करता है। उसने सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए लोकतन्त्री आधार पर अनेक सुझाव दिये हैं, यथा विभिन्न नगरों में राजधानी

[1] "Rousseau's political theory contains the seeds of socialism, absolutism and democracy."

की स्थापना करते रहना, राज्य का संघीय आधार पर संगठन करना, समय-समय पर जनता को छोटे-छोटे सम्मेलनों में समवेत कराना आदि। वर्तमान युग में जिन राज्यों में लोक-निर्णय (referendum), उपक्रम (initiative), जनमत-संग्रह (plebiscite) आदि लोकतन्त्री प्रथाएँ प्रचलित हैं, वे रूसो की धारणा में लोक-प्रभुसत्ता की अभिव्यक्ति हेतु सामान्य इच्छा का ज्ञान करने की धारणाएँ ही मानी जा सकती हैं। रूसो शासक वर्ग (कार्यपालिका) को प्रभुत्व शक्ति नहीं देना चाहता है। आधुनिक प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र भी शासक वर्ग को प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्थापिका के अधीन रखने के सिद्धान्त को अपनाते हैं। इस दृष्टि से रूसो की विचारधारा में लोकतन्त्र के बीज विद्यमान थे।

रूसो में समाजवादी विचारधारा के बीज—रूसो को सही मानने में एक समाजवादी विचारक नहीं माना जा सकता। समाजवादी चिन्तन, विशेष रूप से वैज्ञानिक समाजवाद का आरम्भ रूसो के बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ है। आज दिन समाजवाद के अनेक रूप विकसित हो गये हैं। परन्तु किसी न किसी रूप में समाजवादी चिन्तन तभी से होता रहा है, जब से समाज की उत्पत्ति हुई है। समाजवाद मूल रूप से एक आर्थिक विचारधारा या आन्दोलन है, जिसका उद्देश्य समाज में भौतिक सम्पत्ति के साधनों, उत्पादन तथा वितरण पर समाज का नियन्त्रण रखना और समानता के आधार पर उनका नियमन करना है। समाजवादी विचारधारा व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अर्थ के भौतिक साधनों के थोड़े से व्यक्तियों के पास केन्द्रीयकरण का विरोध करती है, क्योंकि यह व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण की प्रतीक है। रूसो ने सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी बुराई व्यक्तिगत सम्पत्ति को ही माना था। इसी को वह असमानता का कारण बताता है। 'नागरिक शासन एक ऐसा पैशाचिक साधन है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति की कृत्रिम वैधिकता को मान्यता देता है।' यही धारणा मार्क्स ने अपनायी थी। रूसो सम्पत्ति को प्राकृतिक अधिकार के रूप में नहीं मानता, अपितु इसका नियमन समाज द्वारा किये जाने की बात कहता है। वह साम्यवादी भी नहीं है। वह चाहता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति तो रहे, परन्तु समाज के अहित में नहीं। अतः उसका नियन्त्रण समाज के द्वारा किया जाये। सेबाइन के अनुसार, 'समाजवाद को रूसो की यह देन है कि एक सामान्य धारणा के रूप में समस्त अधिकार, जिनमें सम्पत्ति का अधिकार भी शामिल है, समाज के अन्दर ही अधिकार हैं न कि उसके विरुद्ध।'[1] रूसो के समाजवादी विचार समष्टिवादी हैं, जिनका उद्देश्य राज्य की सत्ता के अधीन अर्थव्यवस्था का नियमन करने, समाज में आर्थिक विषमता को रोकने तथा लोक-कल्याण की व्यवस्था को बनाये रखना है। इस दृष्टि से रूसो की विचारधारा में समाजवाद के बीज भी विद्यमान थे।

राजनीतिक चिन्तन को रूसो की देन

रूसो के विचार तथा फ्रांसीसी क्रान्ति—रूसो न तो एक विद्वान् (scholar)

[1] 'What Rousseau contributed to socialism, ... was the much more general idea that all rights, including those of property, are rights within the community and not against it.' —Sabine

था, और न अठारहवी शताब्दी के बुद्धिवाद तथा तर्कवाद के युग के अन्य दार्शनिको की भाँति एक प्रतिभाशाली चिन्तक। इसके विपरीत वह एक सवेगवादी तथा कल्पनावादी विचारक है। उसके विचारो ने भविष्य की विविध विचारधाराओ को प्रभावित करने के साथ-साथ फ्रास की राजनीति को प्रभावित किया था। रूसो के विचारो के एक अध्ययनकर्त्ता ब्रूम का मत है कि 'जिस मात्रा मे रूसो के प्रशसक तथा विरोधी हुए हैं, उसका कारण उसे एक क्रान्तिकारी दार्शनिक के रूप मे मानना हो सकता है।'[1] फ्रास के तत्कालीन स्वेच्छाचारीतन्त्र के विरुद्ध रूसो के विचारो ने जनता की भावनाओ को क्रान्तिकारी बनाने की प्रेरणा दी। क्रान्ति का प्रत्येक नेता रूसो के विचारो का उल्लेख करता था। यह तो नही कहा जा सकता कि स्वय रूसो ने क्रान्ति का आह्वान करने की प्रेरणा दी हो, क्योकि स्वय रूसो ऐसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थक नही है जैसी कि क्रान्ति के एक प्रमुख नारे के अन्तर्गत अभिव्यक्त की गयी थी। साथ ही रूसो के विचारो मे उसकी शान्तिप्रियता की धारणा भी प्रकट होती है। मैक्सी का मत है कि ऐसी महान् क्रान्ति का आह्वान एक व्यक्ति के द्वारा नही किया जा सकता था, अत रूसो को क्रान्ति के लिए उत्तरदायी ठहराना उचित नही है। परन्तु यह भी सत्य है कि रूसो के विचारो ने क्रान्तिकारियो को प्रेरणा दी। रूसो की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा व्यक्ति के कुछ वैधिक अधिकारो की मान्यता तथा सरक्षण की सूचक नहीं थी, अपितु वह मानवीय स्वतन्त्रता की धारणा की द्योतक थी, जिसकी फ्रास के स्वेच्छाचारी शासको ने पूर्ण उपेक्षा की थी। इसी के कारण समाज मे विषमता फैल गयी थी। वास्तव मे रूसो की विचारधारा एक दुधारी तलवार की तरह सिद्ध हुई। उसका उद्देश्य शान्ति तथा समन्वय था, परन्तु परिणाम क्रान्ति हुआ। इसीलिए रूसो के विचारो को फ्रासीसी क्रान्ति का प्रेरणा-स्रोत माना जाता है। परन्तु यह भी माना जाता है कि यदि क्रान्ति काल म रूसो जीवित रहता तो सम्भवत वह उसका विरोध करता।

रूसो तथा राष्ट्रवाद—सेबाइन के मत से 'रूसो का राजनीतिक दर्शन इतना अस्पष्ट था कि यह कहा सकना कठिन है कि वह किस विशिष्ट दिशा को इगित करता है।' रूसो विशाल राष्ट्रीय राज्यो के युग का विचारक है, परन्तु वह अपने राजनीतिक विचारो को नगर-राज्यों की व्यवस्था के सन्दर्भ म व्यक्त करता है। वह स्वय एक राष्ट्रवादी विचारक नही है। परन्तु उसके विचारो मे वास्तविक राष्ट्रवाद के तत्व विद्यमान हैं। उसका राष्ट्रवाद केवल देश-प्रेम या राजनीतिक स्वाधीनता तथा एकता बनाये रखने की भावना तक सीमित नहीं है, जैसा कि उससे पूर्व मैकियाविली सदृश विचारको की धारणाओ मे पाया जाता है, प्रत्युत् राष्ट्रवाद का आधार राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र जन-समूह के मध्य विविध सामूहिक हितो के सम्बन्ध म एकता की भावना का होना है। रूसो ने राष्ट्रीयता के इस नैतिक पक्ष को सामान्य इच्छा की धारणा के द्वारा व्यक्त किया है। सामान्य इच्छा सामूहिक हित का उद्देश्य रखने हुए

[1] 'The degree of admiration or dislike with which he is regarded seems to be bound up with the image of him as a revolutionary philosopher'
—Broome

सम्पूर्ण जन-समूह के मध्य जीवन के विविध क्षेत्रो मे एकता तथा समानता की भावना का सचार करती है। रूसो की इन धारणाओ को जर्मन आदर्शवादी विचारक हीगल ने अपनाकर सामूहिक इच्छा का आदर्शीकरण करके उग्र राष्ट्रवाद के अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया। उसने रूसो के समष्टिवाद तथा मवेगवाद के मध्य समन्वय स्थापित करके उन्हें राष्ट्रीय भावना तथा चेतना के रूप मे एकीकृत किया और सामान्य इच्छा की धारणा को राष्ट्र की आत्मा के रूप मे माना। इस प्रकार रूसो के विचारो ने आधुनिक राष्ट्रवादी विचारधारा के विकास का आधार प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से आधुनिक राष्ट्रवाद का अभ्युदय रूसो की विचारधाराओ के प्रभाव का फल है।

भविष्य के चिन्तकों का प्रेरणा स्रोत—रूसो की विचारधाराओ को किसी विशिष्ट वर्ग के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। ब्रूम ने कहा है कि 'वह ऐसा उदारवादी है, जो स्वतन्त्रता की धारणा की उपेक्षा करता है, वह ऐसा व्यक्तिवादी था, जिसने व्यक्तिवाद को नष्ट करने का मार्ग प्रशस्त किया, वह एक महान् धार्मिक व्यक्ति था, जिसने अन्दर ही अन्दर धर्म की जड़ें उखाड़ दी, उसकी सौन्दर्यानुभूति शास्त्रीय है, परन्तु उसका प्रस्तुतीकरण तथा प्रभाव रोमाचकारी है, इत्यादि।' यही कारण है कि रूसो की विचारधाराओ ने उन्नीसवी शताब्दी की विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओ के विकास को प्रभावित किया। स्वप्नलोकी तथा वैज्ञानिक समाजवादी विचारधाराओ मे उसका प्रभाव स्पष्ट है। उग्र तथा उदार दोनो वर्गों के प्रत्ययवादी विचारकों ने रूसो के दर्शन का आश्रय लेकर अपने विचारो का विकास किया। उन्नीसवी तथा बीसवी सदी के निरकुशतावाद तथा अधिनायकवाद पर रूसो का प्रभाव स्पष्ट है। आधुनिक युग के सविधानवाद के अन्तर्गत सावैधानिक तथा सविधिगत कानूनो के मध्य जो भेद किया जाता है वह रूसो की सामान्य इच्छा तथा शासनिक आज्ञप्तियों के मध्य भेद करने के समान है। आधुनिक लोकतन्त्रवाद तथा लोक प्रभुसत्ता की धारणा तो रूसो की राजनीतिक चिन्तन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

आधुनिक राजनीतिक दर्शन का जनक—अन्तत, हम जी० डी० एच० कोल के इस मत से सहमति रखते हैं कि 'रूसो राजनीतिक चिन्तन मे मध्ययुग की परम्परागत विचारधारा से आधुनिक राज दर्शन की दिशा मे सक्रमण होने की धारणा का प्रतिनिधित्व करता है।' कोल ने रूसो को 'आधुनिक राजनीतिक दर्शन का जनक' (father of modern political philosophy) माना है। रूसो के दर्शन की महानता इस तथ्य से भी प्रकट होती है कि उसने केवल राजनीति के क्षेत्र मे ही चिन्तन नही किया, अपितु शिक्षा, अर्थशास्त्र, साहित्य तथा कला के क्षेत्रो मे भी उसकी रचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ग्यारहवाँ अध्याय

जेरेमी बेंथम

(1748 ई० से 1832 ई०)

परिचयात्मक

ब्रिटेन के राजनीतिक चिन्तन की विशेषता—सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड ने हॉब्स तथा लॉक दो ऐसे महान् व्यक्तिवादी राजनीतिक चिन्तकों को जन्म दिया, जिनका राजनीतिक दर्शन इंग्लैण्ड की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित था। इसके पश्चात् इंग्लैण्ड में ह्यूम तथा बर्क अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तक रहे। ह्यूम ने अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर तथा बर्क ने ऐतिहासिकता तथा अपने व्यावहारिक राजनीतिक अनुभवों के आधार पर जिन राजनीतिक विचारों का विकास किया उनमें व्यक्तिवाद तथा रूढ़िवाद की छाप थी। बर्क के विचारों में अमरीकी स्वतन्त्रता तथा फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रभाव विद्यमान थे। यह युग औद्योगिक क्रान्ति का था। अतः औद्योगिक तथा व्यावसायिक विकास ने यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्था में बहुत परिवर्तन कर दिया था। राजनीतिक समस्याओं के समाधान को आर्थिक समस्याओं की अनुपस्थिति में व्यक्त करना सम्भव नहीं रह गया था। अंग्रेज जाति की एक सामान्य विशेषता यह है कि राजनीतिक आचरणों के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण रूढ़िवादी तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रतावादी परन्तु क्रान्तिकारिता के विरुद्ध रहा है। उनके विचार प्रायः उदारवादी सिद्धान्तों पर आधारित रहे हैं। अतः उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में जितने राजनीतिक चिन्तक हुए हैं उनमें से किसी ने भी न तो रूसो के से संवेगवादी क्रान्तिकारी विचारों को रखा, न हीगल के सदृश उग्र प्रत्ययवाद का समर्थन किया और न ही कार्ल मार्क्स के से क्रान्तिकारी समाजवादी विचारों को अपनाया। इसके विपरीत उनकी विचारधारा में उदार व्यक्तिवाद, नैतिक आदर्शवाद एवं विकासवादी समाजवाद की धारणाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप—अठारहवीं सदी के अन्तिम वर्षों तथा उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड में कुछ ऐसे राजनीतिक चिन्तक हुए हैं जिन्हें उपयोगितावादी कहा जाता है। इनके राजनीतिक विचारों का आधार सुखवादी मनोविज्ञान था। इन लोगों ने किसी वस्तु, कार्य तथा संस्था की उपयोगिता का मानदण्ड उससे प्राप्त होने वाले सुख या दुःख को दर्शाया। राज्य के सम्बन्ध में भी उनके विचारों का मुख्य सिद्धान्त यह था कि राज्य की उपयोगिता तभी है जबकि

उसके कार्यों द्वारा 'अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख' प्राप्त हो सके। इसी सिद्धान्त को लेकर इन विचारकों ने राज्य के कार्य क्षेत्र की व्याख्या की। इनका उद्देश्य राज्य-सम्बन्धी विविध धारणाओं को भावना-मूलक तर्कों तथा विवेक के द्वारा व्यक्त करना नहीं था, प्रत्युत इन विचारकों ने राज्य तथा शासन की विधि समस्याओं का व्यावहारिक, नैतिक तथा कानूनी दृष्टि से अध्ययन किया और उसके सुधार की योजनाएँ रखीं। उपयोगितावादी राजनीतिक विचारधारा मूल रूप में इंग्लैण्ड की ही विचारधारा रही है। इसका प्रमुख विचारक जेरेमी बेंथम था। बाद में उसके विचारों का विकास जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल तथा जॉन ऑस्टिन ने किया। चूँकि बेंथम इस सिद्धान्त का मुख्य विचारक था, अतः कभी-कभी इस विचारधारा को बेंथमवाद भी कहा जाता है।

बेंथम का जीवन परिचय

जेरेमी बेंथम का जन्म लन्दन के एक समृद्ध मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। वकालत इस वंश का परम्परागत व्यवसाय रहा था। अतः बेंथम को विधि-शास्त्र तथा कानून की शिक्षा प्रदान की गयी थी। कुछ काल तक वह वकालत का व्यवसाय करता रहा, परन्तु बाद में उसने छोड़ दिया। उसे अध्ययन का बहुत शौक था। उसने बीसियों ग्रन्थ लिखे। उसकी राजनीति विषयक रचनाओं में प्रमुख स्थान 'The Fragment on Government' तथा 'An Introduction to the Principles of Morals and Legislation' का है, जो क्रमशः 1776 तथा 1789 ई० में प्रकाशित हुई थीं। बेंथम 84 वर्ष की लम्बी अवस्था तक जीवित रहा और इसमें उसने जो अनेक अन्य रचनाएँ कीं उनमें से कुछ निम्नांकित हैं—

(i) Essay on Political Tactics (1791), (ii) The Discourses on Civil and Penal Legislation (1802), (iii) The Theory of Punishments and Rewards (1811), (iv) Papers upon Codification and Public Instruction (1817), (v) Catechism of Parliamentary Reforms (1809), (vi) Principles of International Law, (vii) The Manual of Political Economy, etc

बेंथम ने यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण भी किया था। फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने उसे फ्रांसीसी नागरिक घोषित कर दिया था। उसकी कई रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ उसकी मृत्यु के पश्चात रखी हुई मिलीं। जीवन के अन्तिम क्षणों तक वह स्वस्थ रहा। उसके जीवन-काल में उसके अनुयायी अनेक विद्वानों ने उससे व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क स्थापित करने का लाभ प्राप्त किया और उन्होंने उसके विचारों को आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक सभी क्षेत्रों में लागू किया। साथ ही अपने दृष्टिकोण से उनमें सुधार भी किये।

बेंथम के राजनीतिक दर्शन का मुख्य सिद्धान्त सुखवाद पर आधारित उपयोगितावाद है। यह नहीं कहा जा सकता कि बेंथम का यह सिद्धान्त उसका

मौलिक दर्शन है, क्योंकि सुखवाद की धारणा तो प्राचीन यूनानी इपीक्यूरियन दर्शन में भी थी और राजनीति में उपयोगितावाद हॉब्स की विचारधारा में भी विद्यमान था। इनके अतिरिक्त उपयोगितावाद की धारणा बेंथम के पूर्ववर्ती ह्यूम, प्रीस्टले, फ्रांसीसी विचारक हेल्वेशस तथा इटली के बैकारिया ने भी व्यक्त की थी। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में बेंथम का सबसे महान योगदान, जिसके कारण उसके नाम से इस सिद्धान्त को जोड़ा जाता है, यह है कि बेंथम ने इस सिद्धान्त को अपने समूचे राजनीतिक दर्शन का मूलाधार बनाया। उसने, 'सुखवाद' तथा 'दु:खवाद' (pleasure-pain theory) एवं 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' (greatest happiness of the greatest number) की धारणाओं को एक क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन का रूप प्रदान किया।

विचार पद्धति (सुखवाद)

बेंथम ने कहा है कि 'प्रकृति ने मानव को दो सम्प्रभु सत्ताओं सुख तथा दुःख के अधीन रखा है। वही हमें निर्देश देते हैं कि हमें क्या करना चाहिए और वही इस बात का निर्धारण करते हैं कि हम क्या करेंगे। 'जो कुछ हम करते हैं, कहते हैं, या सोचते हैं उसमें वही हमारा मार्ग-दर्शन करते हैं।'[1] बेंथम का विश्वास था कि सुख तथा दुःख ही मानव के समस्त कार्य-कलापों को गत्यात्मक शक्ति प्रदान करते हैं और प्रत्येक व्यक्ति सुख की प्राप्ति तथा दुःख से निवृत्ति चाहता है। किसी वस्तु या कार्य की उपयोगिता अथवा उसके गुण दोष का ज्ञान करने की कसौटी उसमे प्राप्त होने वाला सुख या दुःख है। परन्तु सुख या दुःख की परख उस वस्तु या कार्य से प्राप्त होने वाले क्षणिक आनन्द या कष्ट से नहीं हो सकती, क्योंकि सुख या दुःख स्थायी मन स्थितियाँ हैं। यह सम्भव है कि कभी किसी कार्य द्वारा क्षणिक आनन्द या कष्ट मिलकर अन्ततः सुख के स्थान पर स्थायी दुःख अथवा दुःख के स्थान पर स्थायी सुख मिल सकता है। अतएव यह चिरस्थायी परिणाम ही सुख या दुःख का, अथवा उस कार्य या वस्तु की उपयोगिता के अन्तिम निर्धारक तत्व हैं। इसी प्रकार किसी कार्य के उद्देश्य या प्रयोजन मात्र से ही उसकी उपयोगिता नहीं आँकी जा सकती, बल्कि उपयोगिता की सही परख उस कार्य के स्थायी परिणाम पर निर्भर करती है।

सुख तथा दुःख के चार स्रोत—बेंथम ने सुख तथा दुःख दोनों में से प्रत्येक के चार स्रोतों या अनुशास्तियों (Sanctions) का उल्लेख किया है (1) प्राकृतिक, अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों यथा वर्षा, बाढ़ आदि से प्राप्त होने वाला सुख या दुःख, (2) राजनीतिक, यथा राज्य के कानूनों तथा आज्ञाओं द्वारा प्राप्त होने वाला सुख या दुःख (3) नैतिक, अर्थात् लौकिक या सामाजिक आचरणों के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले सुख या दुःख। इनका आधार लोकमत या सामाजिक परम्पराएँ हैं, (4) धार्मिक

[1] "Nature has placed mankind under the governance of two sovereign masters *pain* and *pleasure* It is for them alone to point out what we ought to do, as well as to determine what we shall do They govern us in all we do, in all we say, in all we think "—Bentham

नियमो, दैवी विश्वास आदि से उत्पन्न होने वाला सुख या दुख। बेंथम का मत है कि प्राकृतिक स्रोत अन्य तीन स्रोतो मे शामिल रहता है और यह इन तीनो का मूलाधार है। बेंथम राजनीतिक तथा नैतिक स्रोतो पर अधिक बल देता है। उसका मत है कि कानून निर्माता तथा नीतिशास्त्री को चाहिए कि वे अपने आचरणो द्वारा व्यक्ति एव समाज के लिए अधिकाधिक सुख प्राप्त करने तथा दुख का निवारण करने की चेष्टा करें। व्यक्ति को भी उपर्युक्त चारो क्षेत्रों मे अपने कार्य कलापो के मध्य सामजस्य स्थापित करते हुए आचरण करना चाहिए।

सुख तथा दुख की माप—बेंथम ने किसी भी कार्य की उपादेयता की कसौटी यह मानी है कि उससे अधिकतम लोगो को अधिकतम सुख मिले। अधिकतम सुख का ज्ञान करने के निमित्त बेंथम की धारणा थी कि सुख तथा दुख की माप की जा सकती है। उसके मत से विविध प्रकार के सुखो मे अन्तर मात्रा का हो सकता है, न कि उनके गुणात्मक स्वरूप का। 'काव्य द्वारा प्राप्त होने वाले सुख का *गुणात्मक स्वरूप वैसा ही है जैसा बच्चो के खेलो से प्राप्त होने वाले आनन्द का'* (Pushpin is as good as poetry)। सुख या दुख के परिमाणात्मक स्वरूप मे भिन्नता होना उस कार्य की तीव्रता (intensity), अवधि (duration), निश्चितता (certainty), स्थान (propensity), फलप्रदायिकता (fecundity) तथा शुद्धता (purity) पर निर्भर है। सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रो मे सम्पन्न होने वाले कार्यों की उपयोगिता का ज्ञान करने के लिए उनसे प्राप्त होने वाले सुख तथा दुख के परिणाम का ज्ञान उन कार्यों के सम्बन्ध मे उपर्युक्त तत्वो का परीक्षण करके किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, न्याय, विधि, नैतिकता, धर्म, राजनीति आदि से सम्बद्ध कार्यकलापो की उपयोगिता की माप करने मे उन कार्यकलापो की तीव्रता, अवधि, निश्चितता आदि की माप की जा सकती है। व्यक्ति-व्यक्ति की सवेदनशीलता मे भिन्नता होती है जो उनके स्वास्थ्य, बौद्धिक क्षमता, अनुभव, मन स्थिति, आयु, लिंग, पद, आदि विविध परिस्थितियो पर निर्भर करती है इन सब बातो को ध्यान मे रखकर सुख तथा दुख को अकात्मक ढग से मापा जा सकता है अर्थात् विविध परिस्थितियों तथा रूपो स प्राप्त होने वाले सुख तथा दुखों की मात्रा के योग एव अन्तर का ज्ञान करके उस कार्य की उपयोगिता की माप की जा सकती है। यदि उससे अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्राप्त होता हो तो वह उपयोगी होगा।

बेंथम ने चौदह प्रकार के साधारण सुखो तथा बारह प्रकार के साधारण दुखों का उल्लेख किया है।[1] इन साधारण सुखो तथा दुखो से ही अधिक जटिल सुखो या दुखो की उत्पत्ति होती है। सुखो या दुखो के उपर्युक्त विवेचन तथा उसे उपयोगिता

[1] Fourteen simple pleasures are those of sense, wealth skill amity, good name power, piety benevolenee, malevolence, memory, imagination, association, expectation and relief

Twelve simple pains are those of privation sense, awkwardness, enmity, ill name, impiety, benevolence, memory, imagination, expectation, and association

का आधार बताकर बेंथम ने उसे अपने राजनीतिक दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त बनाया है, जिसे उपयोगितावाद या कभी-कभी बेंथमवाद की भी संज्ञा दी जाती है। उसका निष्कर्ष है कि मनुष्य के लिए सुख ही एकमात्र अच्छी चीज है। अन्य बातें यथा धन, पद, स्वास्थ्य तथा पुण्य सब गौण हैं। सुख साध्य है, अन्य बातें साधन हैं। दुःख से निवृत्ति मनुष्य का दूसरा साध्य है। सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के क्षेत्र में सुखवाद तथा उपयोगितावाद के सिद्धान्त को लागू करने का बेंथम का अभिप्राय यह था कि राज्य सहित समाज की समस्त संस्थाएँ, परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज, उत्सव आदि चाहे कितने ही प्राचीन, सम्माननीय अथवा ख्याति-प्राप्त क्यों न हों, वे तब तक निरर्थक हैं, जब तक कि वे प्रत्यक्षत तथा शीघ्र अधिक से अधिक व्यक्तियों को अधिकाधिक सुख प्रदान करने की क्षमता नहीं रखते। इस प्रकार बेंथम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त विशुद्ध रूप से भौतिक सुखवाद का सिद्धान्त है। इस सुखवाद का आधार परिमाणात्मक है न कि गुणात्मक। इसका सम्बन्ध उद्देश्यों से नहीं है, बल्कि परिणामों से है। यह मानव आचरणों का सिद्धान्त है, न कि भावात्मक नैतिकता का सिद्धान्त। सुखवादी नैतिकता का आधार मानवीय समानता है जो एक व्यक्ति एक मत (each to count for one and no one fore more than one) के लोकतन्त्री सिद्धान्त का अनुगमन करती है।

राज्य तथा समाज

राज्य का स्वरूप, उत्पत्ति तथा आधार—बेंथम की राज्य-सम्बन्धी धारणाएँ उसके उपयोगितावादी दर्शन पर आधारित हैं। वह अपने पूर्ववर्ती विचारकों द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों की धारणाओं का विरोध करता है। साथ ही राजनीतिक समाज की उत्पत्ति के दैवी तथा संविदा सिद्धान्तों का भी विरोध करता है। वह राज्य के सावयव स्वरूप को भी नहीं मानता। राजनीतिक समाज अर्थात राज्य के बारे में उसका मत है कि 'जब किसी जन-समूह में कुछ व्यक्तियों के अन्दर एक या अधिक व्यक्तियों की आज्ञा का स्वभावत पालन करने की भावना रहती है तो हम उस समूचे जन समूह को (शासक तथा शासित सहित) राजनीतिक समाज या राज्य कहते हैं।'[1] आज्ञाकारिता की आदत का आधार आज्ञा देने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों की बल-प्रवर्ती शक्ति न होकर उपयोगिता है जो मानवों की आवश्यकता पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से बेंथम के अनुसार राज्य का उद्देश्य अपने सदस्यों के सुख की अभिवृद्धि करना है। यह दृष्टिकोण प्राचीन यूनानी दार्शनिकों प्लेटो तथा अरस्तू की धारणाओं से मिलता जुलता है, क्योंकि वे भी यह मानते थे कि राज्य का अस्तित्व 'उत्तम जीवन' के लिए है। परन्तु बेंथम की दृष्टि से राज्य स्वयं साध्य नहीं है, बल्कि 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख' (अर्थात् उत्तम जीवन) प्रदान करने का साधन है। राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के

[1] If, in a group there is on the part of some of the members the habit of paying obedience to other members, whether one or more that whole group constitutes a political society

लिए है न कि व्यक्ति का राज्य के लिए। बेंथम यह भी नही मानता कि व्यक्ति राज्य के आदेशो का पालन इसलिए करते हैं कि उन्होने या उनके पूर्वजो ने कभी ऐसा करने की संविदा की थी। आज्ञा-पालन का आधार यही है कि व्यक्ति राज्य को अपने सुख के लिए एक उपयोगी संगठन मानते हैं, अत राज्य के आदेशो का विरोध करने में नही, अपितु उनका पालन करने मे ही वे अपना हित समझते हैं। उनकी धारणा यह रहती है कि 'अवज्ञा करने की सम्भावित बुराइयो की अपेक्षा आज्ञा-पालन करने की सम्भावित बुराइयाँ कम होती हैं।'[1]

राज्य का उद्देश्य—राज्य के उद्देश्य तथा कार्यों के सम्बन्ध मे बेंथम का दृष्टिकोण यह है कि राज्य अपने कानूनो के द्वारा पुरस्कार तथा दण्ड की व्यवस्था करके जनता के सुखो की वृद्धि करने का उद्देश्य रखता है। वह जनता के सुखी जीवन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ का निराकरण करने के साथ-साथ उन अनेक विध्यात्मक परिस्थितियो का सृजन भी करता है, जो व्यक्तियो के सुखी जीवन के लिए आवश्यक हैं। बेंथम के मत से मनुष्य स्वभावत अच्छा होता है और वह अधिकतम सुख प्राप्त करने हेतु अपने हितो तथा स्वार्थों को अन्यो की अपेक्षा भली प्रकार समझता है। वह यह भी जानता है कि राज्य के आदेशो का पालन करने से सामाजिक समरूपता बनी रहेगी और उसी के द्वारा अधिकतम व्यक्तियो को अधिकतम सुख प्राप्त हो सकेगा।

प्रभुसत्ता, कानून तथा अधिकार—बेंथम प्रभुसत्ता को राज्य की सर्वोच्च शक्ति मानता है। उसके मत से राज्य की प्रभुसत्ता असीम तथा अमर्यादित होती है। दैवी या प्राकृतिक इच्छा जैसी कोई धारणा इसलिए अपना अस्तित्व नही रखती कि हम उसका ज्ञान नही कर सकते। कानून मानव इच्छा की अभिव्यक्ति है। अत राज्य की प्रभुसत्ता के ऊपर दैवी या प्राकृतिक कानून सदृश किसी काल्पनिक धारणा की मर्यादा नही रह सकती। यदि राज्य की सत्ता के ऊपर कोई मर्यादा है तो वह जनमत तथा लोक परम्परा की है जिनका आधार उपयोगिता है। जनता राज्य की सत्ता तथा कानूनो का पालन उसी सीमा तक करती है जहाँ तक कि वे जनता के सुख के लिए उपयोगी सिद्ध होते है। यदि जनता उन्हे अनुपयोगी समझे तो वह उनका विरोध कर सकती है। इस दृष्टि से यद्यपि बेंथम राज्य की सत्ता को निरकुश तथा अमर्यादित मानता है, तथापि उसकी विचारधारा लोकतन्त्री सिद्धान्तो की भी समर्थक है। बेंथम प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारो की धारणा को नही मानता। उसके मत से कानून सम्प्रभु इच्छा की अभिव्यक्ति है। दैवी कानून या दैवी इच्छा की धारणा से भी बेंथम को विरोध नही है। परन्तु उसका मत है कि दैवी कानून का समुचित निर्धारण करना कठिन है। अत राज्य का सचालन मानवीय कानून के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। नागरिक के अधिकारो का स्रोत राज्य ही होता है। अधिकार निरपेक्ष नही होता, बल्कि उसके साथ कर्त्तव्य भी जुडा रहता है। अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनो का उद्देश्य अधिकाधिक व्यक्तियो को अधिकाधिक

[1] 'The probable mischiefs of disobedience are less than the probable mischiefs of obedience'

सुख प्रदान करना है। कानून का निर्माता राज्य है। कानून का उद्देश्य सुरक्षा (security), आजीविका (subsistence), प्रचुरता (abundance) तथा समानता (equality) प्रदान करना है। कानून नागरिकों को अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान करने का उद्देश्य नहीं रखता। कानून चार प्रकार के होते है—सांविधानिक, व्यावहारिक, दण्डात्मक तथा अन्तर्राष्ट्रीय (constitutional, civil, criminal and international)।

स्वतन्त्रता—बेंथम ने स्वतन्त्रता की भावनामूलक धारणाओं को अमान्य किया है। उसका मत है कि सुखी तथा उत्तम जीवन के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता महत्त्वपूर्ण चीज है, परन्तु लोक-कल्याण के हित मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाज द्वारा मर्यादित होनी चाहिए। स्वतन्त्रता सुखी जीवन का प्रमुख अंग नहीं है। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करना नही बल्कि उसे अधिकाधिक सुख तथा सुरक्षा प्रदान करना है। इसलिए व्यक्ति के सुख तथा सुरक्षा के हित मे उसकी स्वतन्त्रता के ऊपर मर्यादा लगनी चाहिए। बेंथम इसी आधार पर फ्रांसीसी क्रान्ति की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा को भ्रामक मानता था।

सरकार—अपने पूर्ववर्ती अनेक विचारकों की भांति बेंथम ने सरकारों का वर्गीकरण करने तथा उनके गुण-दोषो का सैद्धान्तिक विवेचन करने मे कोई अभिरुचि नही दर्शायी है। प्रारम्भ म उसका विचार यह रहा था कि किसी भी प्रकार की शासन-प्रणाली श्रेष्ठतम सिद्ध हो सकती है यदि उसका आधार उपयोगिता हो अर्थात् चाहे राजतन्त्र हो, चाहे वर्गतन्त्र और चाहे सामन्तशाही ही क्यो न हो, यदि उसका उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियो को अधिकतम सुख प्रदान करना है, तो उसे श्रेष्ठ शासन-प्रणाली कहा जा सकता है। बेंथम ने अनुभव किया कि इग्लैण्ड की तत्कालीन शासन-प्रणाली अनेक प्रकार से दोषपूर्ण है। अत उसने यह निश्चय निकाला कि राजतन्त्र, वर्गतन्त्र (कुलीनतन्त्र) अथवा सामन्तशाही ऐसी शासन व्यवस्थाएँ हैं जिनमे शासक-वर्ग के हितो को प्रमुखता की स्थिति प्राप्त रहने से 'अधिकतम लोगो के अधिकतम सुख' की उपेक्षा हो सकती है। अत प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र ही ऐसी व्यवस्था है जिसमे शासक तथा शासित दोनों के हित समान रहते हैं और शासन का प्रमुख उद्देश्य अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख देना होता है, क्योंकि इस व्यवस्था मे शासक की सर्वोच्च सत्ता आम जनता के हाथ म रहती है और सबका सबके ऊपर नियन्त्रण रहता है। इसलिए कोई किसी के अहित की बात भी नही सोच सकता। शासक तथा राज कर्मचारी वर्ग के ऊपर जनता का नियन्त्रण रहने के कारण वे स्वेच्छाचारी नही बन सकते। अत लोकतन्त्र को अधिक व्यापक बनाने के उद्देश्य से बेंथम ने उसके सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के सुझाव दिये हैं। उसने कुलीनतन्त्री लार्ड सभा को समाप्त करने, वार्षिक आधार पर संसद का संगठन करने, वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान और सिविल सेवाओ मे प्रतियोगिता के आधार पर नियुक्ति करने के सम्बन्ध म योजनाएँ प्रस्तुत की। स्मरणीय है कि उपर्युक्त योजनाओ म से प्रथम दो को छोड़कर शेष पर अमल कर लिया गया है। लार्ड सभा की भले ही समाप्ति नहीं हुई है, परन्तु उसकी शक्तियो का अन्त करके उसके अस्तित्व के कुप्रभावो को रोकन

मे सफलता प्राप्त कर ली गयी है । ससद के वार्षिक चुनावो की योजना व्यवहार की दृष्टि से समुचित नही लगती । इस दृष्टि से बेंथम की सरकार के सम्बन्ध मे जो धारणाएँ थीं उन्ह व्यावहारिक तथा सुधारात्मक दृष्टि से पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ है ।

बेंथम की सुधार योजना

एक राजनीतिक चिन्तक होने के साथ-साथ बेथम एक समाज-सुधारक भी था । उसका उपयोगितावाद वास्तव मे सुधारवादी दर्शन है । उसने राजनीतिक एव सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों मे सुधार की व्यापक योजनाएँ प्रस्तुत की थी जिन्हें निम्नाकित शीर्षको के अन्तगत रखा जा सकता है—

(1) विधि-निर्माण के क्षेत्र मे—बेंथम ने शासन तथा सामाजिक जीवन की अनेक कमियो तथा बुराइयो को दूर करने के लिए विधि निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया । उसका सुझाव था कि कानून द्वारा धनिकतन्त्री लार्ड सभा को समाप्त कर दिया जाना चाहिए । कॉमन सभा को अधिक लोकतन्त्री तथा प्रतिनिध्यात्मक बनाने के लिए वयस्क मताधिकार, महिला मताधिकार, गुप्त मतदान प्रथा तथा ससद के वार्षिक निर्वाचन के सम्बन्ध मे विधि-निर्माण किया जाना चाहिए । उसका मत था कि ससद के वार्षिक निर्वाचन सदस्यो को कार्यशील रखने मे तथा गुप्त मतदान-प्रथा निर्वाचन मे होने वाले भ्रष्टाचारो का अन्त करने के लिए आवश्यक हैं । उसने स्थानीय स्वायत्त शासन को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए भी विधि-निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया । जिन अन्यान्य विषयो के सम्बन्ध मे विधि-निर्माण पर बल दिया था वह ये—निर्दय दण्डात्मक कानून म सुधार, सिविल सेवा मे नियुक्ति के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओ की व्यवस्था, ऋण तथा ब्याज लने सम्बन्धी कानूनो मे सुधार, भिखारो तथा दरिद्रो की व्यवस्था के सम्बन्ध मे विधि निर्माण, बचत बैंको की व्यवस्था, राष्ट्रीय शिक्षा का आयोजन, जहाजरानी के सम्बन्ध मे सुधार आदि ।

(2) दण्ड विधान—उस युग म दण्ड व्यवस्था पर्याप्त कठोर थी । छोटे-छोटे अपराधो तक मे फासी का दण्ड दिया जाता था । बेथम ने उसके अमानुषिक स्वरूप को बदलने पर बल दिया । उसके मत से दण्ड का आधार भी उपयोगितावादी होना चाहिए । दण्ड का प्रयोग तभी करना चाहिए जबकि वह स्वय दण्ड से होने वाली बुराई से उच्चतर बुराई को रोकने मे समर्थ हो, क्योंकि दण्ड स्वय एक बुराई है । अनेक अपराधो के लिए तो दण्ड देना ही निरर्थक है । बेंथम के अनुसार (i) दण्ड को अपराध के अनुरूप होना चाहिए । ऐसा न हो कि वह अपराध की तुलना मे नगण्य हो या बहुत छोटे अपराध के लिए भारी दण्ड दिया जाय । (ii) दण्ड का उद्देश्य केवल अपराधी को यातना पहुँचाना मात्र न हो, प्रत्युत् उसके द्वारा स्वय अपराधी एव भविष्य के सम्भावित अपराधियो को भी अपराध करने से रोका जा सके । इस दृष्टि मे दण्ड सार्वजनिक रूप मे दिया जाय । (iii) दण्ड देते हुए अपराधी

चाहिए। (iv) दण्ड निर्धारित करने से पूर्व अपराध की परिस्थिति, उद्देश्य एवं अपराधी की मानसिक स्थिति का भी यथेष्ट विचार कर लेना चाहिए और इन पर समुचित विचार करने के उपरान्त दण्ड का निर्धारण करना चाहिए। (v) दण्ड केवल प्रतिशोधात्मक या निवारक ही न हो अपितु सुधारात्मक भी हो, जिससे कि दण्ड भोगकर अपराधी भविष्य में अच्छा नागरिक बन सके। दण्ड का रूप ऐसा भी न हो कि उसके फलस्वरूप जनता दण्ड-भोगी अपराधी के प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगे।

(3) जेल सुधार—बेंथम का दण्ड सिद्धान्त निवारक तथा सुधारक दोनों उद्देश्यों से युक्त है। अतः बेंथम का सुझाव यह था कि कारागार का दण्ड भोगने वाले अपराधियों को जेलों में ऐसी परिस्थिति के अन्तर्गत रखा जाय जिससे कि वे भविष्य में अपने आचरण को सुधारने तथा एक उत्तम नागरिक बनने की ओर प्रवृत्त हो सकें। उसकी योजना के अनुसार कैदियों के रहने की कोठरियाँ अर्ध-वृत्ताकार इमारत में बनाई जाएँ और जेल का अधीक्षक उनके सामने के मकान में रहे, ताकि वह कैदियों के ऊपर बराबर दृष्टि रख सके। कैदियों को स्वस्थ नैतिक वातावरण में रखना, उनका सहानुभूतिपूर्ण निरीक्षण तथा उनमें अनुशासन बनाए रखना आवश्यक है। कैदियों को केवल औद्योगिक या व्यावसायिक शिक्षा देना ही पर्याप्त नहीं है। उन्हें नैतिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए। कारागार से मुक्त होने पर यदि कैदियों को आजीविका का साधन तुरन्त न मिल सके तो तब तक सरकार को उनके लिए रोजगार की व्यवस्था करनी चाहिए, जब तक कि वे स्वावलम्बी बन सकने में समर्थ न हो जाएँ।

(4) न्याय प्रणाली में सुधार—बेंथम के विचार से तत्कालीन अनेक कानून अत्यन्त जटिल तथा अव्यवस्थित ढंग के थे। अतः उसका सुझाव था कि कानून सरल तथा जनसाधारण के लिए बोधगम्य होने चाहिए। इसका फल यह होगा कि उन कानूनों का परिपालन कराने में कठिनाई नहीं होगी। साथ ही कानूनों की सरलता से न्यायिक कार्य भी सरल हो जायेगा। कानून व्यवहार्य होने चाहिए और उनमें किसी भी प्रकार का विरोधाभास या अस्पष्टता नहीं होनी चाहिए। कानून का पालन अक्षरशः कराया जाना चाहिए, अन्यथा उसका महत्त्व नहीं रह जाता। बेंथम का अनुभव यह था कि उसके काल में इंग्लैण्ड में न्याय बिकता है। गरीबों को यह सुलभ नहीं है। न्यायालयों का क्षेत्राधिकार अस्पष्ट है। न्याय-प्रक्रिया की जटिलता के कारण केवल वकील लोगों को लाभ पहुँचता है। इस प्रकार न्यायालय न्यायाधीश तथा वकीलों की एक व्यावसायिक कम्पनी (The judges and company) के रूप में बन जाते हैं। इसके सुधार हेतु बेंथम ने ज्यूरी-प्रथा का समर्थन किया था। उसका मत था कि एक न्यायाधीश वाले न्यायालयों की व्यवस्था उत्तम होती है। अधिक न्यायाधीशों का होना उत्तरदायित्व का विभाजन अथवा कार्य-कुशलता में अभाव का सूचक है।

(5) शिक्षा—बेंथम के मत से उपयोगितावादी नैतिकता की उपलब्धि शिक्षा पर निर्भर है। अतः उसने शिक्षा की एक व्यापक राष्ट्रीय योजना लागू करने पर

बल दिया। उसकी शिक्षा-योजना के सिद्धान्त यह थे कि शिक्षा के पाठ्यक्रम का आधार उपयोगिता हो, अर्थात् शिक्षा प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अपने भविष्य के जीवन का निर्माण कर सके। शिक्षा के पाठ्यक्रम का सिद्धान्त 'सरल से जटिल की ओर जाने' का होना चाहिए। संक्षेप में, शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी के ज्ञान की वृद्धि करना, शिक्षा के प्रति उसमें अभिरुचि उत्पन्न करना, तथा उसकी चेतना का विस्तार करना होना चाहिए, ताकि शिक्षार्थी जीवन का वास्तविक लाभ उठा सकने तथा एक उत्तम नागरिक जीवन व्यतीत करने की क्षमता प्राप्त कर सके।

बेंथम के विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा

(1) **एक महान् लेखक तथा समाज-सुधारक**—एक राजनीतिक चिन्तक के रूप में बेंथम के प्रशंसक तथा आलोचक या तो वे हैं जो उसे एक महान् विद्वान्, दार्शनिक, बुद्धिमान विचारक तथा शिक्षक के रूप में मानते हैं, अथवा वे लोग हैं, जो उसे एक भ्रम-जाल में फंसा दार्शनिक मानते हैं, जिसकी विचारधारा मनोविज्ञान तथा दर्शन के वास्तविक तथ्यों पर आधारित न होकर सामान्य व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित है। चाहे विद्वानों में बेंथम को एक उच्च-कोटि का दार्शनिक मानने में कोई भ्रान्ति हो, परन्तु इस तथ्य को सभी मानते हैं कि वह एक उच्च कोटि का समाज सुधारक था। उसकी विद्वता का एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि जितना अधिक उसने लिखा है, उतना सम्भवतः बहुत कम विद्वानों ने लिखा होगा। एक कानून-वेत्ता होने के कारण बेंथम ने सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सुधारों की योजना रखने में कानूनी सुधारों तथा व्यवस्थाओं का समावेश किया है, न कि कोरे आदर्शों का प्रतिपादन। उसके हृदय में निम्न वर्गों के प्रति असीम सहानुभूति थी। इसलिए उसकी सुधार योजना का प्रमुख लक्ष्य वही वर्ग था। अपने युग की परिस्थितियों के अन्तर्गत सुधारों की योजना रखने में वह उग्रपंथी सुधारक वर्ग का प्रमुख दार्शनिक निदेशक था। उसने इन योजनाओं को रखने में दार्शनिक भावावेशवाद अथवा रहस्यवाद का अनुसरण न करके यथार्थवादिता का आश्रय लिया है। वह पूर्णतया एक व्यवहारवादी चिन्तक था। अतः उसने अपने युग के तथा अपने से पूर्व के चिन्तकों की समस्त भावना मूलक धारणाओं (प्राकृतिक कानून, प्राकृतिक अधिकार, सामान्य इच्छा आदि) का परित्याग किया। उसके राजनीतिक सिद्धान्त आगमनात्मक प्रणाली द्वारा निकाले गये निष्कर्षों पर आधारित हैं जिस हेतु उसने पर्याप्त परिश्रम करके तथ्यों का संग्रह किया था।

(2) **बेंथम के सुखवादी दर्शन को अमान्य करके उसके सुधारवादी विचारों की प्रशंसा सभी विद्वानों ने की है**—बेंथम के समूचे दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' है। उसने राज्य, कानून सुधार, सामाजिक सुधार आदि समस्त क्षेत्रों में इसी सिद्धान्त को प्रयुक्त किया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक सफल लोकतन्त्री विधायन के निमित्त उसके विचार सार्वभौम व्यावहारिक सिद्धान्त सिद्ध हुए हैं। बेंथम की विचारधारा व्यक्ति की उपेक्षा न करने वाली होकर समाज में व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार करती है। इस सिद्धान्त का आधार सुखवाद है, जो

भौतिकवादिता की ओर प्रवृत्त है। अत यदि बेंथम के उपयोगितावाद से उसके
सुखवादी दर्शन को पृथक् कर दिया जाये और उसके सुधारवादी दृष्टिकोण को महत्त्व
प्रदान किया जाये तो निस्सन्देह बेंथम का उपयोगितावाद एक विशुद्ध मानवतावादी
दर्शन बन जायेगा। ग्रीन ने उचित ही कहा है कि 'उपयोगितावाद के सुखवादी
मनोविज्ञान में जो भी कमियाँ हो, यह तो स्पष्ट है कि सामाजिक तथा राजनीतिक
सुधारों के सम्बन्ध में अन्य किसी भी सिद्धान्त के अन्तर्गत ऐसी सच्चाई तथा
व्यावहारिकता नहीं पायी जा सकती।' बेंथम तथा उसके अनुयायियों का उपयोगिता-
वाद विशुद्ध रूप से इंग्लैण्ड की ही विचारधारा है। अत जैसा डेविडसन ने लिखा है,
'इंग्लैण्ड उनका (उपयोगितावादियों का) अत्यन्त ऋणी है। उन्नीसवीं शताब्दी के
अधिकांश भाग में उनके दृष्टिकोणों का बहुत प्रभाव बना रहा। परिणाम यह हुआ
कि सक्रिय राजनीति, सामाजिक सुधार तथा लाभकारी विधायन के क्षेत्र में
मनोवैज्ञानिक शोधों तथा नैतिक वाद विवाद के सम्बन्ध में पर्याप्त अभिरुचि जागृत
होने लगी, जोकि इससे पूर्व कल्पनातीत थी। हैनरोमैन का मत है कि बेंथम के
पश्चात् इंग्लैण्ड में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में जितने भी सुधार
हुए उनमें से कोई भी सुधार ऐसा नहीं है जिसका आधार बेंथम ने प्रस्तुत न किया
हो।' इंग्लैण्ड ही नहीं अपितु उससे बाहर के विविध देशों में तक उपयुक्त प्रकृति के
समस्त सुधारों में बेंथम के विचारों का प्रभाव स्पष्ट है।

(3) **बेंथम ने लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा का मार्ग प्रशस्त किया**
है—बेंथम के यथार्थवाद ने इस तथ्य को सुमान्य किया कि राज्य की स्थापना का
मुख्य आधार जन-कल्याण है, अत राज्य को अपने कानूनों तथा कार्यकलापों के द्वारा
इस उद्देश्य को सम्पन्न करना चाहिए। भले ही बेंथम को एक समाजवादी चिन्तक
के रूप में नहीं माना जाता परन्तु यह तो स्पष्ट है कि लोकतन्त्र, लोक कल्याणकारी
राज्य तथा समष्टिवादी समाजवाद की धारणाओं के ऊपर बेंथम के विचारों का
पर्याप्त प्रभाव है। उसने राजनीति से प्राचीन रूढ़िवादिता तथा उग्रवाद को नष्ट
करने तथा प्रगतिवाद एवं सुधारवाद को प्रोत्साहित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान
किया, जो आज के लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा का मूलभूत तत्त्व है।

(4) **बेंथम को एक राजनीतिक दार्शनिक मानने में विद्वानों को आपत्ति है**
परन्तु उसके मानवीय दृष्टिकोण तथा सुधारवादी विचारों की सभी ने प्रशंसा की है—
यद्यपि बेंथम के यथार्थवादी, सुधारवादी तथा मानवतावादी विचारों की अच्छाइयों
से किसी को बहुत आपत्ति नहीं हो सकती, और इन विचारों ने भविष्य के राजनीतिक
चिन्तन एवं व्यवहार को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित भी किया था, तथापि बेंथम की
विचारधारा की तार्किक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक सभी दृष्टियों से पर्याप्त
आलोचना भी हुई है। अनेक आलोचक बेंथम के विचारों को राजनीति विज्ञान के
साथ प्रयुक्त किया गया व्यावहारिक सामान्य ज्ञान मात्र (Commonsense applied
to political science) कहते हैं। सी० एल० वेपर ने उसे एक महान् दार्शनिक
मानने से इनकार किया है। उसने कहा है कि बेंथम ने अपने दर्शन का प्रतिपादन
करने में प्राथमिक सिद्धान्तों को समूचा निगल लिया, परन्तु वह उन्हें पचा नहीं

पाया।' बेंथम के कोई विचार मौलिक नही थे। वल्कि उसके विविध विचारो के स्रोत लॉक, ह्यूम, हेल्वेशस आदि थे। उन सब विचारो को बेथम ने अपने ढग से समायोजित करने का प्रयास किया। ऐसा करने मे वह न केवल मौलिकता से ही विहीन हो गया, अपितु असगत तथा अस्पष्ट होकर भ्रम-जाल मे फमा रह गया। विलियम जोन्स का मत है कि बेंथम को दार्शनिको की श्रेणी मे रखना उपयुक्त नही है। 'वास्तव मे वह एक राजनीतिक चिन्तक होने की अपेक्षा एक अर्थशास्त्री, मनोवैज्ञानिक या नैतिकतावादी अधिक है।' इस लेखक के मत से बेंथम को एक 'सुधारक' के रूप मे मानना अधिक उचित है। इन आलोचनाओ का आधार बेंथम के दर्शन की त्रुटियो का होना है।

(5) **बेंथम का सुखवादी मनोविज्ञान त्रुटिपूर्ण है**—बेंथम के सुखवादी दर्शन मे अनेक दोष हैं। यह कहना सदा सत्य नही है कि मनुष्य कष्टदायक बातों से निवृत्ति तथा आनन्ददायक वस्तुओ की प्राप्ति ही चाहता है। कार्लाइल ने इसीलिए बेथम के दर्शन को 'सुअरो का मनोविज्ञान' कहा है जिसमे नैतिकता, विवेक, चेतना आदि को कोई स्थान नही दिया गया है। बहुधा मनुष्य भीषण कष्ट सहकर किसी कार्य को करने मे भी आनन्द का अनुभव करता है। अत सुख को अच्छा तथा दु ख को बुरा कहना सर्दैव उचित नही है। यह तो केवल भौतिकवादी दृष्टिकोण है, न कि नैतिक-चेतना से युक्त। सुख तथा दु ख के मध्य गुणगत भेद न मानना और केवल परिमाणगत भेद मानना भी सही नही है। यह तर्क कि बच्चो के खेल तथा काव्यगत आनन्द मे सुख का गुणात्मक रूप एक-सा होता है, एक उचित तर्क नही है। यह कोई नैतिक तर्क नही है कि एक देश-प्रेमी व्यक्ति के देश-हित मे सर्वस्व त्याग करने के आनन्द का गुणात्मक रूप वैसा ही होता है, जैसा कि एक देशद्रोही के गद्दारी करने के आनन्द का गुणात्मक रूप।

'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' के सिद्धान्त का गणित सम्बन्धी निष्कर्ष भी भ्रामक है। उदाहरणार्थ, 10 व्यक्तियो मे से प्रत्येक को 100 रुपए का लाभ होने पर लाभ $10 \times 100 = 1000$ रुपए होगा, यदि 100 व्यक्तियो मे से प्रत्येक को 1 रुपए की हानि हो तो कुल हानि $100 \times 1 = 100$ रुपए होगी। उपयोगिता तथा सुख की दृष्टि से देखा जाय तो प्रथम के अन्तर्गत अधिकतम लाभ है, द्वितीय के अन्तर्गत अधिकतम व्यक्तियो की हानि है। अत यह स्पष्ट नही होता कि इनमे से अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख का ज्ञान कैसे किया जायेगा। गाधी जी ने बेंथम के इस सिद्धान्त को 'हृदयहीन' कहकर उसकी निन्दा की है। इसमे यह सम्भावना हो सकती है कि समाज के 51 प्रतिशत व्यक्तियो के हित मे 49 प्रतिशत व्यक्तियो के हितो का बलिदान कर दिया जायेगा, जिससे बहुसख्यक लोगो की तानाशाही का औचित्य प्रकट होगा।

(6) **बेंथम का उपयोगितावाद सामाजिक सरचना का सही आधार प्रस्तुत नहीं कर पाया**—बेंथम का उपयोगितावादी दर्शन समाज के सावयविक स्वरूप को न मानकर सामाजिक सरचना का गलत चित्र प्रस्तुत करता है। इससे समाज के गुणात्मक रूप का बोध नही होता। राजनीतिक सरचना का गणित के नियमो के

आधार पर अवेक्षण करना उचित नहीं है। इसका परिणाम स्वेच्छाचारितावाद या अराजकता होगा। वास्तव में समाज-निर्माण तथा समाज-संचालन के विविध तत्वों का आधार व्यक्तियों की चेतना, परम्पराएँ, इतिहास आदि हैं। इनकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। बेंथम का दर्शन मुख्यतया भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाता है, जिसमें व्यक्ति की भावनाओं, संवेगों व चेतना को महत्व नहीं दिया गया है। यह तत्व मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में बहुत प्रभाव डालते हैं। उनकी उपेक्षा उचित नहीं है।

(7) बेंथम के विचार राज्य के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर पाये—बेंथम ने राज्य तथा शासन के मध्य स्पष्ट भेद नहीं किया है। उसका उपयोगितावाद मूलरूप से शासन कार्यों का सिद्धान्त है न कि राज्य का कोई विशिष्ट सिद्धान्त। अतः जैसा डनिंग ने कहा 'चूँकि उपयोगितावाद समाज के सावयविक स्वरूप को समझने तथा समाज एवं उनकी इकाई (व्यक्तियों) के मध्य सम्बन्धों का निरूपण करने में असफल रहा है, अतः उपयोगितावादी विचारक राज्य के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सके।'

बेंथम की विचारधाराओं के उपर्युक्त संक्षिप्त आलोचनात्मक विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उसके मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक निष्कर्षों में भले ही त्रुटियाँ हैं जिनके कारण बेंथम को एक उच्च कोटि का दार्शनिक मानने में विद्वानों को कठिनाई हो सकती है, तथापि सक्रिय राजनीति तथा शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में बेंथम ने जिन सुधारों के सुझाव दिये हैं उनका उद्देश्य पूर्णतया मानवतावादी था, और उसकी योजनाएँ यथार्थ थीं। इस दृष्टि से बेंथम के राजनीतिक विचार समाज सुधारकों, यथार्थवादियों, सफल प्रशासकों, मानवतावादियों तथा शान्ति-प्रिय राजनेताओं के मार्ग-दर्शन हेतु प्रेरणास्पद हैं। बेंथम की तुलना उसके समकालीन तथा मित्र राजा राममोहन राय से करना अधिक उपयुक्त है, जिन्होंने उसी युग में भारत में सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन के क्षेत्रों में विविध प्रकार के सुधारों की योजना रखी थी।

बारहवाँ अध्याय

जॉन स्टुअर्ट मिल

(1806 ई० से 1873 ई०)

परिचयात्मक

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में बेंथम के उपयोगितावाद ने इग्लैण्ड के राजनीतिक चिन्तन को बहुत अधिक प्रभावित कर दिया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि उपयोगितावाद के सुधारवादी विचार तत्कालीन इग्लैण्ड की सामाजिक, आर्थिक एव शासनिक समस्याओ के समाधान हेतु उपयुक्त प्रतीत होने लगे थे। स्वय बेंथम के जीवन काल मे ही जेम्स मिल, जॉन ऑस्टिन आदि ने बेंथम का शिष्यत्व ग्रहण किया था। जेम्स मिल का पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल भी बेंथम के सम्पर्क मे रहा और स्वय अपने पिता तथा बेंथम के विचारो से प्रभावित हुआ था। अत जीवन के प्रारम्भिक वर्षों म वह भी बेंथमवादी था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जब मिल के विचारो मे परिपक्वता आने लगी तो उसने बेंथमवाद मे कुछ परिवर्तन किए। उस काल मे इग्लैण्ड म व्यक्तिवादी विचारधाराओ के विकसित होने के अवसर आने लग गये थे। अत जॉन स्टुअर्ट मिल उपयोगितावाद से व्यक्तिवाद के सक्रमण काल का विचारक सिद्ध हुआ है। अथवा यह कहना और अधिक सगतपूर्ण होगा कि मिल सबसे अन्तिम उपयोगितावादी तथा सबसे पहला व्यक्तिवादी विचारक था।

जॉन स्टुअर्ट मिल का जन्म लन्दन म हुआ था। उसका पिता जेम्स मिल एक विद्वान् एव प्रतिभाशाली राजनेता तथा विचारक था। उसने अपने पुत्र की प्रारम्भिक शिक्षा दीक्षा स्वय घर मे ही कठोर नियन्त्रण म करवायी। परिणामस्वरूप मिल ने छोटी सी उम्र मे ही प्लेटो, होमर, हीरोडोटस, थूसीडाइड्स आदि के ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। जेम्स मिल ने अपने पुत्र को तर्कशास्त्र, दर्शन, राजनीतिशास्त्र आदि की भी शिक्षा स्वय दी। कालान्तर मे स्टुअर्ट मिल अपने पिता के अध्ययन कार्य का साथी बन गया। इसके उपरान्त उसकी शिक्षा फ्रास मे हुई, जहाँ उसने फ्रासीसी भाषा, साहित्य, राजनीति आदि की शिक्षा के साथ-साथ जीवशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र का भी अध्ययन किया। इग्लैण्ड लौटने पर मिल ने बेंथम के ग्रन्थो का अध्ययन किया। वह उनसे बहुत प्रभावित हुआ। उनके प्रचार हेतु उसने उपयोगितावादी समाज (Utilitarian Society) की स्थापना की। वह अनेक अध्ययन मण्डलो तथा समुदायों का सदस्य भी रहा। उसका पिता इण्डिया आफिस मे एक उच्च पद पर कार्य करता था। मिल को भी 17 वर्ष की उम्र मे उक्त कार्यालय मे

पत्राचार परीक्षक (Examiner of India Correspondence) के पद पर नियुक्त किया गया। वहाँ रहकर मिल को सक्रिय राजनीति का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला। अनेक राजनीतिक पत्राचारों के प्रारूप तैयार करने मे मिल ने उच्च प्रतिभा दर्शायी। 60 वर्ष की उम्र मे मिल को 2 या 3 वर्ष तक संसद के सदस्य बनने का अवसर भी मिला। वहाँ भी मिल ने अपने व्याख्यानो द्वारा संसद के सदस्यों को बहुत प्रभावित किया। उसके व्याख्यान सदस्यो को एक सन्त की वाणी के सदृश लगते थे।

एक राजनेता होने के साथ-साथ मिल एक राजनीतिक चिन्तक भी था। उसने अपने जीवन काल मे अनेक ग्रन्थो की रचनाएँ की थी। उसकी रचनाओ मे से राजनीतिक चिन्तन के निमित्त On Liberty' (1859) तथा 'Considerations on Representative Government' (1860) का सर्वाधिक महत्त्व है। उसकी अन्य रचनाओ मे से कुछ मुख्य-मुख्य यह हैं—(1) The Principles of Political Economy (1848), (2) Thoughts on Parliamentary Reforms (1859), (3) Utilitarianism (1803), (4) The Subjection of Women (1869), (5) Autobiography (1873), (6) Three Essays on Religion (1874), आदि। 1873 मे फ्रांस के ऐवीनन नामक स्थान मे मिल की मृत्यु हो गई।

विचार पद्धति—मिल के राजनीतिक विचारो के मुख्य स्रोत उसके पिता की राजनीतिक विचारधारा, बेंथम का उपयोगितावादी दर्शन व स्वयं उसकी शिक्षा-दीक्षा थे। प्रारम्भ मे वह पूर्णतया बेंथम से प्रभावित उपयोगितावादी था। परन्तु कालान्तर मे उसके विचारो मे परिवर्तन होने लगा। मिल ने अत्यन्त छोटी आयु मे ही दार्शनिक चिन्तन मनन प्रारम्भ कर दिया था। अतः केवल 20 वर्ष की आयु मे ही वह बेंथम के भौतिकवादी दर्शन से विमुख होने लग गया था। उसने अनुभव किया कि केवल बुद्धिवाद ही मानवतावाद की समस्याओ का समाधान नहीं है। अपितु भावना, संवेग सहानुभूति आदि भी इसमे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। मिल भी बेंथम की भाँति सुधारवादी था। उसमे मानवीय नैतिकता की भावना बेंथम से उच्चतर रूप की थी। यही कारण है कि उसने बेंथम के उपयोगितावाद की अनेक त्रुटियो को दूर करके उसे अधिक मानवतावादी बनाया। अतः मिल के विचारों को समझने के निमित्त पहले उसके उपयोगितावादी विचारो को समझना अधिक उपयुक्त होगा।

मिल का उपयोगितावाद

बेंथम के उपयोगितावाद मे संशोधन—राजनीतिक चिंतन के इतिहास मे जे० एस० मिल का नाम मुख्यतया एक व्यक्तिवादी चिन्तक की श्रेणी मे आता है। परन्तु मिल सदैव अपने को एक उपयोगितावादी विचारक मानता रहा। उसने 'उपयोगितावाद' पर जो ग्रन्थ लिखा है, उसमे उसने बेंथम के भौतिकवादी सुखवाद मे अनेक संशोधन किये हैं। कार्लाइल ने बेंथमवादी उपयोगितावाद की जो आलोचना की थी, उसको ध्यान मे रखते हुए तथा भावना, संवेग आदि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए 'मिल ने बेंथमवादी नैतिकता के भद्देपन को दूर किया, परन्तु

ऐसा करने मे उसने उपयोगितावाद को अधिक असगत अथच अधिक मानवतावादी बना दिया ।'[1] उक्त प्रबन्ध मे उसने उपयोगितावाद का पुनर्निर्वचन किया और उसे पूर्णतया एक नवीन रूप प्रदान किया ।

सुख की प्रकृति—मिल ने बेंथम के उपयोगितावाद मे प्रथम सशोधन यह किया कि उसने सुख तथा दुःख के गुणात्मक एव परिमाणात्मक स्वरूपों का भिन्न-भिन्न प्रकार का होना माना । बेंथम की भाँति मिल यह नही मानता कि बच्चो के खेल तथा काव्यगत आनन्द एक से होते हैं । मिल महान् कार्यों से प्राप्त होने वाले आनन्द को साधारण कार्यों से प्राप्त होने वाले आनन्द से श्रेष्ठतर मानता है । उसने कहा है कि 'एक सन्तुष्ट सूकर की अपेक्षा असन्तुष्ट मानव होना तथा एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात होना अच्छा है । यदि सूकर तथा मूर्ख दूसरा मत रखते हैं तो उसका कारण यह है कि वे केवल अपने ही पक्ष को जानते है । इसके विपरीत दूसरे पक्ष (अर्थात् मानव तथा सुकरात) दोनो पक्षो को समझते हैं ।'[2] इस प्रकार मिल की धारणा मे विभिन्न प्रकार के सुखो के मध्य गुण तथा मात्रा दोनों दृष्टियो से अन्तर मानने के कारण बेंथम के सुखवादी दृष्टिकोण मे असगति आ जाती है । मिल ने उसे केवल भौतिकतावादी नही, बल्कि अधिक मानवतावादी बनाने का प्रयास किया है ।

सुख तथा दुःख की माप सम्भव नहीं—मिल के अनुसार सुख की नाप तौल सम्भव नही है क्योकि विभिन्न प्रकार के सुखो से प्राप्त होने वाले सुखो का स्वरूप एक सा नहीं होता । उनका ज्ञान वही व्यक्ति कर सकते हैं, जिन्हे उनका अनुभव हो चुका है । वही उनकी लघुता या गरिमा के बारे मे राय दे सकते हैं । अत सुखों की नाप तौल न हो सकने के कारण विभिन्न कार्यों की उपयोगिता का अवेक्षण नही हो सकता । परिणामस्वरूप बेंथम का उपयोगितावादी सिद्धान्त असगतिपूर्ण हो जाता है । मिल ने कहा है कि 'उपयोगिता के सिद्धान्त से यह तथ्य पूर्णतया मेल रखता है कि कुछ सुखों के रूप अन्यो की अपेक्षा अधिक मूल्यवान होते है ।' बेंथमवाद इस तथ्य को नहीं मानता । इस प्रकार बेंथम के उपयोगितावाद मे मिल का यह दूसरा सशोधन है ।

व्यक्तिगत सुख के स्थान पर सामाजिक नैतिकता को महत्त्व देना—बेंथमवाद पर मिल का तीसरा सुधार यह था कि उसने व्यक्तिगत सुख के स्थान पर सामान्य सुख की धारणा को महत्त्व दिया । उसके मत से 'उपयोगितावाद का मापदण्ड व्यक्ति का वैयक्तिक सर्वाधिक सुख नही है, बल्कि समाज का सर्वाधिक सुख है । उपयोगितावादी नैतिकता की आदर्शवादिता इस तथ्य द्वारा प्रकट होती है कि मनुष्य को वही कार्य करने चाहिए, जिन्हे वह अपने लिए भी अवेक्षित मानता है । अपने पड़ोसी के

[1] Mill softened the crudities of Benthamite ethics, but in doing so he made utilitarianism more human and inconsistent

[2] It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied And if the fool, or the pig is of a different opinion it is only because they only know their own side of the question The other party to the comparison knows both sides'—J S Mill

साथ मनुष्य को वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा वह अपने लिए किया, जाना वाछनीय समझता है।' मिल के अनुसार यदि 'क' का सुख अच्छा है, 'ख' का सुख अच्छा है, 'ग' का सुख अच्छा है, इत्यादि, तो इन सब अच्छाइयों का योगफल भी अच्छा होना चाहिए। मिल की इस धारणा ने व्यक्तिगत सुख के स्थान पर व्यक्ति की उस नैतिक चेतना को महत्त्व दिया जिसके अनुसार उपयोगिता को परम सामाजिक नैतिकता के आधार पर की जा सके। मिल ने कहा है कि 'मैं समस्त नैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में उपयोगिता को सर्वोच्च स्थान देता हूँ, परन्तु यह उपयोगिता एक प्रगतिशील मानव के रूप में मानव के स्थायी हितों पर आधारित होनी चाहिए।'

मनुष्य जीवन का उद्देश्य पुण्यमय जीवन की प्राप्ति—मिल बेंथम के इस विचार से सहमत नहीं था कि मनुष्य केवल सुख की प्राप्ति तथा दुख से निवृत्ति चाहता है। उसके मत से व्यक्तिगत सुख प्राप्त करने की धारणा से उत्तम जीवन प्राप्त करने की धारणा का महत्त्व अधिक है। इस प्रकार मिल ने भौतिक सुख के स्थान पर नैतिकता को जीवन का उच्चतर लक्ष्य माना। मिल की इस धारणा के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य पुण्यमय जीवन प्राप्त करना है न कि उपयोगिता पर *आधारित भौतिक सुख की प्राप्ति करना। इसी आधार पर मिल ने राज्य को* एक ऐसी सस्था का रूप दिया जिसका एक नैतिक उद्देश्य है।

सक्षेप मे, मिल ने बेंथम के भौतिकतावादी दर्शन को नैतिक स्वरूप प्रदान करके मनुष्य जीवन के सकीर्ण लक्ष्य स्वार्थ को परार्थ की भावना मे परिवर्तित किया और सुखवादी उपयोगिता के स्थान पर सामाजिक नैतिकता को महत्त्वपूर्ण माना। यद्यपि वह अपने को उपयोगितावादी ही कहता रहा, तथापि उसका दर्शन उपयोगितावादी-मात्र नहीं रहा। *प्रत्युत उसने उपयोगितावाद की मौलिक धारणाओं को ही असगत सिद्ध करके उसे मानवतावादी बनाया।*

स्वतन्त्रता की धारणा

स्वतन्त्रता तथा सत्ता के मध्य समन्वय—बेंथम तथा उसके अनुयायियों द्वारा समर्थित सुधार-योजनाओं का परिणाम यह होता कि राज्य के कार्यकलापों में पर्याप्त वृद्धि हो जाती *क्योंकि अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान करने के लिए* राज्य की सत्ता तथा कार्यकलापों मे वृद्धि होना स्वाभाविक बात थी। दूसरी ओर मताधिकार के विस्तार, स्थानीय स्वायत्त-शासन के विकास तथा शिक्षा प्रसार का परिणाम यह भी होता कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विकास होता और राज्य के शासन में व्यक्ति के कार्यभाग में वृद्धि होती। अत मिल के समक्ष यह समस्या थी कि राज्य की सत्ता तथा कार्यकलापों एव व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मध्य समन्वय *स्थापित किया जाय। मिल ने अपनी रचना 'ऑन लिबर्टी'* (On Liberty) में इस समस्या का समाधान बहुत उत्तम ढग से किया है। मिल के काल में निरकुश राजतन्त्रों का प्राय अत हो चुका था। उनके स्थान पर ससद की बढ़ती हुई शक्ति के कारण बहुसख्यकों द्वारा अल्पसख्यकों के ऊपर मनमाना शासन तथा जनमत का

व्यक्ति के ऊपर नियन्त्रण ऐसी समस्याएँ थी, जिनका समाधान मिल ने अपने उपर्युक्त ग्रन्थ मे किया। उसका उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एव सामाजिक नियन्त्रण के मध्य सामजस्य स्थापित करना था। मिल ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्ष का समर्थन किया है, परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अप्रतिबन्धित नही माना। मिल की उक्त रचना का राजनीतिक चिन्तन के साहित्य मे अतीव महत्व है। वेपर (C L. Wayper) ने उचित ही कहा है कि 'विचार स्वातन्त्र्य के प्रतिरक्षण के सम्बन्ध मे इससे उत्तमतर अन्य कोई रचना नही है।'[1]

वैयक्तिक स्वतन्त्रता का स्वरूप—यद्यपि मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का महान् समर्थक है तथापि वह इसे स्वच्छन्दता नही मानता। उसके विचार से मनुष्य मे जो जन्मजात गुण हैं, उन्ही की पूर्ण अभिव्यक्ति द्वारा वह अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है और व्यक्ति की पूर्णता तथा स्वतन्त्र विकास के द्वारा ही समाज का उत्थान होता है, क्योंकि समाज का निर्माण व्यक्तियो के द्वारा ही होता है। अत व्यक्ति की स्वतन्त्रता म ही समाज के जीवन की सार्थकता निहित है। व्यक्ति का वास्तविक सुख तथा कल्याण इसी बात पर निर्भर करता है कि उसमे जो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एव नैतिक शक्तियाँ हैं, उनका पूर्ण विकास हो सके। अत प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने ढग से अपना विकास करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए, बशर्ते कि उसके कार्यकलापो तथा आचरणों से अन्य व्यक्तियों को हानि न पहुँचती हो। मिल ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को दो रूपों मे विभक्त किया है—(1) विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और (2) कार्य की स्वतन्त्रता।

(1) **विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता**—मिल का विश्वास था कि विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता द्वारा न केवल व्यक्ति का ही विकास होता है बल्कि समाज का भी महान् हित होता है। इस स्वतन्त्रता का मिल ने इतना अधिक समर्थन किया है कि वह सनकियो (Cranks) तक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने की बात कहता है। उसका कहना है कि 'जहाँ दस सनकियो मे से नौ हानि रहित मूर्ख हों, वहाँ दसवाँ मानव जाति के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकता है, अपेक्षाकृत उन सब सामान्य व्यक्तियो के जोकि उन सनकियो को दबाना चाहते हैं।[2] इसलिए यदि जनता इन सनकियो को विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नही देना चाहती तो यह नैतिकता नही है। यह सम्भव है कि उन सनकियो मे से कभी कोई आश्चर्यजनक प्रतिभा से भी युक्त सिद्ध हो सकता है। मिल ने कहा है कि 'यदि ससार में एक व्यक्ति की राय अन्य सबो की राय से भिन या उसके विरुद्ध हो, तो भी उन समस्त मानवो को उस एक व्यक्ति को अपनी राय प्रकट करने से रोकना न्यायोचित नही

[1] 'No finer defence of liberty of thought and discussion has ever been written'—C L Wayper

[2] 'While nine cranks out of ten are harmless idiots, the tenth is of great value to mankind than all the normal men who seek to suppress them'
—J S Mill

है।"[1] इसका यह अभिप्राय है कि यदि वह व्यक्ति सत्य का प्रतिपादन करता है तो उसे रोकने से मानवता उस सत्य की प्राप्ति से वंचित रहेगी जिसका प्रतिपादन उस एक व्यक्ति ने किया है, और यदि उसकी राय असत्य हो, तो भी मानवता को सत्यासत्य का समुचित ज्ञान करने का लाभ प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि वास्तविक सत्य की खोज सत्यासत्य के द्वन्द्व द्वारा ही हो सकती है। मिल का मत है कि किसी युग में व्यक्त किया गया कोई विचार यदि उस युग के व्यक्तियों को अनुपयुक्त अथवा असत्य जान पड़े, तो यह आवश्यक नहीं कि वह सदैव ही असत्य सिद्ध होगा। सुकरात तथा ईसा के विचारों का तत्कालीन सत्ताओं ने विरोध करके उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया था। परन्तु उनके विचारों की सत्यता भविष्य की सहस्रों पीढ़ियों ने स्वीकार की है। अतः किसी व्यक्ति को अपने विचारों को व्यक्त करने से रोकना नैतिकता नहीं है। उसका अर्थ होगा मानवता को सत्यासत्य के लाभ से वंचित करना। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि कोई विचार यदि किसी युग में सत्य माना जाता है तो उसे भी चुनौती देने का अवसर मिलना चाहिए। अन्यथा वह अन्धविश्वासिता में परिणत हो जायेगा। सत्यासत्य के द्वन्द्व द्वारा वह विचार बाद में गलत भी सिद्ध हो सकता है और उसके स्थान पर एक नवीन सत्य का सृजन हो सकता है। अतः विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता एक महत्त्वपूर्ण अधिकार है।

(2) कार्य की स्वतन्त्रता—विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की ही भाँति मिल व्यक्ति की कार्यगत स्वतन्त्रता के अधिकार को भी महत्त्वपूर्ण मानता है। वह व्यक्ति के कार्यों को दो श्रेणियों में रखता है—(क) स्व-सम्बन्धी (self-regarding) तथा (ख) पर-सम्बन्धी (other-regarding)। मिल की धारणा यह है कि जहाँ तक व्यक्ति के स्व-सम्बन्धी कार्यों का सम्बन्ध है, अर्थात् यदि व्यक्ति के कार्यों का सम्बन्ध समाज के अन्य व्यक्तियों से नहीं है, तो उन कार्यों को करने में समाज को व्यक्ति के ऊपर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि कोई व्यक्ति शराब पीता है या अन्य कोई ऐसा कार्य करता है जिसे समाज के अन्य सदस्य अवांछनीय मानते हैं, परन्तु उस व्यक्ति के ऐसे कृत्य का कोई भला या बुरा प्रभाव अन्य व्यक्तियों पर नहीं पड़ता तो समाज द्वारा व्यक्ति के ऐसे कृत्य पर नियन्त्रण लगाना न्यायोचित नहीं है। मिल ने कहा है कि 'किसी व्यक्ति के आचरण का केवल वह भाग, जिसका सम्बन्ध दूसरों से होता है, उसे समाज के प्रति उत्तरदायी बना सकता है। परन्तु जिस भाग का सम्बन्ध केवल अपने ही साथ है, उसके सम्बन्ध में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार निरपेक्ष है। अपने स्व के ऊपर, अपने शरीर एवं मन के ऊपर व्यक्ति सम्प्रभु है।'[2]

[1] "If all mankind minus one were of one opinion and only one person were of contrary opinion mankind would be no more justified in silencing that one person that he, if he had the power, would be justified in silencing mankind."

[2] "The only part of the conduct of any one, for which he is amenable to society is that which concerns others. In the part which merely concerns himself his independence is, of right, absolute. Over himself over his body and mind, the individual is sovereign."

मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की आलोचना—मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी उपर्युक्त धारणाएँ यह दर्शाती हैं कि मिल मानव-जीवन का प्रमुख उद्देश्य उसके व्यक्तित्व के विकास को मानता है। वह तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति को अपने कार्यों को करने की तथा अपने विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो। व्यक्ति की इन स्वतन्त्रताओं का समर्थन करने में मिल इस बात की पुष्टि करता है कि नैतिक दृष्टि से परिपक्व व्यक्तित्व वाले मानव को निर्णय की स्वतन्त्रता तथा बलात् रोके जाने की अपेक्षा तुष्टि प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त रहना चाहिए और एक उदार समाज वह है जो व्यक्ति के इस अधिकार को मान्यता देता है और अपनी संस्थाओं को इस रूप में ढालता है कि व्यक्ति को इस अधिकार की प्राप्ति हो सके। दोनों रूपों में मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर समाज के अहित में ही प्रतिबन्ध लगाने की बात को स्वीकार करता है। परन्तु कठिनाई यह है कि व्यक्ति के स्व सम्बन्धी एवं पर सम्बन्धी कार्यों के मध्य स्पष्ट रूप से विभाजन रेखा खींच सकना सरल कार्य नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य के समस्त कार्य किसी न किसी रूप में अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करेंगे ही। यह भी सम्भव है कि व्यक्ति के केवल स्व से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में व्यक्ति को पूर्णतया स्वतन्त्र छोड़ देना स्वयं उसके व्यक्तित्व विकास के लिए बाधक सिद्ध हो सकता है। अतः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ऐसी मान्यता नैतिक दृष्टि से उचित नहीं होगी। परन्तु मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी ऐसी धारणा केवल ऐसे मानवों के बारे में व्यक्त की गयी है जो परिपक्व विचार वाले प्रौढ़ व्यक्ति हैं, न कि बालक या अपरिपक्व विचारों वाले किशोर। साथ ही मिल पिछड़ी जातियों तथा पिछड़े वर्गों के सम्बन्ध में भी ऐसी स्वतन्त्रता की मान्यता को स्वीकार नहीं करता। उनके लिए वह स्वेच्छाचारीतन्त्र का ही समर्थन करता है। इस दृष्टि से मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में समानता की धारणा की उपेक्षा की गयी है। बार्कर ने कहा है कि 'मिल एक 'खोखली स्वतन्त्रता' तथा 'भावात्मवाची व्यक्ति' की धारणा का पैगम्बर रहा, क्योंकि स्वतन्त्रता की परिभाषा को वह 'प्रतिबन्धों का अभाव' मानने से अधिक नहीं बढ़ा सका और साथ ही समाज के आणविक स्वरूप की धारणा से, जिसे उसने बेंथम तथा अपने पिता से प्राप्त किया था, ऊपर नहीं उठा सका।' वह व्यक्ति तथा समाज के मध्य सम्बन्धों का समुचित निरूपण नहीं कर सका। वास्तव में वह समाज के सावयव स्वरूप की धारणा को नहीं मानता था। साथ ही मिल के विचारों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को जहाँ इतना अधिक महत्त्व दिया गया है, वहाँ उसने अधिकारों की धारणा का कोई विवेचन नहीं किया है। जब तक अधिकारों के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा व्यक्त नहीं की जाती तब तक स्वतन्त्रता को खोखला ही कहा जा सकता है। अधिकार सामाजिक सुविधा के द्योतक हैं। मिल ऐसी धारणा की उपेक्षा करता है। समाज व्यक्ति को जिन सुविधाओं को मान्य करे वही अधिकार हो सकते हैं। अप्रतिबन्धित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिकारों की ऐसी धारणा से संगति नहीं रखती। इसलिए मिल द्वारा समर्थित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की धारणा सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से संगति नहीं रखती।

राज्य की उत्पत्ति तथा उद्देश्य—एक उपयोगितावादी विचारक होने के नाते मिल भी बेंथम की भांति राज्य की उत्पत्ति के संविदा सिद्धान्त का विरोधी था। परन्तु वह यह भी नहीं मानता कि राज्य की उत्पत्ति का आधार केवल सुखवादी उपयोगिता है। मिल भौतिकता के स्थान पर मानवों की भावना, चेतना, संवेग आदि के महत्व को भी स्वीकार करता है। वह यह भी मानता है कि राज्य की उत्पत्ति का आधार मानवों की आवश्यकताएँ हैं। मिल न तो राज्य को पूर्णतया एक प्राकृतिक समुदाय मानता है और न मानव के विवेक द्वारा निर्मित संस्था। वह इन दोनों धारणाओं के मध्य का मार्ग अपनाता है। वह राज्य के ऐतिहासिक विकास के सिद्धान्त को भी स्वीकार करता है साथ ही समय समय पर मानवों द्वारा उसमें लाये जाने वाले परिवर्तनों की सत्यता को भी स्वीकार करता है। वह राज्य को केवल एक पुलिस राज्य के रूप में भी नहीं मानता बल्कि मानव के व्यक्तित्व विकास के लिए कुछ दृष्टियों से राज्य के विध्यात्मक स्वरूप को भी स्वीकार करता है। वह यह भी मानता है कि राज्य को नैतिकता की अभिवृद्धि करने के कार्य भी करने चाहिए ताकि ऐसे नागरिकों का निर्माण हो सके जो समाज सेवा की भावना से कार्य करने में तत्पर रहें। जहाँ तक राज्य के कार्यकलापों का सम्बन्ध है मिल राज्यवादी न होकर व्यक्तिवादी था। वह राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में मानता है और उसके कार्य क्षेत्र को सीमित करना चाहता है। अन्य व्यक्तिवादियों की भांति मिल भी राज्य के तीन प्रमुख कार्यों—प्रतिरक्षा, आन्तरिक शान्ति व्यवस्था तथा न्याय को मान्यता देता है। उसका मत है कि राज्य के कार्य क्षेत्र में विस्तार होने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता मर्यादित हो जायगी। परिणामस्वरूप व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सकेगा। मिल की दृष्टि में व्यक्ति साध्य है और राज्य व्यक्ति के सुख की अभिवृद्धि करने तथा उसे पूर्णता प्रदान करने का साधन मात्र है।

शासन—बेंथम की भांति मिल भी राज्य एवं शासन के रूपों, उत्पत्ति, प्रकृति आदि का विश्लेषणात्मक विवेचन नहीं करता जैसा कि पूर्ववर्ती अनेक चिन्तकों ने किया था। शासन के कार्यकलापों के सन्दर्भ में ही वह राज्य व शासन के स्वरूप तथा उत्पत्ति का उल्लेख करता है। शासन के सम्बन्ध में उसका मत है कि एक कुशल शासन आवश्यक रूप में शासन का सर्वोत्तम रूप नहीं है अपितु सर्वोत्तम शासन वह है जो अपने नागरिकों को वास्तविक नागरिक शिक्षा दीक्षा प्रदान करे और शासित वर्ग के गुणात्मक स्वरूप को विकसित कर सके। मिल का यह दृष्टिकोण नैतिकतावादी है। इस आधार पर वह प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र को शासन का सर्वोत्तम रूप मानता है। अपने ग्रन्थ The Representative Government में उसने प्रतिनिध्यात्मक शासन की विविध समस्याओं का विवेचन किया है। प्रतिनिध्यात्मक शासन में समाज के योग्य तथा विवेकशील सदस्यों का सहयोग शासन के कार्यकलापों में प्रत्यक्ष तथा अधिक प्रभावशाली ढंग से प्राप्त की जा सकती है जो कि अन्य शासन-व्यवस्थाओं में सम्भव नहीं है। परन्तु मिल इस बात को नहीं मानता

कि समस्त जन-समूहो के लिए प्रतिनिध्यात्मक शासन-प्रणाली सर्वोत्तम सिद्ध होगी। वह तो तत्कालीन इग्लैण्ड मे भी पूर्णरूप से इस प्रथा को लागू करने मे अनेक कमियाँ देखता था। अत उसने उन्हे दूर करने के सम्बन्ध मे भी अनेक सुझाव दिये हैं। इनमे से प्रमुख सुझाव निम्नांकित हैं—

(क) अल्पसख्यको की समस्या—मिल ने अनुभव किया कि जिस ढग से उस समय प्रतिनिधियो का निर्वाचन होता था उसके परिणामस्वरूप शासन सत्ता पर बहुसख्यक वर्ग का अधिकार हो जाने से अल्पसख्यको के हितो की उपेक्षा होती थी। इसे मिल ने 'बहुसख्यको का अल्पसख्यको पर अत्याचारी शासन' (Tyranny of majority) कहा है। उसका मत है कि शासन सस्थाओ मे जब तक अल्पसख्यक वर्ग का समुचित प्रतिनिधित्व सुनिश्चित नही हो जाता, तब तक यह स्थिति बनी रहेगी। अत मिल ने समानुपाती प्रतिनिधित्व की प्रथा का समर्थन किया है। इसके अनुसार ससद मे बहुसख्यक एव अल्पसख्यक वर्गों का समाज मे अपनी सख्यात्मक स्थिति के अनुसार प्रतिनिधित्व सुनिश्चित रहेगा। यद्यपि शासन सत्ता बहुसख्यको के हाथ मे रहेगी तथापि अल्पसख्यको को आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्राप्त रहने से उन्हे शासन-सम्बन्धी मामलो मे अपनी राय व्यक्त करने का उचित अवसर मिल जायेगा और असमानता की धारणा नही रह पायेगी।

(ख) मताधिकार—यद्यपि बेंथम की भाँति मिल भी मताधिकार को अधिक व्यापक बनाना चाहता है, तथापि वह मताधिकार के लिए शैक्षिक अर्हताओ को वाछनीय मानता है। उसका मत है कि मतदाता को कम से कम पढना-लिखना तथा गणित का सामान्य बोध (knowledge of three R's) अवश्य होना चाहिए। मतदाताओ मे यह क्षमता लाने के लिए राज्य को ऐसी शिक्षा की योजना भी बनानी चाहिए कि सभी मतदाता उक्त योग्यताओ से युक्त हो जायें। मताधिकार की दूसरी अर्हता सम्पत्ति धारण करने तथा सम्पत्ति पर राज्य को कर देने की होनी चाहिए। मिल का तर्क यह है कि जो प्रतिनिधि कर के प्रस्ताव पास करते हैं उनका निर्वाचन आवश्यक रूप से करदाताओ के द्वारा ही किया जाना चाहिए।

मिल ने मतदान प्रणाली के सम्बन्ध मे भी गुरुता के सिद्धान्त को अपनाने पर बल दिया है। इसलिए उसने अधिक शिक्षित तथा उच्च सास्कृतिक योग्यता रखने वाले व्यक्तियो को अधिक मत देने या उनके मत के मूल्य को अधिक मानने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि मिल ने गुप्त मतदान प्रणाली का समर्थन नही किया है। वह मतदान को केवल अधिकार ही नही, अपितु एक सार्वजनिक कर्त्तव्य भी मानता है। अत उसका मत है कि इस कर्त्तव्य का सार्वजनिक रूप से प्रयोग किया जाना चाहिए। गुप्त मतदान स्वार्थ को प्रोत्साहन देता है। मिल की यह धारणा उसके एकपक्षीय विश्वास पर आधारित थी। उसने खुले मतदान के दुष्परिणामो का अनुमान नही लगाया।

मिल ने महिलाओ को पुरुषो के समान नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार दिये जाने के सिद्धान्त का समर्थन किया था। उस युग मे महिलाओ को राजनीतिक जीवन के क्षेत्र मे उपेक्षित रखा जाता था। मिल ने विवेक एव न्याय की दृष्टि से

उनके राजनीतिक अधिकारों की दलील दी। उसे विश्वास था कि महिलाएँ भी योग्यता में पुरुषों से समानता रख सकती हैं, बशर्ते कि उन्हें ऐसे अवसर मिले। सम्भवत मिल ने महिलाओं का इतना पक्ष इसलिए लिया है कि वह श्रीमती टेलर से बहुत प्रभावित था जिसके साथ उसने उसके पति की मृत्यु हो जाने पर 45 वर्ष की आयु मे विवाह किया था।

(ग) ससद तथा शासन—यद्यपि मिल प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र का समर्थक है, तथापि शासन के वास्तविक सचालन मे वह लोकतन्त्र की अपेक्षा कुलीनतन्त्री तत्वों का समर्थन करता है। उसका मत है कि प्रशासनिक कार्य बहुत जटिलताओ से युक्त कार्य है और साधारण जन-प्रतिनिधि उनके सचालन की क्षमता नही रख सकते। इसलिए प्रतिनिध्यात्मक सभा का कार्य शासन करना नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे शासन को नियन्त्रित करना, उसके कार्यकलापो पर दृष्टि रखना, उसकी कमियो तथा गलतियों को प्रकाश मे लाना आदि सामान्य प्रकृति के कार्य करने चाहिए। शासन-सचालन का भार थोडे से योग्य तथा अनुभवी व्यक्तियो पर छोड देना चाहिए जो सिविल सेवा के कर्मचारियो के सहयोग से शासन कार्य सम्पन्न करे, विधि-निर्माण का कार्य करें तथा प्रतिनिधि सभा द्वारा अभिव्यक्त जनमत के अनुसार शासन की नीतियों का निर्माण करें। कानून-निर्माण का कार्य भी प्रतिनिधियों म से नियुक्त एक छोटे आयोग के द्वारा किया जाय, क्योकि सभी प्रतिनिधि कानून की जटिलताओ को समझने की क्षमता नही रखते। इस प्रकार मिल की योजना म ससद शासन के शीर्ष पर जनमत की अभिव्यक्ति करने, शासन की नीतियो तथा सार्वजनिक समस्याओ पर विचार-विनिमय करने, शासन को नियन्त्रण मे रखने तथा उसके कार्यकलापो का अवीक्षण करने का कार्य करेगी। उसके नीचे ससद के कुछ योग्य तथा अनुभवी व्यक्तियो का मन्त्रिमण्डल होगा जो दैनिक प्रशासन का सचालन करायेगा और ससद के प्रति उत्तरदायी होगा। वह विधि-निर्माण तथा नीति-निर्माण का कार्य भी करेगा। विधायन के निमित्त ससद-सदस्यो के आयोग निर्मित किये जायेंगे (इसे आधुनिक समिति प्रथा मे समीकृत किया जा सकता है) स्थायी सिविल सेवा के कर्मचारीगण मन्त्रियो की देख-रेख मे प्रशासन का सचालन करेंगे। उनके कार्यों के ऊपर मन्त्रियों के माध्यम से ससद का नियन्त्रण बना रहेगा।

बेंथम न ससद के सदस्यो के वार्षिक निर्वाचन किये जाने की योजना रखी थी। परन्तु मिल ऐसी व्यवस्था का समर्थन नहीं करता। वह ससद के सदस्यों को वेतन देने की नीति का भी विरोध करता है। इस प्रकार मिल के द्वारा प्रतिपादित प्रतिनिध्यात्मक शासन के सिद्धान्त बेंथम द्वारा आयोजित अनेक शासनिक सुधारो से मेल नही खाते।

मिल के आर्थिक विचार

मिल के आर्थिक विचारो पर उसके नैतिकवादी दर्शन की छाप है। उसका विचार है कि मनुष्य के आर्थिक कार्यकलाप केवल स्वार्थ-हित मे प्रेरित नहीं होते, बल्कि उनका सम्बन्ध अन्य व्यक्तियो तथा समूचे समाज के साथ भी होता है। अत

आर्थिक समस्याओं का ज्ञान सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। मिल व्यक्तिगत सम्पत्ति को एक सामाजिक संस्था के रूप में मानता है जिसका उद्देश्य मानव जाति का हित तथा उत्थान करना है। उसका मत है कि आर्थिक असमानता एक सामाजिक आवश्यकता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उद्देश्य थोड़े से धनी तथा शक्तिशाली वर्गों के द्वारा दीन तथा बहुसंख्यकों का शोषण करना नहीं है। उसकी धारणा यह भी थी कि भू-सम्पत्ति के स्वामित्व का नियमन समाज के सामान्य हित की दृष्टि से राज्य के द्वारा किया जाना चाहिए। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में मिल के आर्थिक विचार व्यक्तिवादी अधिक थे। बाद के वर्षों में उसका झुकाव समाजवाद की ओर होने लग गया। उसकी सहानुभूति श्रमिक वर्ग के प्रति होने लग गयी थी।

यद्यपि मिल को समाजवादी कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि कट्टर समाजवादियों की भाँति वह भू-सम्पत्ति के समाजीकरण का समर्थन नहीं करता, तथापि समाजवाद की अनेक अच्छाइयों का उसने स्वागत किया है। डेविडसन ने कहा है कि सामान्यतया मिल ऐसे समाजवाद को स्वीकार नहीं करता जोकि व्यक्ति को समाज में विलीन कर देता है, और वह प्रतियोगिता का विरोध करने वाली समाजवादी धारणा को भी नहीं अपनाता।' वह व्यावसायिक संघवाद का समर्थक है। उसने राजनीतिक उदारवाद को आर्थिक समाजवाद के साथ संयुक्त करने का प्रयास किया। उसकी समाजवादी धारणाओं का उद्देश्य ऐसा व्यक्तिगत कल्याण है, जिसमें समाज-कल्याण की भावना भी निहित है।

मिल के विचारों का मूल्यांकन

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में जॉन स्टुअर्ट मिल को किसी एक विशिष्ट विचारधारा का प्रतिपादक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह एक उपयोगितावादी, व्यक्तिवादी, लोकतन्त्रवादी और यहाँ तक कि एक समाजवादी भी है। यद्यपि वह अपने को सदैव उपयोगितावादी कहता रहा और इसका मुख्य कारण उसकी बेंथम के प्रति निष्ठा, स्वयं उसके पिता द्वारा उसे उपयोगितावाद की दिशा में शिक्षित करना आदि थे, तथापि मिल ने बेंथम के उपयोगितावाद में जो संशोधन किये थे, उनके कारण उसने उपयोगितावादी दर्शन को ही बदल दिया था। 'स्वतन्त्रता' पर लिखी गयी उसकी रचना के विचारों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का जोरदार समर्थन किया है। इसीलिए उसे अपने युग का महानतम व्यक्तिवादी विचारक माना जाता है। प्रतिनिध्यात्मक शासन की कमियों को दूर करने के निमित्त उसने जो सुझाव दिये हैं, उनके कारण उसने लोकतन्त्र को अधिक प्रभावशाली बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उसके आर्थिक विचार उसे समाजवाद का समर्थक माने जाने में भी कोई सन्देह नहीं रखते, उसका नैतिकवाद राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में उदार आदर्शवाद का द्योतक है। इस दृष्टि से मिल के राजनीतिक विचारों का पर्याप्त महत्त्व है। उसके विचारों ने न केवल तत्कालीन राजनेताओं को ही प्रभावित किया, बल्कि भविष्य के राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार के निमित्त भी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की।

मिल को स्वतन्त्रता का महानतम समर्थक माना जाता है। इस धारणा का प्रतिपादन करने में वह मिल्टन, रूसो, वोल्टेयर आदि का समकक्ष है। उसकी रचना "ऑन लिबर्टी" राजनीतिक साहित्य के क्षेत्र में एक अनुपम रचना सिद्ध हुई है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थकों के लिए यह रचना एक प्रामाणिक शास्त्र के रूप में मानी जाती है। यद्यपि मिल लोकतन्त्र पर पूर्ण विश्वास नहीं रखता, तथापि लोकतन्त्र के समर्थन में अन्य किसी अंग्रेज लेखक ने इतना अधिक साथ नहीं दिया जितना कि मिल ने दिया है। लोकतन्त्र के दोषों का स्पष्टीकरण करने में तथा उनको दूर करने के सुझाव देने में मिल का कोई सानी नहीं रखता। उसने स्पष्टतया बताया है कि लोकतन्त्र सब जन-समूहों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता, परन्तु जहाँ वह सम्भव है वहाँ इससे अधिक उत्तम अन्य कोई व्यवस्था नहीं हो सकती।

प्रभाव—यद्यपि मिल की राजनीतिक विचारधारा एक क्रमबद्ध राज्य-सिद्धान्त नहीं बन सकी, उसमें एकरूपता तथा सम्बद्धता का अभाव है, और उसकी कई धारणाएँ असंगतिपूर्ण भी लगती है, तथापि उसके विचारों में पर्याप्त स्पष्टता है। उसने बेंथम के दर्शन की कमियों को दूर किया और उपयोगितावाद को अधिक नैतिक रूप प्रदान किया। उसके नैतिकवाद तथा उदारवाद से इग्लैण्ड के प्रसिद्ध आदर्शवादी चिन्तक ग्रीन को भी प्रेरणा मिली। ब्रिटिश विकासवादी समाजवाद की धारणाओं पर भी मिल का प्रभाव स्पष्ट है, भले ही मिल स्वयं एक समाजवादी चिन्तक नहीं था। यद्यपि लोकतन्त्र की अनेक संस्थाओं के सम्बन्ध में मिल के विचार बहुत संगतिपूर्ण नहीं हैं, यथा गुप्त मतदान का विरोध, आनुपातिक प्रतिनिधित्व को बल देना, मतदान के लिए शैक्षिक तथा सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता को महत्त्वपूर्ण मानना आदि, तथापि इन सुधारों की योजना के व्यावहारिक महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। व्यवहार में वही सब होता है जो मिल ने बताया था। इस दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के अग्रज राजनीतिक चिन्तकों में मिल का स्थान सबसे प्रमुख विचारकों की श्रेणी में आता है।

तेरहवाँ अध्याय

जी० डब्लु० एफ० हीगल

(1770 ई० से 1831 ई०)

परिचयात्मक

उन्नीसवीं सदी मे प्रत्ययवाद का विकास—राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे सत्रहवी शताब्दी तथा अट्ठारहवी शताब्दी मे प्रमुख चिन्तक इग्लैण्ड के हॉब्स, लॉक, ह्यू म, बर्क आदि थे। इनके राजनीतिक दर्शन मे विवेकवाद के साथ-साथ व्यक्तिवाद तथा भौतिकवाद की प्रवृत्ति भी थी। अट्ठारहवी सदी मे फ्रास का विचारक मॉण्टेस्क्यू बुद्धिवादी विचारक है, जबकि उसी युग मे रूसो ने बुद्धिवाद की अपेक्षा सवेगवादी विचारधाराओ का प्रतिपादन किया। रूसो की राजनीतिक विचारधाराएँ भविष्य की अनेक विचारधाराओ के लिए प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुईं। अट्ठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध से इग्लैण्ड मे बैंथम, मिल, ऑस्टिन आदि के विचारो मे भौतिकतावादी उपयोगितावाद का आरम्भ हुआ। इस प्रकार उन्नीसवी सदी के राजनीतिक चिन्तन मे विविध प्रकार की प्रवृत्तियो का विकास होने लगा था। विवेकवाद, बुद्धिवाद, भौतिकतावाद, व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद आदि के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे उन्नीसवी सदी मे जर्मनी तथा इग्लैण्ड के कुछ राजनीतिक चिन्तको ने राजनीतिक चिन्तन मे प्राचीन यूनानी प्रत्ययवादिता की प्रवृत्ति अपनाना प्रारम्भ किया। इन लोगो के मत से राजनीतिक दर्शन विशुद्धतया नैतिकता का दर्शन है। राज्य एक नैतिक सस्था या विचार है जिसका उद्देश्य व्यक्ति को उत्तम नैतिक जीवन प्रदान करना है। वह केवल मात्र व्यक्तियो द्वारा कुछ निश्चित उद्देश्यो (अपने प्राकृतिक अधिकारो की रक्षा) के लिए निर्मित कृत्रिम समुदाय नही है, अपितु वह एक नैसर्गिक समुदाय है और व्यक्ति राज्य का एक अभिन्न अग है। राज्य का स्वरूप सावयविक है। व्यक्ति अपने जीवन की पूर्णता को तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह राज्य का अभिन्न अग बना रहे। राज्य से पृथक् या उसके विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नही होते। राज्य के ऐसे नैतिक तथा सावयविक स्वरूप की धारणा को मानने मे यह विचारक रूसो के विचारो से प्रभावित हुए थे। ये लोग राज्य की धारणा को एक प्रत्यय या विचार के रूप मे व्यक्त करते थे। अत, इन्हे प्रत्ययवादी या साधारण भाषा मे आदर्शवादी कहा जाता है।

आदर्शवाद के दो रूप तथा दो शाखाएँ—जर्मनी तथा इग्लैण्ड के इन आदर्शवादी या प्रत्ययवादी चिन्तको को दो श्रेणियो मे वर्गीकृत किया जाता है—

(1) जर्मनी या इग्लैण्ड के आदर्शवादी, तथा (2) उग्र या उदार आदर्शवादी। प्रथम श्रेणी में काट, फिक्टे तथा हीगल जर्मनी के और ग्रीन ब्रैडले तथा बोसांके इंग्लैण्ड के प्रमुख चिन्तक थे। इनमे से फिक्टे, हीगल तथा बोसांके को उग्र आदर्शवादियों की श्रेणी में तथा काट, ग्रीन और ब्रैडले को उदार आदर्शवादियों की श्रेणी मे रखा जाता है। गैटल ने कहा है कि 'जर्मनी का आदर्शवादी दर्शन अट्ठारहवी सदी के उत्तरार्ध की बुद्धिवादी भौतिकता से युक्त विवेकवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे था।' इसी प्रकार कोकर का मत है कि 'इग्लैण्ड के आदर्शवादी दर्शन का उद्भव व्यक्तिवादियों के प्रकृतिवादी तथा उपयोगितावादी यथार्थवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ।' जर्मन आदर्शवाद की अभिव्यक्ति हीगल के विचारों म तथा ब्रिटिश आदर्शवाद की अभिव्यक्ति ग्रीन के विचारो म मिलती है। अत राजनीति मे उन्नीसवी सदी के आदर्शवादी चिन्तन के स्वरूप का ज्ञान करने के लिए इन दोनो चिन्तकों की विचारधाराओ का ज्ञान आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय म हीगल के, तथा अगले अध्याय मे ग्रीन के विचारों का विवेचन किया गया है।

हीगल का जीवन परिचय—हीगल का जन्म दक्षिण जर्मनी म एक साधारण स्थिति के सिविल सेवा के कर्मचारी के घर हुआ था। परन्तु उसकी शिक्षा यथेष्ट ढग से हुई। वह इतिहास, दर्शन तथा तर्कशास्त्र का एक उत्तम विद्यार्थी सिद्ध हुआ। अपनी युवावस्था के प्रारम्भ म हीगल को फ्रासीसी क्रान्ति के विचारो तथा घटनाओ का प्रभावकारी अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला था। प्रारम्भ मे उसने इस क्रान्ति को उचित माना, परन्तु अपने जीवन के बाद की अवधि म वह इससे घृणा करने लगा था। 1800 ई० के लगभग हीगल जेना क विश्वविद्यालय मे दर्शनशास्त्र का अध्यापक नियुक्त हुआ। वहीं से उसने अपने ग्रन्थो की रचना प्रारम्भ की। इन रचनाओं के कारण हीगल को एक दार्शनिक के रूप मे पर्याप्त ख्याति प्राप्त हो गई। 47 वर्ष की आयु मे वह हिडिलबर्ग के विश्वविद्यालय मे दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। वहाँ से वह बर्लिन के विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर बन गया। कालान्तर में उसने एक राजकीय दार्शनिक कहलाये जाने की स्थिति प्राप्त कर ली। अनेक राज्यो के शासक उसे अपना दार्शनिक मार्गदर्शन कराने को आमन्त्रित करने लगे। वह उन्हे सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक राजनीति का ज्ञान कराने लगा। इस प्रकार वह अपने युग का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक, इतिहास-वेत्ता, तथा राजनीतिक चिन्तक सिद्ध हो गया।

प्रेरणा स्रोत—हीगल के दर्शन को भली प्रकार समझ सकना सरल बात नहीं है। उसके तर्क तथा निष्कर्ष अत्यन्त भावना-मूलक एव दार्शनिकता से युक्त हैं। उसके राजनीतिक विचार मुख्यतया प्लेटो तथा रूसो के दर्शन से प्रभावित थ। परन्तु जहाँ तक राजनीतिक व्यवहार का सम्बन्ध है हीगल जर्मनी के सम्बन्ध म वही स्वप्न देखता था जो मैकियावेली इटली के बारे मे तथा लुई का सरक्षक रिशल्यू फ्रास के बारे म देखते रहे थ। रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को हीगल ने राष्ट्र की चेतना का रूप दिया और राज्य के सावयव स्वरूप का सर्वोत्तम आदर्श प्रस्तुत करके राजनीतिक चिन्तन को आधुनिक स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की।

काट तथा फिक्टे के विचारो को अपनाकर उन्हे अपने दर्शन मे विकसित करके उसने जर्मन आदर्शवादी राजनीतिक चिन्तन को पराकाष्ठा कर दी। हीगल की प्रमुख रचनाए 'फिनोमिनोलोजी ऑव स्पिरिट (1807)', 'साइन्स ऑव लॉजिक', 'फिलासफी आव राइट (1821)' तथा 'फिलासफी ऑव हिस्ट्री' हैं।

विचार-पद्धति (द्वन्द्ववाद)

द्वन्द्ववाद का अर्थ तथा विकास क्रम—हीगल के राजनीतिक दर्शन का केन्द्रीय तत्व उसका द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त है। द्वन्द्व का अर्थ है तर्कसम्मत विचार-विमर्श। हीगल ने इस सिद्धान्त को विकास की प्रक्रिया मे लागू किया। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व सदैव समान रूप स स्थिर नही रहता, अपितु उसमे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। इस प्रक्रिया में वस्तुओ के स्वरूप पहले की अपेक्षा बदलकर विरोधी अथवा बिल्कुल नये रूप मे आ जाते हैं। इस सबका कारण दैवी विवेक है, जो समस्त विश्व का नियन्ता है। इसे हीगल प्रत्यय (Idea) या चेतना (Spirit) या दैवी विवेक (Divine Mind) कहता है। हीगल का मत है कि समस्त सावयविक प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक होती है, वास्तविकता सावयविक प्रक्रिया है, इसका अस्तित्व चेतना (Geist) मे होना है। यही निरपेक्ष सत्य या वास्तविकता है, क्योकि इसका आधार विवेकमूलक है। हीगल का कथन है कि 'जो विवेक मूलक है वही वास्तविक है और जो वास्तविक है वही विवेकमूलक है' (The rational is real and the real is rational)। इस प्रकार चेतना (Spirit or Geist) या दैवी विवेक या प्रत्यय ही वास्तविकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मानव विकास की क्रिया द्वन्द्वात्मक है। इतिहास का प्रत्येक युग यह दर्शाता है कि उसकी विशेषता उस युग की समस्त सस्थाओ (धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक, सास्कृतिक आदि) का सम्मिश्रण होती है। यदि इनमे परिवर्तन होता है, तो वह समूचे युग का परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन को लाने मे मानवो या घटनाओं का योगदान नहीं रहता, अपितु यह प्रक्रिया दैवी विवेक के निदेशन मे द्वन्द्वात्मक पद्धति से चलती है जो वास्तविक है और जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योकि वह सत्य है।

द्वन्द्ववाद के तीन चरण—परिवर्तन की इस द्वन्द्वात्मक पद्धति का क्रम निश्चित होता है। उसी के फलस्वरूप विकास होता रहता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस क्रम मे तीन चरण होते हैं—वाद, प्रतिवाद तथा सवाद। हीगल के मत से कोई भी निवर्तमान व्यवस्था या विचार स्वय पूर्ण नही होता। द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया मे उसे वाद (thesis) कहा जाता है। अपनी अपूर्णता के कारण उसमे स्वय अन्तर्विरोध उत्पन्न होने लगता है। परिणामस्वरूप उसका परिवर्तित स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसे प्रतिवाद (anti-thesis) की सज्ञा दी जाती है। प्रतिवाद म भी स्वय पूर्णता नही होती और उसमे भी अन्तर्विरोध उत्पन्न होने स एक नयी व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। यह नयी व्यवस्था वाद तथा प्रतिवाद के दोषो से रहित परन्तु उनके गुणो से युक्त होती है। इसे सवाद (synthesis) कहा जाता है। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था के क्षेत्र म अमर्यादित

राजतन्त्र का अन्तर्विरोध उसे स्वच्छाचारीतन्त्र में तथा अमर्यादित लोकतन्त्र का अन्तर्विरोध उसे अराजकता में बदल देता है। अब यदि अमर्यादित लोकतन्त्र वाद है तो अमर्यादित राजतन्त्र प्रतिवाद। इन दोनों व्यवस्थाओं का संश्लेषण (संवाद) मर्यादित राजतन्त्र है जिसमें राजतन्त्र तथा लोकतन्त्र दोनों के अच्छे तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार हीगल कला को वाद धर्म को प्रतिवाद तथा दर्शन को संवाद कहता है। सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में भी हीगल ने इस सिद्धान्त को लागू किया है। उसकी धारणा यह थी कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अपनी इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप वह आरम्भिक सामाजिक इकाई परिवार का सदस्य रहता है। परिवार 'वाद' है। परिवार मानव को जीवन का पूर्णत्व प्रदान कर सकने में असमर्थ है अतः उसके 'प्रतिवाद' के रूप में नागरिक समाज की उत्पत्ति होती है। यह समाज भी व्यक्ति को पूर्णता प्रदान नहीं कर पाता। उसमें अनेक अन्तर्विरोध तथा कमियाँ हैं। उसके बाद राज्य की सृष्टि होती है जो व्यक्ति को पूर्णता से युक्त जीवन प्रदान कराने की सामर्थ्य रखता है और परिवार तथा नागरिक समाज के गुणों से युक्त होता है। द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के अनुसार हीगल का मत है कि वाद प्रतिवाद तथा संवाद की प्रक्रिया संवाद में समाप्त नहीं हो जाती। कालान्तर में संवाद स्वयं एक 'वाद' बन जाता है और पुनः उसके प्रतिवाद तथा संवाद की प्रक्रिया जारी रहती है। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है जिसका आधार तार्किक विवेक अर्थात् द्वन्द्ववाद है।

राज्य सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति—हीगल की राज्य सम्बन्धी समस्त धारणाएँ उसके द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त पर आधारित है। वह न तो अरस्तू की भाँति मनुष्य को स्वभावतः राजनीतिक प्राणी मानते हुए राज्य को एक नैसर्गिक संस्था मानता है और न सत्रहवीं तथा अट्ठारहवीं सदी के विचारकों की भाँति राज्य की उत्पत्ति के संविदागत स्वरूप को ही स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में राज्य मानव की सामाजिकता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया में परिवार तथा नागरिक समाज का विकसित रूप है। चूँकि इस प्रक्रिया में दैवी विवेक कार्य करता है, अतः राज्य की उत्पत्ति दैवी है। हीगल के अनुसार, प्राकृतिक स्थिति में मानव जीवन अन्याय, हिंसा तथा अमानवीय एवं अप्राकृतिक ढंग के संवेगों से युक्त था परन्तु इन कठिनाइयों से बचने के लिए लोगों ने संविदा द्वारा राजनीतिक संगठन का निर्माण नहीं किया। उस काल में मानव पृथक् व्यक्तियों के रूप में नहीं रहते थे बल्कि वे समूहों में रहा करते थे। राज्य या राजनीतिक संगठन का निर्माण विकास की दीर्घकालीन प्रक्रिया द्वारा हुआ। इस विकास क्रम में पहले निम्न प्रकार के संगठन थे। बाद में द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया द्वारा उच्चतर संगठन बनते गये। अतः परिवार नागरिक समाज तथा राज्य का निर्माण वाद प्रतिवाद तथा संवाद के रूप में हुआ। इस प्रक्रिया में दैवी चेतना या सार्वभौम विवेक कार्य करता रहा है।

स्वरूप—हीगल राज्य की उत्पत्ति को दैवी नहीं मानता प्रत्युत उसकी दृष्टि

से राज्य का स्वरूप ही दैवी है। वह दैवी चेतना से युक्त तथा पूर्णरूपेण विवेकमय है। यह उस सामान्य इच्छा की प्रतिमूर्ति है, जो सब व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा है। यह पृथ्वी में 'ईश्वर का प्रयाण' है (It is the march of God on earth)। राज्य की अपनी पृथक् इच्छा तथा व्यक्तित्व होते हैं, जिनमे व्यक्ति की इच्छा तथा व्यक्तित्व विलीन हैं। अत व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अस्तित्व राज्य का सदस्य होकर ही रह सकता है। राज्य से बाहर या राज्य के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता या अधिकारो की कोई कल्पना नही की जा सकती। अत राज्य सर्व-शक्तिमान (omnipotent) है। व्यक्ति पूर्णतया उसके अधीन है। इसलिए हीगल की दृष्टि मे राज्य स्वय साध्य है और व्यक्ति साधन मात्र है।

सावयव स्वरूप—राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे हीगल सावयव सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या करता है। राज्य की स्वय अपनी इच्छा और व्यक्तित्व का होना जिसमे कि उसके निर्माणकारी व्यक्तियो की इच्छा तथा व्यक्तित्व विलीन हैं, यह दर्शाता है कि राज्य का स्वरूप सावयविक है। राज्य सावयव तथा जीव-सावयव मे सादृश्य केवल यान्त्रिक ही नही, अपितु नैतिक भी है। हीगल के अनुसार, 'राज्य मे रहकर मनुष्य अपने बाह्य स्व को अपनी अन्तरात्मा के विचारो के स्तर तक पूर्णतया विकसित कर लेता है।[1] 'वह अपने समस्त नागरिको की सामाजिक नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता है और उसे अपने मे अन्तर्भूत करता है।'[2] इस दृष्टि से व्यक्तियो के पारस्परिक नैतिक सम्बन्ध भी राज्य मे विलीन हो जाते हैं। समस्त मानव सघास (परिवार, निगम, श्रेणी तथा समाज सभी) राज्य की सत्ता के अधीन हैं। इस प्रकार हीगल की धारणा का राज्य एक सावयव है और राज्य के निर्माणकारी समस्त व्यक्ति तथा समुदाय उसके ऐसे अवयव हैं जो सम्पूर्ण से पृथक् अपना कोई अस्तित्व नही रख सकते। इसलिए उन्हे सम्पूर्ण के हित मे ही अपना हित समझना चाहिए। अत व्यक्ति परिवार तथा समाज को पूर्णतया राज्य की सत्ता के अधीन रहना चाहिए। राज्य समस्त व्यक्तियो तथा समुदायो का समस्त के साथ एक रहस्यमय सम्मिश्रण है जो स्वय सबसे श्रेष्ठ तथा वास्तविक है। उसकी तुलना मे व्यक्ति तथा समुदाय नगण्य हैं।

शासन विधान—राज्य के सविधान तथा शासन का वर्गीकरण एव अगो का विवेचन करने मे भी हीगल द्वद्ववाद के सिद्धान्त का अनुगमन करता है। उसकी दृष्टि मे आन्तरिक सार्वजनिक कानून 'वाद', बाह्य सार्वजनिक कानून 'प्रतिवाद', तथा सार्वभौम कानून 'सवाद' है। राज्य स्वय इन कानूनो की अभिव्यक्ति करता है, अत वह व्यक्तिगत तथा सार्वभौम इच्छा का सश्लेषण है। शासनो का विवेचन करने मे हीगल राज्य के आन्तरिक सार्वजनिक कानून की ही व्याख्या करता है। शासन के अगो के सम्बन्ध मे उसका मत है कि वह विधायी, प्रशासकीय (जिसमे न्यायिक भी शामिल हैं) तथा राजतन्त्रात्मक तीन प्रकार के होते हैं। इनमे राजतन्त्रात्मक अग

[1] 'In the state man has fully raised his outward self to the level of his inward self of thought' —Hegel

[2] 'The state contains within itself and represents the social morality of all its citizens' —Hegel.

सबसे महत्त्वपूर्ण है। विधायी अंग 'वाद', प्रशासकीय अंग 'प्रतिवाद', तथा राजतन्त्रात्मक अंग इनका 'संवाद' है। राज्य की राजतन्त्रात्मक शक्ति विधायी तथा प्रशासकीय शक्तियों को भ्रष्ट होने से रोकती है। सरकारों के परम्परागत वर्गीकरण (राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र) का उल्लेख हीगल केवल वैधानिक राजतन्त्र के समर्थन में करता है। उसका मत है कि वैधानिक राजतन्त्र इसलिए सर्वोत्तम व्यवस्था है कि वह उपर्युक्त परम्परागत तीनों रूपों को अपने में सम्मिलित करता है। इसमें शासक एक के तत्त्व का और प्रशासन (कार्यपालिका) कुछों के तत्त्व का तथा व्यवस्थापिका बहुतों के तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। व्यवस्थापिका अंग राज्य की सार्वभौमिकता के तत्त्व का सूचक है। इसका कार्य सामान्य कानूनों की व्यवस्था करना है। कार्यपालिका या प्रशासनिक अंग राज्य की विशिष्टता का प्रतिनिधित्व करता है अर्थात् यह उन सामान्य कानूनों को विशेष मामलों में लागू करता रहता है और राजतन्त्रात्मक अंग प्रथम दोनों अंगों का अधीक्षण करता है। हीगल वैधानिक राजतन्त्र को सर्वोत्तम तथा पूर्णता प्राप्त शासन व्यवस्था मानता है। उसके मत में यह विकसित विवेक का संविधान है, जबकि अन्य रूप विकास क्रम की निम्नतर श्रेणियों के होते हैं।

निरंकुशतावाद—हीगल के अनुसार राज्य की सम्प्रभु शक्ति सम्पूर्ण जनता के हाथ में केवल एक दार्शनिक धारणा के रूप में रहती है। परन्तु व्यवहार में राज्य की सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग शासक (monarch) करता है क्योंकि शासक के अभाव में जनता केवल एक असंगठित जन समूह मात्र होगी। हीगल के मत से शासन में लोकतन्त्रात्मक तत्त्व का प्रतिनिधित्व पृथक व्यक्तियों द्वारा नहीं होना चाहिए बल्कि विविध वर्गों तथा हितों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। उसकी यह धारणा व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का समर्थन करती है। परन्तु शासन के सम्बन्ध में हीगल पूर्णतया शासक के अधिनायकतन्त्र का समर्थक है। उसकी सांविधानिक व्यवस्था में सम्प्रभु शक्ति का केन्द्रीयकरण राजा के हाथ में होता है और वहीं से शक्ति शनैः शनैः निम्नतर स्तरों की ओर संक्रमित होती है। राजा दैवी विवेक या प्रत्यय का रूप है। संक्षेप में हीगल की धारणा का राजा भी पूर्णता प्राप्त दैवी मानव है।

स्वतन्त्रता

विध्यात्मक स्वतन्त्रता की धारणा—स्वतन्त्रता की धारणा को व्यक्तिवादी विचारकों ने इस रूप में रखा था कि उसके कारण राज्य की सत्ता पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की अत्यधिक मर्यादा लग जाती थी। परन्तु राज्यवादी हीगल के लिए ऐसा दृष्टिकोण अपनाना सम्भव नहीं था, क्योंकि वह राज्य को सर्वोच्च, सर्वश्रेष्ठ एवं दैवी स्वरूप की संस्था मानता है। उसके मत से 'राज्य के अभाव में वास्तविक स्वतन्त्रता हो ही नहीं सकती (Nothing short of state is the actualisation of freedom)। चूंकि राज्य अपनी स्वयं की इच्छा तथा व्यक्तित्व का धारण करने वाला है जिसमें व्यक्तियों तथा संस्थाओं की इच्छाएँ तथा व्यक्तित्व विलीन हो जाते हैं अतः व्यक्ति तथा संस्थाओं की वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों का पालन करने में ही निहित है। राज्य विश्वात्मा का पूर्ण रूप है और व्यक्ति उसका एक अपूर्ण अंग।

अत राज्य का कार्य व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करना है। व्यक्ति के लिए इसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जबकि वह राज्य के आदेशों का पालन करे। राज्य की इच्छा या आदेशो के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा के अस्तित्व को मान्यता देन का अर्थ होगा व्यक्ति की अविवेकपूर्ण, पाशविक तथा स्वार्थी प्रवृत्ति को मान्यता देना, क्योंकि व्यक्ति अपूर्ण है। यदि व्यक्ति को ऐसी स्वतन्त्रता प्राप्त रहेगी तो वह अपनी अपूर्णता के कारण विश्वात्मा के साथ एकात्म्य स्थापित नही कर सकेगा और न ऐसी स्वतन्त्रता वास्तविक होगी। इस दृष्टि से हीगल स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे व्यक्तिवादी नकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा को अमान्य करके विध्यात्मक स्वतन्त्रता की धारणा का समर्थन करता है। उसके मत से राज्य के आदेश व्यक्ति को वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान करने का लक्ष्य रखते हैं। व्यक्ति को राज्य के आदेशो का पालन इसलिए नही करना चाहिए कि उनका पालन न करने से उसे दण्ड मिलेगा, बल्कि इसलिए करना चाहिए कि उनका पालन करने मे ही उसका हित है। अत राज्य के कानूनो का पालन व्यक्ति किसी भय से नही करेगा, बल्कि उसमे अपना हित देखकर स्वतन्त्रतापूर्वक करेगा। यह विध्यात्मक स्वतन्त्रता है। इस दृष्टि मे हीगल का दृष्टिकोण रूसो से मिलता-जुलता है और लॉक के द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति के अलध्य प्राकृतिक अधिकारो तथा स्वतन्त्रता की धारणा के विरुद्ध है।

स्वतन्त्रता, कानून तथा नैतिकता—हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा के विषय मे प्रोफेसर जाड ने लिखा है कि 'वास्तविक स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम कानून मे होती है दूसरे, आन्तरिक नैतिकता के उन नियमो मे होती है जिन्हें व्यक्ति समाज से प्राप्त करता है, और तीसरे, समाज की सस्थाओ तथा प्रभावो की उस सम्पूर्ण पद्धति मे होती है जो व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक है।'[1] अत राज्य से पृथक् स्वतन्त्रता की कल्पना नही की जा सकती। राज्य के अन्तर्गत भी व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग राज्य के कानूनो का पालन करके तथा राज्य द्वारा निर्देशित सामाजिक नैतिकता के नियमो का पालन करके ही कर सकता है। राज्य समस्त व्यक्तियो की इच्छाओ का प्रतिनिधित्व करना है, क्योंकि व्यक्तियो ने समाज की सदस्यता स्वीकार करने का सकल्प किया है। सामान्य इच्छा या राज्य का व्यक्तित्व राज्य के समस्त व्यक्तियो की इच्छाओ तथा व्यक्तियो का योगफल मात्र न होकर उनमे श्रेष्ठ है। अत 'सामान्य इच्छा के आधार पर सम्पन्न होने वाले राज्य के कार्य सदैव निष्पक्ष रूप से सही होने चाहिए, क्योंकि वे उन तत्वो का प्रतिनिधित्व करते है जो व्यक्तिगत इच्छाओ मे से सर्वोत्तम हैं।'[2] इस प्रकार राज्य एक आत्म चेतनायुक्त नैतिक व्यक्तित्व है जो स्वय सवज्ञ तथा स्व-वास्तविक

[1] 'Real freedom manifests itself first in law, secondly, in the rule of inward morality which the individual receives from the society, and thirdly, in the whole system of social institutions and influences that make for the development of personality'—C E M Joad

[2] 'The actions of the state in so far as they proceed from the General Will must always be irreproachably right in the sense that they represent what is best in individual wills'—Joad

व्यक्ति (a self conscious ethical substance and a self knowing and self actualising individual) है।

हीगल की स्वतन्त्रता की धारणा में विरोधाभास- -जोड ने हीगल की इस धारणा के अन्तर्गत तीन विरोधाभासो का उल्लेख इस प्रकार किया है—

(1) 'राज्य कभी अप्रतिनिध्यात्मक रूप मे कार्य नही कर सकता अर्थात यदि किसी अपराधी को राज्य की पुलिस बन्दी कर और न्यायालय दण्ड दे तो उनके ऐसे आचरण म अपराधी की स्वतन्त्रता बनी रहेगी क्योंकि पुलिस तथा न्यायाधीश अपराधी की वास्तविक इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हुए ही यह कार्य करते हैं।

(2) 'जिन सम्बन्धों के द्वारा व्यक्ति राज्य म एक दूसरे के साथ तथा समग्र रूप म राज्य के साथ बँध रहते हैं व व्यक्ति के व्यक्तित्व क अभिन्न अग है अर्थात राज्य का अभिन्न अग रहकर ही व्यक्ति का विकास सम्भव है। बोसाके के मत म यदि राज्य मे कभी व्यक्ति क्रान्ति करते हैं तो इसका यह अर्थ हुआ कि ऐसी स्थिति मे राज्य स्वय अपने ही विरुद्ध विभक्त हो जाता है।

(3) 'राज्य अपन समस्त नागरिको की सामाजिक नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता है और उसे अपन म अन्तर्गत रखता है अर्थात व्यक्तियो के व्यक्तित्वों की भाँति उनके पारस्परिक नैतिक सम्बन्ध भी राज्य म विलीन हो जाते हैं। बोसाके का निष्कर्ष है कि ऐसा विश्वास नही किया जा सकता कि राज्य इस रूप म चोरी या हत्या कर सकता है जिस रूप मे नैतिकता उन्हे अपराध कहती है।

इस प्रकार नैतिकता तथा स्वतन्त्रता के नाम पर हीगल राज्य की निरकुश सत्ता के सिद्धान्त का समर्थन करता है और व्यक्ति को पूर्णतया राज्य की कृपा पर छोड देता है।

युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीयता

उग्र राष्ट्रवाद का समर्थक—हीगल राष्ट्रीय राज्यो के युग का विचारक होने के साथ-साथ स्वय भी एक कट्टर उग्र राष्ट्रवादी था। उसका पूर्ववर्ती जर्मन आदर्शवादी काट अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का समर्थक एव युद्ध विरोधी था। परन्तु हीगल के ऊपर काट की इस धारणा का कोई प्रभाव नही है। हीगल की दृष्टि म राष्ट्रीय राज्य ही विश्वात्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति है न कि सार्वभौम मानवता जोकि असगठित जन समूह है। उसका विश्वास था कि किसी एक समय म केवल एक ही राष्ट्र परमात्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति का द्योतक हो सकता है। राष्ट्रो के मध्य युद्ध दैवी विधान के विरुद्ध नही है। विविध राष्ट्रीय राज्यो म से कौन वास्तविक है, इसका निर्धारण युद्ध ही कर सकता है क्योंकि युद्ध ही किसी राष्ट्र की नैतिक शक्ति तथा उसम निहित चेतन आत्मा का दर्शाता है। अत राष्ट्रो के मध्य युद्ध उसी प्रकार अवश्यम्भावी होते हैं, जिस प्रकार समुद्र म तूफान। युद्ध एक बुराई हो सकता है, परन्तु यह निरपेक्ष बुराई नही है। यदि राष्ट्र के हित म युद्ध किया जाय तो वह औचित्यपूर्ण है। विविध राष्ट्रो के मध्य विजेता राष्ट्र ही विश्वात्मा का अभिकर्ता होता है।

हीगल राष्ट्रीय युद्धों की अपरिहार्यता तथा उनके औचित्य का समर्थक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, व्यवस्था एव कानून की धारणा पर विश्वास नही करता। उसका मत है कि सम्पूर्ण मानवता एक सगठित समाज का निर्माण नही करती। अत वह एक नैतिक सावयव नहीं बन सकती। वास्तविक नैतिकता सामाजिक नैतिकता है जो एक सगठित राज्य मे ही पाई जा सकती है। यदि एक राज्य दूसरो के साथ कोई सन्धि करता है तो उसे मानने के लिए वह कानूनी या नैतिक किसी भी दृष्टि से बाध्य नही है। अत अन्तर्राष्ट्रीय कानून जैसी किसी व्यवस्था को हीगल ने अमान्य किया है।

नैतिकता तथा न्याय

हीगल द्वारा समर्थित सर्वसत्ताधारी राज्य ही नैतिकता का अभियता है। हीगल प्राकृतिक विधि, दैवी विधि या मानव विवेक सदृश किसी भी नैतिक धारणा को राज्य की सत्ता के विरुद्ध मान्यता नही देता। राज्य की सत्ता के ऊपर उपर्युक्त कोई भी मर्यादाएँ नही हो सकती। राज्य स्वय नैतिक सस्था है। वह स्वय निर्णय करता है कि कौनसी बात नैतिक है और कौनसी नही। व्यक्ति विशेष का अन्त करण इसका निर्णायक नही हो सकता, क्योकि व्यक्ति अपूर्ण है और उनके मध्य एकमत का अभाव रहता है। चूंकि राज्य समस्त व्यक्तियो के अन्त करण का प्रतिनिधित्व करता है, अत वही नैतिकता का निर्धारण करने का अधिकारी है। यदि राज्य मे कोई व्यक्ति अधिकार का उल्लघन करता है तो राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस अधिकार को बनाए रखे। शान्ति-व्यवस्था को भग न होने देना राज्य का कर्त्तव्य है। अत जो व्यक्ति अपराध करता है वह अधिकार का उल्लघन करता है। उसे दण्ड देना राज्य का कर्त्तव्य तो है ही, साथ ही अपराध के लिए दण्ड प्राप्त करना अपराधी का अधिकार भी है और राज्य को अपराधी व्यक्ति के इस अधिकार को बनाए रखने के उद्देश्य से उसे दण्डित करना चाहिए।

हीगल के विचारो का मूल्याकन तथा आलोचना

हीगल अपने युग का एक महान् दार्शनिक तथा इतिहास-वेत्ता था। परन्तु उसके राजनीतिक विचारो का प्रभाव क्रांतिकारी तथा भयावह सिद्ध हुआ। राजनीतिक चिन्तन तथा दर्शन के क्षेत्र मे जहाँ हीगल की प्रशसा एक महान चिन्तक के रूप मे की जाती है वहाँ उसकी विचारधाराओं की अनेक दृष्टियो से कटु आलोचना भी की गई है।

(1) उग्र राष्ट्रवाद का जनक—राज्य की उत्पत्ति तथा स्वरूप की द्वन्द्ववाद के आधार पर व्याख्या करके राज्य को विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानकर उसे प्रत्ययवादी ढग से उच्चतम स्थिति प्रदान करना आदर्श तथा यथार्थ के मध्य की खाई को विस्तृत करना है। हीगल की इतिहास की व्याख्या तथा विश्वात्मा के स्वरूप का चित्रण तर्कसम्मत नही है। वास्तव मे हीगल का उद्देश्य अपने काल के

जर्मनी के राष्ट्रीय राज्य की प्रशंसा करना था। उसने जर्मनी की श्रेष्ठता के समर्थन मे यह दर्शाने की चेष्टा की कि अन्य राष्ट्र उसकी तुलना मे अपूर्ण हैं, अत राष्ट्रो के कुटुम्ब मे जर्मनी ही सब राष्ट्रो का नेतृत्व करने की क्षमता रख सकता है। परिणामस्वरूप हीगल के विचारो के कारण उग्र राष्ट्रवाद का विकास हुआ।

(2) *राज्य, समाज तथा समुदायो के मध्य भेद न करना उचित नहीं है*—हीगल का यह तर्क सही नही है कि राज्य परिवार तथा समाज का सश्लेषण है, अत यह सर्वोच्च है। हीगल राज्य तथा समाज के मध्य भेद नही करता। यह धारणा राजनीतिक आदर्शों से मेल नही खाती। वास्तव मे समाज एक व्यापक इकाई है जिसके निर्माणकारी तत्त्व राज्य सहित विविध समुदाय है, यद्यपि राज्य इनमे सर्वश्रेष्ठ समुदाय है। *व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास के लिए विविध समुदाय* सहायक होते हैं। यह दावा सही नही है कि राज्य ही एकमात्र समुदाय है जो *व्यक्ति का सर्वांगीण विकास कर सकता है। हीगल राज्य की निरकुश सत्ता का* समर्थन करने के लिए ही ऐसा तर्क देता है, जिसके अनुसार समाज राज्य मे विलीन हो जाता है।

(3) **व्यक्ति को राज्य मे विलीन करना राज्य की निरकुशता को बढाना है**—हीगल की विचारधारा जहाँ राज्य को रहस्यात्मक ढग की सर्वश्रेष्ठता प्रदान करती है, वहाँ वह व्यक्ति को पूर्णतया राज्य का दास बना देती है। *यह धारणा किसी भी* रूप मे तर्कसम्मत नही प्रतीत होती कि राज्य के कानून तथा आदेश सदैव सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं विशेष रूप मे तब, *जबकि हीगल की राज्य-व्यवस्था* मे राजा सर्वोच्च सत्ताधारी रहेगा। यह धारणा लोकतन्त्र का निषेध है। यह कहना कि राज्य के आदेशो का पालन करने मे ही व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे, नितान्त भ्रामक धारणा है। वास्तव मे ऐसे राज्य मे व्यक्ति किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता का उपभोग नही कर सकेगा। हीगल की विचारधारा मे *वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय आज्ञाकारिता से तथा समानता का अभिप्राय* अनुशासन से है।

(4) **राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानना उचित नहीं है**—राज्य के अपने निजि व्यक्तित्व तथा इच्छा से युक्त होने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का अपना निजी व्यक्तित्व तथा इच्छा नहीं है। राज्य को साध्य मानना और व्यक्ति को राज्य *सर्वोच्च सत्ता बनाये रखने का साधन मानना व्यक्ति को आध्यात्मिक दृष्टि मे दास* बना देना है। हीगल मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी भी मानता है। परन्तु इससे उसका यह मन्तव्य था कि राजनीतिक समाज सर्वशक्तिमान है। व्यक्ति को उसके हित मे अपना सर्वस्व अर्पित कर देना चाहिए। इस धारणा के विरुद्ध प्रोफेसर जोड ने उचित ही कहा है कि 'राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति का राज्य के लिए। स्वतन्त्रता केवल व्यक्ति के सन्दर्भ मे ही अपना अर्थ रख सकती है। समाज या राज्य के कल्याण की धारणा का तब तक कोई अर्थ या मूल्य नही हो सकता जब तक कि वह राज्य के निर्माणकारी तत्त्व, (व्यक्ति) के कल्याण की धारणा

चौदहवाँ अध्याय

टॉमस हिल ग्रीन

(1836 ई० से 1882 ई०)

परिचयात्मक

अट्ठारहवीं शताब्दी मे उदारवादी तथा व्यक्तिवादी प्रवृत्तियो के विकास के कारण इग्लैण्ड की आर्थिक स्थिति मे अत्यधिक असतुलन उत्पन्न होने लगा था। औद्योगिक विकास के साथ-साथ उन्मुक्त प्रतियोगिता की नीति लागू होने का परिणाम यह हुआ कि मध्यम तथा निम्न साधनो वाले व्यक्तियो के लिए व्यापारिक प्रतियोगिता तथा उद्योगो के क्षेत्र मे अपना अस्तित्व बनाये रखना असम्भव हो गया था। केवल थोडे से बडे पूँजीपतियो के हाथ मे समूचा आर्थिक नियन्त्रण आ गया था। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध मे उपयोगितावादी विचारको के सुधारवादी दर्शन ने भी इस दिशा मे सुधार ला सकने मे कोई विशेष सफलता प्राप्त नही की। उनकी भौतिकवादी नैतिकता स्थिति मे सुधार ला सकने मे असमर्थ रही। परिणामस्वरूप इस व्यवस्था के विरुद्ध मध्यम वर्ग की प्रतिक्रिया आरम्भ होने लगी। प्रतिक्रियावादी तत्त्वो ने व्यक्तिवादियों के पुलिस राज्य तथा आर्थिक क्षेत्र मे यद्भाव्यम् की नीति का विरोध करना प्रारम्भ किया, और राज्य के द्वारा अधिकाश जनता के हित मे विध्यात्मक कदम उठाने तथा हस्तक्षेप की नीति का समर्थन करना प्रारम्भ किया। इस प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के लिए भौतिकतावादी विचारधाराएँ तथा नीतियाँ उचित समाधान नही थीं। अत विचारको के एक वर्ग ने जर्मनी के आदर्शवादियो के आध्यात्मिक तथा नैतिक दर्शन को अपनाकर नैतिकता के आधार पर राजनीतिक समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इस वर्ग मे टॉमस हिल ग्रीन, ब्रैडले तथा बोसाके मुख्य विचारक थे। यद्यपि यह सभी विचारक जर्मनी के आदर्शवादियो से प्रभावित थे, तथापि हीगल के राजनीतिक विचार इग्लैण्ड के लिए अनुपयुक्त थे। इग्लैण्ड की जनता हीगल के निरकुशतावाद को अपनी भूमि मे लाने के लिए कभी भी राजी नहीं हो सकती थी। परन्तु उसके नैतिकतावादी तथा आध्यात्मिकतावादी विचारो से उक्त अग्रेज विद्वान् प्रभावित हुए। इन विद्वानो मे ग्रीन सबसे प्रमुख है, जिसने हीगल के आदर्शवाद को एक नया रूप देकर उसे आग्ल आदर्शवाद मे परिणत किया। उसकी विचारधाराओ पर हीगल की अपेक्षा काट का प्रभाव अधिक है। ग्रीन ने आदर्शवाद को वह नया रूप दिया जिसमे हीगल के निरकुशतावाद तथा इग्लैण्ड के व्यक्तिवाद दोनो का ही अभाव है। वह न तो हीगल की भाँति का राज्यवाद है न इग्लैण्ड की

भाँति का व्यक्तिवाद, प्रत्युत् वह दोनों का समन्वय होने के कारण राजनीतिशास्त्र तथा नीतिशास्त्र दोनों को अन्तर्निहित करता है। यह न राज्य विरोधी है, न राज्य पूजक।

जिस प्रकार जर्मन-आदर्शवाद को हीगल ने चरम सीमा पर पहुँचा दिया था, उसी प्रकार आंग्ल-आदर्शवाद का सर्वश्रेष्ठ रूप ग्रीन के विचारों में पाया जाता है। ग्रीन इंग्लैण्ड के चर्च के एक सुविख्यात पादरी का पुत्र था। प्रारम्भिक शिक्षा अपने घर में ही प्राप्त करने के बाद वह रग्बी के स्कूल में प्रविष्ट हुआ। वहाँ से ऑक्सफोर्ड के एक कालेज में उसने शिक्षा प्राप्त की। उसका अध्ययन बहुत व्यापक था। 1878 में ऑक्सफोर्ड में दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर बना। वह एक उच्च कोटि का शिक्षक तथा दार्शनिक था। परन्तु इसके साथ ही उसने सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में भी कार्य किया था। वह कई वर्षों तक ऑक्सफोर्ड टाउन काउन्सिल का सदस्य, उदार दल का प्रवक्ता और अनेक महत्त्वपूर्ण आयोगों का भी सदस्य रहा। ग्रीन की मृत्यु 1882 में 46 वर्ष की अल्पायु में हो गई। परन्तु उसकी रचनाओं ने उसे इंग्लैण्ड का एक प्रमुख राजनीतिक चिन्तक सिद्ध किया है। उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ तो उसकी मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हो पायी। उसकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

1 Lectures on the Principles of Political Obligation
2 Lectures on English Revolution.
3 Lectures on Liberal Legislation and Freedom of Contract.
4 Prolegomena to Ethics

विचार-पद्धति

ग्रीन के विचारों के प्रेरणा-स्रोत—एक आदर्शवादी राजनीतिक चिन्तक होने के नाते ग्रीन का राजनीतिक दर्शन उससे पूर्व के कतिपय राजनीतिक आदर्शवादियों के विचारों से प्रभावित था। प्रथमत, यदि हीगल के आदर्शवाद को प्लेटो के विचारों ने प्रभावित किया है, तो ग्रीन के विचारों में अरस्तू का प्रभाव अधिक है। अरस्तू की भांति ग्रीन भी राज्य को सद्गुण-युक्त जीवन का भागीदार (a partnership in the life of virtue) मानता है। यूनानी आदर्शवादियों की भांति ग्रीन के विचारों में भी राजनीति तथा नीतिशास्त्र का सम्मिश्रण है। दूसरे, ग्रीन के विचारों पर रूसो का पर्याप्त प्रभाव है। ग्रीन ने रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त तथा नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा को अपनाया है। रूसो की भाँति वह भी सामान्य इच्छा की सम्प्रभुता को स्वीकार करता है। वह सामान्य इच्छा को 'सामूहिक हित की सामान्य चेतना' (common consciousness of common end) कहता है। रूसो की भाँति ग्रीन भी यह मानता है कि सामान्य इच्छा समस्त नागरिकों की वास्तविक इच्छाओं (real wills) का योग है। तीसरे, ग्रीन के दर्शन पर जर्मन आदर्शवादियों का भी प्रभाव था। वह हीगल के आदर्शवाद से दूर परन्तु कांट के दर्शन से सामीप्य रखता है, विशेष रूप से नैतिक स्वतन्त्र इच्छा के सिद्धान्त को मानने में तथा राज्य के

कार्यों के सम्बन्ध मे। काट की भाँति ग्रीन भी इस सिद्धान्त को मानता है कि राज्य का प्रमुख कार्य व्यक्तियो के उत्तम जीवन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ का बाधक बनना है। काट की भाँति वह भी उदार आदर्शवादियो की श्रेणी का विचारक है। ब्रिटिश जनता की प्रवृत्ति को अपनाते हुए वह हीगल के निरकुशतावादी राज्य की धारणा का विरोधी है। परन्तु उसका दार्शनिक आदर्शवाद बहुत कुछ हीगल के दर्शन पर आधारित है।

ग्रीन का अध्यात्मवाद—ग्रीन के अध्यात्मवादी सिद्धान्तो (metaphysical doctrines) का सार यह था कि सत्य का ज्ञान विशुद्ध विवेक से परन्तु अवसर-वशात् अन्तर्प्रेरणा के द्वारा भी हो सकता है, न कि प्रयोगात्मक तथा आगमनात्मक पद्धति का अनुसरण करके। ग्रीन का मत है कि मानव तथा अन्य जीवो मे यह भेद है कि मानव मे आत्म-चेतना (self-consciousness) होती है, *जबकि अन्य जीवों मे केवल चेतना। अन्य जीवो को सुख तथा दु ख की अनुभूति तो होती है परन्तु उनमे यह विवेक नही होता कि वे सुख का आनन्द लें और दु ख से निवृत्ति पा सकें।* हीगल की भाँति ग्रीन भी विश्वात्मा को भौतिक नही, अपितु आध्यात्मिक या निरपेक्ष प्रत्यय (Absolute idea) के रूप मे मानता है। विश्वात्मा चेतन सत्ता है। मानव-आत्मा, विश्वात्मा तथा परमात्मा एक समग्र का निर्माण करते हैं। इन तीनो के मध्य अभिन्न सम्बन्ध है। शाश्वत-चेतना प्रत्येक मानव-चेतना मे निवास करती है। विश्व की समस्त वास्तविकताएँ उसी शाश्वत चेतना की अभिव्यक्ति हैं। मानव भी इसी दैवात्मा का अग है। व्यक्ति की चेतना इस दैवी चेतना से पृथक् अपना अस्तित्व नही रखती। इसलिए व्यक्तियो की चेतनाएँ एक-दूसरे से पृथक् नही होती, बल्कि सबका एक ही उद्देश्य होता है। समग्र के कल्याण मे ही प्रत्येक का कल्याण सम्भव है। मानव जीवन की पूर्णता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह अपने मे निहित दैवी आत्मा की पूर्ण अनुभूति कर सके। इस प्रकार ग्रीन भौतिक सुखवाद का विरोध करता है, जोकि बेंथम-पथियो के दर्शन की प्रमुख धारणा थी। ग्रीन के मत से *मानव का अन्तिम लक्ष्य नैतिकता की प्राप्ति है जोकि मानव के व्यक्तित्व का वास्तविक आधार है। इस दृष्टि से ग्रीन हीगल के आदर्शवाद से भिन्न दृष्टिकोण रखता है। ग्रीन की दृष्टि मे राज्य साध्य नही है,* प्रत्युत् वह व्यक्ति को नैतिक जीवन प्रदान करने तथा व्यक्ति के पूर्ण विकास को सम्भव बनाने का साधन है।

राज्य-सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति—ग्रीन से पूर्व विविध विचारको ने राज्य के स्वरूप तथा उत्पत्ति के *सम्बन्ध मे अनेक सिद्धान्तो* का प्रतिपादन किया था। ग्रीन न तो राज्य की उत्पत्ति को दैवी मानता है, न शक्ति पर आधारित और न ही व्यक्तियों की सविदा द्वारा कृत्रिम रूप से निर्मित सगठन। हीगल की भाँति ग्रीन भी मानव आत्मा, मानव सस्थाओ, समुदायो तथा समाज सभी को विश्वात्मा या दैवी-आत्मा की *प्रतिमूर्ति मानता है। परन्तु इस धारणा से* उसका यह अभिप्राय नही है कि *राज्य अथवा अन्य मानव समुदाय स्वय ईश्वर की कृति हैं, अथवा राजा ईश्वर का प्रतिनिधि*

या रूप है। इसी प्रकार ग्रीन यह भी नहीं मानता कि शक्तिशाली जन-नेताओं ने पशु-बल के आधार पर राज्य की सृष्टि करके जन-समूह को अपने अधीन किया होगा। उसके मत से शक्तिशाली शासक या नेता पशु बल के आधार पर जनता की निष्ठा प्राप्त नहीं कर सकते। जनता राज्य के कानूनों तथा आदेशों का पालन इस लिए करती है कि वह उन्हें अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति मानती है और इसलिए भी नहीं कि उनका पालन न करने पर राज्य द्वारा दण्ड मिलेगा। ग्रीन की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति।'[1] हीगल की भाँति ग्रीन राज्य को द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया द्वारा विकसित परिवार तथा समाज का सश्लेषण नहीं मानता। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ग्रीन प्राचीन यूनानी दार्शनिकों प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति प्रकृतिवादी दृष्टिकोण रखता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य स्वभावत राजनीतिक या सामाजिक प्राणी है, और राज्य एक नैसर्गिक समुदाय है। इसका सृजन मानवों ने कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पारस्परिक सविदा करके नहीं किया है। राज्य का आधार मानवों की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा या चेतना है।

राज्य का आधार इच्छा है—ग्रीन की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा (free moral will) सम्बन्धी धारणा रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त की तरह है। ग्रीन यथार्थ (actual) तथा वास्तविक (real) इच्छा के मध्य भेद करता है। उसके मत से यथार्थ इच्छा व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की स्वार्थमयी इच्छा होती है, इसके विपरीत वास्तविक इच्छा सदैव सामूहिक हित का उद्देश्य रखती है। समाज के सब व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाओं का योग ही सामान्य इच्छा है, जो व्यक्तियों की स्वतन्त्र तथा नैतिक इच्छा होती है, अत वही राज्य का वास्तविक आधार है। ग्रीन ने इसे 'सामूहिक हित की सामान्य चेतना' (Common consciousness of common end) कहा है। यही मानवों की सर्वश्रेष्ठ इच्छा है, चूँकि यह सदैव सामूहिक हित का उद्देश्य रखती है, अत यही राज्य का वास्तविक आधार है और यही राज्य की सम्प्रभु सत्ता को धारण करती है। राज्य के कानून उसी सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं। अतएव व्यक्ति उन कानूनों का पालन स्वभावत इसीलिए करते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है कि उनका उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण होना है। इसलिए राज्य में सम्प्रभु शक्ति को धारण करने वाले शासकों को यह नहीं सोचना चाहिए कि उनके हाथ में दण्ड देने की शक्ति है, इसलिए वे दण्ड के भय से जनता को कानूनों का पालन करने के लिए विवश कर सकते हैं। प्रत्युत् उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे राजनीतिक समाज के सरक्षक मात्र हैं।

ग्रीन ने कहा है कि 'न्याय के बिना शक्ति का अस्तित्व केवल अस्थायी रह सकता है, इसके विपरीत न्याय-युक्त शक्ति ही राज्य का स्थायी आधार हो सकती है।'[2] निसन्देह राज्य को शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि इसके बिना राज्य

[1] 'Will, not force, is the basis of state.'

[2] 'Might without right can at best be only temporary, might with right is the permanent basis for the state.'

का टिका रहना सम्भव नही है। परन्तु राज्य को शक्ति का प्रयोग तभी करना चाहिए, जबकि उसका प्रयोग नैतिकता तथा न्याय पर आधारित हो। इस प्रकार राज्य सामाजिक नैतिकता पर आधारित सामान्य इच्छा के आदेशों का उल्लघन करने वाले व्यक्तियों को दण्ड के भय से अपने आदेशो का पालन करने के लिए विवश भी कर सकता है, क्योंकि ऐसा भी सम्भव है कि कभी-कभी व्यक्ति अपनी यथार्थ इच्छा से प्रेरित होकर सामान्य इच्छा के विरुद्ध आचरण करने लगें। अत राज्य मे शक्ति तत्त्व भी आवश्यक है परन्तु वह राज्य की स्थापना का एकमात्र आधारभूत तत्त्व नही है। वह राज्य के अनेक तत्त्वों मे से केवल एक तत्त्व है।

राज्य, समाज तथा समुदाय—प्राचीन यूनानी तथा अपने युग के जर्मन आदर्शवादियो की धारणाओ के विपरीत ग्रीन राज्य तथा समाज के मध्य भेद करता है। उसके मत से राज्य समाजो का समाज है। राज्य के अन्दर अनेक समुदाय होते है, जो राज्य से स्वतन्त्र अपना अस्तित्व रखते हैं और मनुष्य के वैविध्यपूर्ण जीवन के विकास के लिए आवश्यक हैं। परन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि ग्रीन बहुवादी । वह इन समुदायो के स्वतन्त्र अस्तित्व तथा उनकी उपादेयता को स्वीकार ता है, परन्तु उनकी सम्प्रभु शक्ति या स्थिति को नही मानता। राज्य समस्त े मे से श्रेष्ठतम है। वह उन सबके मध्य सामजस्य स्थापित करता है। यदि व्यक्ति किसी समुदाय द्वारा प्रदत्त अधिकार का उपभोग करता है तो उसका यह अर्थ है कि ऐसे अधिकार का उपभोग व्यक्ति राज्य का सदस्य होने के रूप मे ही करता है और उसका ऐसा अधिकार राज्य द्वारा मान्य अधिकारो के विरुद्ध स्वीकार नही किया जा सकता।

स्वतन्त्रता तथा अधिकार

स्वतन्त्रता का विध्यात्मक रूप—रूसो तथा काट की भाँति ग्रीन की राजनीतिक विचारधारा का मूल सिद्धान्त 'स्वतन्त्र नैतिक इच्छा' की धारणा है। ग्रीन का विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा के पूर्ण विकास के लिए स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। उसकी स्वतन्त्रता तभी बनी रह सकती है जबकि उसे कुछ अधिकार प्राप्त हो। अधिकारो की सृष्टि तथा रक्षा तभी हो सकती है, जबकि राज्य की सत्ता विद्यमान रहे। ग्रीन के इस तार्किक क्रम को बार्कर ने इस रूप म व्यक्त किया है, 'मानव चेतना स्वतन्त्रता की कामना करती है, स्वतन्त्रता मे अधिकार निहित रहते हैं, और अधिकारो के लिए राज्य की आवश्यकता पडती है।'[1] ग्रीन की मानव स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा निषेधात्मक नही है, अर्थात् स्वतन्त्रता का अर्थ प्रतिबन्धों का अभाव मात्र नही है। *रूसो तथा हीगल की भाँति ग्रीन भी यह मानता है कि* राज्य के आदेशो का पालन करने से स्वतन्त्रता की उपलब्धि हो सकती है। परन्तु ग्रीन राज्य के स्वेच्छाचारितावाद तथा निरकुशतावाद का समर्थक नही है। ग्रीन की धारणा 'विध्यात्मक स्वतन्त्रता' की धारणा है। इसका अर्थ है कोई चीज जो कार्य

[1] 'Human consciousness postulates liberty, liberty involves rights and rights demand the state' —Barker on Green

करने या उपभोग करने योग्य है उस कार्य को करने या उस वस्तु का उपभोग करने की शक्ति तथा क्षमता का होना, साथ ही उस कार्य को करने तथा उस वस्तु का उपभोग करने में सामूहिक हित की भावना का होना।[1] ग्रीन का मत है कि मानव चेतना शाश्वत दैवी आत्मा का अंग है। यद्यपि कभी कभी मानव में पाशविक चेतना भी प्रकट होती है, तथापि मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य नैतिक चेतना का विकास करना है। इसी में जीवन की सार्थकता है। पाशविक इच्छाएँ मानव जीवन की अभिन्न आंगिक इकाई नहीं हैं। उनका पालन करने में मनुष्य न तो स्वतन्त्र रह सकता है और न मानव जीवन का उद्देश्य ही पूर्ण हो सकता है। अत नैतिक चेतना के लिए ही मानव को स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है। स्वतन्त्रता का अर्थ है उन कार्यों को करना जिनका निदेशन व्यक्ति की नैतिक चेतना के द्वारा होता है। अनैतिक कार्यों को करना स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि उनका निदेशन पाशविक चेतना के द्वारा होता है, जो मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व से सम्बद्ध नहीं है। यदि उन पर नियन्त्रण रखा जाये तो उससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नहीं हो सकता, प्रत्युत् उनके दमन द्वारा व्यक्ति की नैतिक चेतना के आदेशों का अनुगमन करने के लिए विवश करके उसे वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान की जा सकती है।

अधिकारों की उत्पत्ति—मनुष्य की नैतिक चेतना में सार्वजनिक कल्याण की भावना रहती है। इसके आधार पर मनुष्य अपने को सम्पूर्ण समाज के साथ आत्मसात् करता है। सम्पूर्ण समाज के उत्थान में ही वह अपना भी हित मानता है। अत जब मनुष्य अपनी नैतिक चेतना के लिए स्वतन्त्रता की कामना करता है तो उसमें यह भावना उत्पन्न होती है कि अन्य व्यक्ति भी उन्हीं सुविधाओं की अपेक्षा करते हैं। चूँकि नैतिक चेतना सब व्यक्तियों के स्वभाव तथा उद्देश्यों में समानता मानती है, अत स्वतन्त्रता के लिए मानव चेतना जिन सुविधाओं की माँग करती है, वे अधिकारों का रूप धारण करती हैं। व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता के लिए ऐसी माँग समाज से करते हैं। इस प्रकार अधिकार तथा स्वतन्त्रता दोनों का आधार नैतिक चेतना है और वे दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं, न कि एक-दूसरे की विरोधी। ग्रीन का अधिकार सिद्धान्त उन प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्तवादियों से बिल्कुल भिन्न है, जो कि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को अलघ्य मानते थे। साथ ही ग्रीन बेंथमवादियों की भाँति अधिकारों को राज्य के कानूनों की सृष्टि भी नहीं मानता। वह उन्हें मानव की नैतिक चेतना की उपज मानता है। इसी रूप में समाज भी उन्हें मान्यता देता है। सक्षेप में, ग्रीन के अनुसार, अधिकार का उद्देश्य व्यक्ति के हित के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज का हित भी है। अत समाज से बाहर या समाज के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं है। प्राकृतिक अधिकारों की धारणा के विरुद्ध ग्रीन का तर्क यह है कि 'प्राकृतिक अवस्था में जब समाज ही नहीं था तो प्राकृतिक अधिकार की कल्पना करना एक विरोधाभास है।'[2] ग्रीन अधिकारों को 'प्राकृतिक'

[1] 'Positive freedom means a positive power or capacity of doing or enjoying *something worth doing or enjoying*, and that too, *something* that we do or enjoy in common with others' —Green

[2] 'Natural right as a right in a state of nature which is not a state of society, is a contradiction —Green

इसी अर्थ मे मानता है कि वे मनुष्य के पूर्ण विकास के आवश्यक साधनो के रूप मे हैं।

राज्य की उत्पत्ति—स्वतन्त्रता तथा अधिकारो की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है, क्योकि जब तक अधिकारो को लागू करने वाली सत्ता का अभाव रहेगा तब तक अधिकारो का अस्तित्व नही रह सकता। चूंकि मानव मे पाशविक चेतना भी होती है, अत उसके प्रकट होने पर उसका दमन करना आवश्यक होता है, अन्यथा वह व्यक्ति के नैतिक अधिकारो का अतिक्रमण करेगी। परिणामस्वरूप नैतिक इच्छा का मार्ग अवरुद्ध होगा और व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग नही कर पायेंगे। इसलिए व्यक्ति की पाशविक इच्छा का दमन करने तथा नैतिक इच्छा की अभिवृद्धि करने के लिए राज्य आवश्यक है। ग्रीन की इस धारणा मे विरोधाभास की आशका हो सकती है, क्योकि एक ओर तो वह इच्छा को राज्य का आधार मानता है न कि शक्ति को, और दूसरी ओर स्वतन्त्रता तथा अधिकारो की रक्षा के लिए राज्य की बल-प्रवर्ती शक्ति को भी मान्य करता है। राज्य तथा अन्य समुदायो के मध्य यही भेद है कि राज्य प्रभुसत्ताधारी अथच बल-प्रवर्ती शक्ति से युक्त होता है, सवास इन लक्षणो से युक्त नही होते। इसी शक्ति के बल पर राज्य समाज मे व्यक्तियो के अधिकार तथा दायित्वो की व्यवस्था करता है। राज्य की प्रभुत्व शक्ति के निवास का निर्धारण करने मे ग्रीन रूसो की लोक-प्रभुसत्ता तथा ऑस्टिन की निश्चित मानव श्रेष्ठ की धारणा के मध्य सामजस्य स्थापित करता है। उसके मत से निश्चित मानव श्रेष्ठ कानूनी प्रभुसत्ता को तथा सामान्य इच्छा राजनीतिक प्रभुसत्ता को धारण करती है। कानूनी सम्प्रभु राजनीतिक सम्प्रभु का अभिकर्ता होने के नाते उसकी उपेक्षा नही कर सकता।

राज्य का विरोध करने का अधिकार

हीगल का आदर्शवाद राज्य-पूजक अथच निरकुशतावाद का समर्थक है। अत हीगल व्यक्ति को किसी भी दशा मे राज्य का विरोध करने का अधिकार नही देता। इसके विपरीत ग्रीन राज्य को व्यक्ति के नैतिक जीवन की प्राप्ति कराने का साधन मानता है, इसलिए कुछ परिस्थितियो मे वह व्यक्ति के राज्य का विरोध करने के सीमित अधिकार को भी मान्य करता है।

अधिकारो तथा कानूनों के दो रूप—ग्रीन अधिकारो को प्राकृतिक तथा कानूनी दो श्रेणियों मे रखता है। प्राकृतिक अधिकार वह सुविधाएँ हैं जिनका उपभोग व्यक्ति अपने नैतिक उत्थान के लिए स्वभावत करता रहता है, चाहे उन्हे राज्य के कानून द्वारा अधिकार के रूप मे मान्य किया गया हो या नही। इसके विपरीत कानूनी अधिकार राज्य के कानूनो द्वारा प्रदान किये जाते हैं और उन्हे लागू करने का दायित्व राज्य पर होता है। राज्य का विरोध करने के अधिकार का आशय यह है कि व्यक्ति राज्य के कानूनो का विरोध कर सकते हैं। प्रश्न यह है कि किन कानूनो का तथा किन परिस्थितियो मे ? ग्रीन कानूनो को भी दो श्रेणियो मे बाँटता है—प्राकृतिक तथा विध्यात्मक। साथ ही वह कानून तथा नैतिक कर्तव्यो के मध्य भी भेद करता है। ग्रीन की प्राकृतिक कानून की धारणा सत्रहवी शताब्दी के प्राकृतिक

कानूनवादी विचारकों की धारणा से भिन्न है। ग्रीन के मत से प्राकृतिक कानून वह है जिसे एक नैतिक प्राणी के रूप में व्यक्ति को मानना चाहिए चाहे वह राज्य के यथार्थ कानून का अंग हो या नहीं। इसकी विषय-वस्तु का निर्धारण विवेक तथा नैतिकता के आधार पर किया जाता है। इसे लागू भी किया जा सकता है। प्राकृतिक कानून इस बात को बताता है कि 'क्या होना चाहिए'। नैतिकता को लागू नहीं किया जा सकता। यह मनुष्य की अन्तरात्मा का विषय है। वह तो यह बताती है कि कौन सी बात उपादेय है। विध्यात्मक कानून यह बताता है कि कौन-सी चीज यथार्थ में है जिसे वास्तव में लागू भी किया गया है।

राज्य के कानूनों का विरोध करने का सीमित अधिकार—अत यदि राज्य का विध्यात्मक कानून व्यक्ति के नैतिक कर्त्तव्यों, प्राकृतिक अधिकारों तथा प्राकृतिक कानूनों के मार्ग में बाधक हो तो व्यक्ति ऐसे कानून की अवज्ञा कर सकता है। यदि राज्य के कानून की वैधता सदिग्ध हो और शासन अत्याचारी ढग से सार्वजनिक हितों की अवहेलना करने लगे और उस कानून के सशोधन या समाप्ति के लिए कदम न उठाये तो ऐसी स्थिति में शासन का विरोध करना नागरिकों का अधिकार ही नहीं बल्कि कर्त्तव्य भी हो जाता है। सामान्यतया व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्राप्त नहीं है, क्योंकि सब अधिकारों का स्रोत राज्य है। व्यक्ति को वैयक्तिक स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य का विरोध करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि कभी-कभी सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर मर्यादा भी लगा सकता है। व्यक्ति का निर्णय राज्य के निर्णय की अपेक्षा निम्नतर प्रकृति का हो सकता है, क्योंकि राज्य के निर्णय के पीछे व्यापक अनुभव तथा विवेक रहता है, अत वह श्रेष्ठतर होता है। इसलिए राज्य के कानूनों का विरोध तभी किया जाना चाहिए जब यह समाधान हो जाय कि प्रतिरोध की सफलता से निश्चय ही सार्वजनिक हित होगा। साथ ही ऐसे सार्वजनिक हित की धारणा समाज के द्वारा स्वीकार की गयी हो। कभी-कभी ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि राज्य ने पूर्व काल की किन्हीं परिस्थितियों में किसी कानून का निर्माण किया हो, जबकि वह कानून, निश्चित ही सार्वजनिक हित में था, परन्तु वर्तमान परिस्थिति में वह ऐसा प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में जनता को तुरन्त राज्य विरोधी क्रान्ति नहीं करनी चाहिए, बल्कि ऐसे कानून के विरुद्ध सार्वजनिक चेतना (जनमत) का निर्धारण करवाना चाहिए। यदि राज्य स्वयं ही कानून को सशोधित कर ले तो ठीक है। इस दृष्टि से ग्रीन व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का मर्यादित अधिकार देता है।

राज्य के कार्य

निषेधात्मक दृष्टिकोण—राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में ग्रीन से पूर्व तीन प्रकार की विचारधाराएँ इंग्लैण्ड में व्यक्त की गयी थीं। पहली धारणा उपयोगितावादियों की थी जिसके अनुसार 'अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख' प्रदान करना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता था। दूसरी धारणा व्यक्तिवादियों की थी जो राज्य के कार्यों को मर्यादित करना चाहते थे और व्यक्ति के मार्ग में राज्य के न्यूनतम

हस्तक्षेप की नीति के समर्थक थे। तीसरी धारणा जर्मन आदर्शवादियो (हीगल-पन्थियो) की थी जो यह मानते थे कि राज्य का कार्य क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। राज्य जो भी कार्य करे व्यक्ति उन्हे अपने व्यक्तित्व के विकास मे सहायक मानकर उनको उचित समझे। यद्यपि ग्रीन आदर्शवादी है, तथापि राज्य के कार्यों के सम्बन्ध मे वह राज्य के विध्यात्मक कार्यों के सिद्धान्त को नही अपनाता। राज्य के कार्यों के सम्बन्ध मे वह निषेधात्मक दृष्टिकोण ही रखता है। वह यह नही मानता कि राज्य अपने कार्यों तथा कानूनो के द्वारा व्यक्ति को नैतिक बना सकता है। अत उसका मत है कि राज्य को केवल वही कार्य करने चाहिए जो 'व्यक्ति के उत्तम जीवन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ के विरुद्ध बाधक सिद्ध हो।'[1] नैतिकता व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है। कानून व्यक्ति के आचरण को प्रभावित करने के बाह्य साधन हैं। अत. बलपूर्वक मनुष्य मे नैतिकता का सचार नही किया जा सकता। राज्य अपने कानूनो तथा व्यवस्थाओ द्वारा उन परिस्थितियो का निर्माण कर सकता है जो व्यक्ति के नैतिक जीवन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ को रोकने मे सहायक सिद्ध हो। व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्र इच्छा को बाह्य साधनो द्वारा नियन्त्रित तथा सचालित नही किया जा सकता। व्यक्ति का कोई आचरण नैतिक तभी कहा जा सकता है जबकि वह उसके स्वतन्त्र विवेक तथा बुद्धि से निर्देशित हो और उसके सम्पादन मे कर्त्तव्य की भावना हो, भय या प्रलोभन से प्रेरित होकर किया गया कार्य नैतिक नही हो सकता। इसलिए यदि राज्य व्यक्ति को किसी कार्य को करने की प्रेरणा कानून द्वारा देता है तो उसमे नैतिकता का होना आवश्यक नही है। अधिक से अधिक राज्य अपने कार्यों तथा कानूनो के द्वारा व्यक्ति को वह सुविधाएँ प्रदान कर सकता है जिनका उपयोग करके व्यक्ति नैतिक तथा उत्तम जीवन व्यतीत करने के मार्ग मे आने वाली बाधाओ से बच सके अर्थात् राज्य व्यक्ति को अधिकार प्रदान करे और उन्हे लागू कराये।

विध्यात्मक दृष्टिकोण—ग्रीन की राज्य के कार्यो सम्बन्धी धारणा को केवल निषेधात्मक प्रकृति का ही मानना सत्य नही है। राज्य जिन कार्यों को करता है उनके पीछे नैतिक उद्देश्य भी रहता है और बहुधा उनका स्वरूप भी स्पष्टतया विध्यात्मक होता है। उदाहरणार्थ अशिक्षा, दरिद्रता तथा मदिरा-पान आदि व्यक्ति के उत्तम तथा नैतिक जीवन के मार्ग की बाधाएँ हैं। शिक्षा के बिना व्यक्ति को श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति सम्भव नही है। इसी प्रकार दरिद्रता उत्तम जीवन के मार्ग की महान् बाधा है। मदिरा-पान करने वाला व्यक्ति न मालूम कितने अनैतिक आचरण करता है। अत इन बाधाओ का निराकरण करने के लिए यदि राज्य शिक्षा तथा विद्यालयो की व्यापक व्यवस्था करे, आर्थिक क्षेत्र मे विविध प्रकार की योजनाओ द्वारा जनता की दरिद्रता को दूर करने के कदम उठाये और कानून द्वारा मादक पदार्थों के उत्पादन तथा प्रयोग को बन्द कराये तो राज्य के इन कार्यों को केवल निषेधात्मक स्वरूप का ही नहीं माना जा सकता। ये कार्य स्पष्टतया विध्यात्मक भी हैं।

दण्ड सिद्धान्त—बाधाओ का निराकरण करने की धारणा का एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि राज्य को समाज मे ऐसे तत्वो को रोकना चाहिए जो

[1] 'State acts as a hindrance to hindrances against good life' —Green.

व्यक्तियो के उत्तम जीवन के मार्ग मे बाधक होते हैं। अत' राज्य न्याय तथा दण्ड की व्यवस्था करता है। ग्रीन का दण्ड सिद्धान्त भी विध्यात्मक तथा निषेधात्मक दोनो प्रकृतियो का है। दण्ड का उद्देश्य अपराधो को रोकना है। अपराधी व्यक्ति अपने आचरण से अन्य व्यक्तियो के उत्तम जीवन व्यतीत करने की परिस्थितियो मे बाधा उत्पन्न करते हैं। अत यदि राज्य अपराधियो को दण्ड देने की व्यवस्था करता है तो उसका यह कार्य उत्तम जीवन के मार्ग की बाधाओ का निराकरण करना माना जायेगा। परन्तु ग्रीन का दण्ड सिद्धान्त सुधारात्मक भी है। इसका उद्देश्य यह है कि *अपराधी को दण्ड इस रूप मे दिया जाय जिससे वह अन्य व्यक्तियो के उत्तम जीवन* के मार्ग मे बाधक न हो सके, साथ ही दण्ड के परिणामस्वरूप वह भविष्य मे अपराध की पुनरावृत्ति न करे और समाज का एक नैतिक सदस्य बन सके। इसलिए यदि राज्य अपराधी व्यक्तियो के लिए कारागृहो मे नैतिक शिक्षा, आर्थिक प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था करके अपराधियो को उत्तम नागरिक बनाने की योजना को कार्यान्वित करे तो राज्य का यह कार्य विध्यात्मक ही कहा जायेगा।

सम्पत्ति—उत्तम तथा नैतिक जीवन के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति की अपरिहार्यता को भी ग्रीन ने स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध मे ग्रीन का दृष्टिकोण बहुत कुछ समाजवादी है। ग्रीन का मत है कि यद्यपि पूँजीगत सम्पत्ति की समानता सम्भव नही है तथापि भू सम्पत्ति की समानता सम्भव है और यथासम्भव ऐसी समानता राज्य के द्वारा सुनिश्चित की जानी चाहिए। ग्रीन के समय मे इगलैण्ड मे जमींदारी-प्रथा प्रचलित थी। ग्रीन का सुझाव था कि राज्य को भूमि के वितरण के सम्बन्ध मे ऐसा कदम उठाना चाहिए जिसके द्वारा छोटे-छोटे कृषको को भी भूमि का स्वामित्व प्राप्त हो सके। जमीदारी-प्रथा लोक-कल्याण की दृष्टि से अवाछनीय थी। ग्रीन के मत से जमीदार तथा कृषक एव उद्योगो के मालिको तथा मजदूरो के मध्य जो सविदाऐं होती हैं उनका कोई नैतिक तथा स्वतन्त्र आधार नही है, क्योकि इनके अन्तर्गत एक पक्ष (कृषक तथा मजदूर) को दूसरे पक्ष की शर्तें मानने के लिए विवश होना पडता है। अत ऐसी सविदाओ के सम्बन्ध मे नैतिकता एव समाज-कल्याण की दृष्टि से राज्य को हस्तक्षेप करने का अधिकार होना चाहिए। सम्पत्ति के सम्बन्ध मे ग्रीन की प्रमुख धारणा यह थी कि सम्पत्ति का निदेशन सामाजिक हित की दृष्टि से किया जाना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा का विरोधी था। वह मनुष्य के उत्तम जीवन तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए सम्पत्ति को आवश्यक मानता है। इस प्रकार सम्पत्ति के सम्बन्ध म ग्रीन का दृष्टिकोण उदारवादी है।

एक अग्रेज विचारक होने के नाते ग्रीन की विचारधारा मे जर्मनी के उग्र तथा क्रान्तिकारी आदर्शवाद का प्रभाव बहुत कम पडा। राज्य के कार्यों के सम्बन्ध म उसके ऊपर बेंथम की उपयोगितावादी नैतिकता का प्रभाव अधिक था। वह राज्य *के कार्य-क्षेत्र का निर्धारण नैतिकता तथा समाज-कल्याण दोनो दृष्टियो से करता है।* अत उसकी राज्य के कार्यों सम्बन्धी धारणा आदर्शवाद तथा समाजवाद के मध्य का भाग अपनाती है। उसके दर्शन म प्लेटो तथा हीगल के स्वप्नलोकी तथा क्रान्तिकारी

विचारो का समर्थन करने की अपेक्षा अरस्तू के यथार्थवाद तथा काट की शान्तिप्रियता का अनुगमन किया गया है। वह अंग्रेज जाति के स्वभाव के अनुकूल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रति भी निष्ठा रखता है। अत वह राज्य को साध्य न मानकर व्यक्ति को नैतिक तथा उत्तम जीवन प्रदान करने का साधन मानता है। वह राज्य की निरकुश सत्ता का समर्थक नही है, साथ ही वह व्यक्ति के अधिकारो से राज्य की सत्ता को मर्यादित भी नही करना चाहता। अतएव उसके राजनीतिक दर्शन मे आदर्शवाद तथा व्यक्तिवाद का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीयता

हीगल तथा ग्रीन के आदर्शवाद मे सबसे महत्त्वपूर्ण भेद उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता की धारणा के सम्बन्ध मे है। हीगल का आदर्शवाद राज्यवादी, उग्र राष्ट्रवादी तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी है। ग्रीन हीगल की इन सब धारणाओं का विरोधी है। वह यह नही मानता कि राज्य के अस्तित्व के लिए युद्ध अनिवार्य है अथवा राज्य समाज का सबसे उच्चतर रूप है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून निरर्थक है। इसके विपरीत ग्रीन मानवतावादी, विश्व-बन्धुत्व पर विश्वास रखने वाला तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समर्थक था। उसका विश्वास था कि व्यक्ति की भलाई समस्त मानवता की भलाई पर निर्भर रहती है। ग्रीन समस्त मानवता की सामूहिक चेतना तथा सामूहिक सामान्य इच्छा के अस्तित्व पर विश्वास रखता है। उसके मत से जिस प्रकार राज्य को अपनी सीमा के अन्दर छोटे-छोटे समुदायो के अधिकारो की रक्षा करनी पड़ती है, उसी प्रकार उसे अपनी सीमा से बाहर उच्चतर तथा विशाल जन-समुदाय के अधिकारो की भी रक्षा का ध्यान रखना पड़ता है। ग्रीन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सहिताकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी न्यायालय की स्थापना का समर्थन किया था।

अपनी विश्व-बन्धुत्व तथा अन्तर्राष्ट्रीयवादी धारणा के कारण ही ग्रीन राष्ट्रो के मध्य युद्धो का विरोध करता है। वह युद्धो को नैतिक बुराई कहता है। वह युद्ध-समर्थको के इस तर्क का विरोध करता है कि युद्ध मे जो रक्तपात होता है वह एक व्यक्ति का किसी दूसरे व्यक्ति-विशेष के विरुद्ध निदेशित कृत्य नही होता, अत यह अधिकार का अतिक्रमण नही है। ग्रीन के मत से यदि एक मनुष्य को कोई जानवर मार दे या किसी दैवी प्रकोप से मनुष्य की मृत्यु हो जाय तो उसमे अधिकार का अतिक्रमण करने का प्रश्न नही उठेगा। परन्तु युद्ध मे एक जन-समूह (राज्य) दूसरे जन-समूह के सदस्यो को निश्चित योजना बनाकर मारता है। वह मानव द्वारा योजनाबद्ध ढग से मानव का सहार है, अत इसका कोई नैतिक औचित्य नहीं है। ग्रीन प्रतिरक्षा के उद्देश्य से युद्ध करने की नीति को भी अनैतिक ही मानता है। उसके मत से युद्ध करने वाले राज्यो को पूर्णता-प्राप्त राज्य नही कहा जा सकता। युद्ध समर्थको के किसी भी तर्क को ग्रीन नैतिक दृष्टि से अमान्य करता है। वह राष्ट्रवाद का विरोधी नही है। परन्तु उसका मत है कि एक राज्य के राष्ट्रवाद को दूसरे राज्य के राष्ट्रवाद के विरुद्ध ईर्ष्या नही रखनी चाहिए। देश प्रेम का अर्थ

सैनिकवाद नहीं होना चाहिए। जो राज्य विशाल सेनाएँ रखते हैं और युद्ध-प्रेमी होते हैं उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि वे संगठित राजनीतिक जीवन व्यतीत करने की योग्यता प्राप्त नहीं कर सके हैं।

ग्रीन के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन तथा प्रभाव

(1) राज्य को साध्य न मानकर साधन मानना—पाश्चात्य आदर्शवादी राजनीतिक चिन्तकों में से ग्रीन सबसे अधिक उदार विचारक है। उसका आदर्शवाद न केवल उस युग की जर्मन आदर्शवादी विचारधाराओं से प्रभावित था अपितु ऑक्सफोर्ड का एक शिक्षक होने के नाते, जहाँ कि प्लेटो तथा अरस्तू के दर्शन का अध्ययन कराया जाता था, ग्रीन की विचारधारा पर प्राचीन यूनानी आदर्शवाद का प्रभाव भी प्रचुर मात्रा में था। यद्यपि राज्य के स्वरूप का चित्रण करने में ग्रीन हीगल के विश्वात्मा तथा सार्वभौम विवेक के सिद्धान्त का अनुगमन करता है और राज्य को दैवी आत्मा तथा विवेक की प्रतिमूर्ति मानता है तथापि राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण प्लेटो तथा अरस्तूवादी था। अन्य आदर्शवादियों की भाँति ग्रीन भी राज्य की महत्ता को प्रमुख स्थिति प्रदान करता है, परन्तु वह हीगल की भाँति राज्यवादी नहीं है। वह राज्य को साध्य नहीं मानता। उसका साध्य है व्यक्ति को नैतिक जीवन की उपलब्धि कराना जिसके लिए राज्य एक साधन है। परन्तु *यूनानी तथा जर्मन आदर्शवादियों की भाँति वह भी यह मानता है कि राज्य* की सदस्यता प्राप्त करके तथा राज्य के अन्दर रह कर ही व्यक्ति उत्तम तथा नैतिक जीवन की प्राप्ति कर सकता है।

(2) ग्रीन के विचार व्यक्तिवाद तथा आदर्शवाद के मध्य समन्वय स्थापित करते हैं—ग्रीन का आदर्शवाद विशुद्ध रूप में ब्रिटिश प्रकृति का है। ग्रीन ने प्राचीन यूनान तथा अपने युग के जर्मनी के दर्शन को ग्रहण करके उसे विशुद्ध रूप से ब्रिटिश प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में व्यक्त किया। ग्रीन के दर्शन में अंग्रेज जाति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम की धारणा बनी रही। उसने राज्य की सर्वोच्च सत्ता का आदर्शीकरण नहीं किया और न ही उसके आदर्श-राज्य की धारणा किसी रूप में स्वप्नलोकी है। उसका आदर्शवाद अरस्तू की भाँति यथार्थ का अनुगमन करता है न कि प्लेटो के स्वप्नलोकी प्रत्ययवाद का। जर्मन आदर्शवाद का अनुगमन करने में भी उसने कांट के उदारवादी तथा शान्तिप्रियता के सिद्धान्तों को अपनाया है न कि *हीगल के उग्र विचारों को। उसकी विचारधारा में व्यक्तिवाद की भावना बहुत* अधिक है। वह व्यक्ति को राज्य की तुलना में अधिक महत्त्व देता है। उसके मत से राज्य सहित समस्त समुदाय व्यक्ति के लिए हैं न कि व्यक्ति समुदायों या राज्य के लिए। राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में भी वह व्यक्तिवादियों की भाँति राज्य के कार्यों को मर्यादित तथा निषेधात्मक प्रकृति का मानता है। ग्रीन का उदारवाद उसकी इन धारणाओं से स्पष्ट होता है कि वह अधिकारों को समाज द्वारा सृजित मानता था, उसकी आस्था प्रतिनिध्यात्मक शासन पर थी, वह नागरिकों के मताधिकार को पर्याप्त व्यापक बनाना चाहता था, सम्पत्ति के बारे में भी उसके विचार उदारवादी

थे और वह अन्तर्राष्ट्रवाद का समर्थक, मानवतावादी तथा उदार राष्ट्रवादी था। उसे राज्यो के मध्य युद्धो से विरोध था। ग्रीन से पूर्व पाश्चात्य देशो का उदारवाद व्यक्तिवादी प्रकृति का अथच राज्य के कार्य-क्षेत्र को मर्यादित करने का लक्ष्य रखता था, परन्तु ग्रीन के पश्चात् उसने समाज-कल्याण के उद्देश्य से राज्य के विध्यात्मक कार्यकलापो का समर्थन करना प्रारम्भ किया। इस दृष्टि से ग्रीन की विचारधारा आदर्शवाद तथा व्यक्तिवाद के मध्य समन्वय स्थापित करती है।

(3) ग्रीन ने व्यक्तिवाद तथा समाजवाद के मध्य भी समन्वय स्थापित किया है—ग्रीन का उदार आदर्शवाद समाजवादी विचारो से भी युक्त है। जिस प्रकार ब्रिटिश आदर्शवाद जर्मन उग्र आदर्शवाद का विरोधी रहा है उसी प्रकार ब्रिटिश समाजवाद (फेबियन समाजवाद) भी यूरोप के अन्य देशो की क्रान्तिकारी समाजवादी विचारधाराओ की अपेक्षा बहुत अधिक उदार रहा है। उस पर ग्रीन के विचारो की छाप है। ग्रीन को बीसवी सदी के उदारवाद का निर्माता कहना सर्वथा युक्तिसगत होगा, क्योकि उसके विचारो मे व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का भी सुन्दर समन्वय पाया जाता है। उसने समाज के विरुद्ध व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा भौतिक समृद्धि के अधिकारो को महत्त्व न देकर सम्पूर्ण समाज के, विशेष रूप से, समाज के उपेक्षित वर्ग के कल्याण पर अधिक जोर दिया है। भले ही विवरणात्मक बातो के सम्बन्ध मे ग्रीन की अनेक विचारधाराएँ आज हमे मान्य न हो, परन्तु विविध व्यवस्थाओ के सम्बन्ध म उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो की उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सभ्य मानवता अन्तर्राष्ट्रवाद, विश्व-बन्धुत्व, युद्ध-विरोध तथा मानवीय नैतिकता सम्बन्धी ग्रीन की धारणाओ की कभी भी उपेक्षा नही कर सकती।

(4) ग्रीन के विचारो ने इंग्लैण्ड के भावी अनेक चिन्तकों पर प्रभाव डाला है—ग्रीन ने अपने म पूर्व के भौतिकवादी तथा व्यक्तिवादी उपयोगितावाद को नैतिक तथा समाजवादी स्वरूप प्रदान किया। साथ ही उग्र तथा आक्रामक आदर्शवाद को सभ्य तथा सुरक्षित बनाने का प्रयास किया। यद्यपि ग्रीन की अल्पायु मे ही मृत्यु हो गई थी, तथापि उसके विचारो का प्रभाव बहुत अधिक है। उसके विचारो ने न केवल भविष्य के राजनीतिक चिन्तको को ही प्रभावित किया, अपितु राजनेताओं के कार्यकलापो को भी प्रभावित किया। बार्कर, लास्की, लिड्से आदि के विचारो पर ग्रीन के उदारवाद का पर्याप्त प्रभाव है। लॉर्ड ऐसक्विथ, लॉर्ड कर्जन, रैमजे मैकडॉनल्ड आदि राजनेता भी उसके विचारो से प्रभावित थे।

पन्द्रहवाँ अध्याय

कार्ल मार्क्स

(1818 ई० से 1883 ई०)

परिचयात्मक

समाजवादी चिन्तन की पृष्ठभूमि—कार्ल मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जनक माना जाता है। यों तो समाजवादी चिन्तन तथा व्यवहार किसी न किसी रूप में बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था परन्तु उसमें क्रमबद्धता का अभाव था। ऐसा माना जाता है कि अनेक प्रारम्भिक जन-समूहों के मध्य व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा नहीं थी। वे उत्पादन कार्य और उत्पादित पदार्थों का उपभोग भी सामूहिक रूप से करते थे। समाजवादी चिन्तन तथा आचरण की यह एक मूलभूत धारणा है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों में प्लेटो को सबसे पहला स्वप्नलोकी समाजवादी चिंतक माना जाना अनुचित नहीं होगा। उसके पश्चात् समाजवादी चिन्तन की परम्परा विभिन्न कालों में किसी न किसी रूप में बनी रही। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस के विद्वान् रूसो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषों को बताते हुए समाजवादी व्यवस्था को समर्थन प्रदान किया। उनके विचारों में समाजवाद तथा लोकतन्त्र के बीज विद्यमान थे। सोलहवीं शताब्दी से उदारवाद के विकास ने व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया और व्यक्तिवादी उन्मुक्त प्रतियोगिता तथा यद्भाव्यम की नीति का प्रभाव यह हुआ कि समाज में बहुत बड़ी आर्थिक विषमता आने लगी। इसके फलस्वरूप धनिकों द्वारा निर्धनों तथा श्रमिक वर्गों के शोषण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। औद्योगिक विकास के युग में इसका परिणाम यह हुआ कि मशीनों तथा उत्पादन के अन्य साधनों पर एकमात्र स्वामित्व थोड़े से पूँजीपतियों का होने लगा। श्रमिकों का स्थान मशीनों के द्वारा लिये जाने का परिणाम भी यह हुआ कि मजदूरों के कष्ट बढ़ने लगे। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत इंग्लैण्ड तथा फ्रांस में कुछ लोगों ने समाजवादी चिन्तन करना प्रारम्भ किया।

इन समाजवादी चिन्तकों के एक वर्ग को स्वप्नलोकी समाजवादियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि प्लेटो को भी इसी प्रकार का समाजवादी कह सकते हैं तथापि सोलहवीं शताब्दी के सामन्तवादी युग के पश्चात् वाले स्वप्नलोकी समाजवादी प्लेटो से भिन्न प्रकार के हैं। इन विचारकों का अभ्युदय टामस मोर के 'यूटोपिया' (Utopia) के प्रकाशन से प्रारम्भ होता है। इस श्रेणी में उन्नीसवीं सदी तक अनेक विद्वान् हुए हैं, यथा, फ्रांसिस बेकन, सेंट साइमन, फोरियर लुई

ब्लाक, प्रुधो, रॉबर्ट ओवन, विलियम गॉडविन, आदि। इन लोगो ने कुछ काल्पनिक समाजो के चित्र प्रस्तुत किये हैं, जिनमे व्यक्तिगत सम्पत्ति नही होती, समाज मे समस्त भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व तथा उपभोग सामूहिक होता और उत्पादन प्रक्रिया मे सब लोग निर्धारित अवधि तक नित्य श्रम करते। परन्तु यह विद्वान् ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए किसी व्यावहारिक योजना, कार्यक्रम या आन्दोलन का सूत्रपात नही कर पाये। अत इनके विचार स्वप्नलोकी ही रहे। समाजवादी चिन्तन का एक रूप ईसाई समाजवाद था। ईसाई धर्म की शिक्षाओ के अन्तर्गत व्यक्तिगत सम्पत्ति को एक बुराई के रूप मे माना गया था। ईसाई धर्म की भ्रातृत्व तथा समानता की शिक्षाओ ने भी आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे समानता की भावना पर बल देकर समाजवादी चिन्तन की परम्परा को बढाया। उनका समाजवाद ईसाई समाजवाद कहलाने लगा। इनके अतिरिक्त इग्लैण्ड के अनेक बुद्धिजीवियो ने फेबियन समाज की स्थापना द्वारा समाजवादी विचारों का प्रचार किया। इनका विश्वास था कि समाजवादी व्यवस्था शिक्षा-दीक्षा के द्वारा व्यापक प्रचार करके स्थापित की जा सकती है ये लोग समाजवाद को शान्तिपूर्ण ढग से विकसित करना चाहते थे, जिसमे भौतिक सम्पत्ति के उत्पादन तथा वितरण पर समाज का नियन्त्रण बना रहे और उसमे समानता तथा न्याय का सिद्धान्त अपनाया जाता रहे। परन्तु यह समस्त समाजवादी चिन्तन स्वप्नलोकी प्रकृति का था, क्योकि उसे व्यवहृत करने तथा समाजवाद की वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय व्याख्या करने का कोई आभास इन विचारधाराओ मे नही होता। कार्ल मार्क्स ने समाजवादी विचारो को एक क्रमबद्ध दर्शन का रूप दिया। इसीलिए उसे वैज्ञानिक समाजवाद का जनक माना जाता है।

मार्क्स का जीवन परिचय—कार्ल मार्क्स का जन्म 1818 मे जर्मनी के एक साधारण धनी परिवार मे हुआ था। उसने बर्लिन तथा बॉन के विश्वविद्यालयो मे शिक्षा प्राप्त की थी। वह बचपन से ही एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी था और उसके विचार क्रान्तिकारी थे। दर्शनशास्त्र मे उसकी बहुत अभिरुचि थी। उसने इतिहास, अर्थशास्त्र, कानून, दर्शन आदि विषयो का व्यापक अध्ययन किया था। 23 वर्ष की उम्र में उसने जेना के विश्वविद्यालय से डाक्टर ऑफ फिलासफी की उपाधि प्राप्त की थी। 1842 मे वह एक पत्र का सम्पादक बन गया। परन्तु उसके क्रान्तिकारी विचारो के कारण जर्मनी की तत्कालीन सरकार ने उसे देश छोडने को विवश किया। 1843 मे वह पेरिस पहुँचा। वहाँ उसने समाज की परिस्थितियो का अध्ययन किया। इस बीच उसका सम्पर्क एँजिल्स (Friedrich Engels) के साथ हुआ। दोनो म विचार-साम्य होने के कारण एँजिल्स मार्क्स का जीवन के हर क्षेत्र मे साथी बन गया। दोनो के सम्मिलित प्रयासो से उनकी प्रसिद्ध रचना 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' (Communist Manifesto) प्रकाशित हुई। अपने क्रान्तिकारी विचारो के कारण मार्क्स को फ्रास भी छोडना पडा। वह भटकता-भटकता अनेक यूरोपीय देशों मे गया। इस बीच उसकी आर्थिक स्थिति भी शोचनीय हो गयी। परन्तु एँजिल्स उसे निरन्तर आर्थिक सहायता भी प्रदान करता रहा। 1849 मे मार्क्स इग्लैण्ड चला

मार्क्स के प्रेरणा-स्रोत—मार्क्स के समय म औद्योगिक क्रान्ति के कुप्रभाव दृष्टिगोचर होने लग गये थे। बड़े-बड़े कारखानों का स्वामित्व पूँजीपतियों के हाथ में चला गया था। उनके मध्य प्रतियोगिता बढ़ती जा रही थी। मध्यमवर्गीय पूँजीपति विनष्ट होने लगे थे। श्रमिकों की दशा गिरती जा रही थी। मशीनों के विकास के कारण उनमे बेकारी बढ़ने लगी थी। मजदूरों को पारिश्रमिक भी यथेष्ट नहीं मिल पा रहा था। उन्हे प्रतिदिन दीर्घ अवधि तक तथा अत्यन्त अस्वस्थ परिस्थितियों में काम करना पड़ता था। राज्य की सत्ता पर भी पूँजीपतियों का प्रभाव था। मार्क्स ने इन सब परिस्थितियों का अध्ययन किया। इस कार्य म उसने अपने इतिहास के ज्ञान का सहारा लिया। जब वह विश्वविद्यालय में दर्शन का छात्र था तो वह हीगल के विकासवादी सिद्धान्त तथा द्वन्द्ववाद से बहुत प्रभावित हुआ था। इसी बीच अनेक अर्थशास्त्रियों रिकार्डो, माल्थस आदि के विचार भी प्रकट हो चुके थे। मार्क्स ने इस समस्त सामग्री को अपने निष्कर्षों का आधार बनाया। उसके दर्शन के अन्तर्गत हीगल के द्वन्द्ववाद, इतिहास की व्याख्या तथा अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया गया है। वह अपने पूर्ववर्ती स्वप्नलोकी समाजवादियों के विचारों से भी प्रभावित था। उससे पूर्व का समाजवाद केवल चिन्तनात्मक तथा स्वप्नलोकी था। लास्की ने उचित ही कहा है कि 'मार्क्स ने समाजवाद को एक अव्यवस्थित रूप (chaos) में पाया और उसे एक आन्दोलन के रूप म छोड़ा', अर्थात् मार्क्स ने अपने दर्शन के द्वारा समाजवाद का वैज्ञानिक विवेचन किया और उसकी उपलब्धि तथा स्थापना के लिए उसने एक निश्चित कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इसलिए मार्क्स का दर्शन समाजवाद का एक सांगोपांग दर्शन है और यह मार्क्स की विशिष्ट देन होने के कारण उसे मार्क्सवाद कहा जाता है। इस दृष्टि से मार्क्सवाद तथा वैज्ञानिक समाजवाद एक ही चीज हैं। मार्क्स के पश्चात् समाजवादी चिन्तन, कार्यक्रम, तथा आन्दोलन में अनेक संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किये जाते रहे हैं और उनके फलस्वरूप अनेक क्रान्तिकारी एव विकासवादी समाजवादी विचार-धाराएँ उत्पन्न हुई हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि उन सबका प्रेरणा स्रोत मार्क्सवाद ही है। मार्क्स के विचारों को निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है और इन सबका सम्मिलित रूप ही मार्क्सवाद है। मार्क्स ने इन सब विचारों को क्रमबद्ध ढंग से व्यक्त करके एक समग्र समाजवादी दर्शन का निर्माण किया है।

1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

हीगल का द्वन्द्ववाद—द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को मार्क्स ने हीगल से ग्रहण किया था। द्वन्द्व का अर्थ है तर्कसम्मत विचार-विमर्श। द्वन्द्ववाद के अनुसार हीगल तथा मार्क्स दोनों यह मानते हैं कि किसी वस्तु की वास्तविकता का ज्ञान उस पर तर्क-

सम्मत विचार-विमर्श के द्वारा किया जा सकता है। हीगल का मत था कि जो चीज विवेकसम्मत है वही वास्तविक है। समस्त विश्व एक सार्वभौम 'विचार' (प्रत्यय) की अभिव्यक्ति है। इसे विश्वात्मा कहा जाता है। यह विकासशील है। मानव इसी सार्वभौम विश्वात्मा के क्रमिक विकास का फल है। सामाजिक विकासक्रम को भी इसी प्रक्रिया के द्वारा समझा जा सकता है। इस विकासक्रम मे विचार तत्त्व प्रमुख है। यह एक निश्चित क्रम से चलता है जिसके तीन चरण वाद, प्रतिवाद तथा सवाद होते हैं। इस प्रकार हीगल के द्वन्द्ववाद का आधार 'प्रत्ययवाद' था। सामाजिक विकासक्रम म वह परिवार को वाद, समाज को प्रतिवाद और राज्य सवाद के प्रत्यय के रूप म मानता है। विकास के इन तीन चरणो का आधार यह है कि किसी भी व्यवस्था या विचार म स्वय उसके विरोधी तत्त्व भी विद्यमान रहते हैं। वह स्वय पूर्ण नही होता। अत उसके विरोध के फलस्वरूप जो नया विचार उत्पन्न होता है वह प्रथम विचार (वाद) का प्रतिवाद होता है। प्रतिवाद भी अपूर्ण विचार होता है और उसम भी अन्तर्विरोध के कारण फिर नया प्रत्यय उत्पन्न होता है। इस नये प्रत्यय म वाद तथा प्रतिवाद की अच्छाइयाँ होती हैं और यह उन दोनो से भिन्न प्रकृति का होता है। परन्तु वह मौलिक रूप में इनसे भिन्न नही होता। कालान्तर मे सवाद म भी अन्तर्विरोधी तत्त्व उत्पन्न होने लगते हैं और पुन प्रतिवाद और सवाद की प्रक्रिया आरम्भ होती है। मानव इतिहास के विकास को इसी क्रम द्वारा समझा जा सकता है।

मार्क्स का हीगल से मतभेद—मार्क्स भी मानव विकास तथा सामाजिक विकास को द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ मानता है। परन्तु हीगल तथा मार्क्स के निष्कर्षों मे एक मौलिक अन्तर है। हीगल विचार (प्रत्यय) या आत्मा तत्त्व को प्रमुखता देते हुए समस्त विकास-क्रिया को प्रत्यय रूप म लेता है। मार्क्स हीगल के इस निष्कर्ष को कोरा रहस्यवाद कहता है। उसके मत से प्रत्यय रूप विश्वात्मा वास्तविकता नही है, प्रत्युत् 'भौतिक-इन्द्रिय-सापेक्ष जगत् जिससे मानव का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, वास्तविकता है।' इस प्रकार जहाँ हीगल के द्वन्द्ववाद का आधार प्रत्यय (idea) था, वहाँ मार्क्स के द्वन्द्ववाद का आधार पदार्थ (matter) है। मार्क्स के मत से सामाजिक विकास की प्रेरक शक्ति आर्थिक परिस्थितियाँ हैं। इसे आर्थिक नियतिवाद (economic determinism) भी कहा जाता है। मार्क्स के अनुसार विश्व भौतिक जगत् है। इसमे भौतिक वस्तुएँ तथा घटनाएँ एक दूसरी से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। भौतिक जगत् के परिवर्तनो के कारण सामाजिक जीवन मे भी परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु इस परिवर्तन क्रम म एक स्थिति ऐसी आती है जबकि परिमाणगत परिवर्तन से गुणवत् परिवर्तन एकाएक हो जाता है उदाहरणार्थ, जब पानी को ताप मिलता जाता है तो उसका तापक्रम बढ़ता जाता है, यह परिमाणगत परिवर्तन है। परन्तु 100° सेन्टीग्रेड तापक्रम हो जाने के बाद पानी उबलने लगता है और भाप मे परिवर्तन होने के कारण यह एकाएक होने वाला परिवर्तन गुणवत् परिवर्तन है। सामाजिक व्यवस्था मे भी परिवर्तन-क्रम शनै शनै चलता रहता है। परन्तु एक स्थिति ऐसी आती है जबकि सामाजिक व्यवस्था का गुणात्मक

स्वरूप एकाएक बदल जाता है, जैसे सामन्तशाही व्यवस्था के बाद पूँजीवादी व्यवस्था का हो जाना। मार्क्स की यह धारणा थी कि इस परिवर्तन-क्रम में विचार तत्त्व नहीं, अपितु आर्थिक तत्त्व (भौतिक तत्त्व) का प्रमुख कार्य-भाग रहता है। हीगल की भाँति ही मार्क्स भी विकास-क्रम के तीन चरणों (वाद, प्रतिवाद तथा संवाद) की कल्पना करता है। उसके अनुसार यदि सामन्तवादी व्यवस्था वाद है तो पूँजीवादी व्यवस्था प्रतिवाद, और पूँजीवाद के पश्चात् आने वाली समाजवादी व्यवस्था संवाद होगी।

विकास क्रम में आर्थिक तत्त्व का प्रमुख योगदान— मार्क्स की धारणा यह थी कि सामन्तवादी व्यवस्था में उत्पादन का लक्ष्य स्थानीय उपभोग होता था। परन्तु धीरे धीरे उत्पादन के साधनों के स्वामी उत्पादन बढ़ाकर पूँजी के रूप में सम्पत्ति अर्जित करने लगते हैं, और पूँजीपति बन जाते हैं। इस व्यवस्था में भी स्वयं इसके विनाश के दोष हैं। पूँजीपति मजदूर वर्ग का शोषण जारी ही नहीं रखते बल्कि उसे बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था सर्वहारा वर्ग की उत्पत्ति करती है। इस वर्ग का शोषण बढ़ने के कारण उसमें वर्ग-चेतना उत्पन्न होती है और कालान्तर में वह अपने शोषक (पूँजीपति) वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति करके उसे नष्ट करके समाजवादी समाज की स्थापना करता है। इस प्रकार समाजवादी विकास क्रम में उत्पादन सम्बन्ध (आर्थिक या भौतिक तत्त्व) ही द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया में कार्य करते हैं। प्रत्येक व्यवस्था में स्वयं अपने विनाश के अंकुर विद्यमान रहते हैं। अतः सामाजिक विकास प्रतिरोध का प्रतिरोध (negation of negation) है। भौतिक तत्त्व को ही इसका प्रधान कारण मानने के कारण मार्क्स का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना—मार्क्स के भौतिकवादी सिद्धान्तों के अन्तर्गत सामाजिक जीवन को नियमित करने वाली शक्तियों के रूप में धर्म, आध्यात्मिकता तथा ईश्वरीय सत्ता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उसके अनुसार सामाजिक गतिविधियों की वास्तविकता का आधार चेतना नहीं है बल्कि भौतिक पदार्थ है। मार्क्स का यह दृष्टिकोण उतना ही एकपक्षीय है जितना की हीगल का भौतिक तत्त्वों की उपेक्षा करके भावनामूलक प्रत्यय तत्त्व को महत्त्व प्रदान करना था। यह मानना सही नहीं है कि सामाजिक विकास क्रम में भौतिक तत्त्व ही एकमात्र नियामक शक्ति होती है। मार्क्स तथा ऐंजिल्स की धारणा में परिमाणगत से गुणवत् परिवर्तन के दृष्टान्त सामाजिक जीवन में सही रूप में लागू नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, ऐंजिल्स का यह दृष्टान्त तर्कसम्मत नहीं है कि जौ के दाने जमीन में बोने पर वह *स्वयं नष्ट होकर पौधा बन जाता है और बाद में जौ की बाल पर दाने लग जाते हैं* और पौधा नष्ट हो जाता है। यह परिवर्तन न तो गुणवत् कहा जा सकता, क्योंकि नया जौ का दाना गुणवत् परिवर्तन नहीं है, और न यह प्रक्रियावाद, प्रतिवाद तथा संवाद ही कहा जा सकता है। मार्क्स का मत है कि गुण परिवर्तन एकाएक होते हैं। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है। वैज्ञानिक गुण परिवर्तनों को आकस्मिक होने वाली क्रिया नहीं मानते। परन्तु इन तर्कों के बावजूद मार्क्स के द्वन्द्ववाद ने हीगल के ऊपर

सुधार किया और यह बताया कि सामाजिक विकास-क्रम केवल दैवी इच्छा के फलस्वरूप आप से आप रहस्यमय ढंग से नही होते, बल्कि इनमे भौतिक तत्वो की प्रधानता रहती है।

2 इतिहास की भौतिक व्याख्या

द्वन्द्ववाद के आधार पर मार्क्स इतिहास की भौतिक व्याख्या (Economic Interpretation of History or Materialistic Conception of History) करता है। उसके विचार से मानव-जाति का इतिहास केवल अतीत काल मे राजाओ के मध्य हुए युद्धो या विभिन्न युगो मे घटी हुई विविध घटनाओ का लेखा मात्र नही है। सामाजिक विकास-क्रम मे समय-समय पर घटने वाली घटनाओ तथा सामाजिक व्यवस्थाओ मे परिवर्तन होने के कारणो के अन्तर्गत आर्थिक तत्त्व प्रमुख होते हैं। समाज की विविध प्रकार की सस्थाओ (बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि) के निर्माण मे आर्थिक तत्त्व अर्थात् उत्पादन तथा वितरण प्रणालियो का योगदान रहता है। विविध प्रकार की उत्पादन प्रणालियो के अन्तर्गत दो प्रकार के वर्गों का अस्तित्व रहता आया है। एक वर्ग के हाथ मे उत्पादन के साधनो का व्यक्तिगत स्वामित्व रहता है। दूसरा वर्ग श्रमजीवियो का है, जो अपनी आजीविका के लिए पूर्वोक्त वर्ग पर आश्रित रहता है और उसके द्वारा शोषित होता है। इन दो परस्पर विरोधी वर्गों के मध्य एक प्रकार का सघर्ष बना रहता है और उसी सघर्ष के कारण नई व्यवस्था का सृजन होता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत मार्क्स इतिहास के पाँच कालो का उल्लेख करता है—(1) आदिम साम्यवादी युग, (2) दासमूलक समाज, (3) सामन्तवादी युग, (4) पूँजीवादी युग, तथा (5) पूँजीवाद के बाद आने वाला समाजवादी युग।

आदिम कालीन साम्यवादी समाज—उक्त क्रम मे इतिहास का सबसे प्रथम युग आदिमकालीन साम्यवादी व्यवस्था का युग है, जबकि लोगो की आवश्यकताएँ सीमित थी और प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग करता था। व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा परिवार की प्रथा नही थी। उत्पादन प्रक्रिया मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता से कार्य करता था और उत्पादित माल का उपभोग भी प्रत्येक अपनी आवश्यकतानुसार करता था। उदाहरणार्थ, जगली फल तथा कन्दमूलो का व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार उपभोग करते रहते थे। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति ने कोई जानवर मारा तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार उसमे से अपना भाग ले जाता था। व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे उत्पादित माल को सचित करने का प्रश्न नही था, और न वर्ग भेद या शोषण का प्रश्न था।

दासमूलक समाज—कृषि का आविष्कार हो जाने पर उत्पादन-प्रणाली मे परिवर्तन आ गया था। अब जानवरो को मारकर खाने के स्थान पर उन्हे पालने की आवश्यकता पडी। कृषि-भूमि की व्यवस्था के लिए स्थायी आवास बनाना भी आवश्यक हो गया। व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे मानवो ने कृषि-भूमि, मकान, पशु,

आदि का सग्रह करना शुरू किया। जिन लोगो के पास यह सम्पत्ति प्रचुर मात्रा मे थी उन्होने इसमे कार्य करने के लिए दासो को रखना शुरू किया। ऐसी सामाजिक व्यवस्था मे मालिक तथा दास दो वर्ग बन गये। मालिक केवल दासो के श्रम के उपभोक्ता ही नही थे, बल्कि दास के जीवन पर मालिक का पूर्ण अधिकार था।

सामन्तशाही समाज—जब भूमि उत्पादन का मुख्य साधन बन गयी तो समाज का नेता (राजा) समस्त भूमि का स्वामी भी बन गया। उसने थोडे से सामन्तो को भूमि के खण्ड बाँट दिये। शर्त यह थी कि राजा सामन्तो को सरक्षण देगा और सामन्त आवश्यकता पडने पर राजा को सैनिक सहायता तथा कर देंगे। सामन्तो ने भी इन्ही शर्तों पर भूमि के खण्ड उप-सामन्तों को, उप-सामन्तो ने किसानों को और किसानो ने अर्ध-दासो को दिये। इस प्रकार सामन्तशाही की एक शृखलाबद्ध परम्परा समाज मे बन गयी। इस परम्परा मे भी उत्पादन-कार्य अर्ध-दासो के श्रम से हुआ करता था। उनकी स्थिति मे कोई सुधार नही हुआ। उन्हे मालिको को बेगार देनी पडती थी। उत्पादित माल का अधिकाश भाग मालिको को मिलता था। *अर्ध-दास का शोषण ही होता था। परन्तु इस व्यवस्था मे यद्यपि मालिक (सामन्त)* अर्ध-दासो के श्रम के उपभोक्ता थे, तथापि उनका अपने शोषितो के ऊपर पूर्ण अधिकार नही था।

पूँजीवादी व्यवस्था का युग—*ऐसी सामाजिक व्यवस्था भी बहुत दीर्घकाल* तक नही चल सकी। दस्तकारी तथा लघु-उद्योगो के विकास ने उत्पादन प्रणाली मे परिवर्तन कर दिया। इससे पूर्व दास-वर्ग औजारो तथा उपकरणो का निर्माण अपने तथा अपने मालिको के उपयोग भर के लिए करता था। परन्तु अब इन वस्तुओ का उत्पादन बढने लगा और उनका व्यापार तथा विनिमय होने लगा। परिणामस्वरूप उद्योगपतियो तथा व्यापारियो के नये वर्ग की सृष्टि हुई। औद्योगिक उत्पादन-प्रणाली मे उत्पादन के साधनो के मालिक थोडे से व्यक्ति थे। श्रमिक तथा शिल्पी जिनके परिश्रम तथा कौशल से माल तैयार होता था, उत्पादन के साधनो के स्वामित्व से वचित थे। अत उद्योगपतियों ने उन्हें वेतन-प्रथा के आधार पर काम मे लगाना प्रारम्भ किया। यह वेतनभोगी वर्ग सामन्तवादी युग का अर्ध-दास वर्ग ही था। उद्योगपतियो तथा व्यापारियो के हाथ मे उद्योग तथा व्यापार के साधन थे। उन्होंने *श्रमिको तथा शिल्पियों का शोषण करना प्रारम्भ किया और लाभ से पूँजी* एकत्र करनी शुरु कर दी। पूँजी के बल पर इनकी शक्ति इतनी बढ गयी कि अब राजा तथा सामन्तो के ऊपर भी इस पूँजीपति वर्ग का प्रभाव हो गया।

वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप मशीनो तथा शक्ति के साधनो का आविष्कार होने लगा। अब व्यक्ति के श्रम, कौशल तथा शक्ति का महत्त्व कम होता गया। उत्पादन बढने लगा। बडे-बडे पूँजीपति ही इन मशीनो तथा कारखानो के मालिक हो सकते थे। अत उत्पादन बढने पर जो लाभ पूँजीपतियों को होने लगा उसमे उन्होने और अधिक मशीनें तथा यन्त्र खरीदने प्रारम्भ किये और उनके कारण मानव-श्रमिकों की *आवश्यकता घट गयी। परिणामस्वरूप श्रमिकों तथा शिल्पियो का* विशाल वर्ग बेकार होता गया। इनकी माँग कम तथा सख्या अधिक होने का

परिणाम यह हुआ कि उन्हे बहुत कम मजदूरी पर नियुक्त किया जाने लगा। साथ ही उनमे काम भी लम्बी अवधि तक लिया जाने लगा। इस वर्ग के लोगो की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी। उन्हे भरपेट भोजन, बच्चो की शिक्षा-दीक्षा, स्वस्थ परिस्थितियो म जीवन-यापन आदि सब दुर्लभ हो गये। दूसरी ओर पूँजी के मालिको का लाभ निरन्तर बढता गया और व मालामाल होते गये। उनका प्रभाव शासन-यन्त्र मे भी बढने लगा। परिणामस्वरूप शासको का उद्देश्य भी उसी वर्ग का हित करना होने लगा। जब मजदूरो की स्थिति इतनी खराब हो गयी तो उनमे भी वर्ग-चेतना विकसित होने लगी। इसी प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था ने सर्वहारा वर्ग की सृष्टि की।

आलोचना—मार्क्स पूँजीवाद के युग का विचारक था। अत इस युग की व्यवस्था ने उसे बहुत प्रभावित किया द्वन्द्ववाद के आधार पर वह इतिहास के भिन्न-भिन्न युगो के अभ्युदय को भौतिकवादी दृष्टिकोण से समझता है और पूँजीवाद का विश्लेषण भी इसी आधार पर करता है। उसका निष्कर्ष यह है कि ऐतिहासिक विकास क्रम मे भौतिक परिस्थितियो अर्थात् आर्थिक तत्त्वो का मुख्य योगदान रहता है। ऐतिहासिक घटना क्रम तथा परिवर्तन तत्कालीन उत्पादन तथा वितरण प्रणाली द्वारा निर्धारित होते हैं। मार्क्स के इस निष्कर्ष मे बहुत कुछ सत्यांश है। परन्तु इस सिद्धान्त को बहुत अधिक बढा चढाकर मानना अथवा ऐतिहासिक परिवर्तनो का एकमात्र कारण आर्थिक तत्त्वो को मानना उचित नही है। मार्क्स इस तथ्य की पूर्णतया उपेक्षा करता है कि सामाजिक व्यवस्थाओ के ऐसे ऐतिहासिक परिवर्तनो मे धर्म, राजनीतिक गति-विधियो, विचारो आदि का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। उदाहरणार्थ, पाकिस्तान का निर्माण आर्थिक तत्त्वो के कारण नही हुआ था। भारत मे हिन्दू शासन के पश्चात् मुसलमानो की शासन-सत्ता स्थापित हो जाने मे किसी भी प्रकार आर्थिक तत्त्वो के अस्तित्व को नहीं माना जा सकता। स्वय रूस मे, यदि लेनिन को वहाँ पहुँच जाने का अवसर न मिल पाता तो 1917 की क्रान्ति की कल्पना नही की जा सकती थी। वास्तव मे रूस मे जो क्रान्ति हुई वह पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध नही मानी जा सकती है। इन ऐतिहासिक घटनाओ का निर्वचन केवल उत्पादन व वितरण सम्बन्धो के सन्दर्भ मे ही नही किया जा सकता। अत मार्क्स के 'इतिहास की भौतिक व्याख्या' के सिद्धान्त को निरपेक्ष सत्य मानना उचित नही है। ऐतिहासिक विकास मे आर्थिक तत्त्व भी कार्य कर सकता है, परन्तु उसे एकमात्र निर्णायक तत्त्व नही माना जा सकता।

3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

श्रम तथा मूल्य के मध्य सम्बन्ध—एक अर्थशास्त्री किसी वस्तु के मूल्य (value) तथा दाम (price) के मध्य भेद करता है। किसी वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता द्वारा आँका जाता है। दाम का अभिप्राय उस वस्तु की विनिमय क्षमता से है। उपभोग की दृष्टि से जो वस्तु जितनी ही अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, उसी के अनुरूप उसका मूल्य बढता है परन्तु एक वस्तु के लिए दूसरी वस्तु का विनिमय भी

उन वस्तुओं के मूल्यों का निर्धारण करता है। मुद्रा के प्रचलन के कारण वस्तुओं का विनिमय मुद्रा के द्वारा होने लगा। इसी को वस्तु का दाम कहा जाता है। कदाचित् किसी वस्तु की विनिमय साध्यता भी उसके मूल्य का निर्धारण करती है। अतः उसकी विनिमय साध्यता का कोई मानदण्ड होना चाहिए। इस समस्या के उत्तर में मार्क्स ने रिकार्डो, सिसमण्डी आदि अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों को अपनाया है। इनके अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन में लगे श्रम तथा श्रम-समय के आधार पर निर्धारित किया जाता है। अर्थात् 'श्रम ही मूल्य की सृष्टि करता है' (Labour creates value)। वस्तु के उत्पादन में मशीन, कच्चा माल, औजार आदि का प्रयोग होता है और उन सबको उपलब्धि करने में लगे श्रम को भी जोड़कर उसके द्वारा उत्पादित वस्तु का मूल्य निर्धारित किया जाता है। इस सिद्धान्त की एक कठिनाई यह है कि इस प्रक्रिया में व्यय होने वाले श्रम समय का ज्ञान कैसे किया जाय ? एक कुशल श्रमिक किसी कार्य को पूर्ण करने में बहुत कम समय लगाता है तो दूसरा अत्यधिक। *मार्क्स के अनुसार श्रम समय का अभिप्राय उस समय से है जो* 'समाज की परिस्थितियों में औसत रूप से वस्तु विशेष के उत्पादन के लिए आवश्यक हो।' श्रम शक्ति का निर्धारण करने की कसौटी यह है कि श्रमिक ऐसी परिस्थितियों के अन्तर्गत कार्य करे जिसमें उसके स्वास्थ्य को हानि न पहुँचे और उसे अपने तथा अपने आश्रितों के जीवन-यापन के लिए समुचित पारिश्रमिक भी मिलता रहे।

अतिरिक्त मूल्य का अर्थ—पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन के समस्त साधनों का मालिक पूँजीपति होता है। श्रमिक वर्ग के पास अपने श्रम को बेचने के *अतिरिक्त और कोई साधन नहीं रहता। जिन वस्तुओं के उत्पादन में उसका श्रम* लगा है, उन वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण करने में भी उसका कोई हाथ नहीं रहता और न उसके श्रम से अर्जित मूल्य के लाभ का ही कोई अंश उसे मिल पाता है। यदि किसी वस्तु के उत्पादन में श्रमिक छः घण्टे प्रतिदिन कार्य करके अपनी श्रम-शक्ति का सही उपयोग करता है, तो यही श्रम शक्ति का सही मापदण्ड है। जब वह अपने श्रम को बेचता है तो उसे छः घण्टे प्रतिदिन श्रम करने का मूल्य प्राप्त होता है। परन्तु श्रमिक के श्रम का खरीदार (पूँजीपति) श्रमिक से 8 घण्टे (या अधिक) *प्रतिदिन काम लेता है और मजदूरी 6 घण्टे काम की ही देता है। यह 2 घण्टे* प्रतिदिन का श्रम अतिरिक्त श्रम है। श्रमिकों को इसका कोई लाभ नहीं मिलता। परन्तु इस अतिरिक्त श्रम के कारण उत्पादित वस्तु के मूल्य में जो वृद्धि होती है, वह सीधे पूँजीपति की जेब में चली जाती है। माना किसी व्यवस्था में 8 घण्टे श्रम-काय का औसत मूल्य 4 रुपये है और मालिक श्रमिक को केवल 6 घण्टे श्रम-समय की मजदूरी देता है तो 8 घण्टे कार्य करने के लिए श्रमिक को केवल 3 रुपये श्रम-शक्ति का मूल्य मिलेगा। इस प्रकार 1 रुपया अतिरिक्त श्रम का लाभ मालिक (पूँजीपति) को प्राप्त होगा। माना एक कारखाने के मालिक ने 1000 एेसे श्रमिकों को काम पर लगाया है, तो नित्य 1000 रुपये का अतिरिक्त मूल्य उसे मिल जायेगा। यही *अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (the Theory of Surplus Value)* है, जो पूँजीपति द्वारा श्रमिक के शोषण से अर्जित किया जाता है।

परिणाम—पूंजीवाद अधिकाधिक लाभ की प्रवृत्ति के कारण अधिकाधिक उत्पादन का लक्ष्य रखता है। अत उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होने से अतिरिक्त मूल्य मे भी वृद्धि होती जाती है। शोषण द्वारा प्राप्त इस लाभ का कुछ भाग तो पूंजीपति अपने सुख-वैभव की सामग्री जुटाने मे खर्च करता है और शेष को वह पुन उत्पादन कार्य मे लगाकर और अधिक यन्त्रो, मशीनो आदि के क्रय मे लगाता है जिससे उत्पादन अधिक तथा शीघ्र होता जाय। इसके फलस्वरूप श्रमिक वर्ग के कष्टो मे निरन्तर वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार अतिरिक्त मूल्य के निम्नांकित तीन परिणाम होते हैं—

(1) पूंजी सचय—मानव-श्रम की बचत के लिए अधिकाधिक उत्पादन के लालच मे आकर पूंजीपति इस अतिरिक्त मूल्य से यान्त्रिक साधनो की वृद्धि करता है। परिणामस्वरूप उत्पादन कार्य मे कम सख्या मे श्रमिको की आवश्यकता होती हैं, और जो श्रमिक काम मे लगाये जाते हैं उनकी मजदूरी भी कम कर दी जाती है और उनसे अधिक श्रम लिया जाता है। इस प्रकार जो लाभ बढता है उससे पूंजीपति की पूंजी मे निरन्तर वृद्धि होती जाती है।

(2) पूंजी का केन्द्रीकरण—पूंजीवाद का आधार प्रतियोगिता है। प्रत्येक पूंजीपति एक-दूसरे से इस रूप मे प्रतियोगिता करता है कि वह दूसरे को बिल्कुल समाप्त कर दे। परिणाम यह होता है कि छोटे-छोटे पूंजीपति नष्ट होते जाते हैं, क्योंकि वे बडे पूंजीपतियो के साथ प्रतियोगिता नही कर सकते। थोडे से पूंजीपति रह जाने पर पूंजी का केन्द्रीकरण होता जाता है और उत्पादन प्रणाली मे उन्ही का एकाधिकार हो जाता है।

(3) श्रमिको के कष्टों की वृद्धि—पूंजी सचय तथा पूंजी के केन्द्रीकरण के कारण मजदूरो की हालत और अधिक शोचनीय हो जाती है। उनमें बेकारी बढती है। थोडी सी मजदूरी मिलने पर उनका जीवन-यापन कठिन हो जाता है। उत्पादित माल अत्यधिक हो जाने से उसकी माँग कम हो जाती है और वह माल गोदामो मे पडा रहता है। कभी-कभी तो कारखानो को बन्द तक करना पडता है। अत श्रमिकों मे और अधिक बेकारी बढती है। इस प्रकार श्रमिको मे वर्ग-चेतना बढती है। वे पूंजीपतियो के विरुद्ध सगठित होने लगते हैं। इसके कारण वर्ग-सघर्ष की स्थिति आ जाती है। कालान्तर मे श्रमिक वर्ग पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति करने पर उतारू हो जाता है।

आलोचना—मार्क्स द्वारा प्रतिपादित अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त इस सिद्धान्त पर आधारित है कि 'श्रम ही मूल्य की सृष्टि करता है।' परन्तु वास्तव मे वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण मे पूंजी, कच्चा माल, उपकरण, मालिक द्वारा चुकाये जाने वाले कर, अनेक प्रकार के खतरो (risk) आदि का भी महत्त्वपूर्ण भाग होता है। यदि मार्क्स इस सिद्धान्त को पूंजीपति द्वारा श्रमिक के शोषण का सिद्धान्त कहता तो वह अधिक उपयुक्त नाम होता, क्योंकि पूंजीपति श्रमिक की आर्थिक दुर्बलता का लाभ उठाकर उससे अतिरिक्त श्रम लेता है और उसका पारिश्रमिक नही देता। मजदूरों में बेकारी होना तथा उन्हें कम मजदूरी देना अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त से इतना सम्बन्ध नहीं

रखता जितना माँग तथा पूर्ति के नियम से सम्बन्ध रखता है। वास्तव मे मार्क्स का उद्देश्य वर्ग-संघर्ष तथा सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के सिद्धान्त को एक क्रमबद्ध ढंग से समझाना था। अतः वह अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को लेकर सर्वहारा वर्ग की उत्पत्ति, उसमे वर्ग-चेतना की वृद्धि तथा उसे क्रान्ति के लिए प्रेरित होने के सिद्धान्त की पुष्टि करता है। अन्यथा श्रमिकों की दशा का सुधार वैधानिक तरीकों से भी किये जाने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा सकता था। राज्य के हस्तक्षेप द्वारा न्यूनतम वेतन, श्रमिक कल्याण, श्रम समय तथा मूल्य-निर्धारण आदि की व्यवस्था करके श्रमिकों की दशा सुधारी जा सकती थी, जिसके कारण श्रमिकों का शोषण रुक सकता था।

4 वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त

समाज मे परस्पर विरोधी दो वर्गों का अस्तित्व—*मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त उसके पूर्वोक्त तीन सिद्धान्तो का ही विस्तार है। मार्क्स ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि मानव जाति का ऐतिहासिक विकास वर्ग-संघर्ष के कारण ही होता आया है। इतिहास के विभिन्न युगो मे सदैव ही समाज के अन्दर दो परस्पर विरोधी सामाजिक वर्गों का अस्तित्व रहा है। इन वर्गों की सृष्टि आर्थिक आधारो पर हुई थी। 'सामाजिक वर्ग' की व्याख्या करते हुए मार्क्स कहता है कि यह समाज* मे उत्पादन क्रिया मे लगे हुए उन व्यक्तियो का समूह है जो एक-सा कार्य सम्पन्न करते हैं, जिनका दूसरे व्यक्तियो के साथ एक-सा सम्बन्ध होता है और जिनके आम हित समान होते हैं एक वर्ग कहलाता है। मार्क्स का निष्कर्ष है कि विभिन्न ऐतिहासिक युगो मे समाज के अन्दर दो ऐसे वर्गों का अस्तित्व रहा है जिनमे से एक उत्पादन के साधनो का मालिक तथा दूसरा उत्पादन प्रक्रिया मे अपने श्रम के द्वारा उत्पादन कार्य करता रहा है। आदिम साम्यवादी व्यवस्था को छोड़कर शेष सभी मे यही स्थिति रही थी। इन दो वर्गों के हित एक दूसरे के विरोधी होने के कारण उनके मध्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे संघर्ष चलता रहता है। इसका मुख्य कारण यह था कि एक वर्ग शोषको का तथा दूसरा शोषितो का था। उनके संघर्ष के परिणाम-स्वरूप ही या तो समाज का क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण हुआ या संघर्षरत वर्गों का विनाश हुआ।

पूँजीवाद तथा वर्ग-संघर्ष—मार्क्स का उद्देश्य अपने युग की पूँजीवादी व्यवस्था के अनौचित्य को सिद्ध करते हुए उसके विनाश के निमित्त एक व्यावहारिक समाधान के कार्यक्रम को प्रस्तुत करना था। उसके विचार से पूँजीवाद का विनाश स्वयं उसमे विद्यमान अन्तर्विरोधो तथा दुर्बलताओ के कारण होगा। पूँजीवाद मे पूँजी-संचय, प्रतियोगिता, पूँजी का केन्द्रीकरण आदि ऐसी धारणाएँ विद्यमान रहती हैं, जिनके कारण श्रमिक वर्ग के कष्टों की वृद्धि होती जाती है। इसमे इनमे वर्ग-चेतना बढ़ती है। उत्पादन के केन्द्रीकरण तथा स्थानीयकरण के कारण श्रमिक वर्ग को संगठित होने का अवसर मिलता है। शोषित सर्वहारा वर्ग की सम्यात्मक शक्ति बढ़ती जाती है। वे अपनी माँगों के प्रति जागरूक होने लगते हैं। पूँजीपतियों की

सम्पा कम होने का परिणाम यह होता है कि उनके हाथ मे उद्योगो का एकाधिकार आ जाता है और पजी बढने के कारण वे उसे विदेशो मे लगाते हैं। वहाँ भी वे शोषण का क्रम जारी रखते हैं। इसके कारण सवहारा वग की चेतना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकसित होती है। पूजीपति वग अपना प्रभाव राज्य तथा शासन पर भी बनाये रखना है जिससे कि सवहारा वग के आन्दोलन का दमन किया जा सके और राज्य ऐसे कानून न बनाये जो कि पूजीपति वग के अहित म हो। इन सबका परिणाम यह होता है कि सगठित सवहारा वग जब अपने ऊपर किये जा रहे अत्याचारो तथा शोषण को और अधिक महन करने मे असमथ हो जायेगा तो वह पूजीवाद के विरुद्ध क्रान्ति करेगा। पूजीपति उसे दबाने मे शासन सत्ता की महायता लेने का प्रयास करगे। अत सवहारा वग राज्य के विरुद्ध भी क्रान्ति करेगा। यदि बल प्रयोग द्वारा उसे दबाने का प्रयास किया जायेगा तो वह भी हिसात्मक क्रान्ति का अवलम्बन करेगा। यह क्रान्ति तभी समाप्त होगी जबकि सवहारा वग न केवल उत्पादन के साधनो को ही पूजीपति से छीन लेगा बल्कि पूजीपतियो को सरक्षण देने वाले राज्य की सत्ता को भी अपने हाथ म ले लेगा।

आलोचना—मार्क्स का वग सघप का सिद्धान्त भी उसके अपने दृष्टिकोण के एकाकी पक्ष का प्रतिपादन करता है। मार्क्स ने आर्थिक आधार पर निर्मित होने वाल दो वर्गों की कल्पना हर युग के सम्बन्ध मे की है। उसका यह दृष्टिकोण निरपेक्ष सत्य नही है। समाज मे जिन वर्गों का अस्तित्व रहता है उनकी उत्पत्ति का आधार सदैव आर्थिक परिस्थितिया या उत्पादन सम्बन्ध ही नही हुआ करते। यह बता सकना बहुत कठिन है कि समाज के अन्दर कितने वग हैं उनकी सृष्टि कैसे होती है और उनके मध्य परस्पर क्या सम्बन्ध रहते है। सामाजिक विकास तथा परिवतन केवल वग सघप के कारण ही नही होते। मार्क्स के इस दृष्टिकोण की सत्यता को मानकर उसके अनुयायी जहा वग सघर्ष नही भी होगा वहा वग सघप की कल्पना कर लेते हैं। अत वग सघप कोई सावभौम सिद्धान्त न होकर मार्क्स की एक ऐसी धारणा है जिसका औचित्य वह सवहारा वग की क्रान्ति की अपरिहायता को सिद्ध करने के लिए प्रदर्शित करता है।

मार्क्सवादी ऐतिहासिक विकास की धारणा को केवल वर्ग सघप का परिणाम नहीं माना जा सकता। स्वय रूस मे जहाँ लेनिन के नेतृत्व म सवहारा वग की क्रान्ति हुई थी ऐसी पूजीवादी व्यवस्था तथा वग सघप का अस्तित्व नहीं था जैसा कि मार्क्स के इस सिद्धान्त मे दर्शाया गया है। साम्राज्यवाद के विकास का कारण भल ही पूजीवाद हो परन्तु उसके विनाश का दायित्व वग सघप पर नही है प्रत्युत राष्ट्रीयता की भावना के विकास पर है। भारत विभाजन भले ही दो पृथक् वर्गों के पारस्परिक सघप के कारण हुआ था परन्तु इन वर्गों की उत्पत्ति का आधार मार्क्सवादी धारणा का वग सघप नही था। समाज म यदि किसी भी आधार पर वर्गों का अस्तित्व होता है तो यह मानना सही नही कि उनमे सघप ही रहता है। यहाँ तक कि पूजीपति तथा श्रमिक वग के मध्य भी सघप की अपेक्षा समन्वय तथा सहचार,के अस्तित्व से इनकार नही किया जा सकता। वग सघप के परिणामस्वरूप

जिस व्यवस्था की कल्पना मार्क्स ने की है, उसकी व्यावहारिकता संदिग्ध है। साथ ही समाजवाद की स्थापना का आधार वर्ग-संघर्ष ही नहीं है, प्रत्युत् जैसा कि विकासवादी समाजवाद की विचारधाराएँ मानती हैं, वर्ग समन्वय के द्वारा समाजवाद अच्छी तरह स्थापित किया जा सकता है। मार्क्स की यह मान्यता भी भ्रामक है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत दो परस्पर विरोधी वर्ग होते हैं। इंग्लैण्ड तथा अमरीका पूँजीवाद के सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त हैं, परन्तु वहाँ ऐसे परस्पर विरोधी तथा संघर्परत शोषक एवं शोषित वर्गों का अस्तित्व नहीं पाया गया है, जैसा कि मार्क्स ने बताया है। अतः वर्ग-संघर्ष की कल्पना मार्क्स की सैद्धान्तिक हठधर्मिता है, जिसका उद्देश्य क्रान्ति के औचित्य का आधार प्रस्तुत करना था।

5 अलगाव की अवधारणा (Concept of Alienation)

'अलगाव' एक पुराना मनोविकृति सम्बन्धी शब्द है जिसका अर्थ है 'वैयक्तिक पहचान' (personal identity) अथवा वैयक्तिक पहचान का विलुप्तीकरण (loss of personal identity)। मार्क्स ने इस शब्द का प्रयोग पूँजीवादी अर्थतन्त्र में मनुष्य की स्थिति के सन्दर्भ में किया है। मार्क्स की यह मान्यता रही कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य की उत्पादन क्रियाएँ अन्ततोगत्वा मनुष्य के अलगाव में परिणत होती हैं। पूँजीवादी अर्थतन्त्र में मजदूर जो वस्तुएँ उत्पादित करता है उनसे वह एक प्रकार से अलग हो जाता है, क्योंकि उसके द्वारा जिन वस्तुओं का उत्पादन होता है, उनका उपभोग दूसरे व्यक्ति तो करते हैं परन्तु मजदूर उनके लिए तरसता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूरों में अलगाव की स्थिति का उदय निजी सम्पत्ति के कारण हुआ। आगे मार्क्स ने यह भी लिखा है कि एक दृष्टि से निजी सम्पत्ति का उदय इस अलगाव से हुआ है। निजी सम्पत्ति की अवधारणा पर अपने विचार व्यक्त करते हुए मार्क्स ने लिखा है "परन्तु इस अवधारणा के विश्लेषण से यह स्पष्ट है यद्यपि निजी सम्पत्ति मजदूरों में अलगाव की स्थिति को जन्म देने वाला मुख्य स्रोत प्रतीत होती है, वस्तुतः वह उसका उसी प्रकार परिणाम है जिस प्रकार आरम्भ में भगवान मनुष्य की मतिभ्रम का परिणाम है, कारण नहीं।"[2]

पूँजीवादी अर्थतन्त्र के समर्थकों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि अलगाव मानव प्रकृति का स्थायी अभिशाप है। मनुष्य का वास्तविक यथार्थ (true essence) अनुभवातीत (transcerdental) है, और हर एक आर्थिक पद्धति में उसकी यह स्थिति बनी रहती है चाहे वह पद्धति पूँजीवादी हो या समाजवादी। इस आधार पर पूँजीवादी विचारकों ने कहा है कि मनुष्य को अपने अन्य साथियों के साथ संविदा करने की अथवा उनके साथ सामूहिक रूप से आचरण करने की आवश्यकता नहीं है। उन सामाजिक अन्याय, दमन तथा शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए सामूहिक आन्दोलनों को संगठित करने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका यह दुर्भाग्य स्वयं में उसके अलगाव में से पैदा होता है जो मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है। इन सिद्धान्तकारों ने यह बात आग्रहपूर्वक कहा है कि मनुष्य का यह दुर्भाग्य निजी सम्पत्ति के कारण पैदा नहीं होता और न उसका विलुप्तीकरण

निजी सम्पत्ति की समाप्ति के बाद सम्भव ही हो सकेगा। अलगाव से छुटकारा तो मनुष्य को मानव अस्तित्व की समाप्ति पर ही प्राप्त हो सकता है।

'अलगाव' शब्द का प्रयोग मार्क्स ने अपनी अनेक रचनाओ मे किया है परन्तु उसका यह प्रयोग काल्पनिक नही है। उसने पूंजीवादी उत्पादन की पद्धति मे मनुष्य की स्थिति का विश्लेषण करने के लिए इस शब्द को प्रयुक्त किया था। श्रमिक के परिश्रम से उत्पादित वस्तु पर उसका अपना नियन्त्रण नही रहता है। उस पर आधिपत्य होने का प्रश्न ही नही है। यही नही इस उत्पादन की पद्धति मे मनुष्य दासता के बन्धनो मे जकड जाता है। वस्तु के उत्पादन म वह अपना श्रम लगाता है। उसके साथ अपना जीवन मिला देता है, परन्तु उसके श्रम और उसके जीवन से उत्पादित वस्तु उससे अलग ही नही हो जाती, वह उसके मुकाबले मे एक विरोधी शक्ति की रचना करती है। पूंजीवादी अर्थतन्त्र मे श्रमिक के औजार (implements of labour) जिनका निर्माण मजदूर स्वय करता है और जो उसकी मजदूरी और चिन्तन के प्रतीक हैं, उन पर भी उसका कोई नियन्त्रण नही होता। वास्तव मे वे भी उसके शोषण का साधन बन जाते हैं। मार्क्स ने लिखा है 'वह जितने मूल्यो की रचना करता है उतना ही अधिक वह मूल्यहीन होता जाता है, वह उतना ही अधिक अयोग्य होता जाता है वह जितनी अधिक अच्छी वस्तु का उत्पादन करता है वह उतना ही अधिक विकृत हो जाता है।' यही स्थिति केवल पूंजीवादी अर्थतन्त्र पर ही लागू होती है। परन्तु पूंजीवादी सिद्धान्तकारो ने इस स्थिति को इस प्रकार प्रस्तुत किया है जैसे वह स्थायी एव अनिवार्य हो, अपरिहार्य हो।

अलगाव की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने अपनी एक अन्य पुस्तक 'On the Jewish Question' मे लिखा है 'द्रव्य मनुष्य के अलगाव की अभिव्यक्ति है। यह विजातीय तत्व मनुष्य के ऊपर शासन करता है और वह उसकी पूजा करता है।' मार्क्स का अपवर्तित मनुष्य (alienated man) वह व्यक्ति है जो स्वार्थपूर्ण आवश्यकताओ के अधीन उत्पादन करता है। वह विवशता जो स्वतन्त्र रूप से रचनात्मक उत्पादन की प्रवृत्ति को अपवर्तित श्रम म परिवर्तित कर देती है, वह वास्तव म धन को एकत्रित करने की विवशता है।

इस सन्दर्भ मे मार्क्स ने लिखा है कि मनुष्य जितना कम खाता और व्यय करता है, वह अपनी आवश्यकताओ को जितना मर्यादित करता है उतना ही वह धन बचा लेता है और वही धन कालान्तर मे उसकी पूंजी बन जाता है। इस प्रकार मनुष्य अपने को जितना घटाता है, उतना ही उसके पास अधिक द्रव्य होना जाता है। वह अपने जीवन को जितना कम अभिव्यक्त करता है, उतना ही अधिक अपवर्तित वस्तु का सग्रह होता जाता है। यह अपवर्तित वस्तु जिसकी रचना उसके स्वय के द्वारा होती है उसके ऊपर शासन करने लगती है। मार्क्स ने इस अपवर्तित वस्तु को पूर्णत विजातीय शक्ति (alien power) के रूप मे मान्यता प्रदान की है जो आज समूचे मानव अस्तित्व के ऊपर हावी है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि अलगाव पूंजीवादी अर्थतन्त्र की विशेषता है। समाजवादी समाज मे इस प्रकार के अलगाव के लिए कोई स्थान नहीं है। उस,

समाज में एक पूर्ण रूप से सक्रिय मनुष्य के विकास का लक्ष्य सामने रहता है जो अपने काम को जानता है और उससे प्यार करता है। वह जो कुछ करता है उसमें मानवीयता अभिव्यक्त होती है और इसलिए वह यह कहने का अधिकारी है कि 'मैं ऐसी किसी भी वृत्ति के प्रति उदासीन नहीं हूँ जिससे मानवता का सम्बन्ध है।' यथार्थ में इस नये समाज का निर्माता यह नया मनुष्य है।

6 सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का सिद्धान्त

एक संक्रमण-कालीन व्यवस्था—मार्क्स के मत से पूँजीवाद की समाप्ति का उपाय वर्ग-संघर्ष को तीव्र करना है। वर्ग-संघर्ष की तीव्रता से सर्वहारा वर्ग की चेतना बढ़ेगी। वह समुचित ढंग से संगठित होगा। इस वर्ग का प्रतिनिधित्व साम्यवादी दल करेगा। श्रमिक लोग संघों में संगठित होकर अपनी माँगों की पूर्ति के लिए आन्दोलन करेंगे। यह क्रान्ति साम्यवादी दल के नेताओं के नेतृत्व में एक साथ सर्वत्र प्रारम्भ होगी। इसका उद्देश्य पूंजीपतियों को उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से वंचित करना होगा। पूंजीपति इसका विरोध करने के लिए राज्य की सत्ता का सहारा लेंगे। अतः प्रतिरोध के लिए सर्वहारा वर्ग को भी हिंसा का सहारा लेना पड़ेगा। मार्क्स का विश्वास है कि सर्वहारा वर्ग अपनी संगठित जन-शक्ति के बल पर विजयी होगा। अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने तथा शोषक वर्ग को पुनः न विकसित होने देने के लिए यह आवश्यक है कि संघर्ष में विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त सर्वहारा वर्ग न केवल उत्पादन के साधनों पर अपना स्वामित्व बनाकर पूंजीपतियों का विनाश करेगा, बल्कि संक्रमण काल में राज्य की समस्त सत्ता तथा अभिकरणों (पुलिस, सेना, न्याय-प्रशासन, वित्त, शिक्षा, अर्थव्यवस्था आदि सभी) पर भी सर्वहारा *वर्ग का अधिनायकत्व (dictatorship of the proletarians) स्थापित होगा।* यह स्मरणीय है कि मार्क्स की विचारधारा में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को केवल संक्रमणकालीन व्यवस्था माना गया है, अर्थात् यह व्यवस्था तभी तक चलेगी जब तक कि पूँजीवाद का पूर्णतया विनाश न कर दिया जाय और समाज से दो परस्पर विरोधी वर्गों का अन्त करके वर्ग-विहीन समाज की स्थापना न हो जाय। जब ऐसी व्यवस्था का निर्माण हो जायेगा तो फिर राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी, वह स्वयं समाप्त हो जायेगा और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की धारणा भी समाप्त हो जायेगी।

आलोचना—मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का सिद्धान्त वस्तुतः तत्कालीन पूंजीवादी व्यवस्था वाले राज्य के विरुद्ध क्रान्ति का सिद्धान्त है। मार्क्स इसे सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति कहता है। परन्तु वास्तव में यह क्रान्ति संगठित सर्वहारा वर्ग द्वारा नहीं की जायेगी। इसका निर्देशन तथा संचालन करने वाला एक ऐसा वर्ग होगा जो न पूंजीवादी है और न वास्तव में सर्वहारा वर्ग। यह एक मध्यम बुद्धिजीवी वर्ग है, जो साम्यवादी दल के रूप में संगठित होकर राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करेगा और पूंजीवादी तत्वों की समाप्ति करने के निमित्त सर्वहारा वर्ग का समर्थन जुटाता रहेगा। क्रान्ति की सफलता हो जाने पर यही वर्ग राज्य में

पूर्ण सत्ताधारी बन जायगा। रूस, चीन आदि विभिन्न साम्यवादी देशों में मार्क्सवाद पर आधारित तथाकथित सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व वास्तव में साम्यवादी दल के अधिनायकत्व के रूप में ही स्थापित हुआ है। यद्यपि यह अधिनायकत्व केवल *सक्रमणकालीन व्यवस्था बतायी गयी है, तथापि यह तो मार्क्सवाद पर आधारित साम्यवादी देशों का इतिहास बतायेगा कि यह अधिनायकवाद सक्रमणकालीन है या* चिरस्थायी व्यवस्था। मार्क्स का विश्वास था कि क्रान्ति के उपरान्त जो व्यवस्था कायम होगी वह समाजवाद की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करेगी। परन्तु यह धारणा पूर्णरूप से विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। हो सकता है कि वह फासीवाद में परिणत हो जाय। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व साम्यवादी दल के एक नेता की तानाशाही हो सकती है, जैसी कि लगभग सभी साम्यवादी देशों में दृष्टिगोचर हुई है। *इन देशों में जिस प्रकार नागरिकों की स्वतन्त्रताओं का दमन किया जाता है, उससे यह लगता है कि वहाँ लोकतन्त्र नहीं आ सकेगा। समाजवाद तथा निरंकुश* सत्तावाद परस्पर विरोधी धारणाएँ हैं। समाजवाद की कल्पना लोकतन्त्र के अभाव में नहीं की जा सकती।

7 राज्य तथा समाज

राज्य सम्बन्धी धारणा—मार्क्स की राजनीतिक विचारधाराएँ राज्य सम्बन्धी विविध धारणाओं *तथा आदर्शों का चिन्तनात्मक तथा दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत नहीं* करतीं बल्कि उन्हें पूँजीवाद की समाप्ति के निमित्त एक कार्यक्रम का दार्शनिक आधार माना जाना अधिक उपयुक्त है। मार्क्स ने राजनीतिक समाज के स्वरूप, उत्पत्ति आदि सब बातों का विवेचन भौतिकवादी दृष्टिकोण से किया है। वह परम्परागत राज्य व्यवस्थाओं का विरोधी है। उसने कहा है कि 'राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग को आक्रान्त करने वाले यन्त्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'[1] अन्यत्र उसने यह भी कहा है कि 'राज्य बुर्जुआ वर्ग की एक कार्यकारिणी समिति है।'[2] ऐन्जिल्स का भी यही मत था कि 'राज्य प्राकृतिक संस्था नहीं है बल्कि सामाजिक वर्गों की कृति है।' *राज्य के सम्बन्ध में मार्क्स तथा ऐन्जिल्स का ऐसा दृष्टिकोण राज्य की धारणा का भौतिकवादी स्वरूप मात्र प्रस्तुत करता है।* इसके अनुसार राज्य एक प्रकार का वर्ग संगठन मात्र है, जिसमें उत्पादन के भौतिक साधनों के स्वामी वर्गों के हाथ में राज्य की समस्त सत्ता तथा संस्थाओं का नियन्त्रण रहता है और वे वर्ग अपने हित-साधन में ही इन सबका प्रयोग करते हैं। ऐसी व्यवस्थाओं में लोक-हित, न्याय, लोकतन्त्र आदि की धारणाओं को तोड़ मरोड़ कर व्यक्त किया जाता है। मार्क्स के मत से तथाकथित लोकतन्त्री राज्यों में निर्वाचन का अर्थ होता है 'प्रति चार या पाँच वर्ष पश्चात् शोषित वर्ग अपने शोषकों को पुनः चुनने का अधिकार रखता

[1] 'State is nothing more than a machine for the oppression of one class by another.'

[2] 'State is the executive committee of the bourgeoisie.'

है।' मार्क्स का उद्देश्य ऐसे पूँजीवादी राज्य का विनाश करना था जिसमें परस्पर विरोधी शोषक तथा शोषित वर्गों का अस्तित्व है। मार्क्स की यह धारणा थी कि यदि समाज से अन्यायी शोषक वर्ग का अन्त कर दिया जाए तो फिर वर्ग विहीन समाज में राज्य जैसी संस्था की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि राज्य तो वर्ग-हितों का साधन करने वाला यन्त्र मात्र है। अत मार्क्सवादी धारणा ऐसे समाज की स्थापना पर बल देती है जो वर्ग विहीन तथा राज्य-विहीन (a classless and stateless society) हो।

समाज सम्बन्धी धारणा—मार्क्स निवर्तमान या अतीत के समाजों का विवेचन इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सन्दर्भ में ही करता है। स्पष्टतया वह आदिम युग के साम्यवादी समाज का प्रशंसक है, जिसमें न वर्ग-भेद था, न वर्गगत आधार पर समाज का संचालन होता था। सम्भवत मार्क्स ऐसे ही वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का स्वप्न देख रहा था, जिसमें शोषण प्रथा का पूर्णतया अन्त कर दिया जाय। यद्यपि भावी समाज का स्वरूप कैसा होना चाहिए उसका सही सही चित्रण मार्क्स ने नहीं किया है, न ऐसा सम्भव ही था, फिर भी जिस समाजवादी व्यवस्था की कल्पना मार्क्स ने की है वह आदिम-युगीन साम्यवादी समाज के सदृश होना चाहिए। परन्तु वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक विकास के युग में ऐसे साम्यवादी समाज का भावी स्वरूप आदिम-युगीन समाज से स्पष्टतया भिन्न, अथच अधिक सभ्य तथा श्रेष्ठ प्रकृति का होगा। इस समाज में उत्पादन के साधनों का स्वामित्व सम्पूर्ण समाज के हाथ में रहेगा। समाज से शोषक वर्ग का पूर्णतया अन्त कर दिया जायेगा। उत्पादन का उद्देश्य किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष का हित-साधन न होकर सम्पूर्ण समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करना होगा। अत उत्पादित माल का उपभोग भी सम्पूर्ण समाज करेगा। इस व्यवस्था में प्रतियोगिता के आधार पर उत्पादन करने का प्रश्न नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति श्रमिक होगा और अपनी क्षमता के अनुसार सम्पूर्ण समाज के हित में कार्य करेगा। कोई व्यक्ति बेकार नहीं रहेगा। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को निर्धारित न्यूनतम श्रम करना होगा। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक संरक्षण प्राप्त रहेगा अत किसी की स्वतन्त्रता नहीं छिन सकेगी। सामाजिक जीवन सहकारितापूर्ण होगा। इसमें श्रम का महत्त्व इतना अधिक बढ़ जायगा कि उसे जीवन की एक मौलिक आवश्यकता के रूप में समझा जायेगा। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन का कार्य नियोजित ढंग से होगा, ताकि अत्यधिक उत्पादन हो जाने से बरबादी न हो, और उत्पादन इतना कम भी न हो कि जनता की आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें। मार्क्स ने यह घोषणा की है कि समाजवादी समाज की स्थापना के निमित्त उसके झण्डे में यह नारा अंकित किया जायगा कि इस समाज में 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करता है और प्रत्येक को अपनी आवश्यकता के अनुसार लाभ प्राप्त होता है' (from each according to his ability to each according to his need)। जब सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की हो जायेगी कि उसमें न कोई शोषक होगा न शोषित और प्रत्येक व्यक्ति श्रम करेगा तथा कोई व्यक्ति बेकार नहीं रहेगा न किसी को अपनी आवश्यकता की

वस्तुओं को जुटाने में अनावश्यक परेशानी करनी पड़ेगी, तो जीवन के अन्यन्य क्षेत्रों में भी प्रगति होगी। साहित्य, विज्ञान, शिक्षा, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में समाज प्रगति की ओर अग्रसर होगा। जनता का जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा। ऐसे समाज में व्यक्ति समानता, स्वतन्त्रता तथा न्याय की धारणाओं का उपभोग करेगा।

आलोचना—राज्य के सम्बन्ध में मार्क्स का दृष्टिकोण नकारात्मक है। प्लेटो से लेकर मार्क्स के काल तक अनगिनत चिन्तकों ने राज्य को मानव के हित में एक विध्यात्मक भलाई के रूप में चित्रित किया था। परन्तु मार्क्स राज्य की ऐसी परम्परागत धारणा को एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का यन्त्र मात्र बताकर उसकी समाप्ति की कल्पना करता है। मार्क्स का यह अराजक दृष्टिकोण सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों दृष्टियों से सही नहीं माना जा सकता। माना कि राज्य ऐसा ही वर्ग संगठन है जैसा मार्क्स तथा एन्जिल्स उसे मानते हैं और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके वर्ग विहीन समाज की स्थापना का स्वप्न देखते हैं, तो यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के पश्चात् समाज पूर्णतया वर्ग विहीन हो जायेगा। वास्तविकता तो यह है कि स्वयं सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का आह्वान एक ऐसे मध्यम वर्ग द्वारा किया जायेगा जो पूँजीपति तो नहीं है, अतः शोषक वर्ग नहीं कहा जा सकता, परन्तु वह सर्वहारा वर्ग भी नहीं है। यही वर्ग क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग के नाम पर राज्य की सत्ता का मालिक बन बैठेगा। अतः वर्ग-विहीन समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। मार्क्सवाद पर निर्मित साम्यवादी राज्य व्यवस्थाओं की प्रक्रिया यही दर्शाती आ रही है कि उन राज्यों में साम्यवादी दल का अधिनायकवाद विशुद्ध रूप में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद नहीं रह पाया है।

मार्क्स का यह विश्वास है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति हिंसात्मक भी हो सकती है। अतएव हिंसा तथा बल-प्रयोग के द्वारा पूँजीवादी राज्य व्यवस्था का अन्त किया जायेगा। क्रान्ति के नेता निरन्तर बल-प्रयोग द्वारा प्रतिक्रान्तिकारी तत्वों का दमन करते रहेंगे। इस प्रकार से निर्मित राज्य व्यवस्था का आधार इच्छा नहीं बल्कि शक्ति होगा। शक्ति पर आधारित व्यवस्था कब तक टिकेगी, यह बता सकना कठिन है। मार्क्स का कहना है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व संक्रमण-कालीन व्यवस्था है। जब पूँजीवाद का अन्त हो जायेगा तो राज्य स्वयं तिरोहित हो जायेगा (the state will wither away), उसकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी और राज्य-विहीन समाज की आदर्श व्यवस्था कायम हो जायेगी। मार्क्स की यह धारणा सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से गलत सिद्ध हुई है। सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य विहीन समाज की कल्पना नितान्त भ्रामक है। सभ्य समाज कभी भी राज्य-विहीन नहीं रहा, न उसे ऐसा रहना चाहिए। यदि इस बात में थोड़ी भी सत्य की मात्रा होती तो रूस में जहाँ मार्क्सवाद को लेकर 1917 में क्रान्ति की गयी थी और तभी सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम हो गया था, वहाँ राज्य के तिरोहित होने के लक्षण नहीं दिखाई देते। रूसी नेताओं ने आज से लगभग 40 वर्ष पूर्व यह दावा किया था कि वहाँ पूँजीवाद समाप्त हो चुका है, पर आज रूसी क्रान्ति के 60

वर्ष से भी अधिक लम्बी अवधि में राज्य के तिरोहित होने की बात तो दूर रही, बल्कि साम्यवादी दल के अधिनायकत्व में राज्य को और अधिक सुदृढ़ बनाया जा रहा है। ऐसी स्थिति में राज्य के तिरोहित होने की धारणा नितान्त भ्रामक सिद्ध हुई है। जिस दल को एक बार सत्ता का स्वाद लग चुका है, वह दुबारा स्वयं सत्ता त्याग देगा ऐसी कल्पना निरर्थक है। उल्टे वह अपनी सत्ता को और अधिक भ्रष्ट तरीके से प्रयुक्त करे तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि 'सत्ता भ्रष्ट होती है और निरंकुश सत्ता निरंकुश रूप से भ्रष्ट होती है' (Power corrupts and absolute power corrupts absolutely)।

साम्यवादी राज्यों में जहाँ मार्क्स के सिद्धान्तों को अपनाकर क्रान्तियाँ की गयी थीं और साम्यवादी दलों ने दमन तथा बल-प्रयोग द्वारा सत्ता अपनायी है, वहाँ की स्थिति यह बताती है कि लोकतन्त्र का गला घोंटकर जनता की स्वतन्त्रता का दमन किया गया है और सर्वाधिकारवादी (totalitarian) व्यवस्थाएँ कायम की गयी हैं। इस दृष्टि से मार्क्स की राज्य-सम्बन्धी धारणाओं में कोई सत्यांश नहीं है। भावी समाज के बारे में मार्क्स की धारणा स्वप्नलोकी प्रतीत होती है। क्रान्ति के पश्चात् समाज का वास्तविक रूप क्या होगा इसकी भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि मार्क्स की विचारधारा परम्परागत लोकतन्त्रों का समर्थन नहीं करती। समाजवाद तथा लोकतन्त्र साथ-साथ चल सकते हैं न कि समाजवाद तथा निरंकुशतावाद। क्रान्ति के पश्चात् जो व्यवस्था कायम होगी उसमें *निरंकुशता ही बनी रहेगी। अतः लोकतन्त्र की सम्भावना नहीं हो सकती।*

परन्तु जहाँ तक आर्थिक प्रगति का प्रश्न है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मार्क्सवाद पर आधारित समाजवादी व्यवस्थाओं ने पर्याप्त प्रगति की है। रूस 1917 में औद्योगिक क्षेत्र में बहुत ही पिछड़ा हुआ देश था। यही स्थिति 1949 तक चीन की थी। इतनी छोटी-सी अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में जो प्रगति इन देशों में हुई है वह इस बात की द्योतक है कि पूँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा समाजवादी व्यवस्था आर्थिक क्षेत्र में सम्पूर्ण समाज को कहीं अधिक द्रुत गति से आगे बढ़ा सकती है।

मार्क्स के विचारों का मूल्यांकन

(1) समाजवादी चिन्तन को वैज्ञानिक रूप प्रदान करना—मार्क्स से पूर्व समाजवादी विचार केवल चिन्तनात्मक या स्वप्नलोकी थे। मार्क्स ने समाजवाद की व्याख्या शास्त्रीय ढंग से की और उसकी प्राप्ति के निमित्त एक ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसके कार्यान्वयन के द्वारा समाजवादी व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। उसने समाजवाद की व्याख्या ऐतिहासिक विकास आर्थिक तर्कों तथा क्रान्ति के कार्यक्रम की अनिवार्यता को सिद्ध करते हुए की। परिणाम यह हुआ कि समाजवाद एक शास्त्रीय सामाजिक दर्शन, सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का आन्दोलन तथा कार्यक्रम, एक आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धान्त बन गया। मार्क्स ने इस समग्र दर्शन के निर्माण में जिन भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का विवेचन किया है, वे पृथक् से अपना

कोई महत्त्व नहीं रखते ताकि वे एक-दूसरे से घनिष्ठता सावयविक आधार पर सम्बद्ध होकर एक सम्पूर्ण दर्शन का निर्माण करते हैं। इस प्रकार मार्क्स ने समाजवाद की व्याख्या वैज्ञानिक आधार पर करके अपने को वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता सिद्ध होने का यश प्राप्त किया है।

(2) **समस्त समाजवादी मार्क्स के अनुयायी हैं**—मार्क्स के विचारों ने समाजवाद पर विश्वास रखने वाले विश्व भर के चिन्तकों को प्रभावित किया है। चूंकि मार्क्स के दर्शन का मूलतत्त्व किसी भी रूप मे (आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि) व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण का अन्त करना है, अत इसने शोषण मुक्ति हेतु विश्व भर मे एक क्रान्तिकारी चेतना जागृत की। जो लोग हिंसात्मक क्रान्ति पर विश्वास नहीं रखते, परन्तु शोषण युक्त समाजवादी व्यवस्था के समर्थक हैं वे भी मार्क्स के विचारों से सहमत हैं। उन्होंने मार्क्स के समाजवादी कार्यक्रम मे किंचित संशोधन करके समाजवाद के क्रान्तिकारी कार्यक्रम की अनिवार्यता को न मानकर विकासवादी आधार पर लोकतान्त्रिक ढग से समाजवादी व्यवस्था की *स्थापना का मार्ग अपनाया। इस प्रकार मार्क्सवाद विश्व भर के समाजवादियों का* आदर्श बन गया है।

(3) **मार्क्सवाद की व्यावहारिकता**—समाजवाद की उपलब्धि के निमित्त मार्क्स ने जो कार्यक्रम प्रस्तुत किया है भले ही न तो स्वय मार्क्स ने ऐसी क्रान्ति का नेतृत्व किया और न उसे कार्यान्वित होते देखा, परन्तु विश्व के जिन देशों में मार्क्स के पश्चात् ऐसी क्रान्तियाँ की गयी और की जाती रही हैं, उनके नेता निरन्तर अपने को मार्क्स का अनुयायी मानते हैं। यह भी सत्य तथा स्वाभाविक है कि किसी सिद्धान्त का कार्यान्वयन देश, काल तथा परिस्थितियों के अन्तर्गत उस सिद्धान्त मे किंचित संशोधन हुए बिना सम्पन्न होना सम्भव नहीं होता, क्योंकि सिद्धान्त का प्रतिपादक उन परिवर्तित परिस्थितियों का ज्ञान नहीं रखता। अत वास्तविक व्यवहार मे उन सिद्धान्तो के अन्तर्गत संशोधन करना ही पड़ता है। परन्तु सिद्धान्त की आत्मा बनी रहती है। यह बात मार्क्सवाद की व्यावहारिकता पर सिद्ध हुई है। *सर्वप्रथम मार्क्सवादी क्रान्ति रूस में लेनिन के नेतृत्व में की गयी।* उसके निमित्त लेनिन ने मार्क्सवाद मे संशोधन किया। यूगोस्लाविया मे टीटो के नेतृत्व मे लेनिन के पश्चात् रूसी नेताओ के नेतृत्व मे, चीन मे माओ के नेतृत्व मे, एव विश्व के विभिन्न देशो मे जो समाजवादी तथा साम्यवादी क्रान्तियाँ हुई और उनके पश्चात् जो व्यवस्थाएँ कायम की गई हैं उनके सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक आधार मार्क्सवादी अवश्य हैं, परन्तु उनके अन्तर्गत मार्क्सवाद में कई संशोधन किये गये हैं। इस प्रकार मार्क्सवाद की व्यावहारिकता मार्क्स के दर्शन की हठधर्मिता को दूर करके उसे एक विकासशील दर्शन सिद्ध करती है और प्रत्येक संशोधनवादी चिन्तक तथा नेता मार्क्स को अपना गुरु मानते आये हैं।

(4) **अन्य विचारधाराओं पर मार्क्सवाद का प्रभाव**—मार्क्स के विचारों को विकसित करके तथा उनके अनुसार क्रान्ति का आह्वान करने के निमित्त कई नई विचारधाराएँ तथा आन्दोलन विकसित हुए हैं। उन सबमे मार्क्स का प्रभाव बना

रहा है। विकासशील समाजवाद, श्रेणी समाजवाद, ग्राम का श्रम सघवाद, अराजकतावाद, साम्यवाद आदि सभी का प्रेरणा स्रोत मार्क्स का दर्शन है। यह दूसरी बात है कि इन विचारधाराओ के प्रणेताओ ने समाजवादी आन्दोलन तथा कार्यक्रम को मार्क्स की शिक्षाओ के आधार पर सचालित करने के विचार न रखे हो, परन्तु उन सबका उद्देश्य मार्क्सवादी है।

(5) शोषित वर्ग मे नई चेतना का विकास—मार्क्स के विचारो का प्रमुख तत्त्व समाज मे आर्थिक उत्पादन करने वाले श्रमिको को शोषण से मुक्त करने की व्यवस्था स्थापित करना है। मार्क्स ने यही बताने की चेष्टा की है कि समाज मे सदैव दो वर्ग रहे है जिनमे से एक उत्पादन क्रिया मे लगा श्रमिक वर्ग है और दूसरा उत्पादन के साधनो का स्वामी वर्ग है। यह दूसरा वर्ग प्रथम वर्ग का शोषण करता है, जबकि प्रथम वर्ग ही वास्तव मे अर्थ का सृष्टा है। इस व्यवस्था का अन्त करना ही समाजवाद का उद्देश्य है। इसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जबकि श्रमिक (उत्पादक) वर्ग म शोषित होने की चेतना जागृत हो और वह सगठित होकर अपने शोषको के विरुद्ध क्रान्ति करके उनका अन्त कर दे और इस प्रकार समाज मे केवल एक वर्ग (श्रमिक वर्ग) ही रह जाय जो सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण तथा नियमन समानता के आधार पर करे। मार्क्स के विचारो तथा उन पर आधारित आन्दोलनों तथा क्रान्तियो का प्रभाव यह हुआ है कि विश्व भर के श्रमिक वर्ग मे ऐसी चेतना विकसित होती जा रही है और यह वर्ग जहाँ भी मालिक वर्ग द्वारा अपना शोषण किया जाना देखता है, वहीं वह सगठित हो जाता है और अपनी माँगो के निमित्त आन्दोलन करता है। विश्व की समस्त व्यवस्थाओ के अन्तर्गत जहाँ कही भी हम ऐसे श्रमिक सगठनो, कृषक सगठनो, श्रम जीवी वर्ग के सगठनो, व्यावसायिक सगठनो आदि को देखते हैं, उनकी आन्दोलनात्मक गतिविधियों पर मार्क्सवादी प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार शासन व्यवस्थाओ के अन्तर्गत नौकरशाही द्वारा निम्नवर्गीय कर्मचारियो के शोषण, उत्पादन के साधनो के मालिको द्वारा श्रमिको का शोषण, जमीन के मालिकों द्वारा कृषको का शोषण, अथवा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी शक्तियो द्वारा निर्बल राष्ट्रों की जनता का शोषण, आदि के विरुद्ध मार्क्स के विचारो ने ऐसे शोषित वर्ग मे क्रान्तिकारी आन्दोलन करके अपने को शोषण से मुक्त करने की चेतना जागृत की है।

(6) लोकतन्त्र को नया रूप प्रदान करना—मार्क्स के विचारों का एक प्रभाव यह हुआ है कि वर्तमान समय म विश्व राजनीति के अन्तर्गत तीन प्रमुख राजनीतिक व्यवस्थाओ यानि गुटो का अस्तित्व रह गया है। इनम से एक गुट वह है जो मार्क्सवाद का विरोधी पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी देशो का परम्परागत लोकतन्त्री व्यवस्था पर विश्वास रखने वाला गुट है। इसके अन्तर्गत अमरीका, इग्लैण्ड, पश्चिमी यूरोप के देश, इग्लैण्ड के औपनिवेशिक देश तथा उक्त देशो क प्रभाव वाले अन्य देश माने जाते हैं। दूसरे गुट मे रूस, चीन, पूर्वी यूरोप के साम्यवादी प्रभाव तथा व्यवस्था वाले देश, क्यूबा, दक्षिणी पूर्व एशिया के साम्यवादी प्रभाव वाले देश आते हैं। तीसरा गुट उन देशों का है जो उक्त दोनो परस्पर विरोधी

गुटो से तटस्थ नीति अपनाते हैं। इनमे प्रमुख भारत है। ये गुट निरपेक्ष देश उक्त दो गुटों वाले देशों से न विरोध रखते हैं और न उनमें से किसी के प्रत्यक्ष प्रभाव के अधीन हैं। प्रत्युत् दोनो से मैत्री बनाए रखने की नीति अपनाते हैं। ये गुट निरपेक्ष देश समाजवाद पर विश्वास अवश्य रखते हैं, परन्तु इनकी समाजवादी धारणा लोकतान्त्रिक तरीको पर विश्वास रखती है। ये साम्यवादी देशो की भाँति साम्यवादी दल के अधिनायकवाद या सर्वहारा वर्ग के मार्क्सवादी अधिनायकवाद के सिद्धान्त को नही अपनाते। इनके विपरीत साम्यवादी देशों की व्यवस्थाएँ एक दलीय (साम्यवादी दल) अधिनायकवादी व्यवस्था को ही सच्चा लोकतन्त्र कहती हैं। वे पूँजीवादी व्यवस्था वाले देशों की लोकतन्त्री धारणा को उपहासास्पद बताती हैं। इस प्रकार मार्क्सवाद पर आधारित राज्य एव सामाजिक व्यवस्थाओ ने लोकतन्त्र की धारणाओ को भी नये रूप प्रदान किये है। ये क्रमश पूँजीवादी लोकतन्त्र, समाजवादी लोकतन्त्र तथा लोकतन्त्री समाजवाद इन तीन नामो से जाने जाते हैं। परन्तु पूँजीवादी लोकतन्त्रो के अन्तर्गत भी अब किसी न किसी रूप मे समाजवादी प्रवृत्तियाँ आने लगी हैं। इन तथाकथित पूँजीवादी देशो मे भी समाजवादी दल विद्यमान है जो बहुधा मार्क्स की शिक्षाओं पर आधारित धारणाओ के अनुसार श्रमिको के हितो की चिन्ता करते हैं। इस प्रकार मार्क्स के समाजवादी विचारो का प्रसार विभिन्न लोकतन्त्रो के अन्तर्गत होता जा रहा है।

सक्षेप मे, जो लोग समाजवाद पर किंचित मात्र विश्वास रखते हैं या व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण को अन्याय समझते हैं, वे मार्क्स के ऋणी हैं।

सोलहवाँ अध्याय

निकोलाई लेनिन

(1870 ई० से 1924 ई०)

साम्यवादी जगत में मार्क्स के बाद लेनिन को भी मार्क्स की भाँति ही साम्यवादी दर्शन का आराध्य देवता माना जाता है। मार्क्स ने केवल समाजवाद तथा समाजवादी क्रान्ति का सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत किया था। उसके क्रांतिकारी कार्य-क्रम को लेनिन ने अपने सिद्धान्तों द्वारा परिवर्तित तथा परिमार्जित किया और उन्हें साकार करके सोवियत रूस की व्यवस्था का सर्वप्रथम मार्क्सवादी समाज का रूप प्रदान किया। कालान्तर में साम्यवाद का प्रसार जिस रूप में विश्व के विभिन्न देशों में हुआ है, उसका श्रेय लेनिन को ही प्राप्त होता है। इस दृष्टि से लेनिन के विचारों का साम्यवादी राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान है। लेनिन के राजनीतिक विचार वास्तव में समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के निमित्त मार्क्सवाद में संशोधित विवेचन हैं। ये उसकी समय-समय पर लिखी गयी रचनाओं से ज्ञात होते हैं। इन रचनाओं में प्रमुख निम्नलिखित हैं 'Materialism and Imperio Criticism', 'Imperialism the Highest Stage of Capitalism', 'State and Revolution', 'What is to be Done ?', 'Two Tactics of the Social Democracy in the Democratic Revolution'

लेनिनवाद

लेनिनवाद के सिद्धान्त निम्नांकित हैं

(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पुनर्व्याख्या—हीगल तथा मार्क्स ने द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के आधार पर ऐतिहासिक विकास को समझाया था। हीगल ने इस सिद्धान्त का आध्यात्मीकरण किया तो मार्क्स ने इसे भौतिकवादी बताया। एक ने आदर्शवादी और दूसरे ने समाजवादी दर्शन प्रस्तुत किया। मार्क्स के समाजवादी दर्शन का आधार ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद था। इस बीच कुछ वैज्ञानिक विज्ञान के दर्शन का प्रतिपादन कर रहे थे। साथ ही बर्नस्टीन ने मार्क्सवाद के विरोध में अपने विचार रखे थे। परिणाम यह हुआ कि अनेक मार्क्स के अनुयायी मार्क्सवाद से अपनी आस्था हटाने लगे थे। अतः लेनिन ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पुनर्व्याख्या करके मार्क्सवाद को नष्ट होने से बचाने का प्रयास किया।

अपनी रचना 'Materialism and Imperio Criticism' में लेनिन ने मार्क्सवाद तथा विज्ञान का विवेचन किया है और भौतिकवाद तथा द्वन्द्ववाद का भी विवेचन करके इनके मध्य सम्बन्ध दर्शाने का प्रयास किया है। लेनिन के मत से द्वन्द्ववाद ज्ञान तथा कार्य के मध्य दार्शनिक रहस्य के समाधान की कुंजी है। द्वन्द्ववाद एक सार्वभौम सिद्धान्त है, जो प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक वस्तु के मध्य एक जीवित सम्बन्ध दर्शाता है। यह अतीत तथा वर्तमान के मध्य सम्बन्धो का ज्ञान कराता है, अर्थात् यह ज्ञान कराता है कि अतीत मे क्या हुआ था और उसके आधार पर भविष्य मे क्या होगा। लेनिन के मत मे वस्तुपरक वास्तविकता चेतना से पृथक् होती है। यह वास्तविकता मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करती है। इसी से ज्ञान प्राप्त होता है। स्वय मस्तिष्क ज्ञान प्राप्त करने मे सक्रिय तत्त्व नही होता। अपितु ज्ञान तथा चेतना की उत्पत्ति पदार्थो से ज्ञानेन्द्रियो पर पडने वाले प्रभावो से होती है। अत पदार्थ जगत ही वास्तविकता है। लेनिन आर्थिक नियतिवाद को महत्त्व देते हुए यह दर्शाता है कि आर्थिक पद्धतियाँ ही भूत तथा वर्तमान के मध्य सम्बन्ध निर्धारित करती हैं।

लेनिन ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक अकाट्य सिद्धान्त है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पुनर्व्याख्या करते हुए लेनिन ने यह दर्शाया है कि केवल दो ही दार्शनिक पद्धतियाँ हो सकती हैं प्रथम, आदर्शवाद, तथा द्वितीय, भौतिकवाद। इन दोनो से लेनिन का अभिप्राय द्वन्द्ववाद पर आधारित हीगल एव मार्क्स द्वारा प्रतिपादित पद्धतियो से था। उसका मत था कि आदर्शवाद मिथ्या है, क्योकि इसमे कोई वस्तुपरक सत्य नही है। यह शासको को उच्च स्थिति मे रखकर उनके द्वारा शासित वर्ग का शोषण करने की शिक्षा देता है। वस्तुपरक सत्य का ज्ञान भौतिकवाद द्वारा ही हो सकता है। लेनिन मैक (Mach) सदृश भौतिकशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित उक्त दो पद्धतियो के मध्य वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद (scientific positivism) जैसी किसी तीसरी पद्धति के अस्तित्व का विरोध करता है। ऐसी धारणा को वह मूर्खतापूर्ण व बुर्जुआ कहता है और उसके मत से ऐसी धारणा सामान्य सिद्धान्तो के विरुद्ध है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की सरचना के अन्तर्गत लेनिन दो प्रकार के सामाजिक विज्ञानो की सम्भावना को मानता है, जिनमे से एक मध्यम वर्ग के हितो का पोषक है और दूसरा सर्वहारा-वर्ग के। इनमे से वह सर्वहारा वर्ग के विज्ञान को उच्चतर मानता है, क्योकि उसके मत से यह भविष्य की गतिविधियो का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक प्रगति के मार्ग मे यह वर्ग ऊपर उठने की दिशा मे प्रवृत्त रहेगा। मध्यम वर्ग तो केवल पूँजीवाद के विनाश मे विलम्बकारी पद्धति है। यह प्रतिक्रियावादी होता है।

लेनिन द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या मे हीगल या मार्क्स की सी मौलिकता का पूर्ण अभाव है। लेनिन ने इसे व्यक्त करने मे अध्यात्म तथा विज्ञान का विरोध किया है और भौतिकता को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने का प्रयास किया है। द्वन्द्ववाद के आधार पर ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया को

समझाने मे हीगल तथा मार्क्स ने जो क्रमबद्धता दर्शायी थी, वह लेनिन के तर्कों मे विद्यमान नही है। वेपर ने लिखा है कि 'वास्तव मे भीषण रूप मे सारहीन, पुनरावृत्तियो से पूर्ण, सैद्धान्तिक तथा ऊपरी सर्वेक्षण है, इसमे भौतिकवाद की धारणा का मोटा रूप होने के कारण यह फ्युयरबाक (Feurbach) के उस भौतिकवाद से शायद ही भिन्न है जिसका मार्क्स ने प्रतिरोध किया था।'

(2) साम्राज्यवाद पूंजीवाद की सर्वोच्च मंजिल—1916 मे लिखी गयी इस रचना मे लेनिन मार्क्स के विचारो पर पुन कुछ सुधार करता है। मार्क्स की धारणा थी कि जब पूँजीवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकता है, तो सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति का अवसर आ जाता है। परन्तु मार्क्स ने यह अनुमान नही लगाया था कि पूंजीवाद के परिणामस्वरूप साम्राज्यवाद का विस्तार पूँजीवादी प्रवृत्ति को और अधिक बढाता है। पूंजीवादी देशो मे सर्वहारा-वर्ग क्रान्ति से पिछड़ने लगा था। *परिणामस्वरूप संशोधनवादियो ने इसका निष्कर्ष यह निकाला कि इन देशो मे* लोकतन्त्र के प्रसार से स्थिति मे परिवर्तन आया है। अत लोकतन्त्र का और अधिक प्रसार होना चाहिए। परन्तु लेनिन संशोधनवादियो के इन तर्कों से सहमत नही था। 1914 मे प्रथम विश्वयुद्ध छिड जाने पर विभिन्न देशो के श्रमिको मे वर्ग चेतना के स्थान पर राष्ट्रवाद की भावना विकसित होने लगी। लेनिन को इससे बडी निराशा हुई। उसने अनुभव किया कि सर्वहारा-वर्ग कम क्रान्तिकारी होता जा रहा है। अत उसने अपनी उक्त रचना मे यह दर्शाया कि मार्क्स को पूंजीवाद के और अधिक विकास की सम्भावनाओ का आभास नही हुआ था, जिसमे कि पूंजीवाद अपना अस्तित्व और अधिक समय तक बनाये रखता। लेनिन ने बताया कि मार्क्स के काल से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध तक की अवधि मे विकसित साम्राज्यवाद पूँजीवाद का ही विस्तार था। वह इसे पूंजीवाद की सर्वोच्च एव अन्तिम मंजिल मानता है और इसके *उपरान्त इसमे स्वय इसके विनाश के लक्षण देखता है। अतएव उसने पूँजीवाद से* विकसित साम्राज्यवाद का विश्लेषण किया है।

लेनिन का मत है कि पूंजीवाद की आधारभूत प्रवृत्तियाँ अत्यधिक उत्पादन, प्रतियोगिता तथा एकाधिकार हैं। उसका कथन था कि 'प्रतियोगिता एकाधिकार मे परिवर्तित होती है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन का पर्याप्त समाजीकरण होता है, परन्तु विनियोजन वैयक्तिक होता जाता है। उत्पादन के साधनो का स्वामित्व थोड़े-से पूंजीपतियों के हाथ मे रहता है।' इसके कारण श्रम द्वारा अर्जित उत्पादन के वितरण का समाजीकरण नही होता। एकाधिकार ही समस्त उत्पादन-क्रिया का नियन्त्रण करता है। ऐसी धारणा तो मार्क्स ने भी व्यक्त की थी। परन्तु लेनिन का कहना है कि पूँजीवाद अब केवल माल के उत्पादन पर ही आधारित नही रह जाता। एकाधिकारजन्य पूँजीवाद को पूँजी की विशाल धनराशि की आवश्यकता पडती है। इसलिए पूंजीपति बडे-बडे बैंको की शरण मे जाने लगते हैं। बैंक इन उद्योगपतियो को ऋण तो देते हैं परन्तु वे अपनी लागत को सुरक्षित बनाये रखने के लिए उन उद्योगो के संचालक-मण्डल मे अपने भाग की माँग भी करते हैं। इस प्रक्रिया मे अब बैंकों के हाथ मे भी उत्पादन का नियन्त्रण आ जाता है। इस प्रकार 'वित्तीय पूंजी'

के रूप मे पूंजीवाद का नया रूप प्रकट होता है। वित्तीय पूंजी की एक विशेषता निर्यात पूंजी की प्रथा है, अर्थात् यह आक्रामक रूप से विस्तारवादी होती है। इससे पूर्व के पूंजीवाद के अन्तगत माल का निर्यात होता था। जब पूंजीवाद विकसित हो जाता है तो उसके अन्तर्गत अतिरिक्त पूंजी बढती जाती है। एकाधिकारवाद के कारण इस अतिरिक्त पूंजी मे भी वृद्धि होती है। 'यह पूंजी श्रमिको के हितार्थ नही लगायी जाती, अन्यथा पूंजीपतियो के लाभ की धारणा ही समाप्त हो जाती।' इसके विपरीत इस अतिरिक्त जमा हुई पूंजी का निर्यात किया जाता है। निर्यात के लिए विश्व के विभिन्न भागो के पिछड़ देश ढूंढे जाते हैं। वहाँ सस्ते मजदूर तथा सस्ता कच्चा माल उपलब्ध होता है और पर्याप्त लाभ कमाया जा सकता है। विकसित पूंजीवादी देश ऐसे उपनिवेशो की खोज के लिए प्रतियोगिता करते है और वहाँ अपना साम्राज्य विस्तार करने मे लीन रहते हैं। इसके निम्नांकित परिणाम होते हैं—

(i) उपनिवेशो मे पूंजीवादी नियम वहाँ की जनता का आर्थिक शोषण करने वाला सिद्ध होता है, जनता के कष्ट बढते हैं, उनकी स्वतन्त्रताएँ नष्ट की जाती हैं।

(ii) पूंजी को उद्योगो मे लगाने तथा उत्पादित माल की बिक्री के लिए बाजार ढूंढने के निमित्त पूंजीपतियो के मध्य राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगिता नही होती अपितु प्रतियोगिता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होती है। अत पूंजीवादी राष्ट्र इस होड मे परस्पर युद्धरत हो जाते हैं।

(iii) इसके कारण मातृभूमि के श्रमिको मे बेकारी बढती है और उनकी उपभोक्ता शक्ति घटती जाती है। इन श्रमिको के रोष को शान्त करने के लिए उपनिवेशो मे कमाये गये लाभ का कुछ अश उनके हित के कुछ कार्यों मे लगा दिया जाता है, ताकि उन्हे क्रान्तिकारी बनने से रोका जा सके और उनमे यह भावना जागृत की जा सके कि पूंजीवाद तथा लोकतन्त्र के ये लाभ हैं। साथ ही कुछ अश उच्चस्तरीय श्रमिको को भ्रष्ट करने के उद्देश्य से रिश्वत के रूप मे दे दिया जाता है, जिसे 'श्रम कुलीनतन्त्र' (labour aristocracy) कहा जाता है। यह सब सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति को रोकने के लिए होता है।

(iv) पूंजीवादी देशो को अन्तर्राष्ट्रीय युद्धो के लिए सैनिको की आवश्यकता पडती है। अपने देश के बेरोजगार श्रमिको को सैनिक सेवाओ मे भर्ती करके उन्हे सैनिक प्रशिक्षण दिया जाता है।

लेनिन का निष्कर्ष था कि साम्राज्यवाद मृतप्राय (Moribund) पूंजीवाद है। इसमे अनेक अन्तर्विरोध हैं, जो इसे स्वय नष्ट करने मे सहायक सिद्ध होगे। इनमे पहला, अन्तर्द्वन्द्व पूंजी तथा श्रम के मध्य है। परिणामस्वरूप उपनिवेशो के श्रमिको की वर्ग-चेतना बढेगी और वे क्रान्ति के लिए तैयार होने लगेंगे। चूंकि साम्राज्यवादी देश सर्वत्र यही शोषणकारी रवैया अपनाते हैं, साथ ही यातायात तथा सचार के साधनों से विभिन्न देशो के श्रमिको को परस्पर सम्पर्क स्थापित करने का अवसर मिलेगा, अत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वहारा-वर्ग की चेतना का विकास होगा और वे अधिक सगठित होकर क्रान्ति कर सकेंगे। दूसरा, साम्राज्यवाद के अन्तर्गत विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियो तथा उद्योगपतियो के मध्य अन्तर्द्वन्द्व का

विरोध है, क्योंकि उनके मध्य उपनिवेशों की खोज के बारे में प्रतियोगिता होती है। तीसरा, साम्राज्यवादी शक्तियों तथा उनके अधीन उपनिवेशों की जनता के मध्य अन्तर्विरोध बढ़ता जाता है। अधीन जनता अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील रहती है। इस प्रकार साम्राज्यवाद ऐसी परिस्थितियों की सृष्टि करता है जो स्वयं उसके विनाश के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं।

(3) दल-सिद्धान्त (The Theory of Party)—लेनिन सदैव अपने को कट्टर मार्क्सवादी मानता रहा। परन्तु सर्वहारा-वर्ग की पूँजीवाद के विरुद्ध क्रान्ति के सम्बन्ध में लेनिन के समक्ष परिस्थितियाँ बिल्कुल भिन्न थीं। अतः उसे मार्क्स के सिद्धान्तों में अनेक प्रकार से संशोधन करने पड़े थे जो मार्क्स के ऊपर सुधार या सिद्धान्तों को व्यवहार में परिणत करने की विधियों के रूप में थे। मार्क्स की धारणा थी कि सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति तभी होगी, जब पूँजीवाद अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर श्रमिक वर्ग की क्रान्तिकारी चेतना का विकसित कर चुकेगा। इस प्रकार सर्वहारा-वर्ग पूँजीवाद के विरुद्ध क्रान्ति करके उसे विनष्ट करने के लिए परिपक्व हो जायेगा। चूंकि लेनिन का लक्ष्य रूस में ऐसी क्रान्ति का आह्वान करना था जहाँ *न तो पूँजीवाद और न ही सर्वहारा-वर्ग ऐसी स्थिति तक विकसित हो पाया था* जैसा कि मार्क्स द्वारा क्रान्ति के लिए उपयुक्त माना गया था। अतएव लेनिन ने यह दर्शाया कि 'मार्क्स ने यह मानने की बड़ी भूल की थी कि सर्वहारा-वर्ग बिना किसी बाह्य स्रोत से नेतृत्व, सहायता या प्रेरणा प्राप्त किये ही ऐसी क्रान्तिकारी वर्ग-चेतना प्राप्त कर लेगा जो कि उसे पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने को प्रस्तुत कर सके।' लेनिन की धारणा थी कि मार्क्सवादी विश्लेषण के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति व्यापार-संघों की-सी क्रान्ति मात्र रहेगी। उन्हें पूँजीवादी लोकतन्त्र अपनी चालों से किसी न किसी तरह तुष्ट करने में सफल हो जायेंगे। व्यापार-संघ सर्वहारा-वर्ग में उस क्रान्ति की भावना का संचार नहीं कर सकते, जो कि सर्वहारा-वर्ग का अन्तिम लक्ष्य है, अर्थात् पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करके उसे पूर्णतया नष्ट करने का आह्वान व्यापार-संघ नहीं कर सकते।

लेनिन की धारणा यह थी कि पूँजीवाद श्रमिक वर्ग की क्रान्तिकारी चेतना को बलपूर्वक दबाने का प्रयास करेगा। उसके पास राज्य सयन्त्र तथा सशस्त्र उपकरण हैं। सर्वहारा-वर्ग निःशस्त्र है, अतः उसके पास संघर्ष में विजय प्राप्त करने की कोई शक्ति नहीं है, और न ही उसका मार्ग-दर्शन करने वाली कोई संस्था है। इसलिए यह आवश्यक है कि सर्वहारा-वर्ग का मार्ग-दर्शन करने, उसे क्रान्ति तथा संघर्ष के लिए तैयार करने और उसे समाजवाद की दिशा में शिक्षित तथा प्रशिक्षित करने के लिए थोड़े से ऐसे व्यक्तियों का दल होना आवश्यक है, जो कि व्यावसायिक क्रान्तिकारी हों। *दल का संगठन प्राकृतिक चयन की पद्धति से छाँटे गये सर्वोत्तम,* निःस्वार्थ, लगनशील, पूर्ण चेतना से युक्त तथा दूरदर्शी व्यक्तियों से किया जाना चाहिए। यद्यपि दल के ये व्यक्ति स्वयं श्रमिक वर्ग नहीं होंगे, अपितु मध्यमवर्गीय बुद्धिमान व्यक्ति होंगे, इस दृष्टि से वे सर्वहारा-वर्ग से पृथक् होंगे, तथापि उन्हें एकमात्र चिन्ता सर्वहारा-वर्ग की खुशहाली तथा उन्हें शोषण से मुक्त करने की होगी। ऐसा

दलीय सगठन क्रान्तिकाल मे सर्वहारा-वर्ग के अग्रदल (vanguard) का कार्य करेगा। इस दल के सदस्यो का कार्य सर्वहारा-वर्ग को समाजवादी सिद्धान्तो से अवगत कराना, उन्हे क्रान्ति के लिए तैयार करना तथा क्रान्ति काल मे उनका नेतृत्व करना होगा। क्रान्ति की सफलता हो जाने पर भी दल अपरिहार्य है। क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित होगा। उस अवधि मे लेनिन राज्य के अस्तित्व को अपरिहार्य मानता है। अत अधिनायकवाद की अवधि मे यही दल राज्य-व्यवस्था का सचालन करेगा। पूँजीवाद से समाजवाद की व्यवस्था स्थापित होने की सक्रमण-कालीन अवधि मे यही साम्यवादी दल सत्ताधारी रहेगा। इसका कार्य समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करने के निमित्त नीति-निर्माण करना, पूँजीवाद के अवशेष तत्वो को नष्ट करना, सर्वहारा-वर्ग का मार्ग-दर्शन करना तथा शासन के कार्य-कलापो का सचालन करना रहेगा।

वेपर ने लेनिन के दल सिद्धान्त के औचित्य के सम्बन्ध मे निम्नाकित निष्कर्ष निकाले हैं पहला, क्रान्ति के प्रभावशाली कारण उत्पादन की भौतिक परिस्थितियाँ नही होती, अपितु कुछ आदर्श होते हैं। इस दृष्टि से लेनिन मार्क्सवाद के प्रतिकूल हो जाता है। दूसरे, क्रान्ति के लिए बल-प्रयोग आवश्यक है। मार्क्स तथा ऐंजिल्स ने इस तत्त्व को यथेष्ठ महत्त्व नही दिया था। तीसरे, क्रान्ति हमेशा हिंसात्मक होगी। इस सम्बन्ध मे भी मार्क्स स्पष्ट नही था, क्योकि उसने विकासवादी कार्यक्रम का भी समर्थन किया था। रूस मे मार्च 1917 की क्रान्ति बुर्जुआ क्रान्ति थी न कि सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति। इस क्रान्ति के द्वारा पूर्वकालीन सामन्तशाही जार शासन का अन्त कर दिया गया था। परन्तु जिस अस्थायी सरकार की स्थापना की गयी थी वह सर्वहारावर्गीय अधिनायकवाद न होकर बुर्जुआ सरकार थी। ट्राट्स्की तुरन्त सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति करके सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद कायम करना चाहता था। वह मैनशेविको की भाँति एक विशाल सर्वहारा दल के निर्माण का समर्थक था। परन्तु एक कट्टर मार्क्सवादी होने के नाते लेनिन यह चाहता था कि मार्क्सवादी परम्परा के अनुसार बुर्जुआ क्रान्ति तथा सर्वहारावर्गीय क्रान्ति के मध्य कुछ अवधि आवश्यक है। इस अवधि म एक छोटे किन्तु अत्यन्त अनुशासित, कट्टर क्रान्तिकारी तथा सुयोग्य व्यक्तियो से निर्मित दल द्वारा सर्वहारा-वर्ग को क्रान्ति के लिए तैयार करने के निमित्त बोल्शेविक दल की आवश्यकता पर लेनिन ने बहुत जोर दिया। ट्राट्स्की तथा लेनिन के मध्य के मतभेद दूर हो गये और उनके सयुक्त नेतृत्वो स ऐसा ही किया गया और अक्तूबर क्रान्ति सफल हो गयी। क्रान्ति के पश्चात् दल की स्थिति लेनिन के सिद्धान्तो पर आधारित रही।

निस्सन्देह समाजवादी क्रान्ति के निमित्त लेनिन द्वारा प्रतिपादित दल सिद्धान्त मार्क्सवाद को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए एक ठोस कार्यक्रम था। दलीय नेतृत्व के अभाव मे सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति की सफलता सदिग्ध बनी रहती। क्रान्ति की सफलता के पश्चात् भी सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद अराजकता मे परिणत हो जाता। लेनिन के इस सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष वर्तमान समय मे सभी साम्यवादी देशो की शासन-प्रणाली का प्रमुख तत्त्व बन गया है। भले ही लेनिन

जिसे 'सर्वहारा वर्गीय लोकतन्त्र' का नाम देता है वह लोकतन्त्र की आधारभूत धारणाओं से बहुत दूर चला जाता है। तथापि अधिनायकवाद की सफलता के लिए लेनिन द्वारा प्रतिपादित दल सिद्धान्त की व्यावहारिकता के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प सम्भव नहीं होता।

(4) राज्य—एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी होने के नाते लेनिन की अभिरुचि साम्यवादी क्रान्ति के निमित्त मार्क्स की भांति केवल कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में ही नहीं थी, प्रत्युत् उसने मार्क्स के जिन सिद्धान्तों को ग्रहण किया था उनके प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए उन्हें विशेष रूप से रूस में समाजवादी क्रान्ति को साकार करने के निमित्त जो कि उसका प्रधान लक्ष्य था, एक नयी दिशा में परिमार्जित तथा साकार करने का उद्देश्य बनाया था। जब मार्च 1917 में रूस में बुर्जुआ क्रान्ति के द्वारा जारशाही का अन्त कर दिया गया तो ट्राट्स्की तथा मैनशेविक दल के लोगों ने मार्क्स के सिद्धान्तों को तोड-मरोड कर रखने का प्रयास किया। अन्यत्र भी यह प्रयास किया जाने लगा था कि पूंजीवादी लोकतन्त्रों के अन्तर्गत वैधानिक तरीकों से सर्वहारा-वर्ग की समस्याओं का हल किया जा सकता है। अत उनकी क्रान्ति आवश्यक नहीं है। लेनिन की धारणा यह थी कि ये संशोधनवादी मार्क्स के सिद्धान्त की क्रान्तिकारिता को नष्ट कर रहे हैं। बिना क्रान्ति के पूंजीवादी तत्त्वों का अन्त नहीं हो सकता और न ही सर्वहारा-वर्ग की शोषण से मुक्ति हो सकती है। यद्यपि मार्च की क्रान्ति के बाद लेनिन रूस में पहुँच चुका था, तथापि वह पुन फिनलैंण्ड चला गया और वहाँ उसने रूस में स्थापित बुर्जुआ सरकार के विरुद्ध सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति के कार्यक्रम पर विचार करना प्रारम्भ किया। वहाँ उसने 'State and Revolution' नामक रचना तैयार की। 1902 में ही उसने अपनी रचना 'What is to be Done ?' तैयार कर ली थी। इन दोनों में, विशेष रूप से 'State and Revolution' में लेनिन के राज्य तथा क्रान्ति-सम्बन्धी विचार प्राप्त होते हैं। मार्क्स तथा लेनिन का मत था कि राज्य, वर्ग-संघर्ष का परिणाम है। अत राज्य में जो परस्पर विरोधी हितों से युक्त वर्ग होते है उनके मध्य समन्वय स्थापित करने के लिए राज्य का उपयोग असम्भव है। यह अन्तर्विरोध संघर्ष के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। अत शोषित वर्ग को शोषकों के विरुद्ध क्रान्ति करनी पडेगी, क्योंकि राज्य की सत्ता तथा उपकरण शोषक वर्ग के हाथ में ही रहते हैं और राज्य अपने समस्त अभिकरणों तथा उपकरणों का उपयोग शोषक वर्ग के ही हितों में करता है। इसलिए शोषक वर्ग को शोषित वर्ग क्रान्ति करके न केवल विनष्ट करेगा अपितु राज्य सहित शोषण के अन्य सभी उपकरणों पर भी अपना स्वामित्व स्थापित करेगा। लेनिन ने मार्क्स तथा ऐंजिल्स की इस धारणा को पूर्णतया अपनाया और यह बताया कि राज्य सदैव शासक वर्ग का एक अंग होता है जिसका उपयोग शासक वर्ग केवल अपने हितों के लिए करता है। जो लोग मार्क्स के सिद्धान्तों को तोड-मरोड कर रखते है उनकी यह धारणा कि बुर्जुआ राज्य तिरोहित हो जायेगा कदापि सत्य नहीं हो सकती। लेनिन की स्पष्टोक्ति यह थी कि 'बुर्जुआ राज्य तिरोहित नहीं हो सकता, प्रत्युत् सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकतन्त्र ही तिरोहित हो सकता है।'

मार्क्सवादी सिद्धान्त मे राज्य के तिरोहित होने की धारणा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के सम्बन्ध मे थी न कि उसके पूर्ववर्ती बुर्जुआ राज्य के सम्बन्ध मे। अतएव लेनिन ने यह दर्शाया कि बुर्जुआ राज्य को बल प्रयोग तथा सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के द्वारा नष्ट किया जायेगा और उसका स्थान सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तन्त्र लेगा जो कि पूंजीवाद से समाजवाद की स्थापना के मध्य के संक्रमणकाल तक रहेगा। इस संक्रमणकाल मे सर्वहारा वर्ग के हितो का सम्पादन उसके प्रतिनिधिक साम्यवादी दल के द्वारा किया जायेगा। यह अधिनायकवाद पूंजीवाद के अवशिष्ट तत्वो को नष्ट करने तथा साम्यवादी समाज की स्थापना के निमित्त कदम उठायेगा। जब साम्यवादी व्यवस्था सुस्थापित हो जायेगी और शोषण की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अन्त हो जायेगा तो सर्वहारावर्गीय अधिनायकवाद स्वय अनावश्यक हो जायेगा। उस स्थिति मे फिर राज्य स्वय तिरोहित हो जायेगा।

लेनिन का मत था कि सभी राज्य वर्ग सगठन होते है। अतएव सर्वहारा वर्गीय अधिनायकवाद भी एक वर्ग सगठन अथच वह भी राज्य ही होगा। लेनिन क्रान्ति की सफलता के पश्चात समाजवादी समाज की स्थापना हो जाने तक की संक्रमणकालीन अवधि के लिए राज्य की अपरिहार्यता को स्वीकार करता है। यह राज्य क्रान्ति के पश्चात बर्जुआ संस्कृति तथा मनोवृत्ति का अन्त करने के निमित्त आवश्यक होगा। इसे लेनिन अधिनायकवाद की सज्ञा देता है क्योकि उसकी दृष्टि मे प्रत्येक राज्य या सरकार अधिनायकवादी और उसका आधार बल प्रयोग होता है। अत सर्वहारावर्गीय राज्य तथा शासन भी अधिनायकतन्त्र ही रहेगा। परन्तु बर्जुआ अधिनायकतन्त्र तथा सर्वहारावर्गीय अधिनायकतन्त्र के मध्य एक मौलिक भेद यह होगा कि सर्वहारावर्गीय अधिनायकतन्त्र बल का प्रयोग अपने हित साधन के निमित्त दूसरे वर्ग के शोषण के लिए नही करेगा अपितु अपने पूर्ववर्ती शोषको को विनष्ट करके उन्हे अपनी ही स्थिति मे लाने के उद्देश्य से करेगा। यह अधिनायकवाद एक वर्गविहीन समाज की स्थापना का उद्देश्य रखेगा। ज्यो ज्यो समाज से पूंजीवादी तत्व विनष्ट होते जायगे त्यो त्यो राज्य की बल प्रवर्ती शक्ति स्वयमेव कम होती जायेगी और अन्तत यह राज्य स्वय अनावश्यक होकर तिरोहित हो जायेगा। लेनिन ने कहा था कि जब तक राज्य बना रहता है तब तक स्वतन्त्रता का अस्तित्व नही रहता जहा स्वतन्त्रता विद्यमान रहती है वहा राज्य का अस्तित्व ही नहीं होगा (While the state exists there can be no freedom where freedom exists there will be no state)। यद्यपि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र भी अन्य राज्यों की भांति तानाशाही होगा तथापि यह व्यवस्था अल्पसख्यको के बहुसख्यको के ऊपर शोषणकारी शासन की न होकर बहुसख्यको के अल्पसख्यकों के ऊपर शासन की द्योतक होगी। इसी अर्थ मे लेनिन इसे सर्वहारावर्गीय लोकतन्त्र का नाम देता है। जब समाज वर्गविहीन हो जायगा और वर्ग सघर्ष का अन्त हो जायगा तो ऐसे लोकतन्त्र की भी आवश्यकता नही रह जायेगी और वह भी स्वय समाप्त हो जायेगा। लेनिन का कथन है कि तभी लोकतन्त्र इस साधारण तथ्य के अनुसार तिरोहित होने लगेगा कि लोग पूंजीवादी दासता अकथनीय सकटो जगलीपन तथा अपमानजनित पूंजीपतियो के शोषण

से मुक्त होकर धीरे-धीरे सामाजिक जीवन के उन मूलभूत नियमों का पालन करने में अभ्यस्त हो जायेंगे जिनका उल्लेख अत्यन्त दीर्घकाल से स्कूलों में विद्यार्थियों की पाठ्य-पुस्तकों में किया जाता रहा था। जब वे इन नियमों का पालन करने में न तो बल-प्रयोग की आवश्यकता समझकर अभ्यस्त हो जायेंगे, न वे ऐसा करने में किसी की आधीनता का आभास करेंगे और न ही राज्य सदृश किसी विशेष उपकरण की आवश्यकता को प्रतीत करेंगे जो कि उन नियमों का पालन कराने के लिए बल-प्रयोग करता था।' ऐसे स्वतन्त्र समाज में एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का या एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का दमन करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। व्यक्तियों का दमन करने के लिए जिस राज्य रूपी उपकरण की आवश्यकता होती थी, अब वह अनावश्यक हो जायेगा।

लेनिन का मत है कि ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना का कार्य दो चरणों में होगा। प्रथम चरण में समाज के अन्तर्गत सब लोग शोषण के भय से मुक्त रहकर स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य करेंगे और प्रत्येक व्यक्ति को उसके द्वारा किये गये कार्य के अनुसार लाभ प्राप्त होगा। यह स्थिति समाजवाद की स्थिति है जिसमें 'from each according to his ability, to each according to his work' का सिद्धान्त अपनाया जाता है। कालान्तर में इस समाज के अन्तर्गत उत्पादन-प्रक्रिया का पर्याप्त विकास हो जायेगा और लोगों की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए उत्पादन इतनी प्रचुर मात्रा में हो जायगा कि लोगों को अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य करके अपनी आवश्यकता की तमाम वस्तुएँ प्राप्त होने लगेंगी। यह स्थिति साम्यवादी समाज की होगी जिसमें 'from each according to his ability to each according to his need' का सिद्धान्त लागू हो जायगा। मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद की धारणा का भी अन्तिम उद्देश्य ऐसे ही समाज की स्थापना करना था।

(5) क्रान्ति (समरनीति तथा विधि)—लेनिन के इन सिद्धान्त ने उसके क्रान्ति के कार्यक्रम के निमित्त पर्याप्त सामग्री प्रदान की। भले ही रूस में सर्वहारा-वर्ग न तो क्रान्तिकारी चेतना रखता था और न ही वह विशाल तथा संगठित था, तथापि उसे वर्ग-चेतना प्रदान करने, क्रान्ति के लिए उसे तैयार करने तथा क्रान्ति का आह्वान करने के लिए थोड़े से योग्य, कुशल, लगनशील तथा क्रान्तिकारी व्यक्तियों का दल पर्याप्त था। लेनिन मार्क्स के द्वन्द्ववाद पर आधारित ऐतिहासिक विकास क्रम में सामन्तवाद, पूँजीवाद तथा समाजवाद के तीन युगों की क्रमिकता को मानता तो है, परन्तु रूसी क्रान्ति के सन्दर्भ में, जो कि उसका तात्कालिक लक्ष्य था, वह पूँजीवादी व्यवस्था को लम्बी अवधि का नहीं रहने देता। वह यह भी नहीं मानता कि पूँजीवाद स्वयमेव सर्वहारा-वर्ग में क्रान्तिकारी वर्ग चेतना का विकास करने में सहायक सिद्ध होगा। अतएव रूस की परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसका विचार था कि वहाँ की परिस्थितियाँ भिन्न होने के कारण क्रान्ति का कार्यक्रम भी मार्क्सवादी कार्यक्रम से भिन्न प्रकार का होगा। लेनिन की धारणा यह थी कि मार्च 1917 की क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग ने सामन्तशाही जार शासन का अन्त तो कर दिया है। परन्तु रूसी बुर्जुआ वर्ग इतना अशक्त है कि वह कहीं अपने वर्ग के वामपन्थी तत्वों के भय से बाहर

सत्ता पुन अपने भूतपूर्व सामन्तशाही शासकों को न सौंप दे। इसलिए बुर्जुआ शासन को अधिक लम्बी अवधि तक रहने दिया जाना समाजवादी क्रान्ति के लिए उपयुक्त नहीं होगा। इसलिए जो थोड़ा-सा सर्वहारा-वर्ग है उसी को साम्यवादी दल के माध्यम से क्रान्ति के लिए तैयार करना पड़ेगा। यद्यपि कृषक वर्ग पर लेनिन भी विश्वास नहीं करता था, तथापि रूसी परिस्थितियों के अन्तर्गत वह सर्वहारा तथा कृषकों के मध्य क्रान्ति के लिए सन्धि कर लेने की तकनीक को उचित ठहराता है। उसके मत मे ऐसा सयुक्त मोर्चा क्रान्ति के द्वारा बुर्जुआ शासन के ऊपर अपना नियन्त्रण स्थापित करके उसके पश्चात् सम्पूर्ण बुर्जुआ-वर्ग के ऊपर शासन करेगा। इस प्रकार उसने क्रान्ति के निमित्त अपरिपक्व स्थिति मे सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति के औचित्य को समझने के साथ-साथ मार्क्सवादी परम्परा को भी बनाये रखा कि सामन्तवाद तथा समाजवाद के मध्य बुर्जुआ पूँजीवाद का युग भी रहता है और सर्वहारा-वर्ग बुर्जुआ व्यवस्था से ही सत्ता छीनता है।

लेनिन के मत मे क्रान्ति एक कला है, अत इसे सिखाया जा सकता है। जो व्यक्ति क्रान्ति की कला को जानता है और जो एक व्यावसायिक क्रान्तिकारी है, वह क्रान्ति के कार्यक्रम का सचालन कर सकता है। इसके लिए लेनिन ने कुछ सुझाव दिये हैं—(i) क्रान्ति पहले तो शुरू ही न की जाये, परन्तु यदि शुरू की जाती है तो उसके उद्देश्य की पूर्ति होने तक निरन्तर उसमे लगा रहना चाहिए, (ii) क्रान्तिकारियों को अपनी स्थिति के स्थान तथा समय का सही अनुमान लगा लेना चाहिए अन्यथा प्रतिपक्ष उन्हे दबाने मे अधिक समर्थ सिद्ध हो सकता है, तथा (iii) क्रान्तिकारियों को शत्रु के ऊपर एकाएक आक्रमण कर देना चाहिए ताकि शत्रु अपनी असावधानी के कारण तुरन्त पराजित हो जाये। लेनिन ने यह भी बताया है कि साम्यवादी को अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए अन्य तत्वों के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए, परन्तु उनके प्रति पर्याप्त सतर्कता भी बरतनी चाहिए। ऐसे तत्त्वों से लेनिन का अभिप्राय कृषकों से था। लेनिन ने इसी उद्देश्य से क्रान्ति का नाम 'सर्वहारा-वर्ग तथा कृषकों का क्रान्तिकारी लोकतन्त्री अधिनायकवाद' दिया था। परन्तु लेनिन यह चेतावनी देता है कि अन्तत यह अधिनायकवाद सर्वहारा-वर्ग का ही होगा। लेनिन के द्वारा सर्वहारा-वर्ग की रूसी क्रान्ति के सम्बन्ध मे दिये गये उक्त तरीकों का उन्हे व्यवहृत करके क्रान्ति को सफल बनाने के सम्बन्ध मे यह बात भी विचारणीय है कि लेनिन ने अवसर का पूरा लाभ उठाया। इस बीच प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ा हुआ था। पश्चिम के पूँजीवादी देश युद्धरत थे। रूस को भारी पराजय तथा मानहानि का सामना करना पड रहा था। ऐसी स्थिति मे देश के अन्दर क्रान्ति द्वारा राजसत्ता को पलटना सम्भव था। अन्य पूँजीवादी देश इसमे हस्तक्षेप करने की क्षमता मे नहीं थे, क्योंकि वे युद्ध मे उलझे हुए थे। इस दृष्टि से लेनिन के सिद्धान्तों तथा व्यवहार की दूरदर्शिता परिलक्षित होती है।

(6) लेनिन के अन्य विचार—लेनिन मूल रूप से रूसी समाजवादी क्रान्ति का सक्रिय नेता था। उसके राजनीतिक विचारों का केन्द्र क्रान्ति को साकार करना

था। वह पूर्णतया मार्क्सवादी था। जो कुछ भी संशोधन उसने मार्क्सवाद में किये, उनका उद्देश्य भी रूसी क्रान्ति को सफल करना ही था। अतएव उसके अन्य विचारों पर मार्क्स का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(क) धर्म—मार्क्स परम्परागत धर्मों तथा धार्मिक विश्वासों का शत्रु था। अत लेनिन भी यही कहता था कि मार्क्सवादियों को नास्तिक होना चाहिए। लेनिन के मत से धर्म शोषण का एक अच्छा साधन है। इसकी आड में शासक तथा शोषक वर्ग निम्न वर्ग का आध्यात्मिक शोषण करते हैं। धर्म संस्थाओं पर राज्य का प्रभाव रहने से वह धर्म के नाम पर जनसाधारण के विरोधों को दबाने का प्रयास करता है। लेनिन के मत से 'धर्म, संस्कृति तथा प्रगति का हजारों वर्ष पुराना शत्रु रहा है। अधिक से अधिक लेनिन धार्मिक विश्वास को व्यक्ति का वैयक्तिक मामला मानता है। इसीलिए उसके कार्यक्रम में साम्यवादियों के लिए धार्मिकता की शपथ का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु यह केवल एक चाल मात्र थी। व्यवहार में यही माना जाता था कि साम्यवादी के लिए पूर्णतया नास्तिक बना रहना आवश्यक है। लेनिन यह भी मानता है कि देवी देवताओं की सृष्टि का कारण भय है। एक क्रान्तिकारी साम्यवादी को भय से दूर रहना है। अत दैवी विश्वास जैसी धारणा उसमें नहीं होनी चाहिए।

(ख) संसदवाद—संसदवाद से लेनिन का अभिप्राय पाश्चात्य पूँजीवादी देशों में प्रचलित संसदीय लोकतन्त्रों से था, जिनके अन्तर्गत संसदें जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से निर्मित होती थी और जन-प्रतिनिधिक संस्था के नाम पर सम्प्रभु सत्ता का प्रयोग करती थी। मार्क्स ने ऐसी संसदों का विरोध किया था। लेनिन ने उन्हे ऐसी संस्थाएँ कहा है जिनके निर्वचन में जनसाधारण को प्रति चौथे या पाँचवें वर्ष यह निर्धारण करने का अवसर प्राप्त होता है कि कौन-सा प्रतिनिधि जनता का सर्वाधिक शोषणकर्ता हो सकता है। ऐसी संसदों में वही लोग प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं जो धनी हैं और इसलिए अधिक प्रभावशाली ढंग से जनता के मतों को क्रय कर सकते हैं। इस प्रकार मार्क्स-लेनिन की दृष्टि में संसदें बुर्जुआ संस्थाएँ होने से कम कुछ नहीं हैं। इनके द्वारा सम्पूर्ण विधि-निर्माण तथा व्यवस्थापन-सम्बन्धी कार्य केवल-मात्र पूँजीपति वर्ग के हित में किये जाते हैं और जनसाधारण को मूर्ख बनाया जाता है। राज्य-व्यवस्था चाहे वैधानिक राजतन्त्र की हो या गणतन्त्रों की, सर्वत्र संसदों का रूप तथा कार्य-भाग पूँजीपतियों के हित तथा जनसाधारण एवं सर्वहारा-वर्ग के शोषण की ओर निर्देशित रहता है। इसलिए साम्यवादियों के कार्यक्रम का एक प्रमुख तत्त्व ऐसी संसद-व्यवस्था का अन्त करना होगा। जब क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप सर्वहारा-वर्ग के हाथ में राज्य की सत्ता आ जायेगी तो वही वर्ग राष्ट्र का निर्माण करेगा और सर्वहारा दल के विरोधी दलों की कार्यवाही को प्रतिक्रान्ति समझा जायेगा। अतएव राष्ट्रीय कांग्रेसों में एकमात्र सर्वहारा-वर्ग रहेंगे और अन्य तत्त्वों को उनमें प्रवेश नहीं दिया जायेगा।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति—मार्क्सवाद एक अन्तर्राष्ट्रीयतावादी विचारधारा है। इसका प्रमुख उद्देश्य विश्व-भर में पूँजीवाद, साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की समाप्ति करना है। लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की अन्तिम मंजिल कहा

था। साम्राज्यवाद का उद्देश्य विश्व-भर मे श्रमिको का शोषण करके थोड़े से पूँजीपतियो को विश्व का नियन्ता बना देना था। जब विभिन्न राष्ट्र साम्राज्यवाद की होड मे बढ़ते हैं तो उसके कारण ही विश्व-युद्ध होते हैं। इन युद्धो मे सर्वहारा-वर्ग को सैनिक बनाया जाता है और वही वर्ग युद्धो में मृत्यु का शिकार बनता है। अतएव जब तक पूँजीवाद का अन्त नही होगा तब तक साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धो का भी अन्त नही होगा। चूँकि सर्वहारा-वर्ग ही पूँजीवाद का विनाश कर सकता है, अत साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य विश्व-भर मे सर्वहारा-वर्ग को क्रान्ति के लिए सगठित करना होगा। लेनिन से पूर्व ही साम्यवादियो के दो अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन हो चुके थे। लेनिन का मत था कि सर्वहारा वर्ग का कोई अपना देश या राष्ट्र नही होता, क्योकि उसके पास अपनी चीज केवल-मात्र उसकी श्रम-शक्ति है, उसकी कोई अपनी सम्पत्ति नहीं है। अत श्रमिक एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति है। सम्पूर्ण विश्व के श्रमिक एक हैं, क्योकि उनके कष्ट समान हैं। अतएव शोषण से मुक्ति पाना ही प्रत्येक देश के श्रमिक का एकमात्र लक्ष्य होता है।

श्रमिको को पूँजीपतियो के शोषण से मुक्ति तभी मिल सकती है जबकि विश्व के विभिन्न भागों के श्रमिक अपने शोषको के विरुद्ध सगठित हो और विभिन्न भागो के श्रमिकों की वर्ग चेतना तथा क्रान्ति की चेतना को समान आदर्शों के आधार पर जागृत किया जाये। साथ ही उन्हें क्रान्ति के लिए तैयार किया जाये। इस प्रकार जब विश्व-भर मे सर्वत्र सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद कायम हो जायेगा तो फिर अन्तर्राष्ट्रीय भेदभाव का प्रश्न ही नही उठेगा। साम्यवादी विश्व-भर के साम्यवादियों को अपना कॉमरेड मानते हैं। इसी उद्देश्य से साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन किये गये थे। उनके अन्तर्गत विश्व-भर के साम्यवादी दलो के लिए कार्यक्रम तथा घोषणा पत्र जारी किये गये थे। रूसी क्रान्ति की सफलता के पश्चात् जब रूसी सोवियत शासन की बागडोर लेनिन के हाथ मे आ गयी तो उसने 1919–20 मे तृतीय साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन किया। इसके घोषणा-पत्र मे विश्व-भर के देशों के साम्यवादी दलो के लिए एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया था जिसकी कुछ शर्तें इस प्रकार थीं साम्यवादी लोगो को सुधारवाद तथा शान्ति द्वारा समाजवाद लाने की बात करने वालो का कट्टर विरोध करना चाहिए, विभिन्न देशो के साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सगठन मे शामिल होकर साम्यवाद की सार्वभौम नीतियो को अपनायें, वे अपने देश की सेनाओ के मध्य साम्यवादी प्रचार करें, किसानो का समर्थन प्राप्त करने मे सचेष्ट रहें, उपनिवेशो मे शोषित जनता की मुक्ति से कार्य करते रहें, ससदीय पद्धति वाले देशो मे साम्यवादी दलो के अन्तगत लोकतन्त्री केन्द्रवाद की नीति अपनायी जाये, अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी घोषणा-पत्रों द्वारा दिये गये निर्देशो का पालन सभी देशो के साम्यवादी करते रहे, प्रतिक्रियावादी तत्वों के विरुद्ध सोवियतो को समर्थन प्रदान करने मे साम्यवादियो को सदैव सक्रिय रहना चाहिए, आदि। सक्षेप मे, लेनिन का उद्देश्य ससार के समस्त देशो मे साम्यवादी शिक्षा तथा नीतियों को एक समरूप स्वरूप प्रदान करना था, ताकि सभी देशों के साम्यवादी दलों के मध्य पूर्ण एकता बनी रहे।

सत्रहवाँ अध्याय

आचार्य कौटिल्य

परिचयात्मक

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन परम्परा—पाश्चात्य देशों में स्वतन्त्र रूप से राजनीतिक चिन्तन यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो तथा अरस्तू से प्रारम्भ हुआ था। इनका काल ईसवी की चौथी तथा तीसरी शताब्दी पूर्व का है। प्राचीन भारत मे स्वतन्त्र रूप स राजनीतिक विचारो पर लिखा गया सबसे प्रथम ग्रन्थ कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। यह रचना प्लेटो तथा अरस्तू की समकालीन रचना है। कौटलीय अर्थशास्त्र स पूर्व वैदिक ग्रन्था, वेदोत्तर-कालीन साहित्य तथा बौद्ध ग्रन्थो मे यत्र तत्र राजनीतिक विचार मिलते हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन स ज्ञात होता है कि कौटिल्य से पूर्व मानव धर्मशास्त्र, बृहस्पति का अर्थशास्त्र एव दण्ड-प्रधान नीति-शास्त्र आदि की रचना हो चुकी थी। इन धर्मशास्त्रो, अर्थशास्त्रो तथा नीतिशास्त्रो के आदिप्रणेता मनु, बृहस्पति, शुक्र आदि थे। परन्तु कौटिल्य द्वारा सन्दर्भित यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नही हैं। जो मानव धर्मशास्त्र, बृहस्पति का अर्थशास्त्र तथा शुक्र और कामन्दकीय नीतिशास्त्र आज उपलब्ध हैं, वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार यद्यपि रामायण तथा महाभारत का काल कौटिल्य से पूर्व का है तथा वाल्मीकि रामायण तथा व्यास कृत महाभारत का सकलन भी कौटिल्य के काल के पश्चात् हुआ। इन विविध ग्रन्थो में राजनीतिक विषयो से सम्बन्धित उपाख्यान मिलते हैं। प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओ को मुख्यतया धर्म-प्रधान, अर्थ-प्रधान तथा दण्ड-प्रधान तीनो वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। वैदिक साहित्य, महाकाव्यो एवं बौद्ध ग्रन्थो मे जो राजनीतिक विचार मिलते हैं, वे क्रमबद्ध एव स्वतन्त्र राजनीतिक चिन्तन का आभास नही कराते। इस दृष्टि से कौटिल्य का अर्थशास्त्र स्वतन्त्र एव निरपेक्ष राजनीतिक चिन्तन का ज्ञान कराने वाला सबसे प्रथम तथा अद्वितीय ग्रन्थ है।

कौटिल्य का परिचय—आचार्य कौटिल्य एव उनके अर्थशास्त्र के सम्बन्ध मे विद्वानो के मध्य अनेक प्रकार के मतभेद हैं। कीथ, जॉली, विंटरनित्स प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् कौटिल्य अर्थशास्त्र को ईसवी की तीसरी शताब्दी का ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु डा० श्यामा शास्त्री (जिन्होने सर्वप्रथम कौटिल्य अर्थशास्त्र की पाडुलिपि उपलब्ध करके उसका अग्रेजी अनुवाद किया है), डा० काशीप्रसाद जायसवाल, गणपति शास्त्री, एन० एन० लॉ, डी० आर० भण्डारकर, फ्लीट, स्मिथ आदि अनेक

विद्वान् कौटलीय अर्थशास्त्र को मौर्यकालीन (तीसरी शताब्दी ई० पू०) की रचना मानते हैं। इन विद्वानो के अनुसार कौटिल्य मौर्य वश के प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रमुख मन्त्री थे, जिनकी महायता से मगध के नन्द राजवश का विनाश करके चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का सम्राट बनने का अवसर मिला था। कौटिल्य का राशि का नाम विष्णुगुप्त था। इन्हे चाणक्य भी कहा गया है। गणपति शास्त्री, दण्डी, बाण, देवदत्त शास्त्री सोमदेव सूरी, शकराचार्य आदि विविध विद्वानो ने विष्णुगुप्त, कौटिल्य या कौटल्य, तथा चाणक्य नामो मे से प्रत्येक की सार्थकता को चित्रित करने का प्रयास किया है। चणक गोत्र मे जन्म लेने के कारण या उनके निवास स्थान के नाम से विष्णुगुप्त को चाणक्य कहा गया, एक धारणा यह भी है कि कौटल गोत्र मे उत्पन्न होने से उन्हे कौटल्य कहा है, अथवा उनके वश मे कुटल वृत्ति होने के कारण उन्हे कौटिल्य नाम दिया गया। इस प्रकार विविध भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो ने जिन प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि कौटिल्य, विष्णुगुप्त या चाणक्य यही महापुरुष हैं, जिन्होने नन्द वश का नाश करके चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का सम्राट बनवाया था और स्वय चन्द्रगुप्त के एक प्रमुख मन्त्री के रूप मे रहे थे, कौटलीय अर्थशास्त्र उन्ही की रचना है। इसी मत को आधुनिक काल मे अधिक प्रामाणिक माना जाने लगा है। इस दृष्टि से कौटलीय अर्थशास्त्र का रचना काल तीसरी शताब्दी ई० पू० का है। यह सम्भव हो सकता है कि कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र मे बाद म कुछ परिवर्तन, परिवर्द्धन या सशोधन किये गये हो और वर्तमान समय मे उपलब्ध कौटलीय अर्थशास्त्र इसी परिवर्तित रूप मे हो, परन्तु अब यही मत पुष्ट होता है कि इस अर्थशास्त्र के मूल रचयिता चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु-मन्त्री आचार्य विष्णुगुप्त या कौटिल्य ही हैं और यह रचना मौर्यकालीन रचना है। कौटिल्य ने इस ग्रन्थ को सम्राट चन्द्रगुप्त के निदेशन के लिए लिखा था। यह लगभग उसी प्रकार है जिस प्रकार इटली के मैकियाविली ने अपना ग्रन्थ 'प्रिंस' मॅडिसी सम्राट के लिए लिखा था।

राजनीतिक विचारधारा

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधाराएँ—कौटिल्य ने अपनी पूर्ववर्ती जिन विविध विचारधाराओ का उल्लेख अर्थशास्त्र म किया है उनके अनुसार प्राचीन भारत म तीन मुख्य राजनीतिक विचारधाराएँ प्रचलित थी—(1) धर्म-प्रधान, (2) अर्थ-प्रधान, तथा (3) दण्ड-प्रधान। प्रथम के प्रवर्तक मनु के अनुयायी, द्वितीय के बृहस्पति के अनुयायी तथा तृतीय के उशना के अनुयायी माने जाते थे। यद्यपि इन पूर्वकालीन विचारधाराओ के मूल ग्रन्थ उपलब्ध नही हैं, तथापि कौटिल्य के पश्चात् की रचनाओ मे पुन इन्ही विचारधाराओ का आभास होता है। मनुस्मृति एव अन्य स्मृतियाँ धर्म-प्रधान राजनीति का, कौटलीय अर्थशास्त्र तथा उसके पश्चात् का बृहस्पति अर्थशास्त्र अर्थ-प्रधान राजनीति का, और शुक्र, कामन्दक आदि के नीतिसार दण्ड-प्रधान राजनीतिक विचारधारा का आभास कराते हैं। प्राचीन भारतीय राजनीतिक ग्रन्थो म पाश्चात्य देशो म प्रचलित, प्राचीन मध्ययुगीन एव आधुनिक स्वरूप की

विविध विचारधाराओ का आभास नही होता ।

अर्थ-प्रधान राजनीति—यद्यपि प्राचीन भारतीय अर्थ-प्रधान राजनीतिक विचारधारा के आदि प्रणेता बृहस्पति माने जाते हैं, तथापि उपलब्ध ग्रन्थो म कौटलीय अर्थशास्त्र ही इस कोटि की रचना है । 'इस विचारधारा के अनुसार ससार म अर्थ ही प्रधान पदार्थ है। राजशास्त्र भी इसी के अधीन है ।' यह दृष्टिकोण बहुत कुछ अश म मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन से मिलता-जुलता है । मार्क्सवादी भी आर्थिक सत्ता को राजनीतिक सत्ता का पूर्ववर्ती मानते हैं । उनके मत म 'Economic power precedes the political power' । प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार कौटिल्य भी मानव-जीवन के चार उद्देश्यों—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति को मानते हैं । इनमें से मोक्ष की प्राप्ति पारलौकिक होने के कारण इहलौकिक जीवन के तीन लक्ष्यो—धर्म, अर्थ तथा काम—को त्रिवर्ग की सज्ञा दी गयी है । कौटिल्य के मत से अर्थ की उपलब्धि पर ही धर्म तथा काम की उपलब्धि सम्भव है । इस ससार मे त्रिवर्ग की समुचित प्राप्ति कर लेने पर मानव के लिए चौथे उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है । प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार कौटिल्य विद्याओ को भी चार श्रेणियो—आन्वीक्षिकी (तत्त्व ज्ञान), त्रयी (तीन वेदो का ज्ञान), वार्ता (कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य से सम्बद्ध ज्ञान) तथा दण्ड-नीति (शासन-विज्ञान) म वर्गीकृत करते हैं । कौटिल्य का मत है कि यह चारो विद्याएँ मानव-जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक हैं । इनमे से दण्ड-नीति वह विद्या है जिसके समुचित ज्ञान तथा प्रयोग पर प्रथम तीन विद्याओ की प्रगति तथा क्षेम निर्भर रहते हैं । कौटलीय अर्थशास्त्र वास्तव म दण्ड-नीति (शासन विज्ञान) का ग्रन्थ है जिसका आधार अर्थ है । कौटिल्य के मत से अर्थ का तात्पर्य मनुष्य की जीविका (वृत्ति) है। जिस भूमि म मनुष्य निवास करते हैं और जिस भूमि स वह अपनी जीविका अर्जित करते है, वह भी अर्थ है । अतएव 'अर्थशास्त्र वह विद्या है जिसके अन्तर्गत मनुष्यो द्वारा निवसित भूमि को प्राप्त करने, उसके लाभ द्वारा मनुष्यो के भरण-पोषण के साधनों का विवेचन करने तथा उसकी रक्षा एव वृद्धि के साधनो की व्याख्या की जाती है ।' सक्षेप म, अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जिसम अर्थोपार्जन के विविध साधनो का विवेचन किया जाता है, साथ ही अर्जित अर्थ के वितरण उपभोग एव सरक्षण की व्यवस्था का भी सम्यक् विवेचन किया जाता है । इन समस्त व्यवस्थाओ हेतु समुचित राज्य-व्यवस्था आवश्यक है । अत कौटलीय प्रणीत अर्थशास्त्र म केवल आधुनिक अर्थ मे अर्थशास्त्र (Economics) की विषय-वस्तु न होकर राजशास्त्र (Political Science) की भी विषय वस्तु है । इस दृष्टि स कौटिल्य अर्थशास्त्र को आधुनिक शब्दावली मे राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) का ग्रन्थ कहना युक्तिसगत प्रतीत होता है । कौटिल्य का मत है कि 'दण्ड-नीति (राजशास्त्र) अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने, प्राप्त अर्थ का सरक्षण करने तथा सरक्षित अर्थ की अभिवृद्धि करने और अभिवृद्ध अर्थ को योग्यों के मध्य समुचित ढग से वितरण करने का साधन है । इस प्रकार कौटिल्य के राजनीतिक विचार अर्थ-प्रधान राजनीति का प्रतिपादन करते है ।

स्वरूप—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों की भाँति कौटिल्य ने राज्य की निश्चित शब्दावली में कोई परिभाषा तो नहीं की है, परन्तु राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी सप्तांग-राज्य की धारणा राज्य की स्पष्ट पारिभाषिक व्याख्या करती है। कौटिल्य के अनुसार, 'स्वाम्यमात्य-जनपद-दुर्ग-कोश-दण्ड-मित्राणि प्रकृतयः।' इसका अभिप्राय यह है कि स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्री तथा प्रशासक वर्ग), जनपद (जनता द्वारा निवसित-भू-प्रदेश), दुर्ग (किलेबन्द राजधानी), कोश (पर्याप्त धनी खजाना), दण्ड (सेना) तथा मित्रों (मित्र-राष्ट्रों) की प्रकृति से युक्त वस्तु राज्य कहलाती है। कौटिल्य की राज्य-विषयक धारणा में राज्य के उपर्युक्त सात तत्त्व हैं। आधुनिक काल में गार्नर द्वारा दी गयी सर्वमान्य परिभाषा के अन्तर्गत राज्य के जिन चार तत्त्वों (जनसंख्या, भू-प्रदेश, शासन संगठन तथा सम्प्रभुता) की मान्यता स्वीकार की गयी है, उन सबका समावेश उपर्युक्त सात तत्त्वों के अन्तर्गत है। जनपद, जनसंख्या एवं भू-प्रदेश का, अमात्य शासन-संगठन का जिसमें स्वामी भी शामिल है, तथा स्वामी राज्य की प्रमुख शक्ति का द्योतक है। समस्त प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सात तत्त्वों—स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्रिगण तथा प्रशासक वर्ग), जनपद (राष्ट्र), दुर्ग (पुर) कोश, दण्ड (सेना या बल) एवं मित्र से युक्त राज्य के सावयविक स्वरूप को स्वीकार किया है।[1] इस प्रकार सप्तांग-राज्य सिद्धान्त प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा का सुमान्य सिद्धान्त बना रहा, जिसका श्रीगणेश कौटिल्य ने किया था। कौटिल्य इन सात तत्त्वों को राज्य के अंग मानते हैं। उनकी सप्तांग-राज्य की व्याख्या इस बात की द्योतक है कि वे राज्य के सावयव स्वरूप को स्वीकार करते हैं। परन्तु राज्य के सावयव स्वरूप का निरूपण करने में कौटिल्य या उनके पश्चात् के अन्य भारतीय चिन्तकों ने पाश्चात्य देशों के राज्य-सावयव-सिद्धान्तवादियों का अनुसरण नहीं किया है। भारतीय सिद्धान्त यान्त्रिक-मात्र है। यह राज्य के विविध अंगों के मध्य परस्पर शरीर के अंगों की भाँति के सम्बन्धों को दर्शाता है और इतनी गहराई तक नहीं जाता कि राज्य को एक स्वात्म चेतना एवं व्यक्तित्व तथा इच्छा से युक्त सावयव के रूप में मानकर व्यक्ति को उसमें विलीन करने की दलील दे और उसके आधार पर राज्य तथा व्यक्ति के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करे। कौटिल्य ने केवल इतना बताया है कि इन विविध अंगों के मध्य ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा कि जीवधारी के शरीर के विभिन्न अंगों के मध्य रहता है और एक की विपत्ति समूचे जीवधारी के लिए हानिकारक होती है, अतएव राजा को, जो कि इन अंगों के शीर्ष स्थान पर विराजमान है, प्रत्येक अंग को उसकी विपत्तियों से मुक्त रखने की चेष्टा करनी चाहिए। अतः किसी न किसी रूप में कौटिल्य राज्य के स्वरूप को सावयविक मानते हैं।

राज्य की उत्पत्ति—राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र

[1] मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र, अग्नि-पुराण, कामन्दक आदि सभी ने इस सिद्धान्त को माना है।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त को मान्यता देता प्रतीत होता है। कौटिल्य न तो राज्य की उत्पत्ति को दैवी मानते हैं और न शक्ति पर आधारित मानते हैं। उनके मत से जब मनुष्य अराजकता की स्थिति मे थे तो उस समय समाज मे मत्स्य-न्याय फैला हुआ था। अत इस स्थिति से चिन्तित मानवो ने मनु वैवस्वत को अपना राजा निर्वाचित किया और अपनी रक्षा हेतु उन्होंने राजा को अपनी कृषि की उपज का छठा भाग तथा व्यापार से प्राप्त लाभ का दसवाँ भाग कर के रूप मे देने का वचन दिया, ताकि उस धन से राजा जनता की रक्षा करने की व्यवस्था कर सके। ऐसी सविदा मे यह धारणा निहित थी कि राजा प्रजा की रक्षा करने मे असमर्थ सिद्ध हुआ तो जनता उन्हें कर के रूप मे अपनी आय का भाग देना बन्द कर देगी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। डा० श्यामा शास्त्री ने कौटिल्य के इस विचार पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि 'स्पष्टतया चाणक्य के युग मे सामाजिक समझौता सिद्धान्त अज्ञात नही था।' परन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की व्याख्या कौटिल्य ने पाश्चात्य विद्वानो हॉब्स, लॉक तथा रूसो की भाँति मानव-स्वभाव, प्राकृतिक स्थिति के जीवन, प्राकृतिक अधिकार एव कानून की धारणाओ या मनोवैज्ञानिक एव दार्शनिक विवेचन करते हुए नही की है, और न ही उनकी भाँति सम्प्रभुता के स्वरूप तथा राज्य और नागरिको के मध्य पारस्परिक सम्बन्धो को दर्शाने का प्रयास किया है। अतएव राज्य के सावयव स्वरूप एव राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक सविदा सिद्धान्त का निरूपण करने मे कौटिल्य की विचारधारा की तुलना पाश्चात्य विद्वानो की इन धारणाओ से करना युक्ति-सगत नही होगा। कौटिल्य के सम्बन्ध मे हम केवल इतना मानना पड़ेगा कि वह इन धारणाओ से परिचित थे और राज्य के स्वरूप तथा उत्पत्ति के बारे मे उन्होंने इन सिद्धान्तो को अपने ही ढग से अपनाया है और इन सिद्धान्तो की गहराई के साथ दार्शनिक विवचना करने की आवश्यकता नही प्रतीत की।

राज्य के उद्देश्य—निस्सन्देह राज्य के उद्देश्यो के सम्बन्ध मे कौटिल्य के विचार पर्याप्त व्यापक हैं। कौटिल्य के समकालीन यूनानी दार्शनिको प्लेटो तथा अरस्तू ने राज्य का मुख्य उद्देश्य 'उत्तम तथा सद्गुणयुक्त जीवन' की प्राप्ति कराना बताया था। ये विचारक आदर्शवादी हैं और यूनानी नगर-राज्य-व्यवस्था के सन्दर्भ म राज्य के उद्देश्यो का विवेचन करते हैं। कौटिल्य की राज्य-सम्बन्धी धारणा विशाल साम्राज्य के सन्दर्भ मे है और प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार वे भी मनुष्य जीवन के चार उद्देश्यो (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति कराना राज्य का उद्देश्य मानते हैं। यह उद्देश्य यूनानी विचारको के 'उत्तम जीवन' की प्राप्ति के उद्देश्य के तुल्य ही व्यापक है। चूँकि कौटिल्य अर्थ-प्रधान राजनीति के प्रतिपादक हैं, अत उनकी राज-व्यवस्था म शासन का उद्देश्य मनुष्यवर्ती भूमि की उन्नति करके उसे हर प्रकार से समृद्धिशाली बनाना है, ताकि उसमे निवास करने वाले मानवो का भौतिक जीवन समृद्ध बन सके। परन्तु कौटिल्य के राजनीतिक विचारो के अन्तर्गत दण्डनीति (राज-शास्त्र) का उद्देश्य अन्य विद्याओ (आन्वीक्षिकी, त्रयी तथा वार्ता) की रक्षा तथा

उन्नति करना भी है। अत. राज्य का मुख्य उद्देश्य मानव को केवल भौतिक सुखो से युक्त जीवन प्रदान कराना ही नही है, अपितु धर्म, आध्यात्मिकता तथा नैतिकता की अभिवृद्धि कराना भी है। राज्य केवल एक पुलिस-राज्य नही है जिसका उद्देश्य केवल शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा बनाए रखना हो, अपितु राज्य का कार्य-क्षेत्र लोक-कल्याणकारी आदर्श का प्रतिपादन करना है। राज्य को चाहिए कि वह वैदिक वर्ण-व्यवस्था को बनाए रखे, अत वेदो मे वर्णित वर्ण तथा आश्रम धर्म की व्यवस्था बनाए रखना और व्यक्ति को स्वधर्म पालन के मार्ग मे प्रवृत करना राज्य का उद्देश्य है। इस दृष्टि से कौटिल्य की राजनीतिक विचारधारा मे राज्य का उद्देश्य मानवो को इहलौकिक सुख प्रदान करना (त्रिवर्ग की प्राप्ति) होने के साथ-साथ पारलौकिक शान्ति (मोक्ष) प्राप्त करने का मार्गदर्शन कराना भी है।

राज्य संगठन

विविध प्रकार की राज्य व्यवस्थाएँ—अर्थशास्त्र मे कौटिल्य ने मुख्यतया राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का विवेचन किया है। परन्तु कौटिल्य अपने युग की या उससे पूर्व की भारत मे निवर्तमान अन्य प्रकार की राज्य-व्यवस्थाओ से भी परिचित थे। अर्थशास्त्र मे गज राज्यो का उल्लेख भी मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के सन्दर्भ मे विभिन्न प्रकार की राज्य-व्यवस्थाओ की स्थिति का विवेचन करना कौटिल्य का मुख्य उद्देश्य था। कौटिल्य द्वैराज्य और वैराज्य का उल्लेख करते हैं। द्वैराज्य का अर्थ ऐसे राज्य से है जिसमे दो राजा शासन करते है। यह व्यवस्था उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे एक राजा के दो पुत्रो के मध्य विरोध के कारण उत्पन्न होती है। कौटिल्य ऐसी व्यवस्था मे बहुत दोष नही देखते। उनके मत से अमात्यवर्ग दोनो राजाओ के पारस्परिक कलहो तथा मतभेदो को दूर करने मे समर्थ हो सकते हैं। वैराज्य का तात्पर्य अराजकता या राजाहीन राज-व्यवस्था से है। ऐसे राज्य को विजयाभिलाषी राजा जीत लेता है और वहाँ की प्रजा को सताता है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य सघ-राज्य का भी उल्लेख करते हैं अनेक छोटे-छोटे राज्य कभी अपनी प्रतिरक्षा के लिए सघ का निर्माण कर लेते हैं। ऐसे राज्यो की व्यवस्था गणतन्त्रात्मक थी। कौटिल्य ने इन्हे शस्त्रोपजीवी तथा राज-शब्दोपजीवी सघो मे वर्गीकृत किया है। शस्त्रोपजीवी सघ मे समस्त जनता शस्त्र धारण करती थी और उसे सैनिक शिक्षा मिलती थी। यह गणराज्य शस्त्र-वृत्ति पर निर्भर रहते थे। राज-शब्दोपजीवी सघों मे प्रधान शासक को राजा की उपाधि मिली रहती थी।

राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का सगठन—परन्तु कौटिल्य का मुख्य उद्देश्य राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का विवेचन करना है। अर्थशास्त्र मे जिन शासन-सम्बन्धी सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है, वे मुख्यतया मगध के साम्राज्य की शासन-व्यवस्था के सन्दर्भ मे बनायी गयी हैं। कौटिल्य के अनुसार समूचे राज्य या जनपद को चार भागों मे बाँटा जाना चाहिए। इनमे से प्रत्येक ग्राम का शासन-केन्द्र स्थानीय कहलाता है, जिसका शासनाधिकारी 'स्थानिक' है। यह 800 ग्रामों का समूह होता है। इसके अन्तर्गत 400 ग्रामों के समूह का अधिकारी 'द्रोणमुख' और इसी शृंखला

मे 200 ग्रामो के समूह का अधिकारी 'स्थानिक' कहलाता है। स्थानिक के नीचे प्रत्येक दस तथा पाँच ग्रामो के समूह मे दस ग्रामी तथा पाँच ग्रामी 'गोप' नाम के अधिकारी रहते हैं। इस शृंखला के निम्नतम स्तर पर ग्राम शासन की सबसे प्रथम इकाई है जिसका शासनाधिकारी 'ग्रामिक' कहलाता है। इस प्रकार कौटिल्य द्वारा दी गयी व्यवस्था के अन्तर्गत निम्न क्रम से उच्च क्रम तक एक ग्राम, पाँच या दस ग्रामो, 200 ग्रामो, 400 ग्रामो तथा 800 ग्रामो के समूह प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की इकाइयाँ हैं। ग्राम के शासन मे स्वायत्त शासन की व्यवस्था बतायी गयी है। कौटिल्य का मत है कि ग्रामिक को ग्राम का प्रबन्ध ग्राम-वृद्धों की सहायता से करना चाहिए। इसके ऊपर की प्रशासनिक इकाइयों मे शासन का दायित्व केन्द्रीकृत नौकरशाही द्वारा सम्पादित होना है। राजधानी या पुर की व्यवस्था के लिए पौर का भी उल्लेख किया गया है।

राजा

राज्य की सर्वोच्च शासन-सत्ता राजा मे विहित की गयी है। राज्य के उद्देश्यो की पूर्ति के मार्ग मे अनेक तत्त्व बाधक होते हैं। अत उन्हें रोकने के लिए दण्ड की आवश्यकता पडती है। राजा दण्डधारी तथा दण्ड का प्रतीक है जो दण्ड के भय से बाधक तत्त्वो को नियन्त्रण मे बनाए रखता है। लोक-कल्याण के निमित्त उसकी सत्ता आवश्यक है। राजा को धर्म, नैतिकता तथा लोक-कल्याण की अभिवृद्धि करनी पडती है। वह केवल प्रजा मे भय उत्पन्न करने का साधन नही है। उसे अपने आदर्शों के द्वारा जनता के लिए प्रेरणा का स्रोत बनना आवश्यक है। उसे प्रजा के साथ पुत्रवत् व्यवहार करना चाहिए। इन गुणो से युक्त राजा ही यथार्थ राजा सिद्ध हो सकता है अतएव कौटिल्य ने न केवल राजा के गुणो तथा योग्यताओं का ही विवेचन किया है, बल्कि उसमे राजा मे इन गुणो का सचार करने हेतु उसकी दिनचर्या तथा जीवन के आचरण की विविध व्यवस्थाओ का भी उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार राजा मे चार गुणो का होना आवश्यक है। यह गुण हैं— अभिगामिका गुणा, प्रज्ञा गुणा, उत्साह गुणा, तथा आत्म-सम्पद् (अर्थात् राजा को उच्च कुल मे जन्मा, बुद्धि तथा विवेक से युक्त, उत्साही तथा विविध वैयक्तिक गुणो से सम्पन्न होना चाहिए)। आत्म-सम्पद् गुणो के अन्तर्गत शारीरिक, मानसिक, आचारिक एव बौद्धिक गुण भी शामिल हैं। राजा मे जिन गुणो की वाछनीयता *कौटिल्य ने बतायी है, वे लगभग सभी उसी प्रकृति के हैं जो प्लेटो ने अपनी कल्पना* के दार्शनिक राजा मे गिनाये हैं या मध्य युग के दान्ते ने विश्व सम्राट के लिए बताए थे।

कौटिल्य वशानुगत राजतन्त्र के समर्थक हैं। अत उन्होने राजा के उत्तराधिकार सम्बन्धी सिद्धान्तो का विवेचन भी किया है। सामान्यतया राजा का ज्येष्ठ पुत्र उसका उत्तराधिकारी होना चाहिए। परन्तु यदि वह राजोचित गुणों से युक्त नही है और दुर्बुद्धि है, तो वह राजा का उत्तराधिकारी नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे योग्य राजकुमारी अथवा राजमहिषी को उत्तराधिकारी बनाया जा सकता है।

यदि राजा के वश मे कोई उत्तराधिकारी न हो तो राजवश के सरक्षण मे शासन-व्यवस्था को रखा जाना चाहिए। यदि राजा का पुत्र राजा की जाति मे अर्थात् उसकी वास्तविक रानी से उत्पन्न न हुआ हो तो उसे राजा का उत्तराधिकारी नही बनाया जाना चाहिए। वह मन्त्रणा देने का कार्य कर सकता है।

मन्त्री तथा अमात्य

यद्यपि कौटिल्य राजतन्त्रवादी हैं, तथापि उन्हे निरकुश अथवा स्वेच्छाचारी राजतन्त्र का समर्थक मानना उचित नही है। उनका मत है कि गाडी एक पहिये से नही चल सकती। राजा तथा मन्त्री राज्य रूपी गाडी के दो पहियो के तुल्य हैं। अत दोनो के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध रहना चाहिए। राजा को राज्यकार्य के सम्बन्ध मे अपने मन्त्रियो की सलाह लेनी चाहिए। मन्त्री कितने होने चाहिए, इस सम्बन्ध म कौटिल्य अपने पूर्ववर्ती अनेक ऋषियो के विचारो को व्यक्त करते हैं जोकि 12, 16 या 20 तक मन्त्रियो की सख्या बताते है। परन्तु कौटिल्य उनमे मतभेद रखते हुए यह बताते हैं कि मन्त्र की गोपनीयता को बनाये रखने के लिए राजा को 3 या 4 मन्त्रियो से सलाह लेनी चाहिए। एक मन्त्री द्वारा दी गई सलाह पक्षपातपूर्ण होती है। दो मन्त्रियो से सलाह लेना भी उचित नही है क्योकि उनकी सलाह परस्पर विरोधी मतो से पूर्ण होने पर कठिनाई उपस्थित कर सकती है अथवा दोनो के परस्पर मिल जाने पर मन्त्र उचित नही हो सकेगा। अत राजा को 3 या 4 मन्त्रियो से ही सलाह लनी चाहिए। मन्त्रियो की सख्या का निर्धारण राजा को आवश्यकतानुसार करना चाहिए। मन्त्र या नीति सम्बन्धी बातो मे सलाह देने वाले 3 या 4 मन्त्रियो के अतिरिक्त कौटिल्य एक वृहत मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता पर बल देते हैं। इसके मन्त्रियो की सख्या प्रशासनिक कार्य पर निर्भर करती है। मन्त्रिपरिषद् मे मन्त्रणा देने वाले मन्त्री भी शामिल हैं। इसका एक अध्यक्ष होना चाहिए। राजा को स्वय मन्त्रिपरिषद् की बैठको का सभापतित्व नही करना चाहिए। मन्त्रिपरिषद् मे जो निर्णय बहुमत द्वारा लिए जाएँ, राजा को उनके अनुसार शासन कार्य करना चाहिए। मन्त्रिपरिषद के सदस्य मन्त्री तथा अमात्य कहलाते थे। अमात्य राजा को मन्त्रणा (सलाह) देने का कार्य नही कर सकते। राजा के लिए परामर्श देने वाले मन्त्रियो का होना इसलिए भी आवश्यक है कि मन्त्री राजा को प्रमादी होने से रोक सकते हैं, साथ ही राजा के ऊपर विपत्ति आने की स्थिति मे वे उसे सरक्षण प्रदान करने के साधन सिद्ध होते हैं। अकेले राजा द्वारा लिया गया निर्णय दोषपूर्ण हो सकता है। कौटिल्य का मन्त्रिपरिषद् सम्बन्धी विवेचन आधुनिक युग के मन्त्रि-मण्डल (cabinet) व मन्त्रिपरिषद् (ministry) की धारणा से बहुत कुछ अश मे सादृश्य रखता है। अन्तर यही है कि कौटिल्य राजा को मात्र वैधानिक प्रधान नही मानते और न ही मन्त्रिगणों की नियुक्ति के आधुनिक लोकतन्त्री सिद्धान्तो को अपनाते है।

चूँकि राज काज के सचालन म मन्त्री का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अत कौटिल्य न मन्त्रियो की योग्यता का भी समुचित विवेचन किया है। यह योग्यताएँ अमात्य एव मन्त्री सभी के लिए हैं। उन्हे उत्तम कुल म जन्मा, विद्वान्, वाक्-चतुर,

स्मृतिमान्, कुशल प्रबन्धक, लोकप्रिय, शारीरिक, एव मानसिक दृष्टि से स्वस्थ, निष्ठावान्, साहसी आदि विविध गुणो से युक्त होना चाहिए। मन्त्रियो को नशीले पदार्थों का सेवन नही करना चाहिए। नीद मे बडबडाने वाला व्यक्ति भी मन्त्री बनने योग्य नहीं होता। ऐसे व्यक्तियो म भेद खुलने का भय रहता है। योग्यता तथा कार्य-क्षमता के आधार पर कौटिल्य मन्त्री पद हेतु व्यक्तियो को तीन श्रेणियो मे रखते हैं। जिन मन्त्रियो म उपयुक्त समस्त गुण विद्यमान हो वे उत्तम, जिनम उनम से तीन चौथाई गुण हो, व मध्यम तथा जिनम आधे गुण हो, वे क्षुद्र मन्त्री सिद्ध होगे। मन्त्रियो तथा अमात्यो की नियुक्ति का अधिकार स्वय राजा को होना चाहिए। वह उक्त गुणो का ज्ञान करके उनकी नियुक्ति करे। मन्त्रियो क वतन के सम्बन्ध म कौटिल्य का दृष्टिकोण यथार्थवादी है। मन्त्रियो को इतना पर्याप्त वेतन मिलना चाहिए कि जिसमे वे अपना तथा अपन कुटुम्बी जनो का भरण-पोषण भली भाँति कर सकें, और उन्ह भ्रष्ट तरीको से अपनी आय बढान का लालच न रह। कौटिल्य ने विविध प्रकार के *अधिकारियो तथा कर्मचारियो के लिए वेतन सूची (Civil list)* भी निर्धारित की है, जिसके अन्तगत मन्त्री स्तर के अधिकारियो (पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता, राजमहिषी एव मन्त्रियो) का 48 000 पण वार्षिक वेतन दिये *जाने की व्यवस्था बनायी है। वेतन निर्धारण का सिद्धान्त पद की गरिमा तथा महत्ता* पर आधारित है।

प्रशासनिक व्यवस्था

कौटिल्य की राज्य व्यवस्था एक पुलिस राज्य की व्यवस्था न होकर एक लोक कल्याणकारी राज्य के आदर्श का उद्देश्य रखती है। उस युग क लोक-कल्याणकारी राज्य की शासन-व्यवस्था म लोकतन्त्र का अभाव था। अत राज्य क कार्य-कलापो का पर्याप्त विस्तार होन के कारण कौटिल्य ने नौकरशाही प्रशासनिक व्यवस्था का विस्तृत विवेचन अपने ग्रन्थ म किया है। राज्य व्यवस्था एकात्मक थी, प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण को व्यवस्था द्वारा शासन की समस्त क्रिया मे सम्पादित होती थी। नौकरशाही का स्वरूप केन्द्रीकृत था। केन्द्रीय शासन का प्रधान कार्यपालिकाध्यक्ष स्वय राजा था, जो अपने मन्त्रियो की सलाह से प्रशासन का सचालन करता था। मन्त्रियों के अतिरिक्त अमात्य तथा विविध प्रशासनिक विभागों के अध्यक्ष एव विविध प्रकार के मुख्य-मुख्य अधिकारी वग प्रशासन का निदेशन तथा सचालन करते थ। राज्य के इन प्रमुख मन्त्रियो, अमात्यों, विभागाध्यक्षो एव अधिकारी वर्गो को कौटिल्य अष्टादश तीर्थों की सज्ञा दते हैं। अष्टादश तीर्थों के अन्तर्गत मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, द्वारिक, अन्तर्वेशिक (अग रक्षक तथा अन्त पुर का रक्षक), समाहर्त्ता (collector general) सन्निधाता (हर प्रकार का कोषाध्यक्ष) प्रदेष्टा (आयुक्त) नायक (नगर-रक्षक), पौर (नगर का प्रधान), व्यावहारिक (लेन देन का *न्यायाधिकारी*) कार्मान्तिक (कारखानो का अध्यक्ष), मन्त्रिपरिषद् का अध्यक्ष, विभागाध्यक्ष, दण्डपाल (सेना विभाग का अधिकारी) तथा दुर्गपाल (राज्य के किलो का प्रधान अधिकारी एव सीमाओं और जगली जातियो का अधिकारी) को गिनाया

गया है। कौटिल्य ने अनेक प्रशासनिक विभागों के अध्यक्षों का उल्लेख करते हुए उनके कर्त्तव्यों की विशद् व्याख्या की है। अधिकांश विभाग राज्य की अर्थव्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं, तथा उद्योग, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, व्यवसाय आदि। कुछ विभाग इन उद्योगों तथा व्यवसायों के नियमन, नियन्त्रण तथा इनसे प्राप्त होने वाले करों तथा शुल्कों की व्यवस्था से सम्बद्ध है। राज्य द्वारा स्थापित यह विशाल नौकरशाही लोक कल्याण तथा राज्य की समृद्धि करने के उद्देश्य से कार्य करती है। कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि राज्य के उच्चस्तरीय अधिकारी वर्ग को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों तथा आचरण पर पूर्ण निगरानी रखनी चाहिए, ताकि वे अपने पद तथा अधिकारों का भ्रष्ट तरीके अपनाकर दुरुपयोग न करें और राज्य की आय तथा लोक कल्याण की उपेक्षा करके स्वयं अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लीन न रहने लगे। इन कर्मचारियों के ऊपर केवल उच्चस्तरीय अधिकारी वर्ग का ही नियन्त्रण नहीं था, बल्कि उनके कार्यों तथा आचरण का परीक्षण निरन्तर करते रहने के निमित्त कौटिल्य ने व्यापक चर व्यवस्था का विधान भी प्रस्तुत किया है।

गुप्तचर व्यवस्था—राजा को चाहिए कि वह अष्टादश तीर्थों सहित समस्त राजकर्मचारियों के आचरण तथा कार्यकलापों का सही सही ज्ञान करने के लिए विविध वेषधारी गुप्तचरों की नियुक्ति करे। कौटिल्य ने इन चरों को अनेक श्रेणियों में वर्गीकृत किया है, यथा कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, तापस, वैदेहक, सत्री, तीक्ष्ण, रसद तथा भिक्षुकी। चरों में पुरुष तथा महिलायें दोनों हो सकते हैं। यह कर्मचारियों के कार्यों का ज्ञान बाहर-बाहर से तथा कभी-कभी उनके घरों में सेवावृत्ति करके भी करें। चर-व्यवस्था का संगठन एक विभाग के रूप में किया जाना चाहिए और चरों से प्राप्त सूचना के आधार पर विभाग का अध्यक्ष समस्त सूचनाएँ राजा को देता रहे। चरों का कार्य न केवल निम्नतर कर्मचारियों के आचरण का ज्ञान करना है, वरन् वे उपर्युक्त अष्टादश तीर्थों के कार्यों तथा आचरणों के सम्बन्ध की सूचनाएँ भी ज्ञात करते रहें और राजा को उनसे अवगत कराते रहें। कौटिल्य ने चर-व्यवस्था के कार्य कलापों की गोपनीयता का विशेष ध्यान रखा है। उनका मत है कि राजा को केवल एक ही चर की बात पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए, बल्कि अन्यों से भी उसकी पुष्टि करानी चाहिए। साथ ही चर-व्यवस्था के कार्य-कलापों का रहस्य भी खुलने न पाये, इस उद्देश्य से उन्होंने चर-विभाग के कार्यों के निमित्त सांकेतिक लिपि तथा भाषा के प्रयोग को महत्ता भी बतायी है जिसे उस विभाग के व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य कोई न समझ सकें। झूठे या गलत समाचार देने वाले चरों के लिए भी दण्ड की व्यवस्था बनायी गयी है।

मूल्यांकन—राज्य के प्रशासनिक कार्यों के संचालन के सम्बन्ध में कौटिल्य ने जो विशद विवेचना की है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य प्रशासनिक यन्त्र को चुस्त तथा दक्ष बनाये रखने पर बल देते हैं। प्रो० अल्तेकर का निष्कर्ष है कि 'इस दृष्टि से कौटिल्य अर्थशास्त्र चिन्तनात्मक राजनीति का ग्रन्थ होने की अपेक्षा प्रशासक के मार्ग-दर्शन हेतु लिखी गयी एक प्रशासनिक संहिता अधिक सिद्ध होती है।' इसी प्रकार की धारणा डा० बेनी प्रसाद ने भी व्यक्त की है कि 'अर्थशास्त्र में

वर्णित प्रशासनिक व्यवस्था हिन्दू साहित्य में सर्वोत्कृष्ट है, जिसमें किसी भी प्रकार की कमी नहीं रह गयी है। राज्य प्रशासन से सम्बन्धित सूक्ष्मतम समस्याओं तक का अर्थशास्त्र में विवेचन किया गया है और उनकी प्रशासनिक व्यवस्था के कुशल कार्यान्वयन के लिए आवश्यक समाधान तथा उपचार बताये गये हैं। इस दृष्टि से आधुनिक राज्यों के प्रशासक गण के लिए कौटिल्य अर्थशास्त्र का अध्ययन आज भी पर्याप्त लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

न्याय व्यवस्था तथा न्यायिक प्रशासन

दो प्रकार के न्यायालय—कौटिल्य की न्याय सम्बन्धी धारणा सुधारात्मक न्याय (corrective justice) की द्योतक है न कि अपने समकालीन यूनानी विचारकों प्लेटो तथा अरस्तू की भांति चिन्तनात्मक या वितरणात्मक न्याय (distributive justice) की। कौटिल्य के अनुसार न्याय का उद्देश्य जनता के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना तथा असामाजिक तत्वों एवं अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले अपराधियों को दण्ड देना है। कौटिल्य ने न्यायिक प्रशासन को दो श्रेणियों, धर्मस्थीय एवं कटक-शोधन के रूप में रखा है। धर्मस्थीय का अभिप्राय नागरिकों के पारस्परिक व्यवहारों में उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय करने से है। इस श्रेणी के विवादों को कौटिल्य ने 'व्यवहार' की संज्ञा दी है। इसके अन्तर्गत दीवानी तथा फौजदारी दोनों प्रकार के विवाद आ जाते हैं, यथा, इकरारनामे, विवाह, दायभाग उत्तराधिकार, क्रय-विक्रय या लेन देन के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले विवाद, भूमि मकान, सीमा, साझेदारी, ऋण आदि से सम्बद्ध विवाद। इनके अतिरिक्त गाली-गलौज, निन्दा, मार पीट, चोरी, बलात्कार आदि से सम्बद्ध विवाद भी इस श्रेणी में आते हैं। इन विवादों का निर्णय करने के लिए जिन न्यायालयों तथा कानूनों की व्यवस्था कौटिल्य ने बतायी है, वे 'धर्मस्थीय' कहलाते हैं। कटक-शोधन से कौटिल्य का अभिप्राय असामाजिक, अराजक तथा राज्य-व्यवस्था को हानि पहुँचाने वाले तत्वों से है। यह तत्व समाज तथा राज्य-व्यवस्था के लिए कंटक तुल्य हैं, अतः उनका शोध करके उन्हें दण्ड देना वांछनीय है। अनेक छोटे-छोटे व्यवसायी जैसे धोबी, जुलाहे, वैद्य, सुनार, नट-नर्तक आदि धोखाधड़ी करके प्रजा को पीड़ित करते हैं। बिक्री के माल में मिलावट करना, नाप-तौल में बेईमानी करना, लोगों के साथ ठगी करना आदि ऐसे अपराध हैं। इनके अतिरिक्त समाज में अनेक दुष्ट प्रकृति के लोग भी प्रजा को सताया करते हैं। जनता का आर्थिक शोषण करने वाले तथा समाज में अव्यवस्था फैलाने वाले दुष्टों को दण्ड देना आवश्यक है। इस प्रकार राजकर्मचारी भी प्रजा को सता सकते हैं। कौटिल्य ने इन सभी प्रकार के तत्वों से उत्पन्न होने वाले अपराधों को कटक-शोधन की श्रेणी में रखा है और यह व्यवस्था दी है कि ऐसे अपराधियों का पता लगाने के लिए राजा को गुप्तचरों तथा पुलिस की व्यवस्था करनी चाहिए और न्यायालयों के द्वारा इन्हें दण्ड दिया जाना चाहिए।

न्यायालय संगठन—उपर्युक्त दो प्रकार के विवादों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने अलग अलग प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था बतायी है। कौटिल्य के द्वारा वर्णित

न्यायालय सगठन भी प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण का सूचक है। 10 ग्रामों के समूह में सग्रहण, 400 ग्रामो के बीच द्रोणमुख, 800 ग्रामो के मध्य स्थानीय एव समूचे जनपद के लिए सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था बताई गई है। राजा न्यायपालिका सगठन का भी सर्वोच्च अधिकारी है। विभिन्न स्तरो पर न्यायाधीशो की नियुक्ति उसी के द्वारा की जाती है। ग्रामो मे पचायती न्यायालयो की व्यवस्था बतायी गयी है। ग्राम-वृद्धो तथा सामन्तो के द्वारा ग्रामीण लोगो के छोटे-छोटे विवादो का निर्णय कर लिया जाना चाहिए। व्यवहार-विवादो को मध्यस्थता द्वारा निबटाने की भी सलाह कौटिल्य ने दी है। उच्चतर स्तरो पर व्यवहार तथा दण्ड न्यायालयो की पृथक् व्यवस्था होनी चाहिए। कौटिल्य के काल मे अनेक श्रेणियाँ (guilds) भी थीं, अत उनसे सम्बद्ध विवादो के लिए श्रेणी-न्यायालयो की व्यवस्था भी बतायी गयी है। प्रशासकीय विभागो के कर्मचारियो के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादो का निर्णय विभागाध्यक्षों की अध्यक्षता मे विभागीय प्रशासनिक न्यायालयो द्वारा किया जाना चाहिए। कौटिल्य एक न्यायाधीश वाले न्यायालय को उचित नही मानते। उनके मत से उच्चतर न्यायालयो मे 3 धर्मस्थ (न्यायाधीश) तथा 3 अमात्य होने चाहिए जो एक साथ बैठकर विवादो को सुनें और निर्णय दें।

न्याय-प्रक्रिया—न्यायिक प्रक्रिया के सम्बन्ध मे कौटिल्य का मत है कि वादी तथा प्रतिवादी के वक्तव्य लिख लिये जाने चाहिए। तथ्यो का ज्ञान करने मे लिखित प्रमाणो को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। उनके अभाव म साक्षी को प्रमाणिक मानना चाहिए। *केवल एक साक्षी प्रमाणिक नही होता।* अत एक से अधिक साक्षी होने चाहिए। कौटिल्य ने गुप्तचर व्यवस्था को न्यायिक कार्य के लिए भी आवश्यक माना है। न्यायाधीशो को गुप्तचरो द्वारा दी गयी सूचना को भी तथ्यो का ज्ञान करने मे स्वीकार करना चाहिए। गुप्तचर न केवल अपराध का पता लगाने के लिए ही आवश्यक हैं, बल्कि उनका कार्य न्यायाधीशो के आचरण का पता लगाकर उसकी सूचना भी राजा को देना है। कौटिल्य का कहना है कि जो न्यायाधीश न्यायिक प्रक्रिया के नियमो के विरुद्ध आचरण करें उन्हे भी दण्ड दिया जाना चाहिए। अत न्यायाधीशों के आचरण का ज्ञान करने के लिए भी चर-व्यवस्था बतायी गयी है। कौटिल्य ने न्याय के चार स्रोत (पाद) बताये हैं धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा राज शासन। न्यायालयो को इन पर आचरण करना चाहिए। इनका अभिप्राय है धर्म ग्रन्थो मे दिये गये नियमो, भद्र पुरुषो द्वारा अपनाये गये शील तथा आचरणो, जनता की प्रचलित सस्थाओं तथा परम्पराओ और राजा द्वारा दी गयी आज्ञाओं, इन सबका विचार करते हुए न्यायाधीशों को विवादो का निर्णय करना चाहिए। *परन्तु इस सम्बन्ध मे कौटिल्य का यह मत है कि इन चारो स्रोतो मे से प्रथम की अपेक्षा उससे बाद वाले स्रोत का महत्त्व अधिक है।* यह धारणा प्राचीन भारत के अन्य विचारकों की परम्परा के विपरीत है। कौटिल्य राजा द्वारा दी गयी आज्ञाओं को अन्य तीनो से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। मन्त्री तथा अमात्यो की भाँति न्यायाधीशो के लिए भी कौटिल्य ने समुचित योग्यताओ से युक्त होने की व्यवस्था दी है, विशेष रूप से न्यायाधीश के रूप मे कार्य करते हुए उनके आचरण

के सम्बन्ध में कई बातों का ध्यान रखने पर बल दिया है। वादी, प्रतिवादी तथा साक्षियों से अनावश्यक बातें न पूछना, आवश्यक बातें न पूछना, विवादों का निर्णय करने में अनावश्यक विलम्ब करना, विवाद में शामिल पक्षों के साथ अशिष्ट व्यवहार करना, उन्हें कोई संकेत देना, भृकुटी चढ़ाकर बात करना, अपराधी को अपराध की गरिमा के अनुसार दण्ड न देना, पक्षपातपूर्ण व्यवहार करना आदि न्यायाधीशों के अवांछनीय आचरण बताए गये हैं। ऐसा करने वाले न्यायाधीश दण्ड के पात्र हैं। न्याय प्रदान करने में न्यायाधीश हर प्रकार के अपराधियों के लिए समानता की नीति अपनाने को बाध्य नहीं है। इसमें अवस्था, लिंग तथा वर्णगत आधार पर भेदभाव किया जाना कौटिल्य को मान्य है।

दण्ड-व्यवस्था—न्याय-व्यवस्था के साथ-साथ कौटिल्य ने दण्ड-व्यवस्था का भी विवेचन किया है। अपराधियों के लिए तीन प्रकार के दण्डों की व्यवस्था बतायी है, यथा शारीरिक, आर्थिक तथा कारागार दण्ड। शारीरिक दण्ड के अन्तर्गत कोड़े मारना, अंग-छेदन, हाथ-पैर बाँधकर उल्टा लटकवाना, चपत मारना, रात को भीगी चारपाई पर नंगा सुलाना, ब्राह्मण तथा उच्च वर्णों के अपराधियों के माथे पर अपराध के सूचक-चिह्नों को अंकित करना तथा भीषण अपराधों के लिए प्राणदण्ड तक का समर्थन किया गया है। आर्थिक दण्ड को मुख्यतया तीन श्रेणियों में रखा गया है, प्रथम, मध्यम तथा उत्तम साहस दण्ड। प्रथम साहस दण्ड की सीमा 48 से 96 पण तक, मध्यम की 200 से 500 पण तक तथा उत्तम की 500 से 1000 पण तक बतायी गयी है। इनके अतिरिक्त विविध छोटे बड़े अपराधों के लिए भी अलग-अलग धनराशि के अर्थ-दण्डों का विधान यत्र-तत्र बताया गया है। कारागारों की समुचित व्यवस्था करने पर भी बल दिया गया है। दण्ड के सम्बन्ध में कौटिल्य समानता के सिद्धान्त को नहीं मानते। ब्राह्मणों के लिए मृत्यु-दण्ड तथा ताड़ना का निषेध बताया गया है। पुरुष तथा महिला अपराधियों के लिए समान दण्ड नहीं होना चाहिए। कौटिल्य का दण्ड-सिद्धान्त अपराध के प्रतिकार, निरोध तथा अवस्था के सुधार तीनों सिद्धान्तों पर आधारित है। निस्सन्देह वह कठोर दण्ड की व्यवस्था बताते हैं। यथा अंग-छेदन तथा ताड़न दण्ड अमानुषिक प्रकृति के लगते हैं। परन्तु प्राचीन भारत में दण्ड की यह विधियाँ सामान्यतः सर्वत्र प्रचलित रही थीं। इनका समर्थन करने में कौटिल्य अपवाद नहीं हैं। दण्ड की मात्रा अपराध के अनुकूल होनी चाहिए। दण्ड, वर्ण, लिंग तथा अवस्था एवं अपराध की परिस्थितियों का समुचित ज्ञान करके दिया जाना चाहिए। अपराध निरोध के लिए कठोर तथा सार्वजनिक रूप से दण्ड देने एवं लज्जा उत्पन्न करने के रूप के दण्ड भी बताए गये हैं। अन्ततः, कौटिल्य की दण्ड-व्यवस्था में प्रायश्चित का भी विधान है। निस्सन्देह कौटिल्य द्वारा वर्णित न्याय-व्यवस्था पर्याप्त व्यापक तथा यथार्थ है। यह किसी भी अर्थ में कोरी आदर्शवादी व्यवस्था न होकर पूर्णतया व्यावहारिक है, भले ही कौटिल्य ने इसे अत्यधिक कठोर चित्रित किया है।

अर्थव्यवस्था

जैसा पहले बताया जा चुका है, कौटिल्य की राजनीतिक विचारधारा अर्थ-

प्रधान है। इसका अभिप्राय यह है कि कौटिल्य के मत से जब तक राज्य तथा उसके निवासियों की आर्थिक स्थिति पर्याप्त समृद्धिशाली नहीं होती तब तक राज्य का उद्देश्य सफल नहीं हो सकता। इस दृष्टि से कौटिल्य की राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था की समृद्धि का विशद विवेचन किया गया है। आधुनिक युग के समाजवादी विचारक भी राजनीतिक सत्ता की अपेक्षा आर्थिक सत्ता को प्रमुखता देते हैं और राज्य में अर्थ के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग के समानीकरण एवं समाजीकरण द्वारा लोक-कल्याणकारी राज्य का आदर्श अपनाते हैं। देश की अर्थव्यवस्था पर राज्य के नियन्त्रण को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस दृष्टि से कौटिल्य को समाजवादी मान लेना उचित नहीं है। वास्तव में कौटिल्य के विचार अपनी विशिष्ट व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं। कौटिल्य द्वारा चित्रित राज्य की अर्थव्यवस्था का विवेचन यह सिद्ध करता है कि कौटिल्य लोक-कल्याणकारी राज्य-व्यवस्था के पूर्ण समर्थक हैं। कौटिल्य ने कोष को राज्य का एक प्रमुख तत्त्व माना है। समृद्धिशाली कोष के द्वारा ही राज्य के अन्य तत्त्वों का पोषण होता है और राज्य अपनी सुरक्षा तथा समृद्धि करने में सफल हो सकता है। परन्तु कौटिल्य यह भी नहीं मानते कि राजा मनमाने ढंग से कोष-वृद्धि के साधनों को जुटाने में लीन रहकर प्रजा का शोषण करे। राज्य का अन्तिम उद्देश्य राज्य की समृद्धि तथा नागरिकों की उत्तम आर्थिक स्थिति का निर्माण करना है। राज्य में आर्थिक उत्पादन के साधनों का समुचित उपयोग करके राज्य के उद्योगों, व्यवसायों तथा वाणिज्य का पर्याप्त विस्तार किया जाना चाहिए और उससे प्राप्त आय से राज्य संगठन को सुदृढ़ बनाने के साथ-साथ जनता को आर्थिक दृष्टि से सुखी बनाने तथा जनता की सुख-सुविधा के कार्य राज्य को सम्पन्न करने चाहिएँ। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कौटिल्य की आर्थिक नीति के सम्बन्ध में डा० श्यामलाल पाण्डे ने जिन तीन मुख्य सिद्धान्तों का अस्तित्व बताया है, वह हैं—(1) राज्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योगों पर राज्य का प्रत्यक्ष स्वामित्व होना, (2) अन्य उद्योगों के ऊपर जनता के निजी स्वामित्व बनाये रखना, (3) मनुष्य द्वारा मनुष्य के आर्थिक शोषण को रोकने के लिए राज्य में अर्थ के उत्पादन, वितरण एवं उपभोग पर राज्य का नियन्त्रण रखना। अर्थव्यवस्था पर राज्य के नियन्त्रण को बनाये रखने तथा राज्य के कोष की वृद्धि के लिए यह दोनों बातें आवश्यक हैं। कोष की वृद्धि का मुख्य साधन राज्य की आर्थिक उन्नति है। राजकीय आर्थिक प्रयासों तथा जनता से करों के रूप में होने वाली आय पर ही कोष की समृद्धि निर्भर रहती है।

कर-व्यवस्था—कोष संचय के सम्बन्ध में कौटिल्य राजा को मनमाने ढंग से कर लगाने की नीति का विरोध करते हैं। उनका मत है कि राजा को उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देना चाहिए। किसी नये उद्योग के शैशव काल में ही उस पर अत्यधिक कर नहीं लगाना चाहिए, अन्यथा वह उद्योग नष्ट हो जायेगा। जब वह उद्योग काफी पनप जाये तभी उस पर करारोपण करना चाहिए। कर लगाने में सम्बद्ध पक्ष की आय तथा कर दे सकने की क्षमता का ध्यान रखना चाहिए। जो

पदार्थ राज्य मे उत्पन्न नही होते परन्तु राज्य तथा जनता के हित मे आवश्यक होते हैं, उन्हे विदेशो से आयात करना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति राज्य मे ऐसे पदार्थों के उत्पादन की व्यवस्था करे तो उन पर कर नहीं लगाना चाहिए। साथ ही ऐसे पदार्थों पर आयात-कर भी अधिक नही लगाना चाहिए। अनावश्यक तथा केवल सुख-ऐश्वर्य के लिए आयातित विदेशी पदार्थों पर पर्याप्त कर लगाकर उन्हे हतोत्साहित किया जाना चाहिए। जो पदार्थ मनुष्यो के धर्म-सस्कारो को सम्पन्न करने के लिए वाछनीय हैं, उनके उत्पादन तथा आयात पर कर नही लगना चाहिए। राजा प्रजा से अपने वेतन के रूप मे कर लेता है, अत यदि राजा प्राप्त कर राशि से जनता की सुरक्षा तथा समृद्धि न करे, तो जनता उसे कर देना बन्द कर सकती है।

आय-व्यय—राजकोष के आय के साधनो को कौटिल्य ने आय-शरीर तथा आय-मुख दो श्रेणियों मे रखा है। परन्तु इन दोनो के मध्य भेद करने के किसी सिद्धान्त को नहीं दर्शाया है। राज्य को दुर्ग, राष्ट्र, खान, सेतु, तथा वणिक-पथ से होने वाली आय को आय-शरीर तथा मूल, ब्याजी, परिघ, रूपिक, अत्यय, क्लृप्त से होने वाली आय को आय-मुख कहा है। सामान्यतया राज्य की आय के साधन राज्य द्वारा सचालित उद्योग, राज्य की सम्पत्ति से होने वाली आय, जनता से विविध प्रकार के करो तथा शुल्को से होने वाली आय, अर्थ दण्ड से होने वाली आय आदि हैं। कौटिल्य ने राज्य की आय के सम्बन्ध मे सामान्य तथा आर्थिक आपात काल दोनों के लिए व्यवस्था बतायी है। आपातकाल मे करो की दर बढाने, सामान्य स्थिति मे हुई आय के अश को आपातकाल के लिए सुरक्षित रखने, जनता से और अधिक आय वाले व्यक्तियो से अपनी अतिरिक्त अधिक आय के अश को दान करने आदि की व्यवस्था बतायी है। राजकोष से धन के समुचित व्यय करने की भी कौटिल्य न व्यवस्था दी है। जिन कार्यों मे राजा को कोष से व्यय करना चाहिए उन्हे कौटिल्य व्यय-शरीर कहते हैं। चूँकि कौटिल्य की राज्य-व्यवस्था मे शासन-कार्य का सचालन करने के लिए विशाल नौकरशाही की व्यवस्था है और उनके द्वारा ईमानदारी के साथ अपना कार्य करने के लिए उन्हे पर्याप्त वेतन देने की नीति को मान्य किया गया है, अत कर्मचारी-वर्ग के वेतन मे राज्य को विशाल धनराशि खर्च करनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त व्यय-शरीर के अन्तर्गत प्रगणित विषय है—राजा के द्वारा देव तथा पितृ पूजन, दान, अन्त पुर, शाही महल का व्यय, दूत, कोष्ठागार, शस्त्रागार, पण्य-गृह, चतुरगिणी सेना का व्यय, जीव-जन्तुओ के सग्रह मे व्यय, उद्यान, तालाब, मार्ग आदि के निर्माण का व्यय, जन-कल्याण के निमित्त किये जाने वाले विविध कार्यों का व्यय आदि। कौटिल्य ने विविध श्रेणियो के कर्मचारियों को दिये जाने वाले वेतन का निर्धारण किया है। साथ ही जिन विविध कार्यों मे राजकोष से व्यय किये जाने की व्यवस्था बतायी है, उनसे यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य का आदर्श लोक-हितकारी राज्य की व्यवस्था था। व्यापार-व्यवसाय तथा उद्योगो पर राज्य के नियन्त्रण की व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि उत्पादक, व्यापारी तथा कर्मचारी जनता का शोषण न करें। मजदूरो को उचित पारिश्रमिक मिले, उत्पादक अवाछित लाभ न उठा सकें और समाज मे आर्थिक समानता बनी रहे।

कोष-वृद्धि तथा कोष-क्षय—कौटिल्य ने कोष वृद्धि तथा कोष-क्षय के विभिन्न आधारों का भी विवेचन किया है। उनका मत है कि कोष वृद्धि राज्य की आर्थिक उत्पादन की समृद्धि पर निर्भर है। इसके लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों का चरित्र ऊँचा होना चाहिए, राज्य की सम्पत्ति का अपहरण न होने पाये तथा राज्य के कर्मचारियों की संख्या आवश्यकता से अधिक न बढ़ायी जाय। राजा तथा राज-कर्मचारियों के द्वारा राज-कोष से धन का व्यय स्वार्थ हित में न किया जाय और राजकीय करों की वसूली नियमित ढंग से की जाय। साथ ही राजकीय आय-व्यय का लेखा-जोखा नियमित ढंग से रखा जाय। वित्तीय लेखे की व्यवस्था का भी कौटिल्य ने विवेचन किया है। कर-दाताओं की सूची बनाने, उनकी आय तथा व्यय की राशि का लेखा रखने आदि के कार्य को महत्वपूर्ण बताया गया है। इन लेखों की जाँच की व्यवस्था भी बतायी गयी है। इस प्रकार कौटलीय अर्थशास्त्र में वर्णित वित्तीय व्यवस्था भी उतनी ही अधिक व्यापक, व्यावहारिक एवं यथार्थ है जितनी कि प्रशासनिक व्यवस्था की विवेचना है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटलीय अर्थशास्त्र प्राचीन भारत का प्रशासनिक व्यवस्था पर लिखा गया सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। यद्यपि कौटलीय अर्थशास्त्र के विचार प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति चिन्तनात्मक राजनीति का प्रतिपादन करने में उनकी तुलना नहीं कर सकते, तथापि जहाँ तक व्यावहारिक राजनीति, प्रशासनिक व्यवस्था, वित्त एवं न्यायिक व्यवस्था के विवेचन का प्रश्न है, कौटिल्य की तुलना में उससे पूर्व की अन्य कोई रचना इसकी समता में नहीं ठहर सकती। सम्भवतः कौटिल्य के पश्चात् भी इतनी विशद व्याख्या करने वाली कोई दूसरी मौलिक रचना उपलब्ध नहीं रही है।

अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध

कौटलीय अर्थशास्त्र मुख्यतया मगध साम्राज्य की तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था हेतु लिखा गया ग्रन्थ है। उस काल में भारत में अनेक राज्यों का अस्तित्व था, जो परस्पर संघर्षरत रहते थे और महत्त्वाकांक्षी राजा अपने राज्य का विस्तार करने के अभिलाषी बने रहते थे। जब राज्यों के मध्य परस्पर युद्ध होते थे तो विभिन्न राजा एक दूसरे के मित्र या शत्रु की स्थिति में रहते थे। कौटिल्य ने इन राज्यों की स्थिति तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण 'मण्डल सिद्धान्त' के द्वारा किया है और अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के विषय में षाड्गुण मन्त्र का प्रतिपादन करके प्राचीन भारतीय अन्य राजनीतिक चिन्तकों के लिए भी इन विशिष्ट सिद्धान्तों की खोज की है। कौटिल्य के पश्चात् भारत के विभिन्न राजनीतिक चिन्तकों ने इन सिद्धान्तों का विवेचन कौटिल्य का अनुसरण करके ही किया है।

मण्डल सिद्धान्त—कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का ज्ञान करने के लिए उनके राज्य-मण्डल की प्रकृतियों का सिद्धान्त समझना आवश्यक है। कौटिल्य राज्यों को चार मुख्य श्रेणियों में रखते हैं—मित्र, शत्रु, मध्यम तथा उदासीन। कौटिल्य ने मित्र तथा शत्रु राज्यों को तीन प्रकार का बताया है—प्रकृति मित्र या प्रकृति शत्रु, सहज मित्र या सहज शत्रु तथा कृत्रिम मित्र या कृत्रिम शत्रु।

विजिगीषु तथा उसके शत्रु की सीमा से लगा हुआ राज्य मध्यम राज्य कहलाता है। वह सामान्यतया इतना शक्तिशाली होता है कि वह विजयाभिलाषी राजा तथा उसके शत्रु दोनो को एक साथ या पृथक्-पृथक् सहायता देने या निग्रह करने की शक्ति रखता है। इसी शक्ति के बल पर वह दोनो मे समझौता करने की क्षमता भी रख सकता है। उदासीन या तटस्थ राज्य विजिगीषु तथा उसके शत्रु राज्यो की सीमा से दूर स्थित रहता है। कौटिल्य के अनुसार, उदासीन राज्य को पर्याप्त शक्तिशाली होना चाहिए ताकि आवश्यकता पडने पर वह विजिगीषु, शत्रु तथा मध्यम तीनो के ऊपर एक साथ या पृथक्-पृथक् अनुग्रह तथा निग्रह करने की क्षमता रख सके।

कौटिल्य का राज्य-मण्डल सिद्धान्त यह दर्शाता है कि विजिगीषु, उसका मित्र *तथा मित्र का मित्र एक प्रारम्भिक राज्य-मण्डल का निर्माण करते हैं।* इन प्रत्येक राज्यो की पाँच-पाँच द्रव्य प्रकृतियाँ (अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष तथा दण्ड) होती हैं। इस प्रकार 3 राजा तथा उनमे से प्रत्येक की 5 द्रव्य प्रकृतियाँ (अर्थात् 15 प्रकृतियाँ) मिलकर कुल 18 प्रकृतियाँ हुई। यह एक राज्य-मण्डल का निर्माण करती हैं। इसी प्रकार शत्रु, शत्रु-मित्र तथा शत्रु-मित्र-मित्र इन तीनो का भी 18 प्रकृतियो से युक्त राज्य-मण्डल बनता है। यही क्रम मध्यम तथा उदासीन राज्यो के मण्डल का है। इस प्रकार मित्र, शत्रु, उदासीन तथा मध्यम चारो प्रकार के राज्यो का मिलकर 72 प्रकृतियो का एक वृहत् राज्य-मण्डल बन जाता है।[1]

षाड्गुण मन्त्र—कौटिल्य का मत है कि राज्य-मण्डल षाड्गुण मन्त्र का स्रोत है। राज्य-मण्डल युद्धो मे राज्यो के किसी प्रकार के चक्रव्यूह को नही समझाता है, बल्कि यह विविध प्रकृतियो से युक्त राज्यो के मध्य पारस्परिक सम्बन्धो का सिद्धान्त है। राज्य का मूल उसकी नीति या मन्त्र (policy) है। राज्य की बाह्य तथा आन्तरिक समृद्धि उसकी नीति पर निर्भर करती है। राज्य की बाह्य नीति के सम्बन्ध मे प्राचीन भारत के समस्त आचार्यों ने षाड्गुण-मन्त्र (six-fold policy) के सिद्धान्त का समर्थन किया है। कौटिल्य भी इसी परम्परा को अपनाते हैं। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय तथा द्वैधीभाव यह षाड्गुण-मन्त्र के छः रूप हैं—

(1) **सन्धि**—कौटिल्य के अनुसार किसी भी राजा के लिए सन्धि करने की नीति का उद्देश्य अपने शत्रु राज्य की शक्ति को नष्ट करना तथा अपने को एव अपने मित्र राज्य को बलशाली बनाना है। राजा को यह विचार कर लेना चाहिए कि वह सन्धि करके शत्रु के उत्तम कार्यो का लाभ स्वय उठा सके, सन्धि-काल मे शत्रु-राजा का भेद गुप्तचरो के माध्यम से प्राप्त कर सके या किसी बलवान राजा के साथ सन्धि करके अपने शत्रु को पराजित कर सके, या सन्धि करके एक राजा को अपना मित्र बनाकर उसी के द्वारा अपने शत्रु को नष्ट करा सके, या शत्रु से सन्धि करके शत्रु के मित्र-मण्डल मे भेद उत्पन्न करा सके। इन समस्त साधनो का उद्देश्य कूटनीतिक सन्धि द्वारा शत्रु-पक्ष को निर्बल करना तथा मित्र-पक्ष को सुदृढ बनाना

[1] राज्य-मण्डल की 72 प्रकृतियो का विवेचन मनु ने भी किया है। परन्तु मनु का गणना-क्रम (calculation) कौटिल्य से थोडा भिन्नता रखता है। इस सम्बन्ध मे अगले अध्याय मे सम्बन्धित शीर्षक को देखें, तथा रेखाचित्रो से तुलना भी करें।

राज्य-मण्डल सिद्धान्त : रेखाचित्र

1 आचार्य कौटिल्य

1 द्रव्य प्रकृतियाँ—अमात्य, राष्ट्र दुर्ग कोष, बल।

है। सन्धि का उद्देश्य राजा के लिए सेना लाभ, धन-लाभ, भूमि लाभ, मित्र-लाभ आदि की प्राप्ति करना है।

(2) विग्रह—विग्रह का अर्थ युद्ध है। इस नीति का अनुगमन राजा को तभी करना चाहिए जब वह अपनी शक्ति के बारे में पूर्णतया आश्वस्त हो और शत्रु को निर्बल देखे, उसके सैनिकों तथा राज्य की जनता में शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने के निमित्त पूरा उत्साह हो, राज्य की युद्ध-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ पूर्ण हों और राज्य की आक्रमक तथा प्रतिरक्षात्मक तैयारियों में कोई कमी न हो। शत्रु के ऊपर आक्रमण करके उसके राज्य की भूमि के भाग को तुरन्त अपने अधीन कर लेना चाहिए। विग्रह नीति का अनुसरण करने से पूर्व राज्य मण्डल के मित्र राज्यों की सहायता के बारे में भी राजा को पूर्णतया आश्वस्त हो जाना चाहिए।

(3) यान—यान का अभिप्राय वास्तविक आक्रमण है। यान की नीति का उपयोग तभी करना चाहिए जबकि राजा अपनी शक्ति को सुदृढ़ देखे और उसे यह समाधान हो जाय कि शत्रु का नाश करना आवश्यक है और बिना आक्रमण किये शत्रु को वश में करना सम्भव नहीं है।

(4) आसन—आसन की नीति का अर्थ है समय की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे रहना। जब राजा अपनी शक्ति को निर्बल देखे तो अपनी शक्ति का अर्जन करने में लीन रहे और ऐसी स्थिति में वह अन्तर्राज्यीय सन्धि तथा विग्रह की नीतियों में न पड़कर चुपचाप बैठा रहे। यह स्थिति तब आती है जबकि विजयाभिलाषी राजा तथा उसके शत्रु दोनों एक दूसरे के ऊपर आक्रमण करने की स्थिति में नहीं रहते।

(5) संश्रय—संश्रय की नीति दो प्रकार की होती है—या तो कभी एक राजा अपनी शक्ति की निर्बलता के कारण शत्रु राज्य का संश्रय स्वीकार कर लेता है, या कभी वह शत्रु के विरुद्ध किसी अन्य बलवान राजा के संश्रय को स्वीकार करता है। कौटिल्य का मत है कि एक निर्बल राजा को किसी अत्यधिक बलशाली राजा का संश्रय स्वीकार करने की अपेक्षा बलवान शत्रु के संश्रय को स्वीकार करना अधिक श्रेयस्कर है। परन्तु यदि बलवान राजा शत्रु के साथ विग्रह कर रहा हो तो ऐसी स्थिति में उस बलवान राजा का संश्रय स्वीकार करना अच्छा होगा।

(6) द्वैधीभाव—द्वैधीभाव की नीति से कौटिल्य का अभिप्राय किसी राजा द्वारा एक के साथ सन्धि तथा दूसरे के साथ विग्रह की नीति को अपनाना है। यदि राजा यह देखे कि ऐसी नीति के द्वारा वह अपने शत्रु को निर्बल बना सकता है तो उसे इस नीति को अपनाना चाहिए जिससे वह अपनी शक्ति की वृद्धि कर सके और शत्रु का अपकार करने में समर्थ हो सके।

कौटिल्य ने षाड्गुण्य मन्त्र के इन छः रूपों की विशद् विवेचना करते हुए उन विभिन्न परिस्थितियों तथा दशाओं की भी व्याख्या की है जिसके अन्तर्गत राज्य के हित में अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए राजा को यथासमय इनमें से किसी नीति विशेष का अनुसरण करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निरूपण करने में कौटिल्य प्रभृति प्राचीन भारतीय आचार्यों का मण्डल तथा षाड्गुण्य-मन्त्र सिद्धान्त प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की अद्वितीय विशेषता है। राज्य-

विषयक अन्य विचारधाराओ की भाँति यह सिद्धान्त भी यथार्थ तथा वास्तविक है, न कि कोरा स्वप्नलोकी आदर्श । भले ही आधुनिक राजनीतिक चिन्तन एव परिस्थितियों मे इन सिद्धान्तो की मान्यता विकसित नहीं हुई है, तथापि ऐसी नीतियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक क्षेत्रो मे बहुधा प्रयुक्त होती रहती हैं । अत इनका विशद् विवेचन करने के कारण कौटलीय अर्थशास्त्र कूटनीति का भी अनुपम ग्रन्थ सिद्ध होता है ।

उपाय—षाड्गुण-मन्त्रो की कार्यान्विति की सफलता हेतु प्राचीन भारतीय आचार्यों ने चार साधनो (उपायो) का उल्लेख किया है । यह चार उपाय साम, दाम, दण्ड तथा भेद हैं । कौटिल्य का मत है कि निर्बल राजा को समझा-बुझाकर (साम द्वारा) अथवा कुछ सहायता देकर (दाम देकर) अपने वश मे करना चाहिए । सबल राजा के प्रति भेद के उपाय का अनुगमन करना चाहिए । भेद का अर्थ है विभिन्न राजाओ के मध्य भेद (कलह) उत्पन्न कराना या राजा तथा उसकी अन्य प्रकृतियो के मध्य भेद उत्पन्न कराकर उसकी शक्ति को निर्बल कर देना । यह कार्य दूत तथा गुप्तचरो की सहायता से कराया जा सकता है । दण्ड के उपाय का अनुसरण तभी करना चाहिए जब अन्य तीन उपाय सार्थक सिद्ध न हो, क्योकि दण्ड का अर्थ युद्ध द्वारा दूसरे को वश मे करना या निर्बल करना है । ऐसा करने मे स्वय राजा को भी क्षति उठानी पडती है । कौटिल्य का मत यह भी है कि साम के उपाय मे केवल एक गुण होता है । दाम मे दो गुण (साम तथा दाम) शामिल रहते हैं । भेद मे साम, दाम तथा भेद तीन गुण शामिल हैं । दण्ड मे चारों गुण विद्यमान रहते हैं ।

सैन्य-बल

सगठन—कौटिल्य के अनुसार दण्ड या सेना राज्य की सात प्रकृतियो मे से एक प्रकृति है । राज्य की सुरक्षा तथा प्रतिरक्षा के लिए सेना आवश्यक है । सैन्य सगठन के सम्बन्ध मे कौटिल्य प्राचीन भारतीय चतुरगिणी सैन्य व्यवस्था का समर्थन करते हैं । चतुरगिणी सेना पैदल सैनिक, हाथी, घोडे तथा रथो की होती थी । इसमे कौटिल्य हस्तिबल (हाथियो की सेना) को महत्त्वपूर्ण स्थिति प्रदान करते हैं । पैदल सेना वशानुगत सैनिको की (मौल) वैतनिक सैनिकों की (भृत) श्रेणिगत तथा मित्र, अमित्र एव कबाइली सैनिको की होती थी । इनमे से कौटिल्य क्रमश परवर्ती वाली मे पूर्वोक्त को उत्तमतर मानते हैं । उनका यह भी मत है कि सेना मुख्यतया क्षत्रिय वर्ण के सैनिको की होनी चाहिए । वैश्य तथा शूद्र वर्ण वाले भी हो सकते हैं, परन्तु ब्राह्मणो को सैनिक सेवा के लिए अनुपयुक्त माना गया है । सेना के चारो अगो की सुदृढता के लिए पर्याप्त सैनिक साज-सज्जा की व्यवस्था पर बल दिया गया है । सैनिक कवच, तम्बू, सडकें, पुल, यन्त्र, अस्त्र शस्त्रो आदि की प्रचुरता के साथ-साथ सेना मे चिकित्सको, एव परिचारिकाओं की भी व्यवस्था होनी चाहिए । सेना के लिए रसद की व्यवस्था मे कमी नहीं रहनी चाहिए ।

युद्ध-नीति—कौटिल्य ने तीन प्रकार के युद्ध बताये है—(1) प्रकाश या धर्म-युद्ध, जो पूर्ण तैयारी के साथ विधिवत् घोषित युद्ध है, जिसमे दोनो पक्षो की सेनाएँ युद्ध-स्थल मे नियमानुसार सघर्ष करती हैं । (2) कूट युद्ध, छल-कपट, लूट-मार,

अग्निदाह आदि तरीकों से किया गया युद्ध कूट-युद्ध कहलाता है। (3) तूष्णी युद्ध इसमें सेनाएँ विषैले साधनों का प्रयोग करती हैं और छल-कपट द्वारा गुप्त रूप में मनुष्यों का वध किया जाता है। यह युद्ध निकृष्ट माना गया है। विजयाभिलाषी राजा को परिस्थितियों का विचार करके ही उक्त म से उपयुक्त युद्ध का आश्रय लेना चाहिए। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार कौटिल्य ने विविध प्रकार की व्यूह-रचनाओं का भी उल्लेख किया है। इनके लक्षण तथा विशेषताओं को बताते हुए उन्होंने यह भी दर्शाया है कि कौनसा व्यूह किस व्यूह को असफल करने में सहायक सिद्ध होता है। युद्ध में शत्रु के साधनों को नष्ट करना, शत्रु की भूमि में फसलों को नष्ट करना, उसके जल को दूषित कर देना आदि को कौटिल्य ने आवश्यकतानुसार न्यायोचित भी माना है। रणभूमि में शरण में आ गए शत्रु को न मारना, युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर अग्नि का प्रयोग न करना, धर्म-युद्ध के नियम हैं।

पराजित राज्य के प्रति व्यवहार—कौटिल्य का मत है कि विजयी राजा या तो नवीन भू-प्रदेश की प्राप्ति करता है, या अपने द्वारा पूर्व काल में खोये हुए भू-प्रदेश को प्राप्त करता है अथवा अपने पूर्वजों द्वारा खोये हुए भू-प्रदेश को प्राप्त करता है। इन तीन दशाओं में अपनी विजय को बनाये रखने के लिए विजयी राजा के मार्ग-दर्शन के निमित्त कौटिल्य ने अनेक नियम बताये हैं। राजा को चाहिए कि वह विजित प्रदेश की जनता के रीति-रिवाज, धर्म तथा परम्पराओं का समादर करे, पूर्ववर्ती राजा द्वारा किये गए अलोकप्रिय कार्यों का निराकरण करे, यथा कर-मुक्ति, अपराधियों को क्षमादान करना, आदि, राज्य में विविध प्रकार के लोक-हितैषी कार्यों को सम्पन्न करे, विजित राजा द्वारा किये गए अच्छे कार्यों की अपेक्षा द्विगुणित अच्छे कार्यों को करे, उसके बुरे कार्यों की और अधिक निन्दा करे, विजित राजा के समर्थकों तथा मन्त्री, अमात्य आदि को अपने वश में करने का प्रयास करे। संक्षेप में, विजयी राजा को प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे कार्य करने चाहिए जिनसे प्रजा के मध्य उसकी लोकप्रियता सिद्ध हो।

यदि पराजित राजा सदाचारी था और युद्ध-भूमि में उसका वध हो गया था तो विजयी राजा को उसकी सम्पत्ति बलात् नहीं छीननी चाहिए, बल्कि उसे उसके सम्बन्धियों को दे देनी चाहिए। ऐसी दशा में पराजित राजा के राज्य को भी उसके विधिगत उत्तराधिकारी को सौंप देना उचित बताया गया है। विजयी राजा को ऐसे पराजित राज्य के ऊपर अपना प्रभुत्व बनाए रखना चाहिए। ऐसा व्यवहार करने से पराजित राजा के वंशज भी उसकी प्रभुता को मान्य करते रहेंगे। साथ ही प्रजा भी उसका सम्मान करेगी। ऐसा न करने पर पराजित राजा के वंशज तथा अमात्य एवं प्रजा विजयी राजा के शत्रुओं में मिल जाएँगे और विजयी राजा को सदैव कठिन परिस्थितियों में बना रहना पड़ेगा, जो कालान्तर में उसकी स्थिति को निर्बल बना देगा।

दूत-व्यवस्था

दूतों के भेद—अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का विवेचन करने में कौटिल्य ने

सामान्य तथा युद्धकालीन दोनो स्थितियो की व्यवस्था का वर्णन किया है। उनका मण्डल तथा षाड्गुण सिद्धान्त केवल युद्धकालीन स्थिति के लिए ही नही है। शान्ति-काल मे भी उन सिद्धान्तो का पर्याप्त महत्त्व है। शान्ति-काल मे एक राजा के दूसरे राजा के साथ सम्बन्धो के विषय मे कौटिल्य ने दूत तथा चर-व्यवस्थाओ का विवेचन किया है। चर-व्यवस्था केवल राज्य की आन्तरिक स्थिति के लिए ही नही है, बल्कि कौटिल्य के अनुसार दूसरे राज्यो म भी विविध वेषो मे चरो को रखा जाना चाहिए। वे व्यापारी, शिक्षक, भिक्षु, धर्म-प्रचारक आदि विविध रूपो के हो सकते हैं। दूत-व्यवस्था के सम्बन्ध मे कौटिल्य के विचार बहुत कुछ आधुनिक प्रकृति के हैं। कौटिल्य ने दूतो को उनकी योग्यता तथा कार्य के अनुसार तीन श्रेणियो मे रखा है—

(1) निसृष्टार्थ—इस कोटि मे अमात्य पद के समकक्ष पूर्ण अधिकारो से सम्पन्न राजदूत आते हैं। वे राजा की ओर से अन्य राज्यो के राजाओ के समक्ष सन्देश प्रस्तुत करते हैं। उन्हे विदेशी राजा के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि कौटिल्य का निसृष्टार्थ आधुनिक युग के राजदूतो की अपेक्षा कूटनीतिक निर्णयो को लेने मे अधिक स्वतन्त्र तथा शक्तिशाली था, क्योकि सचार साधनो के अभाव मे वह अनेक निर्णय स्वय ले लेता था, जबकि आधुनिक युग के राजदूत बात-बात पर तुरन्त अपनी सरकार से परामर्श करते रहते हैं।

(2) परिमितार्थ—इस श्रेणी मे अमात्य के तीन चौथाई गुणो तथा शक्तियो से युक्त दूत आते हैं। उनके अधिकार परिमित या सीमित होते थे, और उन्ही के अन्तर्गत वे निर्णय ले सकते थे। अपने अधिकारो से परे निर्णय लेने मे उन्हे अपने राजा के आदेशो की प्रतीक्षा करनी पडती थी।

(3) शासनहार—इस श्रेणी के दूत अमात्य पद की अपेक्षा आधी शक्ति से युक्त होते थे। वे एक प्रकार के सन्देशवाहक मात्र थे और उन्हे किसी भी प्रकार के कूटनीतिक निर्णय लेने का अधिकार नही था।

आचरण—चूँकि दूत पर-राज्य मे अपने राजा का प्रतिनिधि का सन्देशवाहक है अत दूत का कार्य पर्याप्त सावधानी का है। उसका प्रमुख कर्त्तव्य यह है कि वह अपने राज्य के प्रति दूसरे राज्य की नीतियो का सही-सही ज्ञान करे। अपने राज्य की दुर्बलताओ को दूसरे राजा के समक्ष किसी भी रूप मे प्रदर्शित न करे, प्रत्युत् दूसरे की दुर्बलताओ का ज्ञान करे। अपने राजा के सन्देश को ज्यो का त्यो दूसरे राजा के समक्ष प्रस्तुत करे। किसी भी प्रकार भय या प्रमाद के वशीभूत होकर अपने राजा की दुर्बलताओं को दूसरे राजा को न बताए। दूत को कुशल वक्ता, साहसी, निर्भीक तथा चतुर कूटनीतिज्ञ होना चाहिए। दूत को मद्यपान नही करना चाहिए, क्योकि नशे की हालत मे वह कभी भेद खोल सकता है। उसे परस्त्री गामी नही होना चाहिए क्योकि उसका ऐसा आचरण भी भेद खोलने की दुर्बलता ला सकता है। दूत को अकेले मे शयन करना चाहिए, क्योकि कभी-कभी नीद की हालत मे बडबडाने वालो से भी भेद खुल सकता है। यदि कभी दूत को पर-राजा के समक्ष अपने राजा के किसी ऐसे सन्देश को प्रस्तुत करना पडे, जो पर-राजा को अप्रिय लगे और वह दूत

को भय दिखाने लगे तो ऐसी स्थिति मे दूत को घबराना नही चाहिए, बल्कि साहसपूर्ण ढग से अपनी बात रखनी चाहिए। दूत के प्रमुख कर्त्तव्यो के अन्तर्गत पर राजा को अपने राजा का सन्देश प्रस्तुत करना, सन्धियों का पालन कराना व व्यवस्था करना, मित्र-सग्रह तथा शत्रु और शत्रु-मित्रो की मण्डली मे भेद उत्पन्न कराना, गुप्त रूप से दूसरे राजा की नीतियो का ज्ञान करना आदि गिनाए गए है। प्राचीन भारत मे यह परम्परा सुस्थापित थी कि दूत को प्राण दण्ड नही देना चाहिए चाहे वह कितना ही अप्रिय सन्देश क्यो न लाए। कौटिल्य ने भी इसी सिद्धान्त को मान्यता दी है।

राजनीतिक चिन्तन को कौटिल्य की देन

(1) भारतीय राजशास्त्र का महानतम प्रणेता तथा समकालीन महान यूनानी चिन्तको का समकक्ष—प्राचीन भारतीय शास्त्रकारो मे विशुद्ध रूप से राजनीतिक समस्याओ एव विचारो का एक स्वतन्त्र तथा क्रमबद्ध शास्त्र के रूप मे विवेचन करके कौटिल्य ने भारत के राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे अपने को एक प्रमुख एव अग्रणी विचारक होने की स्थिति मे रखा है। ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी पूर्व जहाँ पाश्चात्य देशों मे यूनान के सुप्रसिद्ध चिन्तको प्लेटो तथा अरस्तू ने चिन्तनात्मक राजनीति के क्षेत्र मे अग्रणी बनने का श्रेय प्राप्त किया है, वहाँ लगभग उसी काल मे भारत, मे कौटिल्य ने व्यावहारिक राजनीति के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ अर्थशास्त्र की रचना की थी। प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओ ने यूनानी नगर-राज्यो के अन्तर्गत सामाजिक जीवन के समस्त पक्षो का पूर्ण विवेचन करके पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की आधारशिला रखी है। इसी भाँति कौटिल्य ने अपने से पूर्व के समस्त शास्त्रो का अध्ययन करके तत्कालीन राजतन्त्रात्मक तथा गणतन्त्रात्मक व्यवस्थाओ के सफल सचालन के निमित्त मानव समाज के समस्त पक्षो का विवेचन करके भारतीय राजनीतिक चिन्तन एव व्यवहार की परम्परा डाली है। यह दूसरी बात है कि प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओ ने पाश्चात्य देशो के विद्वानो की भाँति विविध राजनीतिक आदर्शों का सैद्धान्तिक तथा चिन्तनात्मक विवेचन करने की अपेक्षा राजनीतिक व्यवहार की बातो का अधिक विवेचन किया है।

(2) प्राचीन तथा मध्ययुग के पाश्चात्य चिन्तको के असमान व्यावहारिक राजनीति का प्रतिपादक—कानून सम्प्रभुता स्वतन्त्रता एव अधिकारो की धारणाओ के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानो के विचार मुख्यतया चिन्तनात्मक हैं। इन धारणाओ के सम्बन्ध मे वहाँ के विद्वानो के मध्य पर्याप्त मतभेद भी रहे हैं। चूंकि कौटिल्य का अर्थशास्त्र मूल रूप से व्यावहारिक राजनीति एव प्रशासनिक कला का ग्रन्थ है, अत उसके अन्तर्गत इन धारणाओ की चिन्तनात्मक व्याख्या करने का कोई प्रयास नही किया गया है। पुनश्च, भारतीय परम्परा म कौटिल्य से पूर्व जो भी राजनीतिक विचार थे, कौटिल्य ने उन्ही के आधार पर शासनिक व्यवहार का विवेचन किया है। कौटिल्य न तो प्लेटो, अरस्तू की भाँति स्वप्नलोकी या प्रकृतिवादी आदर्शात्मक राजनीतिक चिन्तक थे, न उन्होने रोमन विधिशास्त्र-वेत्ताओ की भाँति

विधिशास्त्र के आधार पर राजनीतिक विचारो की व्याख्या की है। मध्य युग का यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन मुख्य रूप से धार्मिक सघर्षों के सन्दर्भ मे ही राजनीतिक आदर्शों की व्याख्या करता है। उसके पश्चात् राजनीतिक विचारको ने विविध आधारो को लेकर राजनीतिक आदर्शों की चिन्तनात्मक व्याख्या की है। कौटिल्य के राजनीतिक विचारो मे इनमे से किसी भी आदर्श या परिस्थितियो के प्रभाव नही हैं।

(3) **यद्यपि पाश्चात्य चिन्तक मैकियाविली की भाँति व्यावहारिक राजनीति का प्रतिपादन कौटिल्य ने किया है, तथापि उनके विचार मैकियाविली की तुलना मे न तो सकीर्ण हैं और न धर्म तथा नैतिकता विहीन**—कभी-कभी कौटिल्य की तुलना मैकियाविली से की जाती है। इसमे सन्देह नही कि मैकियाविली के शासन एव युद्ध-कला के सिद्धान्त बहुत कुछ कौटिल्य से मिलते-जुलते हैं और कौटिल्य की भाँति मैकियाविली ने भी चिन्तनात्मक राजनीति का प्रतिपादन नही किया है। परन्तु कौटिल्य की समता मैकियाविली से करना उचित नही है। दोनो की विचारधारा मे मौलिक भेद इस बात का है कि मैकियाविली धर्म तथा नैतिकता को राजनीति मे कोई स्थान नही देता, जबकि कौटिल्य के विचारो मे इन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मैकियाविली के दर्शन का मूलभूत उद्देश्य राज्य की सुरक्षा के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना था, जबकि कौटिल्य का उद्देश्य एक व्यापक राज्य व्यवस्था तथा शासन-व्यवस्था का प्रतिपादन करना था। कौटिल्य के राजनीतिक विचारो का उद्देश्य प्लेटो तथा अरस्तू की भाति व्यक्ति को पूर्णता-प्राप्त जीवन प्रदान करना है। इस दृष्टि से मैकियाविली के विचार कौटिल्य की तुलना मे अत्यन्त सकीर्ण है।

(4) **विभिन्न राजनीतिक धारणाओं तथा आदर्शों का प्रतिपादन कौटिल्य ने पाश्चात्य विचारकों की भांति नहीं किया है और उनके युग तक ऐसी धारणाओं का विकास पाश्चात्य देशों में भी नहीं हुआ था**—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तको के बारे मे कहा जाता है कि उन्होने कानून, स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता, अधिकार आदि की धारणाओ के सम्बन्ध मे निरपेक्ष चिन्तन करके इनके आधार पर राजनीतिक चिन्तन को धनी बनाया है, परन्तु प्राचीन भारतीय विचारको ने ऐसा नही किया है। उनका चिन्तन धर्म से ओत-प्रोत रहने के कारण निरपेक्ष नही हो पाया। इस धारणा मे जो भी सत्याश हो, यह तो मानना पडता है कि कौटिल्य ने ही नहीं, प्रत्युत् प्राचीन भारत के किसी भी राजनीतिक चिन्तक ने स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता, कानून आदि का विवेचन पाश्चात्य विद्वानो के दृष्टिकोण से करने की चिन्ता नही की। भारतीय परम्परा के अन्तर्गत इन आदर्शों का विवेचन उसी रूप मे किया जाना सम्भव भी नही था। ये धारणायें पूर्णत आधुनिक हैं।

(5) **कानून तथा प्रभुसत्ता की धारणा के सम्बन्ध मे कौटिल्य के विचार पाश्चात्य चिन्तकों से भिन्न तथा भारतीय परम्परा के अनुकूल हैं**—सम्प्रभुता की धारणा के सम्बन्ध मे कभी-कभी यह माना जाता है कि कौटिल्य के सप्तांग राज्य सिद्धान्त के अन्तर्गत राजा को सम्प्रभु माना गया है। निस्सन्देह कौटिल्य की व्यवस्था मे राजा शासन के शीर्ष पर है और राज्य की सर्वोच्च शक्ति को धारण करता है।

परन्तु पाश्चात्य विद्वानों बोदां, हॉब्स, आस्टिन आदि राजतन्त्रवादियों की भांति कौटिल्य ने निरकुश प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया है। पाश्चात्य राजतन्त्रवादी प्रभुसत्ता को कानून-निर्माण के क्षेत्र में अन्तिम सत्ता स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से कौटिल्य का राजा सम्प्रभु नहीं है। कौटिल्य के अनुसार कानून के स्रोत धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा राज-शासन हैं। राजा का आदेश कानून का सबसे निम्नतर स्रोत है। राजा स्थापित वैदिक धर्म, प्रचलित परम्पराओं, शिष्ट तथा शील पुरुषों के आचरणों के विरुद्ध कोई आज्ञा जारी नहीं कर सकता। उसका प्रमुख कर्त्तव्य इन विधियों को बनाये रखना उनके अनुसार आचरण करना तथा उनकी रक्षा करना है। इन्हीं के सम्बन्ध में वह राज-शासन जारी कर सकता था। कौटिल्य यह भी नहीं मानते कि जनता के कोई प्राकृतिक अधिकार हैं जो सम्प्रभु की सत्ता को मर्यादित करते हैं। इस दृष्टि से कौटिल्य की व्यवस्था में निरकुश या मर्यादित प्रभुसत्ता जैसी कोई धारणा नहीं है। साथ ही लोक प्रभुसत्ता या राजनीतिक प्रभुसत्ता जैसी किसी धारणा का भी उनकी विचारधारा में कोई स्थान नहीं है। कौटिल्य के काल में समाज में विविध प्रकार की जातिगत तथा व्यावसायिक श्रेणियों कुलों, आदि का अस्तित्व था। इनके अपने परम्परागत कानून तथा नियम होते थे। कौटिल्य उन्हें भी मान्यता देते हैं। राजा को चाहिए कि वह उनका विरोध तब तक न करे, जब तक कि वे राज्य के सामान्य कायसचालन तथा उद्देश्य के मार्ग में बाधक सिद्ध न हों। न्यायालयों के सम्बन्ध में भी यह व्यवस्था बतायी गयी है कि वे धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा राज शासन सभी कानूनों का परिपालन करायें। इस दृष्टि से कौटिल्य का प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त जैसा एम० वी० कृष्णराव का मत है 'बहुवादी ढग से निर्धारित एकात्मवादी' (Pluralistically determined monism) है।[1]

(6) शासनकला, कूटनीति, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, युद्धकला एवं राजनीतिक अर्थशास्त्र की धारणाओं का विवेचन करने में कौटिल्य की रचना की समकक्ष अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है—कौटिल्य अर्थशास्त्र में तत्कालीन विशाल साम्राज्य की शासनिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था के निमित्त जो व्यावहारिक सुझाव दिये गये हैं, ऐसी विशद व्याख्या कोई भी पाश्चात्य चिन्तक नहीं दे पाया है। मैकियावेली का प्रयास अर्थशास्त्र की तुलना में बहुत सकीर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की विशद व्याख्या अर्थशास्त्र में की गयी है। अर्थशास्त्र की सम्पूर्ण विषयवस्तु व्यावहारिक राजनीति के किसी भी पहलू को उपेक्षित नहीं रखती। इस दृष्टि से अरस्तू के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' की भांति यह अपने में सम्पूर्ण है। कुछ दृष्टियों में यह उससे भी उत्कृष्ट सिद्ध होती है क्योंकि यह नगर-राज्य व्यवस्था तक सीमित न होकर आधुनिक विशाल राज्यों के लिए भी प्रयुक्त हो सकती है।

[1] M V Krishna Rao, *Studies in Kautilya*, 1958 80

अठारहवाँ अध्याय

मनु

परिचयात्मक

धर्म प्रधान राजनीति के प्रवर्तक—प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों की शृंखला मे मनु के विचार एक विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा का प्रतिपादन करते है। उस युग की राजनीतिक विचारधाराओ मे धर्म-प्रधान, अर्थ-प्रधान तथा दण्ड प्रधान तीन विचारधाराएँ प्रमुख थीं। उनमे से अर्थ-प्रधान राजनीतिक विचारधारा का आदि प्रवर्तक बृहस्पति को माना गया है। बृहस्पति की मूल रचनाएँ उपलब्ध नही हैं। परन्तु उनका प्रतिनिधित्व कौटलीय अर्थशास्त्र करता है जिसके विचारो का वर्णन गत अध्याय मे किया जा चुका है। धर्म प्रधान राजनीतिक विचारधारा के आदि प्रवर्तक मनु माने गये हैं। यह मनु कौन थे, इसकी ऐतिहासिकता का निर्धारण करना बहुत कठिन है। भारतीय परम्परा के अनुसार अनेक मनु हुए हैं। जनश्रुति के आधार पर मनु को ब्रह्मा का मानस-पुत्र माना गया है। वही धर्मशास्त्र के आदि प्रणेता थे। स्वयं ब्रह्मा ने मनु को धर्मशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान दिया था। मनु ने मानव के कल्याण के निमित्त मानव धर्मशास्त्र की रचना करके उसे ऋषि-मुनियो को दिया। गुरु-शिष्य-परम्परा के आधार पर इसका सक्रमण होता आया और अन्तत भृगु मुनि ने इसे प्राप्त किया। समय तथा परिस्थितियो के आधार पर उसमे सशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्धन होते रहे।

मानव धर्मशास्त्र का जो सकलित रूप वर्तमान समय मे मनुस्मृति के नाम से हमारे सम्मुख उपलब्ध है उसके सकलन काल की ऐतिहासिकता का निर्धारण करना भी विवादग्रस्त विषय है। प्राचीन भारत की यह परम्परा रही है कि विविध मनीषियो ने जिन शास्त्रो की रचना की उन्हे उन्होने उस शास्त्र के आदि प्रणेताओ के नाम से प्रकाशित किया। वर्तमान समय की उपलब्ध मनुस्मृति के सकलन-कर्त्ता ने भी यही किया है। यह माना जाता है कि मनुस्मृति का सकलन शुगवशीय पुष्यमित्र राजा के काल मे हुआ। वह युग राजतन्त्रो का युग था। मनुस्मृति के सकलन-कर्त्ता का काल कौटिल्य के बाद का है। परन्तु चूँकि उसके विचार मूल मानव धर्मशास्त्र के हैं, अत उसके कुछ विचार कौटलीय अर्थशास्त्र के विचारो की अपेक्षा प्राचीनतर हैं। प्राचीन भारत के एक राजनीतिक विचारक के रूप मे मनु के विचारो का अध्ययन करने के लिए हमे मनु को किसी निश्चित ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप मे न मानकर मनुस्मृति के सकलन कर्त्ता के रूप मे मानना चाहिए। प्रस्तुत अध्याय

मे मनु के राजनीतिक विचारो का विवेचन इसी आधार पर किया जा रहा है।

राजनीतिक विचारधारा

मनुस्मृति की विषय-वस्तु—कौटलीय अर्थशास्त्र के विपरीत मनुस्मृति का क्षेत्र केवल वार्ता तथा दण्डनीति (राजनीतिक अर्थशास्त्र) का विवेचन करने तक सीमित नही है। इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। मानव धर्मशास्त्र होने के नाते इस ग्रन्थ मे *मानव के समस्त धर्मों, संस्कारो, व्यवहारो आदि का विवेचन किया गया है।* वर्तमान उपलब्ध मनुस्मृति मे 12 अध्याय तथा 2694 श्लोक हैं। इनकी विषय-वस्तु मनु तथा मन्वन्तरो, धर्म, वर्ण-व्यवस्था, संस्कारो, यज्ञो, आश्रमो, राज-धर्म, न्याय-व्यवस्था, लोकाचार आदि का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करती है। इस दृष्टि से *मनुस्मृति के राजनीतिक विचार सम्पूर्ण विषय-वस्तु के एक अग (राज-धर्म) का निर्माण* करते हैं। चूँकि मनु के राजनीतिक विचार धर्म-प्रधान राजनीति का विवेचन करते हैं अत मनु की व्यवस्था के अन्तर्गत धर्म के स्वरूप का ज्ञान करना आवश्यक है।

धर्म-प्रधान राजनीति का आधार—मनु के अनुसार इस संसार मे धर्म ही सबसे महान् वस्तु है। मनु *वैदिक धर्म के समर्थक हैं, परन्तु धर्म से उनका आशय* आधुनिक युगीन सम्प्रदायवादी धर्म (sectarian religion) मे नही है। उनकी विचारधारा मे धर्म का अर्थ व्यापक रूप मे माना गया है। धर्म शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'धारण करना'। अत धर्म से मनु का तात्पर्य उस गुण से है जिसे संसार का प्रत्येक जड तथा चेतन पदार्थ अपने वास्तविक स्वरूप को बनाये रखने के लिए धारण करता है। उदाहरणार्थ, अग्नि का धर्म ताप तथा प्रकाश है, अत यदि अग्नि इन गुणो को धारण न करे तो वह अपने अस्तित्व की सार्थकता से विहीन हो जायेगी। मनु का यह निष्कर्ष है कि प्रत्येक प्राणी को स्वधर्म पालन करना चाहिए। इसी मे उसकी सार्थकता है और इसी व्यवस्था के द्वारा सम्पूर्ण विश्व मे सुख, शान्ति तथा व्यवस्था बनी रह सकती है। जब मानव स्वधर्म पालन से च्युत हो जाते हैं तो उससे उनमे आसुरी प्रवृत्तियो का उदय होता है। वे अपने स्वधर्म, वर्ण-धर्म, तथा आश्रम-धर्म को भूल जाते हैं और कर्त्तव्य तथा धर्म से च्युत होकर अनाचार, दुराचार, व्यभिचार आदि अमानवीय एव अनैतिक कार्यों को करने लगते हैं। इसके कारण समाज मे मत्स्य-न्याय फैल जाता है और अधर्म का वातावरण फैल जाने से मानवता नष्ट होने लगती है। इसलिए मानवो को सुमार्ग पर लाने तथा स्वधर्मानुसार कार्य करने को प्रेरित करने की आवश्यकता पडती है। इसीलिए सृष्टिकर्त्ता ने दण्ड की रचना की है। साथ ही दण्ड का प्रयोग करने के शास्त्र (दण्डनीति) की भी उत्पत्ति की है। मानव जगत् मे राजा उस दण्ड का प्रतीक, उसका धारण करने वाला तथा प्रयोक्ता है। अत मनु-*स्मृति के अन्तर्गत राज-धर्म सम्बन्धी विवेचन के अन्तर्गत जिन विचारो का विवेचन* किया गया है, उनका आधार धर्म है। इसी दृष्टि से मनु की राजनीतिक विचार-धारा भी धर्म-प्रधान है।

राज्य सम्बन्धी धारणा

राज्य का स्वरूप—कौटिल्य की भाँति मनु भी राज्य की परिभाषा किसी परिमित शब्दावली मे नही देते, और न ही उनके विचारो मे राज्य की उत्पत्ति के किसी परम्परागत सिद्धान्त विशेष का आभास होता है। राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्त का विवेचन अवश्य उन्होंने किया है। मनु राजतन्त्रवादी हैं, परन्तु वे राजा को राज्य से समीकृत नहीं करते। मनु की विचारधारा मे राज्य के स्वरूप का वर्णन अवश्य मिलता है। कौटिल्य की भाँति मनु भी सात प्रकृतियो से युक्त राज्य की धारणा को व्यक्त करते है। उनके मत से स्वामी, अमात्य, पुर (किलेबन्द राजधानी), राष्ट्र (जनपद), कोश, दण्ड (सेना या बल) तथा सुहृद् (मित्र) इन सात प्रकृतियो से युक्त राज्य सप्तागी कहलाता है (मनु० 9/294)। राज्य की ऐसी धारणा व्यक्त करने मे मनु स्पष्टतया सप्ताग शब्द का प्रयोग करते हुए राज्य के सावयव स्वरूप की कल्पना करते हैं। उन्होने सप्ताग सम्बन्धी की व्याख्या करते हुए बताया है कि यह सात अग राज्य को उसी रूप मे थामे रहते हैं जिस प्रकार तीन दण्डो के सहारे पर त्रिदण्ड युक्त आकृति पृथ्वी पर स्थिर रहती है (मनु० 9/296)। यद्यपि एक स्थल पर कौटिल्य की भाँति मनु भी उपर्युक्त सात अगो मे से पूर्वोक्त को पश्चात् वाले अग से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है, तथापि वही पर वह यह मत भी व्यक्त करते हैं कि इन सात अगो में से प्रत्येक की महत्ता एक-दूसरे से कम नही है और एक के निर्बल हो जाने पर सम्पूर्ण अगो (राज्य) को हानि पहुँचती है (मनु० 9/297)। इस दृष्टि से मनु का राज्य सावयव सिद्धान्त भी कौटिल्य की ही भाँति का है। अर्थात् उसमे भी सात अगो के मध्य यान्त्रिक सम्बन्ध दर्शाया गया है, न कि पाश्चात्य विद्वानो की भाति राज्य को एक जीवधारी मानने का प्रयास किया गया है। डा० श्यामलाल पाण्डेय के अनुसार, 'मनु द्वारा प्रतिपादित आवयविक सिद्धान्त का आदि स्रोत ऋग्वेद की वे ऋचायें हैं जिनमे विराट् पुरुष से मानव समाज के निर्माण की कल्पना की गयी है और जिसमे एक से अनेक के उत्पन्न होने और पुन अनेक का एक मे लय होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।'

राजा

अर्थशास्त्र की भाँति मनुस्मृति के राजधर्म प्रकरण के अन्तर्गत राज-सम्बन्धी विविध धारणाओ की चिन्तनात्मक व्याख्या करने की अपेक्षा राज्य के विविध कार्य-कलापो का सचालन करने वाली शासन सस्थाओ तथा प्रणाली का विवेचन किया गया है। मनु भी राजतन्त्रवादी हैं, अत उनकी व्यवस्था मे राजा को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति प्रदान की गयी। राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे मनु के राज्य-विषयक उद्देश्य भी कौटिल्य की ही भाति के है, परन्तु उनमे धर्म को महत्त्वपूर्ण माना गया है। समाज मे प्रत्येक मानव स्वधर्म का पालन करे, अपने वर्ण से सम्बद्ध कर्त्तव्यो मे रत रहे, तथा जीवन के चार आश्रमो के निमित्त निर्धारित नियमो के अनुसार जीवन की विभिन्न अवस्थाओ मे आचरण करे, तो इससे धर्म की रक्षा

होगी। यदि सभी व्यक्ति इन धर्मगत नियमो का पालन करते रहे तो उन्हे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) की प्राप्ति सुलभ होगी और इस जीवन मे व्यक्ति त्रिवर्ग की प्राप्ति करता हुआ अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करने मे समर्थ हो सकेगा। यदि मानव ऐसा नही करते तो समाज मे अधर्म तथा अव्यवस्था छा जाती है। मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियो का उदय होने लगता है और मत्स्य-न्याय फैल जाता है। अत इसी कुव्यवस्था को नियन्त्रित करने के लिए मानव की रक्षा हेतु प्रभु (ईश्वर) ने दण्ड, दण्डनीति तथा उसे प्रयुक्त करने वाले राजा की सृष्टि है (मनु० 7/3)। मनु० ने दण्ड की महिमा का विशद विवेचन किया है। दण्ड की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसके प्रयोग की विधि आदि का विवेचन करते हुए मनु दण्ड के प्रयोक्ता राजा के पद को दण्ड का प्रतीक एव सृष्टि-कर्त्ता परमात्मा द्वारा सृजित पद मानते हैं। इस दृष्टि से मनु राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के समर्थक हैं। उनका मत है कि प्रभु ने आठ प्रधान देवताओ इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर के शाश्वत तत्त्वो स युक्त राजा की सृष्टि की है (मनु० 7/4)। अत राजा देव तुल्य है। मनु के अनुसार राजा का पद दैवी है। यदि इस पद को धारण करने वाला व्यक्ति बालक भी हो तो भी उसका देववत् सम्मान किया जाना चाहिए क्योकि वह पृथ्वी मे नररूप देवता है (मनु० 7/8)। मनु द्वारा प्रतिपादित राजा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त पाश्चात्य देशो मे मध्ययुगीन दैवी सिद्धान्त से भिन्न है। पाश्चात्य विचारको के विपरीत मनु राजा को न तो पृथ्वी मे ईश्वर का प्रतिनिधि मानते हैं और न उसे दैवी मानकर राज्य से सभीकृत करके निरकुशतावाद का समर्थन करते हैं। मनु राजा को दैवी इसी अर्थ मे मानते हैं कि वह विविध देवताओ के गुणो से युक्त है। राजा के ऊपर धर्म (कानून) तथा नैतिकता के अनुसार आचरण करने की मर्यादाएँ हैं। वह धर्म का उल्लघन नही कर सकता, प्रत्युत् उसे पूर्णतया स्थापित धर्म (विधि) के अधीन आचरण करना पड़ता है। वह न ईश्वर है, न देवता और न उसका प्रतिनिधि, अपितु वह विविध देवताओ की विभूतियो को धारण करने वाला विशिष्ट देव है।

स्पष्ट है कि मनु जहाँ राजा के दैवी स्वरूप को मानते हैं, वहाँ उसके ऊपर महान् दायित्वो को भी आरोपित करते हैं। राजा का मुख्य दायित्व समाज मे धर्म-सस्थापन, प्रजा-रजन तथा दण्ड का समुचित रूप से प्रयोग करना है। अत सर्वसाधारण इस पद को धारण नही कर सकते। ऐसा ही व्यक्ति राजपद को धारण कर सकता है जो सत्यवादी, बुद्धिमान्, धर्म-परायण त्रिवर्ग के रहस्य का ज्ञाता, वेद तथा शास्त्रो का ज्ञाता और उनके अनुसार आचरण करने की सामर्थ्य रखता हो। इस प्रकार मनु भी कौटिल्य की भाँति राजा मे विविध शारीरिक, मानसिक, नैतिक, धार्मिक एव बौद्धिक गुणो की वाछनीयता का समर्थन करते हैं। इन गुणो से विहीन राजा दण्ड धारण नही कर सकता, यदि करता भी है तो अपनी अक्षमता के कारण स्वय नष्ट हो जायेगा (मनु० 7/27)।

मन्त्रि-परिषद्

मनु का मत है कि राजा के कार्यों का क्षेत्र इतना विशाल है कि अकेला

राजा उन सबके सम्यक् सम्पादन का दायित्व नही निभा सकता । साथ ही अत्यधिक सत्ता से युक्त होने के कारण राजा मे स्वेच्छाचारिता बढ सकती है । इसलिए मनु ने यह व्यवस्था दी है कि राजा को शासन-कार्य मे परामर्श देने के लिए मन्त्रियो की नियुक्ति करनी चाहिए । मन्त्रियो की सख्या के बारे मे मनु दो-तीन ही मन्त्रियों का होना अपर्याप्त तथा अत्यधिक सख्या के मन्त्रियो का होना अकुशलता का द्योतक मानते हैं । अत मन्त्र की गोपनीयता, कुशलता तथा प्रभावकारिता के निमित्त वे मन्त्रि-परिषद् के सदस्यो की सख्या के सम्बन्ध मे मध्यम मार्ग अपनाते हैं (मनु० 7/54) । उनका विचार 8 या 10 तक की सख्या के मन्त्रियो के पक्ष मे है । मन्त्र देना बहुत कौशल का कार्य है । अत राजा के मन्त्रियो के सम्बन्ध मे भी मनु ने उनके अनेक वाछनीय गुणों का उल्लख किया है । शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एव आचारिक गुणो के साथ-साथ मन्त्रियो को शास्त्रज्ञ, प्रशासनिक व्यवहार मे कुशल, दृढ सकल्प, वीर (शौर्य-सम्पन्न), साहसी तथा कर्तव्य-निष्ठ होना चाहिए । कौटिल्य की भाँति मनु भी मन्त्री की योग्यता के लिए उच्च कुल के जन्म को आवश्यक मानते हैं । वश-परम्परा भी मन्त्री-पद हेतु अनुभव की योग्यता प्रदान करने का साधन है । यह राज निष्ठा को भी अधिक प्रभावशाली बनाती है । मन्त्रियो की नियुक्ति करते समय राजा को सम्बन्धित व्यक्ति मे इन गुणो के अस्तित्व का समुचित परीक्षण कर लेना चाहिए ।

प्रशासनिक खण्ड तथा व्यवस्था—मन्त्रिमण्डल की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध मे मनु विभिन्न मन्त्रियो के मध्य विशेषज्ञता के आधार पर विभागीय कार्य विभाजित करने के समर्थक है । राजा को मन्त्रियो के मध्य विभिन्न विभागो के शासन का दायित्व सौंपने के पूर्व मन्त्री मे तत्सम्बन्धी योग्यताओ का विवेचन कर लेना चाहिए । मनु के विचार से राजा को विभिन्न मन्त्रियो से व्यक्तिगत एव सामूहिक दोनो रूपो मे परामर्श लेना चाहिए और अपनी राय निश्चित करने से पूर्व सर्वश्रेष्ठ मन्त्री से भी परामर्श करना चाहिए (मनु० 7/47 से 7/62) । मनु ने प्रशासनिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे कौटिल्य की भाँति विस्तृत विभागीय सगठन एव कर्मचारीगण का विवेचन नही किया है । परन्तु राज्य सगठन का जो विवेचन उन्होने किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि मनु भी कौटिल्य की भाँति प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण के आधार पर प्रादेशिक खण्डों का शृखला-बद्ध विभाजन करते हैं और ग्राम-स्तर पर स्थानीय स्वशासन की नीति को मान्यता देते हैं । उनके मत से राजा को 1 ग्राम, 10 ग्रामो, 20 ग्रामो, 100 ग्रामो तथा 1000 ग्रामो के समूहों के लिए विविध अधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए (मनु० 7/115) और इस क्रम मे निम्नस्तरीय अधिकारी अपने क्षेत्र की प्रशासनिक समस्याओ से सम्बद्ध पूर्ण जानकारी अपने से उच्चस्तरीय अधिकारी को देते रहे । इस प्रकार राष्ट्र के नीचे जो प्रशासनिक प्रदेश होगा वह 1000 ग्रामो के समूह का होगा जिसका शासक सहस्रपति होगा और वह राजा के एक सचिव की देख रेख मे शासन-कार्य करेगा । इन अधिकारियो को जागीर के रूप मे वेतन दिये जाने की व्यवस्था बतायी गयी है (मनु० 7/119) । नगरों या पुरो की

शासन-पद्धति जनपद की अपेक्षा भिन्न प्रकृति की होगी। परन्तु मनु ने इसका विशद् विवेचन नहीं किया है। जिन कर्मचारियों की सहायता से प्रशासन का कार्य संचालित होता था उनके बारे में भी मनु ने विस्तृत व्याख्या नहीं की है। परन्तु उनके आचरण का ज्ञान करते रहने के लिए गुप्तचर-व्यवस्था का संकेत मनु ने दिया है। विविध इकाइयों के अधिकारी अपने-अपने क्षेत्र से कर वसूल करके राज्य-कोष में जमा करते थे।

न्याय-व्यवस्था तथा न्यायिक प्रशासन

कौटिल्य की भाँति मनु की व्यवस्था में भी न्यायपालिका का मुख्य उद्देश्य सुधारात्मक न्याय है। तत्कालीन परम्परा के अनुसार मनु न्याय-व्यवस्था को व्यवहार-स्थापना की संज्ञा देते हैं। मनु के अनुसार न्यायपालिका का क्षेत्र 18 प्रकार के व्यवहारों तक विस्तृत है। इसके अन्तर्गत आधुनिक अर्थ के दीवानी, फौजदारी तथा माल तीनों प्रकार के विवाद आ जाते हैं। इनमें ऋण का लेन-देन, क्रय-विक्रय, वेतन-विवाद, पशुओं से सम्बद्ध विवाद, सीमा-विवाद, दायभाग, जुआ, चोरी, गाली-गलौज, मार-पीट, परस्त्री हरण आदि शामिल हैं।

राजा न्यायपालिका का प्रधान—मनु द्वारा वर्णित न्यायपालिका-संगठन कौटिल्य की भाँति न्यायालयों की ग्राम स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक उच्चोच्च क्रम के संगठन का संकेत नहीं करता। इसके विपरीत मनु न्यायालय-संगठन की विकेन्द्रीकृत व्यवस्था का आधार व्यवसायगत होना मानते हैं। जाति, कुल, श्रेणी, गण आदि विविध प्रकार के समुदायों के पृथक् न्यायालयों को अपने समुदाय के नियमों, परम्पराओं आदि के अनुसार विवादों का निर्णय करना चाहिए। मनु ने राजा को कार्यपालिका का प्रधान मानने के साथ-साथ सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में भी माना है। न्यायपालिका के शीर्ष पर राजा का न्यायालय है जिसकी अध्यक्षता या तो स्वयं राजा को करनी चाहिए, या यदि उसे अवसर नहीं मिले तो उसके द्वारा नियुक्त किसी न्यायविद् ब्राह्मण को करनी चाहिए। यह संस्था राजा की धर्म-सभा कहलाती है। इसमें राजा अथवा उसके द्वारा नियुक्त ब्राह्मण अन्य विद्वान् ब्राह्मणों, मन्त्रियों तथा प्राडविवाक नामक अधिकारी के साथ बैठकर विवादों को सुनता तथा उनका निर्णय करता था। न्यायालयों में अकेले एक न्यायाधीश के द्वारा विवादों को निर्णीत करने के सिद्धान्त को मनु उचित नहीं मानते, अपितु न्यायालयों में वेद तथा शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मणों की सलाह से न्यायिक कार्य करने की नीति का उन्होंने समर्थन किया है।

न्यायिक प्रक्रिया—न्यायिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में मनु ने कौटिल्य की ही भाँति विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। वादी तथा प्रतिवादी को उन्होंने अर्थी तथा प्रत्यर्थी कहा है। अर्थी की प्रार्थना सुनने के उपरान्त प्रत्यर्थी के उत्तर सुनने तथा दोनों पक्षों के द्वारा साक्ष्य प्रस्तुत करने की व्यवस्था बतायी गयी है। साक्ष्य के लिए लिखित प्रलेख तथा प्रत्यक्षदर्शी साक्षी को सच माना जाना चाहिए। साक्षी को सत्य बात कहने की शपथ ग्रहण करनी चाहिए। एक-मात्र साक्षी को पर्याप्त नहीं माना गया

है। कभी कमी अर्थी या प्रत्यर्थी के न्यायालय मे उपस्थित न होने के सन्देह मे प्रतिभू (bail) की माँग भी की जाती थी। साक्षी के सम्बन्ध मे मनु ने अनेक प्रकार की अहताओ तथा अनहताओ का भी विवेचन किया है। उच्च कुल मे जन्मा, गृहस्थ घटनास्थल के समीप का निवासी देश जाति, कुल आदि के धर्म का ज्ञाता आदि गुणो से युक्त साक्षी को उचित माना गया है। विवाद के पक्षो के वर्ण वाले व्यक्ति तथा स्त्रियो के विवाद मे स्त्रियाँ भी साक्षी हो सकती हैं। विवादी पक्षो के सम्बन्धी कारीगर नट श्रोत्रिय ब्रह्मचारी सन्यासी आदि अयोग्य माने गये हैं। इसी प्रकार दुश्चरित्र व्यक्ति बालक वद्ध मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ व्यक्तियो को भी अयोग्य माना गया है। साक्षी के अभाव मे दिव्यप्रमाणो (oblations) के द्वारा तथ्यो के ज्ञात करने की बात का भी समथन किया गया है यथा आग को थामना जल मे डुबोना आदि। न्यायाधीशो को वादी प्रतिवादी तथा साक्षी के साथ रोषपूण व्यवहार नहीं करना चाहिए न उन्हें कोई सकेत देना चाहिए। इस प्रकार मामने मे अन्तगत तथ्यों का ज्ञान कर लेने के उपरान्त वेद शास्त्रज्ञ ब्राह्मणो द्वारा विधि का समाधान कर लेने पर ही न्यायाधीशो को अपराधी के विरुद्ध दण्ड की घोषणा करनी चाहिए। मनु ने निम्न न्यायालयो के निणयो के विरुद्ध राजा के न्यायालय मे अपील करने की व्यवस्था भी दी है। यदि राजा को यह समाधान हो जाये कि निम्न न्यायालयो ने अविवेकपूण ढग से गलत निणय दिया है तो उसे सम्बन्धित न्यायाधीशो को दण्ड देना चाहिए।

न्याय के चार पाद—कौटिल्य की भाँति मनु ने न्याय के चार पाद—वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्म तुष्टि माने हैं। कौटिल्य ने इन्हे धम, व्यवहार चरित्र तथा राज शासन कहा था। न्यायिक निणय लेने मे न्यायाधीशो को वेदोक्त धम धमशास्त्रो के नियमो तथा शिष्ट पुरुषो के आचरणो एव आत्म-तुष्टि (conscience) इन सभी का यथोचित ध्यान रखना चाहिए। मनु ने अनक प्रकार के दण्डो की व्यवस्था बनायी है यथा वाग्दण्ड (समझा बुझा देना) धिग्दण्ड (धिक्कारना) अथ दण्ड शारीरिक दण्ड प्राणदण्ड, कारागार, जाति या देश से निष्कासन सम्पत्ति विहीन कर देना प्रायश्चित आदि। शारीरिक दण्ड हेतु मनु ने शरीर के अन्तगत 10 स्थान दण्ड के माने हैं। दण्ड अपराध के अनुकूल होना चाहिए। साथ ही दण्ड देते हुए अपराध तथा अपराधी की परिस्थिति सामथ्य आयु आदि का भी ध्यान रखना चाहिए। दण्ड देने मे मनु समानता के सिद्धान्त को नही मानते। उन्होने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि दण्ड देने मे सम्यक विचार किया जाना चाहिए। दण्डनीय को दण्ड न देना उतना ही हानिकारक है जितना अदण्डनीय को दण्ड देना है। ऐसा करने वाला राजा पाप का भागी होता है।

मनु की न्याय व्यवस्था मे न्यायपालिका तथा कायपालिका के पृथक्करण की धारणा तो नहीं है परन्तु न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का आभास होता है। राजा कायपालिका तथा न्यायपालिका दोनों का प्रधान है परन्तु न्यायिक काय करने मे वह स्वच्छन्द नहीं है। उसे धमस्थ ब्राह्मणो की सहायता तथा क़ानून के सम्बन्ध मे उनसे परामश लेकर ही न्यायिक निणय देने पडते हैं। वह कानून का निर्माता अथवा कानून के ऊपर नहीं है बल्कि उसे स्थापित कानून के अन्तर्गत ही

न्याय प्रदान करना है । जाति, श्रेणी, कुल तथा पूगों के अपने न्यायालयों के होने की व्यवस्था भी उनके सम्बन्ध मे न्यायालयो की स्वतन्त्रता का द्योतक है। उनके विवादो का निर्णय उनके परम्परागत कानूनो के अनुसार करने की व्यवस्था भी मनु ने बतायी है।

राज्य की वित्त-व्यवस्था

कोष-संचय के साधन—राज्य-व्यवस्था के सम्यक् सचालन के लिए धन की आवश्यकता पडती है। कौटिल्य की भाँति मनु भी राज्य के सप्ताग सिद्धान्त के अन्तर्गत कोष को राज्य का एक प्रमुख तत्त्व स्वीकार करते हैं। राज्य का प्रमुख कार्य प्रजा-रजन तथा प्रजा-रक्षण है। इन्हीं पर राज्य का प्रमुख उद्देश्य (व्यक्ति को त्रिवर्ग की प्राप्ति कराना) निर्भर करता है। इस दृष्टि से मनु-प्रणीत राज्य का आदर्श भी लोक-कल्याणकारी है। ऐसे आदर्श की प्राप्ति के लिए राज्य के कोष की समृद्धि आवश्यक है। कोष-सचय के प्रमुख साधन जनता से करो, शुल्को एव अर्थ-दण्ड द्वारा प्राप्त धनराशियाँ हैं। इनके सम्बन्ध मे मनु ने अनेक सिद्धान्तो तथा नियमो का प्रतिपादन किया है। मनु का मत है कि जो राजा जनता से कर के रूप मे धन का अनुचित विधि से आवश्यकता से अधिक सग्रह करे और उस धन को प्रजा-रक्षण के कार्यों मे व्यय न करे वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा। इसी भाँति जो राजा अपने दायित्वो को सम्पन्न करने के लिए करारोपण नही करता उसका राज्य भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अत प्रजा की रक्षा तथा कल्याण के लिए कर लगाना राजा का अधिकार ही नहीं अपितु कर्तव्य भी है।

कर-सिद्धान्त—विविध साधनो द्वारा कोष हेतु धन प्राप्त करने तथा उसके समुचित उपयोग के सम्बन्ध मे मनु ने कुछ सिद्धान्तो का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, राजा को कर आदि से प्राप्त धन का उपयोग प्रजा की रक्षा तथा लोक-कल्याण के कार्यों मे करना चाहिए, न कि केवल अपने सुख-ऐश्वर्य के कार्यों मे। राष्ट्रीय कार्यों का नियोजन इस प्रकार किया जाय कि उनसे जनता की चहुमुखी समृद्धि हो सके। विभिन्न व्यवसायो पर कर-दाता के वास्तविक लाभ पर ही कर लगाया जाना चाहिए, न कि पूंजी या लेन-देन की धनराशि पर। व्यापार मे मार्ग-व्यय, सुरक्षा, भरण-पोषण के व्यय, निर्वाह-व्यय आदि को कम करके यथार्थ लाभ का सम्यक् निर्धारण करके उस पर कर लगाया जाना चाहिए। करारोपण करने तथा उसे वसूल करने मे राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि जिससे कर देने वाले व्यक्ति को अनावश्यक कष्ट तथा क्लेश का आभास न हो। इस सम्बन्ध में मनु ने गाय द्वारा बछडे को दूध पिलाने, जौंक द्वारा किसी प्राणी के शरीर से रक्त चूसने तथा भौंरे के द्वारा फूल से मधुपान करने की विधियों के अनुसार ही राजा को प्रजा से कर लेने की विधि का अनुसरण करने की राय दी है। मनु ने राजा को यह भी सलाह दी है कि वह प्रजा के ऊपर अत्यधिक करो को आरोपित न करे। राज्य के कार्यों के सचालन के निमित्त जितना धन आवश्यक हो उससे कम या अधिक धन करो द्वारा सग्रह करना निषिद्ध बताया गया है।

आय के साधन—मनु ने आय के विविध साधनों का भी विवेचन किया है। राज्य में उत्पादन के मुख्य साधन कृषि पर लगाये जाने वाले कर की सीमा उत्पादन का 1/6 भाग निर्धारित किया गया है। इस कर को प्राचीन परम्परा के अनुसार 'बलि' की संज्ञा दी गयी है। राज्य में विविध व्यवसायों तथा छोटे-छोटे उद्योगों पर अनुमति-शुल्क (licence fee) लगाने की भी व्यवस्था मनु ने बतायी है। बाजारों, हाटों, नगरों आदि में बिक्री का माल ले जाने पर चुंगी (octroi) की व्यवस्था भी बतायी गयी है। शुल्क या चुंगी दिये बिना ऐसा कार्य करने का प्रयत्न करने वालों के ऊपर अर्थ-दण्ड लगाया जाना चाहिए। विविध प्रकार के अभियोगों में अपराधियों के ऊपर अर्थ-दण्ड लगाकर उससे होने वाली आय भी राज्य के कोष में जाती है। नावों, घाटों, पुलों तथा मार्गों पर वाहनों को चलाने तथा माल के ले जाने पर भी कर लगाने की व्यवस्था बतायी गयी है। परन्तु कुछ विशिष्ट व्यक्तियों पर ऐसे करों का निषेध भी बताया है, यथा गर्भिणी महिलाएँ, ब्राह्मण, सन्यासी आदि। पशुओं के व्यापार पर भी कर लगाने की व्यवस्था का समर्थन किया गया है, इसी प्रकार खनिज उद्योगों पर भी। श्रम-जीवियों तथा शिल्पियों के लिए माह में एक दिन श्रम द्वारा कर देने का विधान बताया गया है। परन्तु उसमें उत्पीडन या बेगार की भाँति श्रम लेने का निषेध है।

व्यय-मार्ग—कोष से व्यय किस प्रकार किया जाय, इस सम्बन्ध में मनु ने विविध आय के स्रोतों से होने वाली आय को विविध प्रकार के निर्दिष्ट कार्यों में व्यय करने का संकेत दिया है। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि मनु विविध शासनिक विभागों की आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त को मान्यता देते हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि मनु द्वारा बतायी गयी वित्त व्यवस्था राज्य को केवल एक पुलिस-राज्य न मानकर लोक-कल्याणकारी राज्य के आदर्श का प्रतिपादन करती है। वित्त-व्यवस्था को सन्तुलित बनाये रखने, शोषणकारी असामाजिक तत्त्वों को नियन्त्रित करने, करों तथा शुल्कों को देने से बचने वालों का पता लगाने तथा व्यापार व्यवसाय में मिलावट, ठगी, कपट, छल आदि के कार्यों को करने के सम्बन्ध में भी मनु ने व्यवस्था दी है।

अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध

मण्डल तथा षाड्गुण सिद्धान्त—विविध राज्यों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण करने में कौटिल्य की भाँति मनु भी राज्य मण्डल सिद्धान्त तथा षाड्गुण मन्त्र के सिद्धान्तों को अपनाते हैं। राज्य-मण्डल के सम्बन्ध में राज्यों की स्थिति को मनु कौटिल्य की भाँति ही चित्रित करते हैं। परन्तु राज्य मण्डल की 72 प्रकृतियों की व्याख्या करने में मनु का गणना-क्रम कौटिल्य से थोड़ा भिन्न है। मनु के अनुसार, विजिगीषु, शत्रु, मध्यम तथा उदासीन राजा राज्य-मण्डल की चार मूल प्रकृतियाँ हैं। मित्र, अरि मित्र, मित्र मित्र, अरि मित्र मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रान्द, पार्ष्णिग्राह सार तथा आक्रान्द सार, यह आठ शाखा प्रकृतियाँ हैं। इन बारह राज्यों का एक राज्य मण्डल बनता है। इनमें से प्रत्येक की पाँच द्रव्य प्रकृतियाँ (अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष तथा दण्ड) होती हैं। इस प्रकार बारह राजा तथा उनमें से प्रत्येक की

पाँच प्रकृतियाँ मिलकर $[12+(12 \times 5)=72]$ बहत्तर प्रवृत्तियों में युक्त वृहद् राज्य-मण्डल बनता है।[1] मनु का मत है कि राजा को अपने अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का निर्धारण करने मे राज्य-मण्डल सिद्धान्त का समुचित ज्ञान रखना चाहिए।

कौटिल्य की भाँति मनु भी अन्तर्राज्यीय सम्बन्धो पर आचरण करने के सम्बन्ध मे षड्गुण मन्त्र का सम्यक् रूप से उपयोग करने की सलाह राजा को देते है। षाड्गुण मन्त्र के छ तत्वो—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सश्रय तथा द्वैधीभाव को भी मनु कौटिल्य की भाँति ही मानते हैं। परन्तु द्वैधीभाव के सम्बन्ध मे मनु तथा कौटिल्य के मध्य अन्तर है। कौटिल्य के अनुसार द्वैधीभाव का अर्थ एक राज्य के साथ सन्धि तथा दूसरे के साथ विग्रह करना है, जो अधिक स्पष्ट व्याख्या लगती है। परन्तु मनु के अनुसार इसका अर्थ है, अपनी सेना के एक भाग को राज्य की सीमा पर युद्ध तथा प्रतिरक्षा के निमित्त रखना तथा दूसरे भाग को दुर्ग या राजधानी पर आन्तरिक सुरक्षा के निमित्त रखना। मनु ने सन्धि, विग्रह, यान, आसन तथा सश्रय प्रत्येक के दो-दो रूप बताये हैं, जिन्हें राजा तथा उसके मित्र-मण्डल के राजा दोनो के पारस्परिक सहयोग तथा परामर्श के आधार पर विभिन्न रूपो मे अपनाये जाने की विधि बतायी गयी है। उदाहरणार्थ, अगर राजा तथा उसका मित्र सन्धि द्वारा शत्रु पर एक साथ आक्रमण करते हैं तो वह समानयान सन्धि है, यदि वे सन्धि द्वारा शत्रु पर एक ओर से एक, दूसरी ओर स दूसरा आक्रमण करे तो असमानयानकर्मा सन्धि है। इसी प्रकार स्वय-कृत विग्रह तथा मित्र के हित साधन के लिए किया गया विग्रह दोनो अलग-अलग प्रकार के विग्रह हैं। इसी भाँति यान, आसन तथा सश्रय के भी भेद बताये गये हैं। मनु ने उन परिस्थितियो का भी उल्लेख किया है जिनके अन्तर्गत राजा के द्वारा षाड्गुण मन्त्र की विविध नीतियो को अपनाया जाना चाहिए। यह नियम लगभग वही है जिनका प्रतिपादन कौटिल्य ने किया है।

उपाय—षाड्गुण मन्त्र के अतिरिक्त मनु भी अन्तर्राज्यीय सम्बन्धो के निर्धारण एव व्यवहार मे चार उपायो—साम, दाम, दण्ड तथा भेद का विवेचन करते हैं। मनु का मत है कि साम, दाम तथा भेद के द्वारा राजा अपने परिपथी राजा को वश मे करने की स्थिति मे असमर्थ होने के बाद ही दण्ड के उपाय को काम में लाये।

मनु के राजनीतिक विचारो का महत्त्व

(1) कौटिल्य तथा मनु के राजनीतिक विचारो में पर्याप्त समानता है—यदि वर्तमान समय मे उपलब्ध मनुस्मृति की रचना काल कौटलीय अर्थशास्त्र के रचना काल के पश्चात् का माना जाये तो उससे यह स्पष्ट होता है कि मनु के राजनीतिक सिद्धान्तो मे कौटिल्य की विचारधाराओ का पर्याप्त प्रभाव है। परन्तु मनुस्मृति के राजनीतिक विचारो को अर्थशास्त्र के विचारो से साम्य रखने के कारण उसे अर्थशास्त्र के अनुकृति मान लेना भी भूल है। कारण यह है कि मूल रूप से धर्म-

[1] इस सम्बन्ध में गत अध्याय के अन्तर्गत कौटिल्य द्वारा वर्णित मण्डल सिद्धान्त का अवलोकन करें और मनु के सिद्धान्त से उसकी तुलना करें। रेखाचित्र भी देखें।

शास्त्रो, अर्थशास्त्रों तथा नीति-सारो के आदि प्रणेता अत्यन्त प्राचीन युगीन ऋषि माने गये हैं और बाद के कालो मे उनके नामो से इन ग्रन्थो के रचियताओ को उन मौलिक रचनाओ की विषय-वस्तु का ज्ञान रहा होगा। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उन्होने विविध शास्त्रकारो के मतो का उल्लेख किया है। परन्तु प्रस्तुत स्मृतिकारो ने ऐसी पद्धति न अपनाकर उन्हे उनके आदि प्रणेताओ के नाम से ही प्रस्तुत किया है। अत मनुस्मृति तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र के विचारो के मध्य साम्य होने का यह अर्थ नही लगाया जाना चाहिए कि उनमे से किसी एक ने दूसरो के विचारो का अनुसरण किया है। प्रत्युत् जिन धारणाओ के सम्बन्ध मे विचार-साम्य है, वह धारणाएँ, परम्पराएँ या सस्थाएँ प्राचीन भारत मे समान रूप से मान्य थी।

(2) अर्थशास्त्र की अपेक्षा मनुस्मृति का क्षेत्र पर्याप्त अधिक व्यापक है— कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिन्तनात्मक राजनीति का ग्रन्थ होने की अपेक्षा मुख्य रूप से राज्य की शासन व्यवस्था एव अर्थव्यवस्था का क्रियात्मक विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। अत यह सक्रिय या व्यावहारिक राजनीति की कला का बोध कराता है। इसकी सम्पूर्ण विषय-वस्तु चिन्तनात्मक न होकर व्यावहारिक है। इसके विपरीत मनुस्मृति की विषय-वस्तु का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। चूंकि मनु की राजनीति धर्म-प्रधान विचारधारा का प्रतिपादन करती है, अत मनुस्मृति मे मानव धर्म का विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। वास्तव मे मनु के विचार मानव के धर्म, सस्कार, आचार-व्यवहार आदि विविध विषयो की दार्शनिक एव शास्त्रीय व्याख्या करते हैं। इस दृष्टि से मनुस्मृति का अधिकाश भाग हिन्दू धर्म की सहिता के रूप मे माना जाता है।

(3) मनु की राजनीति धर्मप्रधान है जबकि कौटिल्य की अर्थप्रधान— मनुस्मृति के अन्तर्गत राज्य-धर्म अथवा राजनीति से सम्बन्ध रखने वाली बातें मनु के सम्पूर्ण दर्शन का अग मात्र हैं। परन्तु धर्म की रक्षा तथा अभिवृद्धि के लिए और मानव को धर्मरत रखने के लिए दण्ड की उत्पत्ति, उसकी महत्ता तथा दण्डनीति को समुचित ढग से लागू करने की व्यवस्था अत्यावश्यक है। राजधर्म के अन्तर्गत मनु ने इन्ही सब व्यवस्थाओ का पूर्ण विवेचन किया है। मनु के राजनीतिक विचार धर्म प्रधान राजनीति का प्रतिपादन करते हैं। धर्म का अभिप्राय सम्पूर्ण मानव धर्म से है जो वैदिक धर्म पर आधारित है।

(4) वर्णाश्रम धर्म पर आधारित समाज व्यवस्था के समर्थक— मनु वर्ण-व्यवस्था के समर्थक हैं और उन्होने राजनीतिक व्यवस्था के सचालन मे ब्राह्मणो को सर्वोच्च स्थिति प्रदान की है। वर्ण व्यवस्था का आधार कार्य विभाजन का सिद्धान्त है जैसा कि एक अन्य रूप मे प्लेटो के विचारो मे भी पाया जाता है। अत मनु की व्यवस्था मे नागरिक समानता की धारणा का अभाव है। परन्तु मनु द्वारा चित्रित राज्य वर्ग-राज्य नही है। ब्राह्मण तथा क्षत्रियो को समाज मे उच्च स्थिति प्रदान करने का मनु का अभिप्राय अन्य वर्णों के हितो की उपेक्षा करना तथा उन्हे दासता की स्थिति मे रखना नहीं है। अवश्यमेव कुछ शासकीय उच्च पदो के लिए मनु उच्च

वर्णों को वांछनीय मानते हैं। परन्तु शासन में विविध पदों पर योग्यता तथा नैसर्गिक क्षमता के आधार पर अन्य वर्णों के व्यक्ति भी रखे जा सकते हैं। मनु का यह दृष्टिकोण तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत यथार्थवादी रूप अपनाता है।

(5) राजपद के दैवी सिद्धान्त के समर्थक हैं परन्तु इस आधार पर निरकुशतावादी नहीं हैं—कभी-कभी मनु को राजा के 'दैवी अधिकार' सिद्धान्त का प्रतिपादक मानने की भूल की जाती है। *वास्तव में मनु राजा के 'अधिकार' को दैवी नहीं मानते।* वह राजा को देवताओं की विभूतियों से युक्त मानते हैं। उनकी यह धारणा राजा के दैवी अधिकारों को मान्यता देकर निरकुश राजतन्त्र का समर्थन करने की न होकर राजा पर अनेक दायित्वों को आरोपित करने की धारणा है, ताकि राजा प्रजा के साथ व्यवहार करने में और अपने कार्यों का सम्पादन करने में अपने दायित्व के दैवी स्वरूप को समझें। राजा सदैव धर्म के अधीन है। वह धर्म के नियमों के विरुद्ध कानून-निर्माण का कार्य नहीं कर सकता।

(6) राजतन्त्रवादी होते हुए भी राजा की शक्ति को मर्यादित मानते हैं—*इस प्रकार मनु की राजतन्त्रात्मक व्यवस्था पाश्चात्य देशों के राजतन्त्र समर्थकों की* धारणा से भिन्न है। मनु ने राजा के ऊपर कानून (धर्म) की, मन्त्रियों के परामर्श से शासन कार्य सचालित करने की तथा लोक परम्पराओं को मान्यता देने के दायित्व की मर्यादाएँ लगायी हैं। साथ ही राजा को स्थापित नियमों तथा सिद्धान्तों के अनुसार न्याय-व्यवस्था तथा वित्त-व्यवस्था का सचालन करने की बात पर भी बल दिया है।

(7) राज्य के लोक-कल्याणकारी स्वरूप का समर्थन—राज्य का उद्देश्य लोक-कल्याण तथा राजा का प्रमुख दायित्व प्रजा-रजन है। अतएव मनु का राजधर्म *निरकुश या स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के समर्थन से कोसों दूर है। राजा के गुण,* कर्तव्य तथा स्वरूप और मन्त्रियों के सम्बन्ध में भी इन बातों पर मनु ने जो व्यवस्था दी है वह प्राचीन युग के राजतन्त्र समर्थकों के लिए अनुकरणीय व्यवस्था थी। कर-व्यवस्था, न्यायिक प्रशासन, सामान्य प्रशासनिक व्यवस्था, वैदेशिक नीतियों, दूर-व्यवस्था, युद्ध की नैतिकता आदि के सम्बन्ध में मनु ने जिन नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उनकी *यथार्थता तथा उत्कृष्टता इतनी महान् है कि यदि* आधुनिक राज्य उन सिद्धान्तों को मानकर राजनीतिक व्यवहार में उन पर आचरण करें तो सच्चे अर्थ में लोक-कल्याणकारी राज्य के आदर्श की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं आ सकती। साथ ही आज का राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण और मानव-समाज जिन भ्रष्ट राजनीतिक आचरणों से दूषित हो रहा है, उनका निराकरण हो सकता है।

(8) कठोर दण्ड व्यवस्था के समर्थक—मनु के न्याय तथा दण्ड सम्बन्धी विचारों के बारे में कदाचित आधुनिक चिन्तकों को यह आपत्ति हो सकती है कि वे विधि के शासन तथा नागरिक के मूल अधिकारों के सरक्षण की लोकतन्त्री धारणा से मेल नहीं खाते। साथ ही दण्ड व्यवस्था भी पर्याप्त कठोर एवं अंशों में अमानवीय प्रकृति की लगती है। परन्तु यह भी ध्यान देने की बात है कि उस युग में विश्व के बहुत से जन समूहों के मध्य ऐसी दण्ड व्यवस्था प्रचलित थी। आज के अपने को

सभ्यता के युग का मानव मानने वाले जन-समूहो तथा राज्यो मे तक अपराधियो के अपराध का सही पता लगाने के निमित्त पुलिस क्या कम अमानवीय हथकण्डे अपनाती है ? आज के राज्य मृत्यु दण्ड को समाप्त नही कर सके है। अत मनु के इन विचारो की आलोचना को बहुत बल नही मिलता। कठोर दण्ड व्यवस्था बताते हुए भी मनु ने उसके लिए अनेक प्रतिबन्धो की व्यवस्था भी की है।

मनु के राजनीतिक विचारो को स्वप्नलोकी आदर्शवाद के रूप में नही माना जा सकता, इसके विपरीत उनके विचार व्यावहारिक, यथार्थ एव नैतिकता से युक्त थे। मनु की व्यवस्था को धर्म तन्त्री राज्य भी नही माना सकता, क्योंकि धर्म के सम्बन्ध मे उनकी धारणा साम्प्रदायिकता की द्योतक नहीं है। इसके विपरीत मनु की धर्म-प्रधान राजनीति एक व्यापक मानवीय धर्म पर आधारित थी। उसकी प्रधान विशेषता उसका नैतिकतावादी तथा मानवतावादी स्वरूप था। सही माने मे हिन्दू धर्म का यही स्वरूप निरन्तर बना रहा है और मनु ने उसे राज्य व्यवस्था के सन्दर्भ मे पर्याप्त सावधानी के साथ प्रस्तुत किया है। तत्कालीन राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध मे सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक राजनीति एव शासन-पद्धति का इतना विशद एव सागोपाग विवरण प्रस्तुत करके मनु न केवल अपने ही युग के अपितु युग युगो के एक महान् राजनीतिक विचारक सिद्ध होते हैं।

महात्मा गांधी
(1869 ई० से 1948 ई०)

परिचयात्मक

बीसवीं सदी के राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप—राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक का युग राजनीति में मुख्यतया चिन्तन का युग रहा है। इस अवधि के अधिकांश महान् विचारक सक्रिय राजनेता न होकर चिन्तक थे। उन्होंने विविध राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिपादन किया। परन्तु बीसवीं शताब्दी चिन्तन की अपेक्षा व्यवहार का युग कही जा सकती है। इस युग के अधिकांश राजनीतिक विचारक दार्शनिक एवं तत्ववेत्ता होने के साथ-साथ व्यावहारिक राजनेता भी रहे हैं। हीगल के आदर्शवाद को लेकर मुसोलिनी तथा हिटलर ने फासीवादी तथा नाजीवादी विचारधारा का प्रतिपादन करके अधिनायकवादी व्यवस्थाएँ कायम कीं। लेनिन, स्टैलिन, माओ आदि ने मार्क्स के दर्शन को कार्यरूप में परिणत करने के निमित्त साम्यवादी अधिनायकतन्त्रों को स्थापित किया और मार्क्स के दर्शन को अपने ढंग से विकसित एवं संशोधित किया है। विविध साम्यवादी विचारधाराओं को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में भी अनेक देशों में विभिन्न रूपों के आन्दोलन होते रहे हैं और आन्दोलनों के नेताओं ने अपने विचार भी उन्हीं रूप में व्यक्त किये हैं। दूसरी ओर राजनीति के विद्वानों ने अतीत काल के विचारकों की धारणाओं को लेकर राजनीति का शास्त्रीय अध्ययन करने की परम्परा अपनाई है। इस दृष्टि से बीसवीं सदी के राजनीति के अधिकांश विद्वान् विशुद्ध राजनीतिक चिन्तक न होकर सक्रिय राजनेता या राजनीतिशास्त्री रहे हैं।

यद्यपि प्राचीन भारत में राजनीतिक चिन्तन पर्याप्त मात्रा में विकसित था और कौटिल्य, मनु, शुक्र प्रभृति महान् विचारकों की कृतियाँ भारतीय राजनीति-शास्त्र की अनुपम रचनाएँ सिद्ध हुई हैं, तथापि हिन्दू राज्यों के पतन के पश्चात् भारत में ऐसे महान् राजनीतिक चिन्तकों का अभाव रहा, जिनकी रचनाओं को विशुद्धतया राजनीतिक चिन्तन का रूप दिया जा सके। ब्रिटिश शासन काल में जब अनेक भारतीय विद्वानों का पाश्चात्य शिक्षा, साहित्य तथा राजनीति के साथ सम्पर्क हुआ तो उनके विचारों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावनाएँ आने लगीं। परिणाम-स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन

प्रारम्भ हुआ। इस आन्दोलन की अवधि मे भारत के अनेक राजनेताओ तथा विद्वानों की रचनाओ मे राजनीतिक विचार पाये जाते हैं। इन्ही विद्वानो, चिन्तको तथा राजनेताओ की श्रेणी मे महात्मा गाधी (मोहनदास करमचन्द गाधी) भी अपना प्रमुख स्थान रखते हैं।

जीवन परिचय—गाधी जी का जन्म 1869 ई० मे काठियावाड के पोरबन्दर नामक स्थान मे एक सम्भ्रान्त वैश्य परिवार मे हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर लेने पर उच्च-शिक्षा के निमित्त उन्हे इग्लैण्ड भेजा गया। वहा वे पूर्णतया एक भारतीय तथा हिन्दू की भाति रहे। उन्होने अपने धर्म तथा सस्कृति को बनाये रखा। वहा से बैरिस्टर की उपाधि प्राप्त कर लेने पर वे भारत लौटे। भारत मे कुछ समय तक वे वकील का व्यवसाय करते रहे। इसी बीच दक्षिणी अफ्रीका मे एक भारतीय व्यावसायिक कम्पनी ने अपने एक मुकद्दमे मे वकालत करने के लिए गाधी जी को आमन्त्रण दिया। वही से गाधी जी का सक्रिय राजनीतिक जीवन प्रारम्भ हो गया। वहाँ गाधी जी के ऊपर सरकार की जाति तथा रग-भेद की घृणा भरी नीति का गहरा प्रभाव पडा। दक्षिणी अफ्रीका की गोरी सरकार एशियाई मूल के निवासियो के साथ जो अमानुषिक अत्याचार कर रही थी उन्हे युवक गाधी जी सहन नही कर सके। उनका प्रतिरोध करने के लिए गाधी जी ने जो सत्याग्रह आन्दोलन दक्षिणी अफ्रीका की सरकार के विरुद्ध छेड़ा, वह गाधी जी की सक्रिय राजनीति का सदैव एक अमोघ अस्त्र बना रहा। यह सत्य, अहिंसा तथा प्रेम पर आधारित आन्दोलन था। इस आन्दोलन ने वहा की सरकार को गाधी जी के समक्ष झुकने को विवश किया। इस सफलता को लेकर जब गाधी जी भारत लौटे तो प्रथम विश्व युद्ध छिड चुका था। देश मे राष्ट्रीय आन्दोलन पर्याप्त जोर के साथ चल रहा था। गाधी जी भी इसमे शामिल हो गये। यहा से लेकर मृत्यु पर्यन्त (1948 तक) गाधी जी का जीवन न केवल राष्ट्रीय आन्दोलन के एक सक्रिय सेनानी के रूप मे बीता, बल्कि इस आन्दोलन का नेतृत्व ही उनके ऊपर आ गया और आन्दोलन की सफलता प्राप्त कर लेने पर देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलाने तथा भारतीय जनता के लिए राष्ट्रपिता कहलाने का श्रेय उनको प्राप्त हुआ है। आन्दोलन की अवधि मे विदेशी शासको ने राष्ट्रीय एकता को नष्ट करने मे कोई कमी नही रखी थी। उन्होंने देश मे साम्प्रदायिकता का विष फैलाकर पृथक् मुस्लिम राष्ट्रीयता को बढावा दिया। अन्तत यद्यपि गाधी जी के सत्याग्रह के सम्मुख विदेशी सरकार को झुकना पडा और देश को पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के अतिरिक्त उसके पास और कोई चारा न रहा, तथापि उसने साम्प्रदायिकता के आधार पर देश के दो टुकडे करके ही चैन लिया। गाधी जी निरन्तर देश की एकता बनाये रखने तथा साम्प्रदायिक एकता तथा सद्भावना बनाये रखने के लिए प्रयत्न करते रहे। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी गाधी जी का यही कार्य-क्रम चलता रहा और इसी कारण उन्हे शहीद होना पडा।

स्वतन्त्रता आन्दोलन की अवधि मे गाधी जी को बार-बार जेल जाना पडा था। आन्दोलन का नेतृत्व करने के साथ-साथ उन्हें अपने साधनो की सत्यता पर भी

'यग इण्डिया' मे उनके लेख, समय-समय पर दिये गये उनके सार्वजनिक व्याख्यानो, नित्य प्रति प्रार्थना-सभाओ म उनके प्रवचनो तथा तत्कालिक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के रूप म उनके द्वारा ब्रिटिश शासको तथा अन्य नेताओ को लिखे गये पत्रो से प्राप्त होता है। आज के दिन गाधी जी के विचारो पर इतना अधिक साहित्य उपलब्ध हो चुका है, जिसकी गिनती नही करायी जा सकती।

चिन्तन-पद्धति

व्यावहारिक आदर्शवाद—गाधी जी केवल एक आन्दोलनकारी नेता ही नहीं थे, बल्कि वह एक महान् दार्शनिक भी थे। उनकी विचार-पद्धति की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होने सत्य, धर्म तथा नैतिकता के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उन्हे कोरे स्वप्नलोकी तथा भावनामूलक आदर्शों के रूप म नही छोडा, बल्कि उन्हे स्वय कार्यरूप म परिणत किया। इस दृष्टि म यद्यपि उन्हे एक आदर्शवादी विचारक कहा जा सकता है, तथापि उनका आदर्शवाद पाश्चात्य देशो के प्रत्ययवाद से भिन्न प्रकृति का है। गाधी जी की राजनीतिक विचारधारा को व्यावहारिक आदर्शवाद (Practical Idealism) कहना अधिक युक्ति-सगत होगा। साथ ही उनका दर्शन अपना विशिष्ट दर्शन है और उसकी जो विशेषताएँ हैं वे गाधी जी के जीवन तथा दर्शन से घनिष्टतया सम्बद्ध हैं। इसलिए गाधी जी की विचारधारा को 'गाधीवाद' के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

अहिंसा पर आधारित राजनीति—सच्चे अर्थ म गाधी जी केवल एक चिन्तक या राजनेता मात्र नहीं थे, बल्कि उन्हे एक कर्मयोगी कहना अधिक उपयुक्त है। ऐसे युग म जबकि विश्व के राष्ट्र दो भीषण विश्व-युद्धो से गुजर चुके थ, जिनमे आधुनिकतम अणु शस्त्रो, बमो आदि विघातक अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग होने लग गया था, गाधी जी ने दुनिया को सत्य तथा अहिंसा का पाठ पढ़ाया और उसकी वास्तविकता पर विश्वास दिलाया। उन्होन विश्व को यह प्रमाणित करके दिखाया कि ससार की सबसे महान् साम्राज्यवादी सत्ता को अहिंसा तथा प्रेम के द्वारा कैसे जीता जा सकता है। दूसरी बात उन्होन विश्व के राजनेताओ को यह बतायी कि जननेतृत्व करने वाले राजनेता को जनता के साथ अपने को आत्मसात करना चाहिए। कथनी तथा करनी के मध्य भेद नहीं होना चाहिए। गाधी जी के पास धन की कमी नही थी कि वे एक लगोटी मात्र पहनते, साधारण से साधारण आहार करते। यह उन्होने इसीलिए किया कि वे जिस विशाल भारतीय जनता का नेतृत्व कर रहे थे उसी की भाति अपना जीवन बनाना उन्होन अपना कर्त्तव्य समझा। विज्ञान तथा तकनीकी प्रगति के युग म उन्होंने चर्खे का प्रयोग, कुटीर उद्योगो के विकास आदि को महत्त्व दिया। इसका कारण यह था कि भारतीय सन्दर्भ मे ग्रामीण अर्थव्यवस्था हेतु उन्होंने इसे आवश्यक समझा। सक्षेप म, गाधी जी ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उन्हे अपने यथार्थ जीवन मे पूर्णतया व्यवहृत किया। यही उनके दर्शन का सार था।

गांधी जी के विचारों के स्रोत

(क) ईश्वर तथा धर्म पर विश्वास—ईश्वर तथा धर्म की सत्ता पर गांधी जी का अटूट विश्वास था। परन्तु उनका धर्म साम्प्रदायिकता से मुक्त अथच सार्वभौम मानवीय नैतिकता का धर्म था। वह सच्चे हिन्दू थे। हिन्दुत्व के अन्तर्गत अन्य धर्मों के विरुद्ध घृणा को कहीं भी स्थान नहीं दिया गया है। हिन्दू धर्म विवेक पर आधारित मानवतावादी धर्म है जिसमें पृथक्तावादी वर्जनशीलता तथा धर्मान्धता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। गांधी जी ने इसी रूप में हिन्दू धर्म को समझा। सत्य, अहिंसा तथा प्रेम गांधी जी के धर्म की आधारभूत धारणाएँ हैं। गांधी जी का विश्वास था कि साधन तथा साध्य में घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। जैसा साधन होगा वैसा ही साध्य भी होगा। अतः सत्य तथा अहिंसा को साधन मानकर जो भी कार्य किया जायेगा उसकी पवित्रता असंदिग्ध है। सामाजिक तथा राजनीतिक आचरणों में भी इन्हीं साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए। सत्य तथा अहिंसा के मध्य भी वे सत्य को उच्चतर स्थिति प्रदान करते हैं। उनका मत था कि सत्य के नाम पर अहिंसा का त्याग किया जा सकता है, परन्तु अहिंसा के नाम पर सत्य का नहीं।

सत्य—गांधी जी के मत से किसी आक्रामक का सामना करने के दो साधन हैं—सत्याग्रह तथा निष्क्रिय प्रतिरोध (passive resistance)। ये ऐसे साधन हैं जिनका प्रयोग पारस्परिक मतभेदों को दूर करने में भी किया जा सकता है। सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों को लाने में भी इन साधनों का सफल प्रयोग सम्भव है। परन्तु सत्याग्रह तथा निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर है। सत्याग्रह का आधार नैतिक है जिसका अर्थ है आत्मिक शक्ति की शारीरिक शक्ति पर प्रभुता। सत्याग्रह का प्रयोग वही व्यक्ति कर सकते हैं, जो वीर हैं, जिनमें दूसरे की हत्या किये बिना स्वयं अपने प्राण न्योछावर कर देने की शक्ति होती है और जिनमें दूसरों के विरुद्ध घृणा तथा द्वेष की भावना नहीं होती। सत्याग्रह गतिशील क्रिया है। इसके विपरीत निष्क्रिय प्रतिरोध में आत्मिक बल का अभाव रहता है। इसका स्वरूप नकारात्मक होता है। यह गतिहीन क्रिया है।

अहिंसा—अहिंसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है। यह तीन प्रकार की होती है—प्रथम अहिंसा वीर व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली प्रबुद्ध अहिंसा है जिसका आधार व्यक्ति का आन्तरिक विश्वास है। इसकी शक्ति नैतिक है। यह राजनीति के अतिरिक्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्ध रखती है। अहिंसा का दूसरा रूप निर्बलों की अहिंसा है। यह निष्क्रिय अथच विश्वसनीयता से रहित होती है। इसके प्रयोग में हिंसा की सम्भावना रहती है। इसमें भय का तत्त्व विद्यमान रहता है। अहिंसा का तीसरा रूप कायरों की अहिंसा है, जो पूर्णतया निष्क्रिय होती है। गांधी जी के मत से ऐसी अहिंसा निकृष्ट प्रकृति की होती है। कायरता तथा अहिंसा एक-दूसरे से उसी रूप में भिन्न हैं जैसे आग तथा पानी। कायरता से तो हिंसा श्रेष्ठतर है। इसीलिए कायरों की अहिंसा अप्राकृतिक, अमानवीय तथा प्रतिष्ठाहीन है। गांधी जी के मत में अहिंसा में उसी प्रकार असफलता का अभाव होता है जिस प्रकार हिंसा

मे सफलता का अभाव होता है। अहिंसा के पीछे आत्मिक बल होता है, इसलिए इसका प्रयोग समस्त जनसाधारण कर सकते हैं।

मानव स्वभाव—गाधी जी ने सत्य तथा अहिंसा को अपने राजनीतिक आदर्शों तथा व्यवहारो की आधारशिला बनाया। राजनीतिक विचारो के विकास मे गाधी जी के मानव स्वभाव के सम्बन्ध के निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण हैं। उनका कहना था कि मानव भलाई तथा बुराई दोनो का सम्मिश्रण है। वे इस बात पर विश्वास नहीं रखते कि प्रारम्भ मे मानव पूर्णतया सदाचारी और देव तुल्य रहा होगा। उनके मत से 'हम सभी (मानव) मूल रूप म सम्भवत निकृष्ट तथा निर्दयी रहे होगे।' जिस रूप मे हम आज के मानव को पाते हैं, उस रूप मे मानव दीर्घ अवधि से मन्थर विकास-क्रम से आया होगा। कोई भी मानव दोष रहित या देवता नही है। जिन मानवों को हम देव-तुल्य समझते हैं उनम यह गुण होता है कि वे अपने दोषो को समझते हैं और उन्हे दूर करने की क्षमता रखते हैं। गाधी जी का मत था कि दुष्ट से दुष्ट मनुष्य को भी सुधार के द्वारा उत्तम व्यक्ति बनाया जा सकता है। मानव आत्मा मे ईश्वर का वास होता है, इसलिए वह अन्य प्राणियो से श्रेष्ठतर है। आत्मा एक है, जो सब मानवो म विद्यमान रहती है। अतएव मानव एक विकासशील प्राणी है।

(ख) राजनीतिक वातावरण—गाधी जी की विचारधारा का दूसरा स्रोत तत्कालीन राजनीतिक वातावरण था। यद्यपि उनकी राजनीतिक विचारधाराएँ मुख्यतया भारतीय राजनीति के सन्दर्भ मे व्यक्त की गयी हैं, तथापि उनका दर्शन स्पष्टतया मानवतावादी है। उनकी विचारधाराएँ किसी भी राष्ट्र के राजनीतिक आचरण के सम्बन्ध म प्रयुक्त की जा सकती हैं। गाधी जी सच्चे अन्तर्राष्ट्रीयवादी थे। वह युग साम्राज्यवाद का युग था। यूरोपीय साम्राज्यवादी देशो ने ससार के अनेक देशो की जनता को अपनी राजनीतिक दासता के अधीन कर लिया था। इसी होड के परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी देशो के मध्य युद्ध छिड रहे थे। गाधी जी ने विविध राजनीतिक धारणाओं यथा स्वतन्त्रता, समानता, अधिकार, कर्तव्य, राष्ट्रीयता आदि का विवेचन केवल दार्शनिक चिन्तन की भाव-मूलक धारणाओ के रूप मे नही किया है, बल्कि तत्कालीन राजनीतिक वातावरणो के सन्दर्भ मे किया है। साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपने राष्ट्रीय उद्योगो तथा व्यवसायो के विकास के निमित्त जिस शोषण नीति को अपनाया था उसके विरुद्ध गाधी जी ने आर्थिक सिद्धान्तो को भी नये ढग से व्यक्त किया। गाधी जी के विचार जीवन के किसी निश्चित क्षेत्र तक सीमित न होकर एक समग्र राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक दर्शन का निर्माण करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे मानवतावाद के आधार पर उन्होने युद्धो का विरोध किया था। द्वितीय विश्व युद्ध छेडने वाले नेता हिटलर तथा मुसोलिनी को भी उन्होने निर्भीकता के साथ पत्र लिखकर उनकी युद्ध नीति की भर्त्सना की थी। द्वितीय विश्व युद्ध म जब इगलैण्ड ने भारतीय जनता की इच्छा के विरुद्ध भारत को युद्ध के एक पक्ष के रूप म घोषित किया तो गाधी जी ने उसका तीव्र विरोध करके राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को और अधिक उग्र बना दिया।

(ग) व्यक्तिगत अनुभव तथा पर्यवेक्षण—गाधी जी के समस्त विचारों का आधार उनका व्यक्तिगत अनुभवो पर निर्भर होना है। गाधी जी ने देश तथा विदेशो का भ्रमण करके वहाँ की परिस्थितियो का पूर्ण अध्ययन किया था। भारत मे राष्ट्र के एक सच्चे नेता होने के नाते उन्होने देश के कोने-कोने मे भ्रमण किया था। ग्रामीण जन समूहो का जितना व्यापक तथा यथार्थ अध्ययन उन्होने किया था, उतना किसी अन्य राष्ट्रीय नेता के द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है। समाज की एक-एक कमियो, बुराइयो तथा दोषो का अध्ययन करके उनके निराकरण के और समाज की सर्वांगीण उन्नति के ठोस उपायो का विवेचन गाधी जी के विचारो मे पाया जाता है। उनका दर्शन केवल राजनीतिक, दार्शनिक तथा प्रशासनिक बातो तक ही सीमित न होकर जीवन के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक आदि सभी पहलुओं को समाविष्ट करता है। सच्चे अर्थ म गाधी जी भारत की आत्मा थे। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि गाधी जी स्वय भारत थे और भारत की ग्रामीण तथा शहरी जनता की प्रतिमूर्ति थे। भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र मे उनका व्यावहारिक अनुभव तथा ज्ञान अपूर्ण नही था। अत स्वाभाविक है कि उनके विचार एक समग्र मानव जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(घ) अन्य प्रभाव—गाधी जी के राजनीतिक दर्शन को प्रभावित करने मे उनसे पूर्व के राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओ का प्रभाव भी था। राष्ट्रीय आन्दोलन के कुछ प्रमुख नेताओ का विशेष रूप से लोकमान्य तिलक तथा गोखले के विचारों का गाधी जी पर विशेष प्रभाव था। यद्यपि तिलक तथा गोखले के मध्य क्रमश उग्रवादी तथा उदारवादी होने के कारण आन्दोलन के कार्यक्रम मे मतभेद रहा था, तथापि गाधी जी ने दोनो के विचारो से प्रेरणा ली और अपनी विशिष्ट नीतियो को अपनाकर आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ मे लिया। निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि गाधी जी किस विशिष्ट पाश्चात्य या भारतीय विचार-पद्धति का अनुगमन करते हैं। वह एक ऐसे आदर्शवादी थे जिन्होने व्यक्ति की गरिमा को बनाये रखा। सही अर्थ मे न वे समाजवादी थे, न व्यक्तिवादी और न साम्यवादी। यद्यपि वे राज्य के अस्तित्व को बनाये रखना चाहते हैं तथापि उनका दर्शन अराजकतावाद का भी समर्थन करता है। वास्तव मे गाधी जी की अपनी विशिष्ट विचार पद्धति थी। उनके राजनीतिक विचार उनकी विशिष्ट विचारधारा का निर्माण करते हैं जिन्हें 'गाधीवाद' के अतिरिक्त अन्य किसी श्रेणी मे रखना अप्रामणिक है। गाधीवाद एक प्रकार का निगमनात्मक दर्शन है जो गाधी जी मे आध्यात्मिक चिन्तन पर आधारित है। वह एक ऐसा नैतिक दर्शन है जो मानवीय समानता, विश्व-बन्धुत्व तथा सामाजिक न्याय की धारणाओ पर आधारित है। इसकी अध्ययन पद्धति प्रयोगवादी (empirical) है। यह केवल चिन्तनात्मक विचारधारा नही है, अपितु गाधी जी के अनुभवो, पर्यवेक्षणो तथा सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक जीवन के तथ्यों पर आधारित है।

राजनीतिक आदर्श

(1) राज्य—(क) दार्शनिक अराजकतावाद—गाधी जी की राज्य सम्बन्धी

धारणा के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे या तो एक स्वप्नलोकी आदर्शवादी हैं या दार्शनिक अराजकतावादी। पाश्चात्य देशों मे कुछ अराजकतावादी विचारको (बाकूनिन, क्रोपोट्किन आदि) ने राज्य का विरोध उसी रूप मे किया था जिस रूप मे धर्म तथा पूंजी का। गाधी जी ने ऐसे राज्य का विरोध किया है जिसका आधार शक्ति से युक्त सगठन का होना हो। उन्होंने ऐतिहासिक, नैतिक तथा आर्थिक आधारो पर ऐसे राज्य का इसलिए विरोध किया है कि वह आत्मा-रहित यन्त्र की भाँति है। वह केन्द्रीकृत सगठन के रूप मे हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। वह मनुष्य की वैयक्तिकता का दमन करके प्रगति तथा विकास के मार्ग को अवरुद्ध करता है जिसमे *मानव जाति को बड़ा आघात पहुँचने की आशका रहती है। परन्तु गाधी जी राज्य समाप्ति नहीं चाहते। उनके मत से राज्य अहिंसा की राजनीतिक अभिव्यक्ति का* साधन है। समाज मे अनेक तत्त्व समाज-विरोधी प्रवृत्तियो का प्रदर्शन करते हैं। राज्य उन्हें उचित मार्ग पर लाने का साधन है। राज्य के अभाव मे हिंसात्मक अराजकता फैल जायेगी।

(ख) **रामराज्य की धारणा**—गाधी जी का आदर्श राज्य, पृथ्वी मे ईश्वर का अस्तित्व रखने वाली सस्था का रूप है। वह न तो सन्त अगस्टाइन का दैवी राज्य है जिसका प्रतिनिधित्व इस ससार मे ईसाई चर्च करता हो, और न हीगल की विचारधारा के अनुसार पृथ्वी म ईश्वर का प्रयाण है जिसकी चरम इति निरकुश राज्य के रूप में होती हो। गाधी जी का आदर्श राज्य उनकी धारणा का 'राम-राज्य' है। *गाधी जी राज्य की कानूनी प्रभुसत्ता की धारणा का समर्थन नहीं करते।* वे राज्य के रूप मे एक ऐसे राज्य-हीन लोकतन्त्र की स्थापना चाहते हैं जिसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन स्वत चालित तथा स्वत नियमित हो न कि किसी बाहरी कानून या अराजनीतिक शक्ति के द्वारा। ऐसे राजनीतिक समाज मे प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपना शासक होगा। उसमे न कोई राजनीतिक सत्ता होगी, न कोई शासक और न ही कोई शासित। इस दृष्टि से गाधी जी का रामराज्य एक प्रकार की 'प्रबुद्ध अराजक व्यवस्था' के रूप का होगा। 'ऐसा आदर्श राज्य वह समाज है जो अहिंसा पर आधारित है, जिसमे छोटे छोटे जन-समूह ग्रामो मे निवास करें और उनके सगठन तथा शान्तिपूर्ण अस्तित्व की प्रमुख शर्त ऐच्छिक सहयोग होगी।' ऐसे राज्य की *सरचना ऐच्छिक रूप से निर्मित जन समूहो की सघात्मक व्यवस्था होगी।* राज्य स्वय साध्य नही है। वह व्यक्ति को जीवन के विविध पहलुओं मे पूर्ण विकास करने का अवसर देने का साधन है। राज्य का उद्देश्य समस्त व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्राप्त करने का अवसर देना है। राज्य स्वय प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं है, बल्कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति सम्पूर्ण जनता मे निहित रहनी चाहिए। यदि राज्य के कानून तथा आदेश नागरिकों की नैतिक भावना को ठेस पहुँचाने लगें तो जनता द्वारा उनका विरोध किया जाना चाहिए। ऐसा करना नागरिको का अधिकार ही नहीं, अपितु कर्त्तव्य भी है। परन्तु विरोध पूर्णतया अहिंसात्मक ढग से किया जाना चाहिए, *अन्यथा समाज में अराजक दुर्व्यवस्था छा जायेगी। अराजकतावादियो की भाँति गाधी जी भी* यह मानते हैं कि 'अराजकता शक्ति का अभाव है न कि व्यवस्था का।' शुद्ध

अराजकता स्वय राज्य का अभाव नहीं है, बल्कि ऐसा व्यवस्थित समाज है, जिसका सगठन तथा सचालन पूर्णतया अहिंसा पर आधारित हो। ऐसे समाज मे राजनीतिक शक्ति का प्राय पूर्ण अभाव रहता है। वही राज्य पूर्ण है जिसमे कम से कम शासन किया जाता है।

(2) **सरकार—(क) पाश्चात्य ढंग के लोकतन्त्रो का विरोध**—गाधी जी की राज्य सम्बन्धी धारणा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे राज्य विरोधी नही है बल्कि हिंसा तथा बल प्रयोग पर आधारित राज्य की शासन-सत्ता के विरोधी हैं। उनका मत है कि केन्द्रीकृत शासन-व्यवस्था लोकतन्त्र का निषेध है। जब तक जनता चेतन या अचेतन रूप से शासन के कार्यकलापो मे सहमति नही देती तब तक लोकतन्त्र सम्भव नही हो सकता। गाधी जी की दृष्टि मे पाश्चात्य लोकतन्त्रो की सबसे बडी दुर्बलता उनमे ससदीय शासन-व्यवस्था का होना है, जिनमे प्रतिनिध्यात्मक शासन होने के कारण केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का बढना है। इनका सचालन दलगत राजनीति से होता है और उनमे पूँजीवादी प्रवृत्ति बनी रहती है। जनता को केवल निश्चित अवधि मे अपने प्रतिनिधि चुन लेने का अधिकार प्राप्त रहता है, न कि शासन मे सक्रिय भाग लेने का। गाधी जी ने कहा है कि 'निस्सन्देह यूरोपीय देशो मे जनता के हाथ मे राजनीतिक शक्ति रहती है, परन्तु स्वराज्य नही रहता।' उनमे जनता के स्वशासन की धारणा का नितान्त अभाव रहता है। दलगत राजनीति के कारण बहुसख्यक दल अल्पसख्यको के ऊपर स्वेच्छाचारी शासन करता है। यो तो गाधी जी मानते हैं कि लोकतन्त्र के सचालन मे शासन-कार्य बहुमत द्वारा ही सचालित हो सकता है, परन्तु वे इस धारणा के विरोधी हैं कि 51% व्यक्ति 49% व्यक्तियो की अवाछित ढग से उपेक्षा करें। ऐसे बहुमत का शासन न्याय पर आधारित नही कहा जा सकता। किसी समस्या के समाधान के लिए केवल सख्यात्मक बल पर्याप्त नही है। वास्तविक लोकतन्त्र मे अल्पसख्यको की राय के गुणात्मक स्वरूप को यथेष्ट स्थान प्राप्त होना चाहिए। ससदीय तथा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्रो मे यथार्थ जनमत की उपेक्षा की जाती है।

(ख) विकेन्द्रीकृत पचायती शासन व्यवस्था—लोकतन्त्र की सफलता के लिए गाधी जी ने विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनके लोकतन्त्री सगठन की आधारशिला ग्रामीण जन समूह है। गाधी जी ने एक बार कहा था 'बीस व्यक्ति केन्द्र म बैठकर लोकतन्त्र का सचालन नही कर सकते।' लोकतन्त्र की कार्यान्विति निम्नतम ग्राम स्तर से प्रारम्भ होनी चाहिए जिसमे ग्राम का प्रत्येक व्यक्ति जन समूह के सार्वजनिक मामलो के प्रबन्ध मे भाग ले सके। वास्तविक स्वराज्य थोडे से जन-नेताओ के द्वारा राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करने से नही मिलता। गाधी जी की धारणा के लोकतन्त्री शासन का आधार पचायती राज्य था, जिसके अन्तर्गत विभिन्न ग्रामीण जन समूह आत्म-निर्भर तथा स्वायत्तशासी शासनिक इकाइयो के रूप मे कार्य करें। उन्हें अपने स्थानीय जीवन के सचालन मे समस्त शासनिक शक्तियाँ (विधायनी, अधिशासनिक तथा न्यायिक) प्राप्त रहनी चाहिए। पचायती

शासन का आधार सहयोग है न कि कानूनी सत्ता। ग्रामीण जन समूहों की आर्थिक आत्म निर्भरता के लिए ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। ग्रामों का विदेशी कारखानों में बने माल से भर दिया जाना अनुचित है। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य तथा अहिंसा की धारणा पर पुनर्निर्मित ग्रामीण गणराज्य व्यवस्था वास्तविक लोकतन्त्र की परिचायक होगा। स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ केन्द्रीय शासन की अभिकर्ता मात्र न होकर वास्तविक स्वायत्तशासी निकाय हों। शासनिक संस्थाओं की उच्चोच्च शृंखला में प्रतिनिधित्व का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिससे विभिन्न स्तरों की संस्थाओं के मध्य सावयविक कड़ी बनी रहे। गांधी जी यह नहीं चाहते थे कि केन्द्रीय प्रादेशिक तथा जिला-स्तरों में कार्य करने वाली प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के सदस्य निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जायें प्रत्युत उच्च-स्तरीय सभा के लिए निम्न-स्तरों की सभाएं अपने प्रतिनिधियों को चुना करें। प्रत्येक स्तर की संस्था अपनी प्रादेशिक सीमा के अन्तर्गत अपने अधिकार क्षेत्र में पूर्णतया स्वायत्त-शासी होगी तो वहां वास्तविक स्वराज्य कहलायेगा।

(3) नागरिक अधिकार तथा कर्त्तव्य—व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास का अवसर प्रदान करने के लिए उसके वैयक्तिक अधिकारों को मान्यता देना अत्यावश्यक है। मानव होने के नाते सब व्यक्ति समान हैं। वैदानिक राजनीतिक प्रभुत्व के अन्तर्गत मानवीय समानता की रह सकना सम्भव नहीं है। बाह्य सत्ता की स्वेच्छा-चारिता का प्रतिरोध करने के लिए सत्याग्रह व्यक्ति का सबसे पुनीत अधिकार है। सर्वोच्च सत्ता ईश्वर की है न कि किसी मानव श्रेष्ठ राजनीतिक अधिकारी की। अतः सत्याग्रह एसा अधिकार है जिसके द्वारा व्यक्ति शासनाधिकारियों के उन आदेशों आज्ञप्तियों तथा कानूनों का विरोध कर सकता है जो उसकी आत्मिक चेतना के विरुद्ध हों। राजनीतिक समाज के अन्तर्गत व्यक्तियों के अधिकारों की मान्यता का आधार समानता की धारणा है। नागरिक अधिकारों के सम्बन्ध में जाति-पांति रंग आर्थिक स्थिति आदि के आधार पर भेद भाव करना न्यायसंगत नहीं है। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में वहां की सरकार के विरुद्ध इसी आधार पर सत्याग्रह किया था। भारत में ब्रिटिश सरकार ने भी नागरिक अधिकारों के सम्बन्ध में भेदभाव की नीति अपनायी थी और गांधी जी ने उसके विरुद्ध निरन्तर सत्याग्रह का अधिकार प्रयुक्त किया। गांधी जी के मत से भारतीय जनता का सबसे मुख्य अधिकार राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध युद्ध करना था। पूंजीवाद तथा नौकरशाही का विरोध भी नागरिक का प्रमुख नैतिक अधिकार है क्योंकि ये व्यवस्थाएँ शोषण तथा भेदभाव की नीति को जन्म देती हैं। किसी भी देश की जनता का सबसे महान राजनीतिक अधिकार स्वराज्य की प्राप्ति है। जनता में पारस्परिक प्रेम तथा सौहार्द्र उत्पन्न और व्यक्तित्व का विकास करने के लिए विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नागरिक का प्रमुख अधिकार है। गांधी जी की अधिकारों की धारणा सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित है, जिनके पीछे नैतिक बल सर्वोच्च है। यह धारणा पाश्चात्य देशों के उन सिद्धान्तवादी विचारकों की धारणाओं से बिल्कुल भिन्न है जिन्होंने प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को भावना

मूलक तर्कों के आधार पर व्यक्त किया है । गाधी जी द्वारा प्रतिपादित अधिकारो की धारणा का आधार मानवीय नैतिकता तथा उपयोगिता है ।

अधिकार एव कर्त्तव्य—गाधी जी अधिकारो को निरपेक्ष या अलध्य नहीं मानते । उनके ऊपर सबसे बडी मर्यादा कर्त्तव्य की है। प्रत्येक अधिकार के पीछे कुछ कर्त्तव्य भी हुआ करते है । उदाहरणार्थ, राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ राष्ट्र-सेवा नागरिक का प्रमुख कर्तव्य है । अधिकार का उद्देश्य मानव की उन शक्तियो का विकास करना है, जो मानव-समाज के हित को समूचे रूप मे लेती है । इस दृष्टि से अधिकार का क्षेत्र व्यक्तिगत हित न होकर सार्वजनिक हित होना चाहिए । इसी रूप मे अपने अधिकारो का प्रयोग करना नागरिको का परम कर्त्तव्य है ।

(4) **स्वतन्त्रता की नैतिक व्याख्या**—गाधी जी यह नही मानते थे कि स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता है । उनका मत था कि अप्रतिबन्धित स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता नहीं है । आधुनिक राज्यो मे नागरिको को विविध प्रकार की स्वतन्त्रताएँ सावैधानिक कानून द्वारा प्राप्त होती है जो स्वय स्वतन्त्रताओ पर प्रतिबन्धो की व्यवस्था भी करता है । गाधी जी के मत से स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा उस पर प्रतिबन्धो का आधार नैतिकता है । स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि समाज के हित मे व्यक्ति अपने हित का उत्सर्ग करे । स्वार्थपरता समाज के विनाश की द्योतक है । स्वतन्त्रता की प्राप्ति कष्ट भोगकर की जा सकती है । स्वराज नैतिक स्वतन्त्रता का द्योतक है । उसमे स्वार्थ-हित चिन्तन का अभाव है । नि स्वार्थ-कर्म तथा ऐच्छिक सेवा-भाव से समूचे समाज के हित मे कार्य करना स्वराज का आधार है । इसका प्रमुख लक्षण निर्भयता है । अत यही स्वतन्त्रता वास्तविक स्वतन्त्रता है, क्योकि इसका आधार नैतिक बल है न कि कानूनी बल । गाधी जी ने कहा है 'हम सबको ईश्वर का भय करना चाहिए, इसके द्वारा हम मनुष्य का भय करना भूल जायेंगे ।'[1] इन्हीं धारणाओ को लेकर गाधी जी ने स्वतन्त्रता के विविध रूपो को व्यक्त किया है -

(क) **राजनीतिक स्वतन्त्रता**—गाधी जी का मत था कि राजनीतिक पराधीनता स्वतन्त्रता का निषेध है । वह लोकमान्य तिलक की इस उक्ति को मानते थे कि 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मै उसे प्राप्त करके रहूँगा ।' अत राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है स्वराज्य की प्राप्ति । बिना इसकी प्राप्ति के मानव के कष्टो का निवारण नही हो सकता और स्वतन्त्रता के बिना उसका विकास असम्भव है । गाधी जी की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा बहुत कुछ अश मे रूसो की 'सामान्य इच्छा' तथा काट की 'नैतिक स्वतन्त्र इच्छा' की धारणा की भाँति है । उनका मत था कि सामान्य इच्छा की अवहेलना करने वाली सरकार अपने नाम को सार्थक नही कर सकती । सरकार का अस्तित्व शासितो के लिए है, न कि शासितो का अस्तित्व सरकार के लिए । भारत मे ब्रिटिश सरकार के अस्तित्व का अनौचित्य इसी आधार पर स्पष्ट होता है कि उसका उद्देश्य जनता का आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण करना है । गाधी जी ने कहा था कि 'मेरे स्वप्नो का स्वराज्य जातिगत या धर्मगत भेदभावो को किसी भी रूप मे मान्यता नही देता । शासन मे थोडे से धनी

[1] 'Let us fear God, and we shall cease to fear man'—M K Gandhi

तथा शिक्षित व्यक्तियों का एकाधिकार स्वराज की धारणा के विरुद्ध है।' स्वराज समस्त जनता का राज्य है। इसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति में आत्म-नियन्त्रण तथा अनुशासन का होना आवश्यक है। बिना आत्म-त्याग तथा कष्ट-साध्य आचरण के इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

गांधी जी जनता के राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। भारत में जब मुस्लिम साम्प्रदायिकता के कारण राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधा उपस्थित होने लगी और पृथक् पाकिस्तानी राष्ट्र की मांग प्रबल हुई तो गांधी जी ने मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना को लिखा कि 'भारतीय राष्ट्र का निर्माण करने वाले विभिन्न दलों तथा गुटों के लिए आवश्यक है कि यदि वे अपने राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के अधिकार का प्रयोग सफलतापूर्वक करना चाहते हैं तो उनकी सबसे प्रथम शर्त यह है कि उन्हें अपनी सम्मिलित शक्ति द्वारा इस कार्य को करना चाहिए।'

(ख) नागरिक स्वतन्त्रता—व्यक्ति के आत्म-विकास के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है। व्यक्ति की वैयक्तिक *स्वतन्त्रता (freedom of person) अलंघ्य है। शासनाधिकारियों को किसी व्यक्ति* के शरीर को छूने का अधिकार तब तक नहीं है, जब तक कि वह हिंसात्मक कार्यों द्वारा सार्वजनिक शान्ति को भंग करने का दोषी न पाया जाय। स्वराज की प्राप्ति के लिए विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है। गांधी जी ने अंग्रेजों की नीति का उपहास करते हुए कहा है कि 'अंग्रेज जाति अत्यधिक स्वतन्त्रता-प्रेमी है। अंग्रेज *अपने देश में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर संघर्ष करते हैं, परन्तु भारतीय* जनता को इस पवित्र अधिकार से वंचित रखना चाहते हैं।' नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति को सरकार बन्दी करती है, तो उस व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए कि वह कानूनी सलाहकार की सहायता से अपने ऊपर लगाये गये *आरोपों का निराकरण करा सके।* नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए विधि का शासन प्रमुख आवश्यकता है।

(ग) आर्थिक स्वतन्त्रता—आर्थिक स्वतन्त्रता से गांधी जी का अभिप्राय यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार मिले। काम के लिए समुचित पारिश्रमिक मिले और समाज में उत्पादित वस्तुओं का वितरण समानता के आधार पर हो। उनका मत था कि आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है।

(5) समानता तथा न्याय—गांधी जी की धारणा में रामराज्य की आधार-शिला स्वतन्त्रता, समानता, न्याय तथा निर्भयता हैं। जिस राज्य में नागरिकों को *इनकी प्राप्ति की गारण्टी नहीं है, वह सच्चा लोकतन्त्र नहीं हो सकता, न वहाँ* स्वराज कायम हो सकता है। मानव होने के नाते सब व्यक्ति समान हैं। जन्म, वंश, जाति, धन आदि के आधार पर एक व्यक्ति को दूसरे से श्रेष्ठतर नहीं माना जा सकता। यही बात राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। एक राष्ट्र को बलात् दूसरे राष्ट्र पर अपना आधिपत्य कायम करने का कोई अधिकार नहीं है। यूरोपीय

राष्ट्रों का अफ्रीदियाई राष्ट्रों के ऊपर इस बहाने से कि यह गोरे लोगों का दायित्व (white man's burden) है, राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने का कोई नैतिक आधार नहीं है। उनकी शोषण नीति के कारण उनके शासन को सहन करना काले लोगों का दायित्व (black man's burden) हो चुका है। यह सामाजिक न्याय नहीं है बल्कि हिंसा है। न्याय का आधार समानता है। जहाँ समानता नहीं रहती और विभिन्न आधारों पर व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य भेदभाव बरता जाता है, वहाँ न्याय का अस्तित्व असम्भव है।

(6) **शासनिक व्यवस्था**—गाधी जी द्वारा समर्थित शासन व्यवस्था सत्य, अहिंसा तथा न्याय पर आधारित एक सुधार की व्यवस्था है। वे इस सिद्धान्त को तो मानते हैं कि 'सर्वोत्तम शासन वह है जो कम से कम शासन करता है।' परन्तु इस बात को नहीं मानते कि 'शासन का सर्वोत्तम रूप शासन का न होना है।' उनका यह विश्वास था कि सामाजिक जीवन में कुछ कार्यों के लिए राजनीतिक एवं शासनिक सत्ता का होना अपरिहार्य है। परन्तु एक सच्चे लोकतन्त्र में जनता को राज्य के हस्तक्षेप के बिना ही अपने सार्वजनिक कार्यों का सम्पादन स्वयं कर लेना चाहिए। आदर्श राज्य या रामराज्य कोई दैवी व्यवस्था नहीं है। बल्कि इसमें भी बहुधा अनेक व्यक्ति हिंसक कार्य करने को प्रेरित हो जाते हैं और वे दूसरों की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देते हैं। अत ऐसे हिंसक तत्वों का दमन करने के लिए शासन की बल-प्रवर्ती शक्ति की आवश्यकता पड़ती है।

शासन का सर्वोत्तम स्वरूप—गाधी जी शासनों के परम्परागत रूपों तथा वर्गीकरणों का विवेचन नहीं करते। उनका आदर्श रामराज्य है जो न संसदीय शासन प्रणाली है न अध्यक्षात्मक, न सघात्मक है और न एकात्मक। वह एक ऐसी लोकतन्त्री व्यवस्था है जिसका आधार सत्य, अहिंसा, न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा मानवतावाद है। वह ऐसी धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था है, जिसमें ईश्वर की सत्ता को पूर्ण मान्यता दी जाती है। कोई भी परम्परागत शासन-प्रणाली इन सिद्धान्तों का अनुगमन करके सर्वोत्तम बन सकती है। अत यह नहीं कहा जा सकता कि कोई विशिष्ट परम्परागत शासन-प्रणाली दूसरी से उत्तमतर होती है। गाधी जी ऐसे लोकतन्त्र का समर्थन करते हैं, जिसका आधार आध्यात्मिकता है और जिसकी शक्ति के स्रोत अहिंसा, सहिष्णुता, कर्तव्य-परायणता, शिक्षा तथा सादगी का जीवन है। यह गुण सम्पूर्ण जनता में होने चाहिए।

प्रशासनिक सुधार—गाधीवाद मुख्यतया एक सुधारवादी दर्शन है। गाधी जी ने सामाजिक जीवन की अनेक बुराइयों को दूर करने के लिए रचनात्मक सुधारों की व्यवस्था बतायी है। उनका मत था कि मानव जीवन के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि विभिन्न पक्ष एक दूसरे से पृथक् नहीं है, बल्कि वे एक समग्र मानव-जीवन का निर्माण करते हैं। अत सुधार कार्य किसी एक क्षेत्र तक सीमित न रहकर सब क्षेत्रों में साथ-साथ सामंजस्यपूर्ण ढग से चलाने चाहिए। राज्य का कार्य शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखना है, जिसके लिए शासन पुलिस का प्रयोग करता है। परन्तु पुलिस का कार्य जनता में भय उत्पन्न करना नहीं है। पुलिस में

ऐसे व्यक्तियो की नियुक्ति की जानी चाहिए जो अहिंसा पर विश्वास रखते हो। उनमे जनता का सेवक होने की भावना होनी चाहिए ताकि कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने मे वे जनता की सहायता करें और जनता की सहायता ले सकें। उन्हे अस्त्रो का प्रयोग न्यूनतम मात्रा मे केवल डाकुओ, लुटेरो, तथा अमानुषिक आचरण करने वाले तत्त्वो को नष्ट करने के लिए करना चाहिए। जनता का भी कर्त्तव्य है कि ऐसे तत्त्वो को नष्ट करने मे वह पुलिस की सहायता करे। गाधी जी सुधारात्मक दण्ड सिद्धान्त के समर्थक थे। उनके मत मे अपराधी को ऐसी परिस्थिति के अन्दर रखा जाना चाहिए, जहाँ उसे अहिंसात्मक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिले। जेलो का वातावरण ऐसा हो, जहाँ बन्दी को अपना नैतिक चरित्र सुधारने की शिक्षा प्राप्त हो सके। समाज का वातावरण भी ऐसा बनाया जाय जिसके अन्तर्गत सम्भावित अपराधी को अपराध करने का अवसर ही न मिले। कारागारो मे अपराधियो को अनेक प्रकार के उद्योग-शिल्प सिखाये जायें ताकि वहाँ से मुक्त होने पर वे अपनी आजीविका के साधन सुगमता से प्राप्त कर लें।

न्याय—गाधी जी भारत मे ब्रिटिश शासको द्वारा अपनायी गयी न्याय-पद्धति के विरोधी थे। ऐसी पद्धति मे न्याय प्राप्त करना अत्यन्त दुरूह, जटिल, व्ययशील तथा अनावश्यक रूप से विलम्बकारी होता था। इस पर भी व्यक्ति को सही न्याय मिल जाने की कोई गारण्टी नही थी। ग्रामीण जनता के लिए गाधी जी ने पचायती न्याय-व्यवस्था का समर्थन किया था। न्यायालयो मे वकील प्रथा से होने वाले दोषो का निराकरण करने के लिए उन्होने यह व्यवस्था बतायी थी कि वकीलो का शुल्क निश्चित कर दिया जाय। वे वादी-प्रतिवादियो के मार्ग-दर्शन का कार्य करें ताकि न्यायिक प्रक्रिया से अनभिज्ञ व्यक्तियो को न्याय प्राप्त करने मे सहायता मिल सके। गाधी जी का कहना था कि न्यायालय सगठन के उच्चतम क्रम मे मध्यवर्ती न्यायालयो की सख्या कम की जानी चाहिए, ताकि न्याय प्राप्त करने मे प्रक्रिया की जटिलता तथा विलम्ब का सामना न करना पड़े।

शिक्षा—गाधी जी ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित शिक्षा पद्धति के भी विरोधी थे। उनके मत से वह पद्धति आत्मा रहित थी। वह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास तथा उसे समुचित आजीविका प्रदान करने मे असमर्थ थी। इसका उद्देश्य विदेशी शासको को निम्न-स्तरीय शासनिक कार्य चलाने वाले कर्मचारी प्राप्त करना मात्र था। वह व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक एव चारित्रिक विकास के लिए अनुपयुक्त थी। वह शिक्षार्थी मे मौलिक चिन्तन की प्रेरणा उत्पन्न करने मे असमर्थ थी। भारत मे व्याप्त निरक्षरता को दूर करने के लिए विदेशी सरकार ने कोई प्रयास नही किया था। विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देना राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग मे बाधा है। अत गाधी जी का ध्यान प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था मे सुधार की ओर गया। गाधी जी की 'बेसिक शिक्षा योजना' शिक्षा सुधार के क्षेत्र मे उनकी अपूर्व देन है। इसका मुख्य उद्देश्य विविध पाठ्य विषयो का ज्ञान किसी स्थानीय दस्तकारी को केन्द्रीय मानकर कराना था। विभिन्न पाठ्य विषयो, भाषा, गणित, सामाजिक ज्ञान, प्रकृति-विज्ञान आदि को मूलभूत दस्तकारी के साथ

सह-समन्वय स्थापित करके पढाया जायगा तो उससे छात्रो को न केवल पढने मे अभिरुचि उत्पन्न होगी, अपितु विविध विषयो का ठोस ज्ञान भी प्राप्त होगा। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए। गाधी जी की बेसिक शिक्षा योजना का उद्देश्य शिक्षा को स्वावलम्बी बनाना था, ताकि हस्तकला का विकास इस मात्रा मे हो सके कि छात्र उत्पादित वस्तु की बिक्री से अपनी शिक्षा का व्यय स्वय अर्जित कर सकें। *पाठयक्रम के अन्तर्गत ऐसी विषय वस्तु शामिल की जानी चाहिए* जिसके द्वारा विद्यार्थियो म जातीयता, साम्प्रदायिकता, धार्मिक असहिष्णुता तथा उग्र राष्ट्रवाद की भावनाएँ जागृत न होने पायें।

गाधी जी के आर्थिक विचार

आर्थिक विचारो का आधार—गाधी जी यह मानते थे कि राज्य की अर्थ-व्यवस्था उसकी राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करती है। उन्होने यह अनुभव किया कि आधुनिक मशीनो के युग मे विशाल कारखानो, यातायात के साधनो तथा यन्त्रो ने श्रमिक वर्ग को बडा धक्का पहुँचाया है। श्रम का स्थान मशीनो ने लेकर श्रमिको मे बेकारी को बढा दिया है। उत्पादन प्रक्रिया मे अत्यधिक केन्द्रीकरण हो जाने से उत्पादित वस्तुओ के वितरण की समस्या जटिल हो गई है। इस व्यवस्था ने शोषण को बढा दिया है। पूँजीपति मजदूरो का तथा औद्योगिक राष्ट्र पिछडे राष्ट्रो का शोषण करते हैं। परिणामस्वरूप धन का थोडे से व्यक्तियो के हाथ में केन्द्रीकरण हो जाने से विशाल जन समूह निर्धन होता जाता है। इसके कारण अनेक असामाजिक तत्त्वो तथा नफाखोरी, जमाखोरी, सट्टेबाजी, धोखाधडी आदि की उत्पत्ति होती है। अन्तत यह छोटा सा पूँजीपति वर्ग राजनीतिक सत्ता पर प्रभावी हो जाता है। ऐसी दशा मे लोकतन्त्र नहीं रह सकता। इसीलिए गाधी जी विशाल पैमाने पर केन्द्रीकृत औद्योगीकरण के पक्ष मे नही थे। परन्तु वे यह मानते थे कि उद्योग-धन्धो को नये वैज्ञानिक आविष्कारो का लाभ उठाना चाहिए। अत बिजली, भाप तथा छोटी छोटी मशीनो के प्रयोग को रोकना वाछनीय नही है। यह ऐसे साधन हैं जो व्यक्ति की कार्य क्षमता को बढाते हैं, इनसे समय तथा श्रम की बचत होती है। गाधी जी सिलाई मशीन, घड़ी आदि ऐसे यन्त्रो को बहुत लाभकारी समझते थे। उनके विचार से व्यक्ति को मशीनो का लाभ उसी सीमा तक उठाना चाहिए जहाँ तक कि वे उसे अपना दास न बना लें और उसमे अकर्मण्यता लाने मे सहायक सिद्ध न हो।

औद्योगिक नीति—भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था के निमित्त गाधी जी ने कुटीर उद्योगो के विकास पर बहुत जोर दिया था। खादी तथा चरखे के उपयोग को उन्होने सर्वाधिक महत्व प्रदान किया था। उनके स्वदेशी आन्दोलन का अभिप्राय यह था कि लोग अपने देश की बनी वस्तुओ का उपयोग करके अपने देश के श्रमिको तथा शिल्पियो की सेवा करेंगे। इसका उद्देश्य विदेशों से घृणा करना नही था। उनका मत था कि मनुष्य मे मानव मात्र की सेवा करने की शक्ति सीमित होती है। अत मनुष्य को चाहिए कि पहले वह अपने निकटतम पडोसियो की सेवा करे। हाथ से बनी वस्तुओ के प्रयोग को महत्व देने का अर्थ था श्रमिको की सेवा करना, जबकि

मशीन से बनी वस्तु का प्रयोग करने का अर्थ है शोषक पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाना।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण या व्यक्तिगत स्वामित्व—गांधी जी की अर्थव्यवस्था में समाजवादी धारणाओं का समावेश नहीं है। समाजवाद उत्पादन तथा वितरण के समाजीकरण तथा राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्तों को मानता है। गांधी जी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण को इसलिए उचित नहीं मानते थे कि उसके कारण राज्य की शक्ति को बढ़ावा मिलता है, जो अन्ततोगत्वा हिंसा को जन्म देता है और उसके कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। अतः गांधी जी उद्योगों में व्यक्तिगत स्वामित्व की नीति के समर्थक थे। परन्तु वे उन्मुक्त प्रतियोगिताजन्य व्यक्तिगत प्रयास का समर्थन नहीं करते। उनके मत से कारखानों तथा मशीनों के मालिक इन्हें जनता की सम्पत्ति तथा अपने को उनके संरक्षक मात्र समझें। मालिक कारखानों के प्रबन्धकों की भाँति रहें न कि शोषकों के रूप में। यह गांधी जी का प्रन्यास का सिद्धान्त कहलाता है। परन्तु यदि मालिक शोषण-नीति अपनाने लगें तो तब कारखानों का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए।

कर नीति—कर-व्यवस्था के सम्बन्ध में गांधी जी का मत था कि यथासम्भव कर मुद्रा के रूप में एकत्र न किया जाय, बल्कि श्रम के रूप में लिया जाय। इससे कर-दाताओं में राष्ट्र तथा समाज-सेवा की भावना विकसित होगी। साथ ही ऐसी व्यवस्था द्वारा रुपये-पैसे का लेखा जोखा रखने की जटिल प्रक्रिया से भी छुटकारा मिलेगा। इसका प्रत्यक्ष लाभ स्थानीय जनता को होगा। वर्तमान कर-व्यवस्था में कर दाताओं को अपने द्वारा दिये गये करों का प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नहीं होता।

सम्पत्ति तथा परिवार—गांधी जी व्यक्तिगत परिवार तथा सम्पत्ति का समर्थन भी नैतिकता की दृष्टि से करते हैं। परिवार का नैतिक आधार ब्रह्मचर्य तथा संयम का जीवन व्यतीत करना है, न कि काम-वासना की तृप्ति मात्र। परिवार में पति-पत्नी के मध्य ऐसा सम्बन्ध रहना चाहिए जैसा कि भाई-बहिनों के मध्य होता है। व्यक्ति को निजी सम्पत्ति उतनी ही मात्रा में संचित करनी चाहिए जितनी उसकी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वांछनीय हो। भविष्य की चिन्ता करते हुए सम्पत्ति का अंधाधुंध अर्जन मानव को नैतिक पतन की ओर ले जाता है।

सामाजिक विचार

सामाजिक सुधारों की पृष्ठभूमि—*गांधी जी से पूर्व अनेक महापुरुषों यथा राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, तिलक, गोखले आदि ने यह अनुभव किया था कि भारतीय समाज में अनेक बुराइयाँ आ चुकी हैं, जिनका निराकरण किया जाना आवश्यक है। परन्तु इनमें से कुछ सुधारकों का दृष्टिकोण यह था कि बिना राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त किये समाज-सुधार का कार्य सम्भव नहीं है। अतः पहला कार्य स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। इसके विपरीत कुछों की धारणा यह थी कि राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति तभी सफल तथा सम्भव हो सकेगी जबकि पहले सामाजिक सुधार किये जायें। गांधी जी का दृष्टिकोण इन दोनों धारणाओं से भिन्न था। वे समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन दोनों को एक साथ*

चलाना आवश्यक समझते थे। उनकी धारणा यह थी कि जब तक सामाजिक जीवन की बुराइयो का अन्त नही कर लिया जाता, तब तक स्वराज्य की प्राप्ति सम्भव नही है। हिन्दू समाज मे वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक दोष आ चुके थे। छुआछूत की भावना सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता के मार्ग की सबसे बडी बाधा थी। साम्प्रदायिकता तथा धार्मिक भेदभाव भी राष्ट्रीय एकता को नष्ट कर रहे थे। हिन्दू समाज मे बाल-विवाह तथा बहु-विवाह की प्रथाओ ने महिला-वर्ग की स्थिति को बहुत शोचनीय बना रखा था। इन सब बुराइयो का निराकरण करना आवश्यक था।

वर्ण-व्यवस्था का समर्थन—वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध मे स्वामी दयानन्द सरस्वती सदृश महापुरुषो का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण नही था। परन्तु गाधी जी इस व्यवस्था का समर्थन वैज्ञानिक आधार पर करते हैं। वे इसे सामाजिक सरचना के लिए वाछनीय मानते थे। कुछ सुधारको का मत यह था कि वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्मगत न होकर कार्यगत होना चाहिए। परन्तु गाधी जी जन्मगत आधार पर वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हैं। उनका मत था कि वशानुक्रम एक शाश्वत नियम है। व्यक्ति को अपने पैतृक कार्य करने चाहिए। यदि वह उनसे विमुख होता है तो सामाजिक अव्यवस्था फैल सकती है, जिससे मनुष्य नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति नही कर सकेगा। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच की धारणा नही बताती। एक शूद्र तथा भगी के कार्य का महत्त्व उतना ही ऊँचा है जितना कि एक ब्राह्मण पडित का। राजनीतिक क्षेत्र मे प्रत्येक वर्ग के लोगो को समान समझा जाना चाहिए।

अस्पृश्यता निवारण—गाधी जी सवप्रथम सुधारक थे जो कट्टर हिन्दू तथा वर्ण-व्यवस्था के समर्थक होते हुए भी छुआछूत के घोर विरोधी थे। उस काल मे अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का एक महान् कलक होने के साथ साथ राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे बडी बाधा बन चुकी थी। गाधी जी ने इसे समाप्त करने के लिए ठोस रचनात्मक कदम उठाये। कट्टर हिन्दू होते हुए भी उन्होने यह घोषणा की कि यदि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अग है, तो वे ऐसे धर्म का परित्याग करने मे सकोच नही करेंगे। अछूत वर्गों को मन्दिर-प्रवेश तथा धर्म-ग्रन्थो का अध्ययन करने से रोकना, पूजा-पाठ का अधिकार न देना अन्याय है। गाधी जी ने इस वर्ग के लोगो को हरिजन कहा, और वे सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन मे उन्हे सवर्णों के समान अधिकार तथा सुविधाएँ प्राप्त कराने मे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। दूसरी ओर सवर्ण हिन्दुओ का हरिजनो के प्रति नया दृष्टिकोण निर्मित करने मे भी उन्होने अथक प्रयत्न किया। उन्होने सवर्णों को शिक्षा दी कि वे हरिजनो के बच्चो को गोद लें। स्वय भी उन्होने एक अछूत बालिका को गोद लिया था। गाधी जी के अथक प्रयत्नो का ही परिणाम है कि आज देश मे सावैधानिक कानून द्वारा छुआछूत का अन्त कर दिया गया है। सार्वजनिक जलाशयो, हिन्दू मन्दिरो, सार्वजनिक सस्थाओ तथा स्थलो मे उनके प्रवेश को रोकना गैर-कानूनी है। उनकी सामाजिक स्थिति को उन्नत बनाने के लिए अभी तक यह सावैधानिक व्यवस्था है कि विविध प्रकार के सार्वजनिक राजकीय पदो मे उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे गये है। यद्यपि यह तो नही कहा जा सकता है कि अस्पृश्यता का पूर्ण रूप से अन्त हो गया है, तथापि इस दिशा मे जो

प्रगति हुई है वह भविष्य के लिए एक शुभ चिह्न है।

महिला सुधार—भारतीय महिला समाज के उत्थान के सम्बन्ध में गांधी जी के प्रयत्न सराहनीय थे। जिस प्रकार राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा को कानूनन बन्द कराने में तत्कालीन ब्रिटिश सरकार को सहायता दी थी, उसी प्रकार बाल-विवाह की प्रथा को कानून द्वारा समाप्त करने में गांधी जी ने भी बड़ा योगदान किया था। इसके अतिरिक्त पर्दा प्रथा, देव-दासी प्रथा, बहु-विवाह प्रथा आदि भी महिला समाज की दासता के चिह्न थे। गांधी जी ने इन सबको बन्द करने का अभियान जारी रखा। आज बहु-विवाह तथा देव-दासी प्रथा को कानून द्वारा बन्द कर दिया गया है। महिलाओं की शिक्षा पर जोर देना, उन्हें सार्वजनिक जीवन में पुरुषों के समान अधिकार देना तथा उनके जीवन पर अवांछनीय बन्धनों को रोकना कुछ ऐसे प्रयास थे जिनके फलस्वरूप आज हिन्दू महिला समाज की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है। इतना होते हुए भी गांधी जी ने महिलाओं के पारिवारिक उत्तरदायित्व को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

धर्म-निरपेक्षता—देश में साम्प्रदायिक एकता बनाये रखने के सम्बन्ध में गांधी जी का योगदान सबसे महान था। इसी हेतु उन्हें अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी थी। गांधी जी ने अनुभव किया कि विदेशी शासकों ने राष्ट्रीय एकता को निर्बल करने के लिए देश में धर्म के आधार पर साम्प्रदायिकता की भावना को उभारा है। यद्यपि गांधी जी हिन्दू थे तथापि अन्य धर्मों का आदर करना तथा धार्मिक सहिष्णुता को मानना उनका महान् आदर्श था। उनका विश्वास था कि विभिन्न धर्म ईश्वर तथा सत्य की प्राप्ति के विभिन्न मार्ग हैं। सभी धर्म सत्य हैं। कोई धर्म दूसरे से श्रेष्ठतर होने का दावा नहीं कर सकता। राष्ट्रीयता का आधार धर्म नहीं होता। विदेशी शासकों ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को इतना अधिक उभार दिया था कि मुसलमानों के एक वर्ग ने पृथक् राष्ट्रीयता के आधार पर पाकिस्तान की माँग की और यह माँग इतनी बढ़ गयी थी कि बिना देश-विभाजन के राष्ट्रीय स्वतन्त्रता असम्भव हो गयी थी। देश-विभाजन के परिणामस्वरूप भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए और गांधी जी जीवन के अन्तिम क्षणों तक भारत के अन्दर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न करते रहे। यह गांधी जी की शिक्षाओं तथा प्रयत्नों का ही फल है कि आज भारत में रहने वाले करोड़ों मुसलमान भारत में पाकिस्तान के अन्दर रहने वाले अधिकांश मुसलमानों की अपेक्षा अधिक सुरक्षा तथा सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत की धर्म-निरपेक्षता की नीति गांधी जी की शिक्षा का ही परिणाम है जिसके आधार पर भारत में रहने वाले विभिन्न धर्मावलम्बी एक राष्ट्र के रूप में हिन्दू बहुसंख्यक राष्ट्र के अन्तर्गत बिना किसी प्रकार के भय के रहते हैं और हर प्रकार की (सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक) सुविधाओं का स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग करते हैं।

गांधी जी तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद

गांधी जी केवल एक राष्ट्रवादी विचारक ही नहीं थे, अपितु वे एक सच्चे

मानवतावादी तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावादी भी थे। गाधी जी का राष्ट्रवाद उग्र, आक्रामक तथा विध्वसात्मक न होकर रचनात्मक तथा मानवतावादी था। उनका कहना था कि 'कोई व्यक्ति बिना राष्ट्रवादी हुए अन्तर्राष्ट्रीयतावादी नही हो सकता।' अत मनुष्य म मानवता के प्रति प्रम तभी हो सकता है जबकि उसम राष्ट्र प्रेम की भावना हो। सच्चा राष्ट प्रेम अन्य राष्ट्रो के प्रति घृणा करने से उत्पन्न नही हो सकता। गाधी जी कहा करते थे कि 'राष्ट्रवाद के सम्बन्ध मे मेरी धारणा यह है कि मानव जाति के अस्तित्व के हित म म अपने देश का विनाश हो जाने म सकोच नही करता। राष्टवाद के अतगत जातीय घृणा की धारणा को कोई स्थान प्राप्त नही है उनके मन से सामाजिक जीवन की प्रथम इकाई परिवार है। उसके पश्चात् उच्चोच्च क्रम म बिरादरी जाति गाव प्रदेश तथा राष्ट्र आते हैं, और अन्त म विश्व समाज आता है, जब तक निम्नतर स्तर मे मनुष्य सामाजिक एकता तथा पारस्परिक प्रम की भावना का विकास नही कर लेता तब तक यह सम्भव नही कि वह सामाजिक जीवन के उच्चतर क्षत्रो म इन धारणाओ को बना सकेगा। अत अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास के लिए राष्ट्रीयता की भावना का विकास आवश्यक है। घृणा तथा द्वेष की भावना पर आधारित राष्ट्रवाद अवाछनीय है। वह साम्राज्यवाद को जन्म देता है और अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का सूचक है।

गाधी जी यह मानते थे कि विभिन्न राष्ट्रो के मध्य स्वाधीनता या आत्म-निभरता की अपेक्षा अन्योन्याश्रितता की धारणा रहनी चाहिए। उन्हाने कहा है कि आज की विश्व की स्थिति का उच्चतर विचार यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे निरपेक्ष स्वतन्त्रता से युक्त एक दूसरे के साथ युद्ध की स्थिति मे रहने वाले राष्ट्रों के स्थान पर मैत्री की भावना से युक्त अन्योन्याश्रित राष्ट्रो के सघ का निर्माण किया जाय।' एक अहिंसात्मक राज्य को किसी बाहरी राष्ट्र के आक्रमण का भय नही रह सकता। यदि कभी कोई राष्ट्र आक्रमण करता भी है, तो आक्रान्त राज्य उसके साथ असहयोग तथा अहिंसात्मक प्रतिरोध की नीति अपनाये। आक्रमणकारी हृदय-हीन नहीं होता। उसे स्वय आक्रान्त राज्य की ऐसी नीति के सम्मुख झुकना पडेगा। अतएव प्रतिरक्षा के लिए सशस्त्र सेना रखने की आवश्यक्ता ही नही पडेगी। गाधी जी की अन्तर्राष्ट्रीयतावादी धारणा विश्व-बन्धुत्व की परिचायक है, परन्तु वह मध्ययुगीन यूरोपीय विचारको की सी सावभौमिकतावादी धारणा नही है। गाधी जी न कभी भी एक विश्व राज्य या एक सावभौम विश्व धम की कल्पना नही की थी। वे विविधता म एकता देखना चाहते थे। उनके मत से ससार मे विविध धर्म तथा राष्ट्रीयताएं परस्पर मैत्री तथा सदभावना के साथ जीवन व्यतीत करके अपना विकास करत रहे, तो उससे मानवता अधिक लाभान्वित होगी।

गाधी जी तथा मार्क्स

उन्नीसवी सदी तक जितनी भी राजनीतिक विचारधाराएँ पाश्चात्य देशो म प्रचलित थी उनम से किसी को भी गाधी जी ने पूणतया नही अपनाया। प्रत्युत् हर विचारधारा के अच्छे तत्त्व गाधी जी की विचारधारा म पाये जाते हैं।

उपयोगितावाद, आदर्शवाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद आदि सभी से न कुछ न कुछ गांधी जी ने लिया, परन्तु साथ ही इन विचारधाराओं के जिन बातों को उन्होंने अग्राह्य माना, उनका विरोध भी किया है। बीसवीं सदी के मार्क्सवाद की उन्होंने तीव्र भर्त्सना की थी यद्यपि समाजवाद के कुछ सिद्धान्त उन्हें मान्य हैं तथापि उन्हें समाजवादी भी नहीं कहा जा सकता। बीसवीं सदी की एक अन्य प्रमुख विचारधारा मार्क्सवाद पर आधारित साम्यवाद है। परन्तु गांधी जी इस विचारधारा से कदापि आंशिक रूप से ही सहमत हैं। वे साम्यवाद की धर्महीनता तथा हिंसात्मक क्रान्ति के औचित्य को स्वीकार नहीं कर सकते थे। कभी-कभी गांधी जी को 'हिंसा रहित साम्यवादी' कहा जाता है। परन्तु यह उतना वैसा ही है जैसे किसी [illegible] की को विष-रहित सर्प कहा जाय। गांधीवाद को हिंसारहित साम्यवाद कहना [illegible] अवांछित सरलीकरण करना है। वास्तव में गांधीवादी दर्शन, आदर्श, कार्यक्रम आदि कोई भी साम्यवाद या मार्क्सवाद से किसी रूप में मेल नहीं खाता। यदि साध्य उद्देश्यों में थोड़ी ही सादृश्यता हो परन्तु दोनों एक दूसरे से मौलिक भिन्नता रखते हैं।

मार्क्स तथा गांधी जी के विचारों में कुछ सीमा तक समानता है। दोनों ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें समस्त जनता प्रकृति द्वारा प्रदत्त सुविधाओं तथा मानव-श्रम एवं बुद्धि के उपक्रमों की सहभागी बन सके। दोनों ने मानव के श्रम की महत्ता को पर्याप्त स्वीकृति प्रदान की है। पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद का दोनों ने विरोध किया है। दोनों का उद्देश्य एक राज्यविहीन समाज की स्थापना करना था जिसमें सहयोगपूर्ण व्यवस्था द्वारा मानवीय समानता की धारणा को साकार करके व्यक्ति अपना श्रम जनता को समर्पित करें अर्थात समस्त समाज के हित में करते हुए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का किसी भी रूप में शोषण न हो।

इन उद्देश्यों की समानता के बावजूद मार्क्स तथा गांधी जी के विचारों के दार्शनिक आधार तथा साधनों में बड़ा गम्भीर अन्तर है। गांधी जी के दर्शन में ईश्वर तथा धर्म पर अटूट विश्वास रखते हुए आध्यात्मिकता पर सर्वाधिक बल दिया गया है, जबकि मार्क्सवाद ईश्वर तथा धर्म पर विश्वास न रखने वाला पूर्णतया भौतिकतावादी दर्शन है। दूसरा मुख्य अन्तर यह है कि मार्क्स वर्ग-संघर्ष पर विश्वास रखता है और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना मार्क्सवादी विचारधारा का लक्ष्य है। गांधी जी वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे और समाज के स्वस्थ विकास तथा सामाजिक संरचना की स्वस्थता के लिए वर्ण-व्यवस्था को उपयुक्त मानते थे। परन्तु उनके वर्णित समाज में शोषण या वर्ग-संघर्ष को कोई स्थान प्राप्त नहीं था, प्रत्युत वर्ण-व्यवस्था वर्ग-समन्वय की द्योतक थी। मार्क्स वांछित राज्य-व्यवस्था की स्थापना के लिए हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थन करता है, जबकि गांधी जी किसी भी रूप में हिंसा को सहन नहीं करते। मार्क्सवाद सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की व्यवस्था को अनिवार्य मानता है। परन्तु गांधी जी के राज्य का आदर्श सर्वथा लोकतन्त्री व्यवस्था है जिसका आधार स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय की धारणाएँ हैं। मार्क्स उत्पादन के समस्त साधनों का समाजीकरण या राष्ट्रीयकरण चाहता है, परन्तु

गाधी जी राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हैं। मार्क्स का प्रमुख साधन क्रान्ति है, जबकि गाधी जी शान्ति तथा सत्याग्रह के समर्थक हैं। मार्क्सवादी व्यवस्था म सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति अधिक है जबकि गाधी जी विकेन्द्रीकरण की नीति के समर्थक हैं। मार्क्सवादी व्यवस्था म व्यक्तिगत स्वतन्त्रता विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र आदि को कोई स्थान प्राप्त नही हो सका जैसा कि उससे प्रेरित साम्यवादी राज्यो म देखा जाता है। परन्तु गाधी जी उक्त आदर्शों को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। इस दृष्टि से मार्क्सवाद तथा गाधीवाद के मध्य मौलिक भेद हैं।

गाधी जी तथा समाजवाद

मार्क्सवाद की भाति समाजवाद से भी गाधी जी की विचारधाराएँ आशिक रूप मे ही सहमति रखती हैं। समाजवादियो की भाति गाधी जी भी व्यक्ति तथा समाज के मध्य अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मानते हैं। उनका भी मत है कि समाज से पृथक व्यक्ति का अस्तित्व सम्भव नही है। समाज मे रहकर ही व्यक्ति अपनी पूर्णता की प्राप्ति कर सकता है। स्वतन्त्रता समानता तथा लोकतन्त्र मे विश्वास गाधी जी तथा समाजवाद दोनो क आदर्श हैं।

इन समानताओ के अतिरिक्त अन्य बातो मे गाधी जी के विचार समाजवाद से भिन्न हैं। वे समाजवादियो की भाँति भौतिकवादी नही थ। समाजवाद विशेष रूप से राज्य समाजवाद राज्य को आवश्यक भलाई मानता है परन्तु गाधी जी की धारणा का आदर्श समाज राज्यहीन समाज है। उनके मत से राज्य हिंसा तथा बल प्रयोग पर आधारित है। परन्तु गाधी जी ने राज्य का विरोध उस सीमा तक नही किया है जिस सीमा तक साम्यवादी तथा अराजकतावादी करते है। गाधी जी के मत से असामाजिक तत्त्वो को दबाने के लिए राज्य आवश्यक है। परन्तु वह सर्वोच्च सत्ताधारी नही है। गाधी जी आर्थिक विचारो मे भी समाजवाद से भिन्नता रखते हैं। समाजवाद उत्पादन के साधनो पर समाज का नियन्त्रण रखना चाहता है। परन्तु गाधी जी इस नीति को नही मानते। वे कारखाने के व्यक्तिगत स्वामित्व तथा न्यास (Trusteeship) की धारणा पर जोर देते हैं।

गाधी जी के विचारो का मूल्याकन तथा प्रभाव

गाधी जी के राजनीतिक विचारो का मूल आधार उनकी सत्य तथा अहिंसा की धारणाएँ एव उन पर उनका अटूट विश्वास है। उन्होने इनके सम्बन्ध मे इतना अधिक कहा है कि उसके कारण कुछ बातें असगतिपूर्ण तथा अन्तर्विरोध उत्पन्न करने वाली भी लगती हैं। अहिंसा के सिद्धान्त की महत्ता को अति प्राचीन काल से अनेक ऋषि मुनि बताते आय हैं। गाधी जी ने जीवन के विविध क्षेत्रो म इसे प्रयुक्त करने पर जोर दिया है। अत कभी कभी यह भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि क्या उसका समुचित व्यवहार सम्भव भी हो सकेगा ? गाधी जी एक ओर मनुष्य की आत्मा मे ईश्वर के अश का अस्तित्व मानते हैं दूसरी ओर मनुष्य म अनेक मानवीय दुर्बलताओ के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। उनका कहना था कि अहिंसा का प्रयोग केवल

वीर तथा सयमी व्यक्ति ही कर सकते हैं। यह स्पष्ट नही है कि गाधी जी करोडो भारतवासियो द्वारा अहिंसा के प्रयोग की व्यावहारिकता पर कैसे विश्वास करते रहे होगे। गाधी जी की धारणा यह भी थी कि कायरो तथा असयमी व्यक्तियो को हृदय-परिवर्तन द्वारा नैतिकता के मार्ग मे लाया जा सकता है। यदि यह बात सही है तो क्या अन्यायी विदेशी शासको का हृदय परिवर्तित नही किया जा सकता था? उनके विरुद्ध सत्याग्रह करने की आवश्यकता क्यो पडी? क्या पाकिस्तान की माँग करने वालो का हृदय परिवर्तित करके देश के विभाजन को नही रोका जा सकता था? यह मानना सही नही है कि अग्रेज लोगो ने सत्ता इसलिए छोडी कि उनका हृदय-परिवर्तन हो गया था। गाधी जी यह कहते थे कि अहिंसा का प्रयोग निर्बल नही कर सकते। तो क्या उन्हें विश्वास था कि भारतवासी इतने सबल है कि वे इस साधन को उचित ढग से प्रयुक्त कर लेंगे? अहिंसा की धारणा भारत मे प्राचीन काल से ही मानी जाती रही थी। परन्तु इतिहास इस सत्यता की पुष्टि नही करता कि समस्त या अधिकाश राजनीतिक परिवर्तन अहिंसा द्वारा ही सफल हुए हैं। तथ्य तो यह है कि इन परिवर्तनो मे हिंसा की न्यूनाधिक मात्रा बनी रही है। इस दृष्टि से गाधी जी की अहिंसा की धारणा को एक निरपेक्ष सत्य मान लेने मे कठिनाई उत्पन्न होती है।

परन्तु उपर्युक्त तर्कों के बावजूद यह भी मानना पडेगा कि गाधी जी ने सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्त को अधिकाधिक प्रभावशाली सिद्ध किया है। उनकी इस शिक्षा ने भारतवासियों मे अभूतपूर्व चेतना जागृत की। उस काल म ब्रिटिश शासन भारत मे इतना सुदृढ हो चुका था कि हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा उसका प्रतिरोध कर सकना असम्भव था। गाधी जी के अहिंसात्मक सत्याग्रह म लोकतन्त्री धारणा विद्यमान थी, जिसने न केवल भारतवासियो मे ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व की जनता मे साम्राज्यशाही के विरुद्ध एक नई चेतना उत्पन्न की। भारत म यह साधन पर्याप्त शक्तिशाली तथा प्रभावकारी सिद्ध हुआ। इसके बढते हुए प्रभाव से विदेशी सत्ता को यह भय हो गया कि यदि वे अधिक अवधि तक दमन-चक्र चलाते रहेंगे तो कालान्तर मे यह अहिंसात्मक आन्दोलन हिंसात्मक रूप धारण कर सकता है, जिसका दमन करना उनके लिए असम्भव तथा घातक सिद्ध होगा। गाधी जी की शिक्षाओ ने भारतवासियो के मनोबल को उच्च किया। उनमे नये उत्साह, स्फूर्ति तथा चेतना की वृद्धि हुई और जनता ने उन्हे अपना अनन्य नेता स्वीकार करके उनकी शिक्षाओ द्वारा स्वतन्त्रता आन्दोलन को सफल बनाया। अनेक अवसरो पर गाधी जी ने यह सिद्ध करके दिखाया कि अन्याय तथा अत्याचार का दमन अहिंसात्मक सत्याग्रह के द्वारा अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकता है न कि हिंसात्मक प्रतिरोध के द्वारा। उनका विश्वास था कि हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है। यदि हिंसात्मक साधनो द्वारा अन्यायी के विरुद्ध किया गया प्रतिरोध असफल हो जाए तो वह अन्यायी अपने प्रतिरोधियो को और अधिक सतायेगा। इस प्रकार निरन्तर हिंसा का वातावरण बना रहेगा। अत अन्याय का दमन करने के लिए अहिंसात्मक सत्याग्रह सबसे पहला चरण है। गाधी जी की यह धारणा पर्याप्त व्यावहारिक है।

गांधी जी की रामराज्य की धारणा कुछ दृष्टियों से एक स्वप्नलोकी आदर्श को प्रतीक है। गांधी जी ने ऐसी आदर्श-व्यवस्था की स्थापना के निमित्त कोई ठोस उपाय नहीं बताये। सत्य तथा अहिंसा के भावनामूलक आदर्शों पर आधारित राम-राज्य की धारणा एक स्वप्नलोकी धारणा ही लगती है। गांधी जी द्वारा समर्थित अर्थव्यवस्था भले ही भारतीय ग्रामीण जन समूहों के लिए कुछ अंश में उपयुक्त हो, परन्तु व्यापक क्षेत्र में बीसवीं सदी के वैज्ञानिक विकास पर आधारित औद्योगिक युग के राज्यों के लिए वह व्यवस्था बहुत उपयोगी नहीं प्रतीत होती। वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास के युग में भारी औद्योगीकरण की नीति को न मानना और कुटीर उद्योग-धन्धों के विकास को ही अधिक महत्त्व देना देश की अर्थव्यवस्था के लिए बहुत लाभकारी नीति नहीं कही जा सकती। वैज्ञानिक यन्त्रों मशीनों, यातायात के साधनों आदि ने बेकारी बढ़ायी है, ऐसा मानना बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। इनसे मनुष्य के श्रम तथा समय की बचत हुई है जिसे वह अन्य कार्यों में लगा सकता है। शक्ति के नये साधन उत्पादन-क्षमता तथा उत्पादित माल के गुणात्मक स्वरूप को बढ़ायेंगे। गांधी जी औद्योगिक क्षेत्र में न तो प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करते हैं और न राष्ट्रीयकरण की नीति को। कारखानों के सम्बन्ध में उनका न्यास (trusteeship) का सिद्धान्त भी अव्यावहारिक एवं एक नैतिक कल्पना मात्र लगता है। कारखानों के मालिक केवल संरक्षता करने भर से सन्तुष्ट नहीं हो सकते।

गांधी जी के वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी विचारों में भी व्यावहारिक कठिनाई प्रतीत होती है। वे जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था के कार्य विभाजन से सहमत हैं। परन्तु आज के युग में यह सम्भव नहीं है। एक ब्राह्मण का लड़का आज सेना में भर्ती होता है, खेती करता है, व्यापार-व्यवसाय करता है, अथवा दस्तकारी का प्रशिक्षण प्राप्त करके किसी दस्तकारी को अपना व्यवसाय बना लेता है। इन कार्यों में वह सफल भी सिद्ध हो जाता है। यही बात अन्य वर्ण वालों के सम्बन्ध में भी सत्य है। अतः आज के युग में वर्ण-व्यवस्था के आधार पर कार्य-विभाजन का जन्मगत स्वरूप अवास्तविक हो चुका है।

महत्त्व—परन्तु गांधी जी की विचारधाराओं को नितान्त स्वप्नलोकी कहना भी उचित नहीं होगा। गांधी जी यदि राज्य का विरोध करते हैं तो केवल ऐसे राज्य का जो हिंसा, बल-प्रयोग, शोषण तथा अन्याय पर आधारित है। गांधी जी ने अनुभव किया कि ब्रिटिश शासन भारत में इन्हीं नीतियों पर आधारित है। अतः उन्होंने इसका विरोध किया। गांधी जी ने पाश्चात्य ढंग की प्रतिनिध्यात्मक संसदीय लोकतन्त्र की निन्दा इसलिए की कि उनमें नैतिकता का नितान्त अभाव था। लोकतन्त्र का ढोंग रचकर वे पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद की नीति अपनाते थे। उनकी राष्ट्र-भावना अन्ध-राष्ट्रवादिता थी जिसके कारण ही दो विश्व-युद्ध हुए। अतः गांधी जी ने यह दर्शाया कि भारत की स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र का स्वरूप किसी भी अर्थ में पाश्चात्य ढंग का नहीं हो सकता।

गांधी जी की रामराज्य की धारणा पाश्चात्य विद्वानों प्लेटो, मुरे आदि के

स्वप्नलोकी आदर्शवाद की धारणा न होकर विशुद्ध रूप मे भारतीय संस्कृति पर आधारित नैतिक धारणा थी। यह दूसरी बात है कि पाश्चात्य आधुनिक सभ्यता संस्कृति तथा विचारधारा पर अन्ध-श्रद्धा रखने वालो को वह केवल स्वप्नलोकी लगे।

यह गाधी जी की शिक्षा का ही फल है कि भारत मे आज लोकतन्त्री विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तो पर आधारित पचायती-राज-व्यवस्था स्थापित की गई है।

भारत के सविधान मे जिन मूलभूत सिद्धान्तों को अपनाया गया है, उनके प्रेरणा स्रोत गाधी जी के विचार ही थे। यद्यपि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् भारत के सविधान-निर्माताओ ने पाश्चात्य ढग की ससदीय लोकतन्त्र की प्रणाली अपनायी है, तथापि इसका यह अर्थ नही कि गाधी जी की शिक्षाओं की उपेक्षा की गई है। सम्भवत यदि गाधी जी सविधान-निर्माण को देखने के लिए जीवित रहते तो वे इसका प्रबल विरोध करते और सविधान की केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को कम करने पर बल देते।

आज गाधी जी की शिक्षाओं पर आधारित सर्वोदय आन्दोलन के नेता आचार्य विनोबा, जयप्रकाश नारायण आदि ने गाधी जी की सांविधानिक व्यवस्था सम्बन्धी विचारधारा को जीवित रखा है। जयप्रकाश जी ने अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली, केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को कम करने तथा ससदीय शासन व्यवस्था के स्थान पर निर्दलीय लोकतन्त्र की स्थापना पर बल दिया है। भले ही इन धारणाओ को प्रोत्साहन नही दिया गया है तथापि ये धारणाएँ इस बात की पुष्टि करती हैं कि राज्य के सम्बन्ध मे गाधी जी की विचारधाराओं का अन्त नहीं हुआ है। 1977 मे भारतीय राजनीति मे जो भारी परिवर्तन हुआ है उसके प्रेरणा-स्रोत जयप्रकाश जी ही रहे हैं जो सच्चे गाधीवादी हैं और जिन्हे अब लोकनायक के रूप मे माना जाने लगा है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के नेताओ ने यह अनुभव किया कि देश की आर्थिक स्थिति का सुधार तभी हो सकता है जबकि औद्योगिक क्षेत्र मे भारत भी ससार के अन्य देशो की तरह ही प्रगति करे। अत गाधी जी की औद्योगिक नीति मे परिवर्तन किया गया। परन्तु भारत मे आर्थिक विकास की पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत यह भी ध्यान रखा जाता रहा है कि ग्रामीण लघु-उद्योगो का विकास किया जाना चाहिए। खादी तथा चरखे का महत्व भी समाप्त नही हुआ है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि यदि भारत मे ग्रामीण उद्योगो के विकास को उपेक्षित रखा जायेगा तो उससे भारत की अर्थव्यवस्था को गम्भीर हानि पहुँचेगी।

समाज-सुधार तथा शिक्षा के सम्बन्ध मे गाधी जी की योजनाओं का विशेष महत्त्व है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए निरक्षरता को समाप्त करना तथा प्रारम्भिक एव प्रौढ शिक्षा को व्यापक बनाना आवश्यक है। गाधी जी की बेसिक शिक्षा योजना को इस समय हृदयहीनता के साथ प्रयुक्त किया जा रहा है। इसका तात्पर्य यह कि हमारे शिक्षाशास्त्रियो, अधिकारियो तथा शिक्षको मे बेसिक शिक्षा की महत्ता का कोई प्रभाव नही पडा है। यदि योजना को उचित ढग से कार्यान्वित नहीं किया गया है, तो उसके लिए योजना के प्रतिपादक को दोष देना उचित नहीं

है। यही बात उच्च शिक्षा के सम्बन्ध म भी सत्य है।

जहाँ तक समाज सुधार की बातो का प्रश्न है इस तथ्य से इनकार नही किया जा सकता कि गाधी जी की मानवीय समानता की धारणा ने भारत को साम्प्रदायिक एकता बनाये रखने की अभूतपूर्व प्रेरणा दी। छुआछूत का निवारण करके हिन्दू समाज की एकता बनाये रखने म उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। यदि साम्राज्यवादियो की कुटिल चालो से गाधी जी देश विभाजन को नही रोक सके तो यह भी एक तथ्य है कि गाधी जी के प्रयासो से ही हमे राष्ट्रीय तथा साम्प्रदायिक एकता बनाये रखने की प्रेरणा मिली है।

गाधी जी के दर्शन का प्रभाव केवल भारत तक ही सीमित नही रहा है। गाधी जी भारतीय जनता के नेता होने के साथ साथ विश्व मानवता के नेता भी थे। उनकी सत्य अहिंसा न्याय प्रेम तथा मानवतावादी धारणाओं को कोई भी मानव उपेक्षा की दृष्टि से लेने का साहस नही कर सकता क्योकि गाधी जी के ये सिद्धान्त किसी समाज विशेष के पक्ष का समर्थन न करके सम्पूर्ण मानव समाज के हित मे व्यक्त किये गये है। दुनिया को यह विश्वास हो गया है कि गाधीवाद कोरा सैद्धान्तिक आदर्शवाद नही है बल्कि गाधी जी ने जो भी कहा उसकी सत्यता को प्रमाणित किया और उसे व्यवहार मे प्रयुक्त किया। इसीलिए आज गाधी जी की विचारधाराए विश्व के कोने कोने तक फली हैं। यदि थोडे से क्षुद्र स्वार्थी युद्ध प्रेमी महत्त्वाकाक्षी तथा हृदयहीन नेता गाधी जी की उपेक्षा कर तो इससे अन्तत उन्ही का विनाश होगा। इसका साक्षी इतिहास है। हिटलर मुसोलिनी आदि अनेक नेता ऐसे ही नष्ट हुए हैं और होते रहेगे। परन्तु गाधीवाद युग युगो तक जीवित रहेगा और उसके मानने वाले भी अन्ततोगत्वा विजयी होगे।

बीसवाँ अध्याय

जवाहरलाल नेहरू

(1889 ई० से 1964 ई०)

1 प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी नेता, भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री तथा आधुनिक भारत के निर्माता जवाहरलाल नेहरू ने अपनी शिक्षा अपने इलाहाबाद स्थित आवास गृह में, तथा इग्लैण्ड में हैरो के पब्लिक स्कूल और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्राप्त की थी। ब्रिटेन में अपने लगभग सात वर्ष के प्रवास के दौरान उन्होंने वहाँ की मानवतावादी उदारवादी परम्परा में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ था, उसे अपने में आत्मसात् कर लिया था। यद्यपि नेहरू जी जीवन-पर्यन्त सक्रिय राजनीति में रहे, तथापि उनमें वह क्षमता भरपूर मात्रा में विद्यमान थी जो किसी भी व्यक्ति को दार्शनिक निरपेक्षता के साथ स्वतन्त्र चिन्तन की सामर्थ्य प्रदान कर सकती है। फलत वह एक जन-नायक ही नहीं रहे, अपितु हम उन्हें एक विचारवेत्ता एव राजनीतिक दार्शनिक के रूप में भी जानते हैं। सच बात तो यह है कि उन्हें महात्मा गाधी और रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ आधुनिक भारतीय मस्तिष्क को निर्मित करने का श्रेय प्राप्त है।

नेहरू जी के चिन्तन को विकसित करने में अनेक कारकों की भूमिका रही है। सर्वप्रथम, उनके ऊपर अपने पिता मोतीलाल नेहरू का प्रभाव था। मोतीलाल जी अज्ञेयवादी (agnostic) थे, फलस्वरूप धार्मिक अन्धविश्वासों के साथ उनका दूर-दूर का कोई सम्बन्ध नहीं था और न उन्हें किसी ऐसी उच्च सत्ता के अस्तित्व में ही आस्था थी जो ज्ञान और अनुभूति की सीमाओं से परे है। अपने पिता से नेहरू जी ने अज्ञेयवाद विरासत में ग्रहण किया था, ब्रिटेन में बर्टेण्ड रसल के दर्शन के अध्ययन के उपरान्त उनका यह अज्ञेयवाद और भी अधिक सुदृढ एव सुस्पष्ट हो गया। कालान्तर में मार्क्सवाद से जब उनका मानसिक सम्पर्क स्थापित हुआ तो यह उचित ही था कि उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण में और भी अधिक निखार आता।

नेहरू जी के ऊपर बाल्यावस्था से ही बौद्ध दर्शन का प्रभाव पडने लगा था। वस्तुत यह अत्यन्त स्वाभाविक था कि बौद्ध दर्शन में अन्तर्निहित अज्ञेयवाद अज्ञेयवादी नेहरू को आकर्षक लगता। उन्होंने लिखा है, 'बुद्ध की कहानी मुझे अपनी आरम्भिक बाल्यावस्था में आकर्षक लगने लगी थी एडविन आर्नाल्ड की 'Light of Asia' मेरी प्रिय पुस्तकों में से एक बन गयी।' बौद्ध दर्शन से नेहरू जी ने मानवतावाद सीखा था और यह उनके व्यक्तित्व एव विचारों के साथ जीवन-पर्यन्त अनिवार्य रूप

से जुड़ा रहा।

ब्रिटेन में अपने प्रवास काल के समय में ही नेहरू जी ने ब्रिटिश समाजवादियों के माध्यम से मार्क्सवाद और समाजवादी दर्शन को सीखा था। 1927 में उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा भी की थी और वहाँ से लौटने के उपरान्त उन्होंने देश में समाजवादी विचारों का प्रचार आरम्भ कर दिया। अपनी आत्मकथा में उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि 'जीवन के साम्यवादी दर्शन से उन्हें शान्ति मिली है और इससे उनमें आशा का संचार हुआ है। वह भूत की व्याख्या करने का प्रयास करता है तथा भविष्य के लिए नूतन आशाएँ प्रदान करता है।'

मार्क्स के साथ ही इस काल में नेहरू जी के चिन्तन पर लेनिन का प्रभाव भी अवलोकित किया जा सकता है। 'The Discovery of India' में उन्होंने एक स्थान पर इस बात का उल्लेख भी किया है। उन्हीं के शब्दों में, 'मार्क्स और लेनिन के अध्ययन ने मेरे मस्तिष्क पर एक शक्तिशाली प्रभाव उत्पन्न किया तथा उसने मुझे इतिहास तथा समकालीन घटनाओं को नये दृष्टिकोण से देखने में सहायता प्रदान की।'

राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष के एक अग्रणी नेता की हैसियत से उन्हें महात्मा गांधी के सान्निध्य में रहने और काम करने का अवसर प्राप्त हुआ था। यद्यपि गांधी जी की अहिंसा की अवधारणा तथा उनके धर्म के प्रति अभिमुखीकरण को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया, तथापि उन्हें अहिंसात्मक सत्याग्रह की साधन के रूप में उपादेयता में कभी कोई सन्देह नहीं रहा। गांधी जी के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप नेहरू जी की यह धारणा भी बनने लगी थी कि वर्ग-संघर्षों का भी शान्तिपूर्ण समाधान खोजा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नेहरू जी के चिन्तन को प्रभावित करने वाले स्रोत अनेक हैं। इन स्रोतों की विविधता ने उनके दर्शन में एक प्रकार के अन्तर्विरोध को जन्म दिया है। परन्तु इस अन्तर्विरोध के बीच सामंजस्य की स्थापना की जा सकती है। नेहरू जी वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं गरिमा के प्रबल समर्थक थे, परन्तु उनका विश्वास था कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता उस समय तक निरर्थक है जब तक कि उस स्वतन्त्रता में सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के तत्त्व भी सन्निहित न हों। इस प्रकार उन्होंने भारतीय राजनीतिक चिन्तन को विशेष रूप से तथा समकालीन राजनीतिक चिन्तन को सामान्य रूप से एक नया आयाम प्रदान किया। यहाँ उनके चिन्तन की संक्षिप्त विवेचना प्रासंगिक है।

2. नेहरू और लोकतन्त्र

नेहरू जी का विश्वास था कि लोकतन्त्र एक स्थायी अवधारणा नहीं है, अपितु वह एक गतिशील विचार है जिसने समय और परिस्थितियों के अनुकूल नवीन मान्यताओं को अपने में आत्मसात् किया है। उनका कहना था कि लोकतन्त्र की प्रचलित अवधारणा अपर्याप्त है और इसलिए उसे परिवर्तित करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उसके बिना जनसाधारण विशेषतः गरीबों के हितों की रक्षा नहीं हो सकती तथा उन्हें विकास के उन अवसरों को उपलब्ध नहीं कराया जा सकता जिनसे

वे लम्बे समय से वंचित हैं। उनकी मान्यता है कि यदि लोकतन्त्र व्यक्तियों के बीच राजनीतिक असमानताओं को मिटाने का दार्शनिक आधार प्रस्तुत नहीं करता तथा आर्थिक एवं सामाजिक असमानताओं का अन्त करने की प्रेरणा भी देने में असमर्थ रहता है तो वह निष्प्रयोजन है। अपनी इस आस्था को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है—'यूरोप में हम देखते हैं कि बहुत से देश समाजवाद की राह पर प्रगति कर रहे हैं। मैं साम्यवादी देशों के विषय में नहीं कह रहा, वरन् उनके विषय में कह रहा हूँ जिन्हें संसदीय समाजवादी लोकतान्त्रिक देश कहा जा सकता है। वहाँ पर समाजवाद और संसदीय लोकतन्त्र में कोई संघर्ष नहीं है। वास्तव में, मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि संसदीय लोकतन्त्र के विचार एवं पूर्ण व्यक्तिगत स्वामित्व में संघर्ष बढ़ने जा रहा है।' फलतः उन्होंने कहा कि देश के आर्थिक विकास के लिए, तथा व्यक्ति के विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि राजनीतिक लोकतन्त्र के दायरे के भीतर एक ऐसी योजना तैयार की जाये जो समाज के सभी सदस्यों को *आर्थिक न्याय उपलब्ध करा सके।* यदि कोई देश ऐसा *नहीं करता तो* उसे किसी दूसरे आर्थिक और सामाजिक ढाँचे के अधीन होना पड़ेगा जिसे चाहे हम पसन्द करें अथवा नहीं। यह भी आवश्यक नहीं है कि वह सामाजिक और आर्थिक ढाँचा लोकतन्त्र ही हो। इतिहास साक्षी है कि लोकतन्त्र की असफलता के मुख्य कारणों में उसकी आर्थिक कार्यक्रम हीनता अग्रणी रही है। नेहरू जी ने कहा है—'जब हम राजनीतिक लोकतन्त्र का उल्लेख करते हैं, तो हमें ध्यान रखना चाहिए कि उसका आगे कोई विशिष्ट महत्त्व नहीं होगा, उदाहरणार्थ, जैसा महत्त्व उसे 19वीं शताब्दी में प्राप्त था। यदि उसे सार्थक होना है तो राजनीतिक लोकतन्त्र को धीरे-धीरे अथवा शीघ्रता से आर्थिक लोकतन्त्र का मार्ग दर्शाना चाहिए। यदि देश में आर्थिक असमानता विद्यमान है तो विश्व के समस्त राजनीतिक लोकतन्त्र और वयस्क मताधिकार वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना नहीं कर सकते।'

नेहरू जी ने अपनी अवधारणा के लोकतन्त्र की प्राप्ति के लिए अहिंसा के साधनों की वकालत की। उनका यह विचार गांधी जी की इस उक्ति पर आधारित था कि 'हिंसा को हिंसा के द्वारा कुचला नहीं जा सकता, इससे तो नूतन हिंसा का उदय होता है। हिंसा को केवल अहिंसा के द्वारा ही जीता जा सकता है।' अहिंसक साधनों के प्रयोग को लोकतन्त्र के लिए आवश्यक बताते हुए नेहरू जी ने कहा है, 'मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि हम अपने आदर्शों और उद्देश्यों को, चाहे वे कितने ही उच्च हों, हिंसक तरीकों से प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे तो हम इस विषय में अधिक विलम्ब करेंगे और उन बुराइयों के विकास में सहायक होंगे जिनसे हम जूझ रहे हैं—शान्तिपूर्ण विकास का तरीका ही अन्त में लोकतान्त्रिक विकास का तरीका है।' नेहरू जी का विश्वास था कि यदि लोकतन्त्र में बहुसंख्यक अपने बहुमत के आधार पर अल्पसंख्यकों के प्रति असहिष्णुता बरतते हैं तो वह निरंकुशतन्त्र से भिन्न नहीं है। लोकतन्त्र का आशय केवल बहुसंख्यकों का विकास मात्र नहीं है, उसकी परिधि में अल्पसंख्यकों का विकास भी शामिल है।

नेहरू जी ने केवल लोकतन्त्र को राजनीतिक एवं आर्थिक आधार प्रदान

करना चाहते थे, वह उसे मानसिक चेतना पर भी आधारित करना चाहते थे। बन्धुत्व की भावना को आत्मसात् किये बिना कोई भी समाज, चाहे उसने राजनीतिक लोकतन्त्र को भले ही अपना लिया हो, अपने को लोकतान्त्रिक कहलाने का दावा नहीं कर सकता। बन्धुत्व की भावना को आधार बनाये बिना निर्मित लोकतन्त्र का भवन कभी भी खण्डहर मे परिवर्तित हो सकता है, राजनीतिक उथल पुथल के तूफान के सम्मुख वह अडिग नही रह सकता। इसी बात को ध्यान मे रखकर नेहरू जी ने लिखा है, 'मैं कहूंगा कि लोकतन्त्र न केवल राजनीतिक है, और न केवल आर्थिक है, परन्तु यह बहुत कुछ मानसिक भी है, जैसी कि प्रत्येक वस्तु अन्ततोगत्वा मस्तिष्क की उपज होती है। यह अवसर की समानता को सब व्यक्तियों से सम्बद्ध करता है, जहां तक कि राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम मे ऐसा करना सम्भव हो पाता है। यह व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ सामर्थ्य और योग्यतानुसार उच्च विकास को मिश्रित करता है। यह निश्चित सहनशीलता को, जबकि दूसरो के मत तुम से भिन्न भी हो, उन्हे स्वीकार करने की प्रवृत्ति को जन्म देता है।'

नेहरू जी का विश्वास था कि 'लोकतन्त्र की स्थापना प्रचुर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए होती है।' तथा उस स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए वह व्यक्तियो के बीच किसी भी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार नही करता। लोकतन्त्र तो समानता को स्वतन्त्रता का पोषक मानता है, लेकिन 'लोकतन्त्र यह नही कहता कि यथार्थ मे सब व्यक्ति बराबर हैं। वह ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि यह काफी स्पष्ट है कि असमानता होनी है। परन्तु सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को, शासन सभा अथवा संसद के लिए प्रतिनिधियो के चुनाव म एक वोट मिलना चाहिए—इसलिए लोकतन्त्र की मुख्य मॉगो मे से एक वोट का अधिकार है।' किन्तु यह समानता केवल मताधिकार तक सीमित नही है। नेहरू जी के ही शब्दो मे, 'लोकतन्त्र का यदि कोई अर्थ होता है तो वह समानता है, न केवल मताधिकार की समानता, वरन् आर्थिक और सामाजिक समानता।'

नेहरू जी ने यत्र तत्र लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए आवश्यक शर्तों का भी उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने कहा है कि लोकतन्त्र की सफलता की पहली शर्त यह है कि जनता शिक्षित होनी चाहिए, क्योंकि अशिक्षित समाज मे लोकतान्त्रिक व्यवस्था को टिकाऊ बनाना असम्भव है। इस सम्बन्ध मे दूसरी आवश्यक बात यह है कि समाज अनेक वर्गो मे विभक्त न हो तथा वह साम्प्रदायिकता की बीमारी से मुक्त हो। नेहरू जी बहु दलीय प्रथा को भी लोकतन्त्र के लिए शुभ नही मानते थे। इस बारे मे नेहरू जी का यह मत उल्लेखनीय है कि 'यूरोप मे लोकतन्त्रों की बहुधा असफलता का कारण अनेक दलो का होना था।' उनका यह भी विश्वास था कि लोकतन्त्र केवल उस स्थिति म सफल हो सकता है जबकि नागरिक कर्तव्य पालन की भावना को अपने जीवन के एक अग के रूप मे स्वीकार कर लें। लोकतान्त्रिक सस्थाओ की सफल कार्यान्विति की एक आवश्यक शर्त यह भी है कि राज्य विचार-अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता की गारण्टी प्रदान करे जिसमे सरकार के कार्यों की आलोचना सम्भव हो सके। आलोचना न केवल सरकार के द्वारा उठाये गये

समाप्त करना, और वर्ग-विहीन तथा जाति-विहीन समाज की रचना करना चाहता हूँ जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता एव सामर्थ्य के अनुसार विकास के पूर्ण अवसर प्राप्त हों। विशेष रूप से मैं विश्वास करता हूँ कि जाति का अभिशाप समाप्त होना चाहिए, क्योंकि जाति के आधार पर न तो लोकतन्त्र की और न ही समाजवाद की रचना सम्भव है।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नेहरू जी ने लोकतन्त्र की जिस अवधारणा का प्रतिपादन किया है, उसमे उदारवाद, समाजवाद और गाधीवाद सभी के तत्त्व निहित हैं। उन्होंने लोकतन्त्र को एक राजनीतिक अवधारणा के रूप मे ही स्वीकार नहीं किया, वरन् उसे एक आर्थिक आयाम भी प्रदान किया। जाति-प्रथा को लोकतन्त्र के लिए असगत बताते हुए उन्होंने उसे सामाजिक विकास की एक नूतन दिशा दी तथा शक्तियों के विकेन्द्रीकरण और स्थानीय सस्थाओं को लोकतन्त्र की आधार-शिला बताकर उन्होंने गाधीवादी परम्परा के प्रति अपनी निष्ठा को व्यक्त किया है।

3 नेहरू और समाजवाद

नेहरू जी का विश्वास था कि 'स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का समानता की अनुपस्थिति मे कोई अर्थ नहीं है तथा समानता उस समय तक स्थापित नहीं की जा सकती जब तक कि उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व बना रहता है। उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व इस प्रकार वास्तविक लोकतन्त्र के मार्ग म बाधा बन जाता है। यह आर्थिक सम्बन्ध ही हैं जो अन्तत सामाजिक ढाँचे और सस्थाओं को शासित करते हैं। वर्तमान सम्पत्ति सम्बन्ध तथा उत्पादन की शक्तियों मे आवश्यक विरोधाभास ने वर्तमान जगत मे लोकतन्त्र के सचालन को कठिन बना दिया है।' नेहरू जी इसलिए ऐसे समाजवादी समाज की रचना को आवश्यक मानते हैं जिसमे समाज को उचित स्थान प्राप्त हो। उन्होंने जितना राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा वैधानिक समानता पर बल दिया है, उतना ही महत्त्व उन्होंने आर्थिक समानता को दिया है और भारत के सन्दर्भ मे उन्होंने उसी मात्रा मे सामाजिक समानता की आवश्यकता को स्वीकार किया है।

नेहरू जी ने समाजवाद को अपने जीवन दर्शन के रूप मे मान्यता प्रदान की थी। 1936 मे कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन मे अध्यक्षीय भाषण करते हुए उन्होंने कहा था—

'मेरा यह सुनिश्चित मत है कि विश्व की समस्याओं और भारत की समस्याओं का एकमात्र समाधान समाजवाद मे निहित है और जब मैं इस शब्द को प्रयुक्त करता हूँ, मैं इसे अस्पष्ट मानवतावादी दृष्टि से नहीं करता परन्तु वैज्ञानिक अर्थ मे करता हूँ। मैं समाजवाद के अतिरिक्त किसी अन्य तरीके से निर्धनता, व्यापक बेरोजगारी तथा भारतीय जनता के नैतिक पतन का अन्त करने का तरीका नहीं सोचता। उसमे हमारी राजनीतिक एव सामाजिक सरचना म व्यापक और क्रान्तिकारी परिवर्तन अन्तर्निहित हैं—भूमि तथा उद्योगों मे निहित स्वार्थों का अन्त

करना तथा उसके साथ ही सामन्ती एवं कुलीनतान्त्रिक भारतीय रजवाडों की पद्धति की समाप्ति। अपने इसी भाषण में नेहरू जी ने मार्क्सवादी और लेनिनवादी इस दृष्टिकोण में अपनी आस्था व्यक्त की थी कि समाजवाद के कार्यान्वयन के फलस्वरूप 'मनुष्य की प्रवृत्तियों, आदतों एवं आकांक्षाओं' में परिवर्तन उपस्थित हो जायेगा और इस प्रकार नयी सभ्यता के लिए एक आधार प्रस्तुत होगा। उन्होंने सोवियत संघ में उदित नयी शासन-प्रणाली का स्वागत किया था तथा उसे भविष्य के लिए पीडित मानवता का प्रेरणा-स्रोत और आशा-केन्द्र बताया था।

उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने जनवरी 1955 में अपने अवाडी अधिवेशन में समाजवादी ढाँचे के समाज की स्थापना को अपना लक्ष्य घोषित किया था। इसी प्रकार उन्हीं के नेतृत्व में 1964 में कांग्रेस ने 'समाजवादी राज्य' की स्थापना को अपना लक्ष्य बताया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समाजवाद के प्रति नेहरू जी का दृष्टिकोण अनुभववादी (Pragmatic) था। उन्होंने मार्क्सवाद और लेनिनवाद की अनेक मान्यताओं को जहाँ स्वीकार किया, वहाँ उन्होंने उसे केवल उस सीमा तक माना जहाँ तक वह उन्हें व्यावहारिक लगता था। अतः उन्होंने कहा कि यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि समाजवाद निर्धनता का प्रसार नहीं है। हम निर्धनतापूर्ण समानता की आवश्यकता नहीं है, इसलिए आवश्यक यह है कि धन और उत्पादन बढ़े तथा उत्पादित धन के समान और न्यायपूर्ण वितरण की दिशा में कार्य किया जाय। अपने इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर उन्होंने सभी प्रकार के उद्योग धन्धों के राष्ट्रीयकरण का विरोध किया। उन्होंने कहा कि पुरानी जंग लगी हुई मशीनों के राष्ट्रीयकरण से उत्पादन में वृद्धि नहीं हो सकती और इसलिए वह निर्धनता की समस्या का समाधान नहीं है। अतः उन्होंने कहा कि राज्य को पुराने कारखानों को अपने हाथों में लेने की बजाय नये उद्योगों को आरम्भ करना चाहिए। फलतः उनके प्रधानमन्त्रित्व काल में सार्वजनिक क्षेत्र में भारी और मूल उद्योग-धन्धे स्थापित किये गये। लेकिन सामान्य उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन निजी क्षेत्र में ही चलता रहा। इस प्रकार नेहरू जी की समाजवाद में मिश्रित अर्थव्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि समाजवाद के प्रति अपनाया गया यह अनुभववादी दृष्टिकोण उन लोगों को कभी बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता था जो मार्क्सवाद में विश्वास करते थे।

अपने इस अनुभववादी दृष्टिकोण के ही कारण नेहरू जी मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्रति आकर्षित होते हुए भी उसे अपना नहीं सके। मार्क्सवाद में उन्हें सबसे आकर्षक बात यह लगी थी कि वह अन्धविश्वासों से मुक्त था। 'Glimpsis of World History' पुस्तक में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है, 'अन्धविश्वासों से उसकी मूलभूत स्वतन्त्रता तथा उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने मुझे मार्क्सवाद की ओर आकर्षित किया है।' उनका कहना था कि समकालीन मार्क्सवादियों ने इस दर्शन के मौलिक स्वरूप की उपेक्षा करके उसे एक अन्धविश्वास का रूप दे दिया है। करंजिया को दी गयी एक भेंट में उन्होंने कहा था कि 'सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का मार्क्सवादी विश्लेषण यद्यपि अत्यन्त उपयोगी है तथापि उसे यन्त्रवत् अन्धविश्वास के

साथ प्रयुक्त नही किया जा सकता ।

प्रश्न है कि यदि समाजवादी व्यवस्था आदर्श है तो उस आदर्श की प्राप्ति के लिए कौन सा मार्ग अपनाया जाना चाहिए ? क्या शान्तिपूर्ण तरीको से लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है ? अपनी आत्मकथा मे उन्होने लिखा है कि सत्तारूढ वर्गों को समझा-बुझाकर अपने अन्यायपूर्ण विशेषाधिकारो को छोडने के लिए राजी नही किया जा सकता । उन्ही के शब्दो मे—'चूंकि किसी भी सामाजिक परिस्थिति मे विवेक सदैव एक सीमा तक आत्म-हितो का दास होता है, अत सामाजिक न्याय की प्राप्ति केवल नैतिक अथवा तार्किक अनुनय के द्वारा नही हो सकती । सघर्ष अनिवार्य है और इस सघर्ष मे शक्ति का शक्ति के द्वारा मुकाबला किया जाना चाहिए ।' अत उनका निष्कर्ष था कि विवेकपूर्ण तर्क तथा न्याय के लिए अनुरोध के द्वारा न तो सत्तारूढ वर्ग का हृदय परिवर्तन किया जा सकता है और न सघर्ष का निराकरण। ऐसा सोचने का अर्थ है अपने आपको धोखा देना । अत आत्म-कथा मे उन्होने लिखा कि हमारे लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग मे जो भी बाधाएँ उपस्थित होगी, उन्हे हटाना पड़ेगा—'यदि सम्भव हो तो शान्तिपूर्ण तरीको से परन्तु यदि आवश्यक हो तो बल-पूर्वक भी । और इस बात मे कोई सशय नही है कि बल का प्रयोग सामान्य रूप से आवश्यक होगा ।' परन्तु प्रधानमन्त्री बनने के बाद नेहरू जी के दृष्टिकोण मे परिवर्तन हो गया । 'A I C C Economic Review' के लिए लिखे गये 'The Basic Approach' नामक एक लेख मे उन्होने शान्तिपूर्ण तरीको के प्रयोग पर बल दिया और कहा कि आर्थिक नियोजन के द्वारा गरीबी को दूर किया जा सकता है, असमानताओ को कम किया जा सकता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति के समान अवसर दिये जा सकते है और इस प्रकार राज्य स्वय अपने कार्यों से समाजवाद की स्थापना की दिशा म पहल कर सकता है । अत नये सन्दर्भ मे नेहरू जी ने मार्क्स के वर्ग सघर्ष के सिद्धान्त को अनुपयोगी और पुराना घोषित कर दिया । करंजिया को दी गयी एक भेंट मे उन्होने कहा, 'यह बात याद रखने योग्य है कि मार्क्स के समय मे तथाकथित लोकतान्त्रिक देशो मे भी राजनीतिक लोकतन्त्र नही था । अब मतदान की प्रणाली मात्र के कारण, यद्यपि उससे सभी समस्याओ का हल नही होता, बुनियादी परिवर्तन हुआ है । जब प्रत्येक व्यक्ति के पास मतदान का अधिकार है तो वह अधिकार एक शक्ति बन जाता है, जिसके कारण अधिकार-प्राप्त व्यक्ति सामाजिक परिवर्तन की दिशा म उस सीमा तक प्रभावी दबाव डाल सकते हैं जिसकी मार्क्स केवल इसलिए कल्पना भी नही कर सकते थे क्योकि तस्वीर का यह पहलू उनके सामने नही था ।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नेहरू जी की समाजवाद की अवधारणा मार्क्स-वादी आदर्श स प्रभावित होते हुए भी उससे भिन्न है । जैसा कहा जा चुका है यह भिन्नता इसलिए है क्योकि अनुभववादी होने के नाते उन्होने सिद्धान्त की अपेक्षा तथ्यो को ही प्रधानता प्रदान की थी । राष्ट्रीय विकास परिषद् के समक्ष भाषण करते हुए उन्होने कहा था कि 'समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद, गाधीवाद, निजी औद्योगिक सस्थान स सम्बद्ध तर्कों का प्रयोग निरर्थक है' क्योकि इन तर्कों ने अब एक ऐसा रूप

धारण कर लिया है जो एक नारे से अधिक और कुछ नही है तथा जो 'बदलती हुई परिस्थितियो को समझने मे सहायक नही हो सकता ।' उनका कहना था कि सिद्धान्त से प्रत्येक समस्या का समाधान प्राप्त नही हो सकता, अधिक से अधिक वह समस्या को समझने का एक उपागम प्रस्तुत कर सकता है । अत सिद्धान्त को तथ्यो के अनुकूल बनाने के लिए उसमे सशोधन किया जाना चाहिए न कि पूर्व विचारित सिद्धान्त को उचित ठहराने के लिए तथ्यो मे तोड मरोड की जाय ।

4 राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद

नेहरू जी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उच्चतम नेताओ मे से एक थे, वस्तुत लोकप्रियता मे उनका स्थान गाधी जी के बाद दूसरे नम्बर पर ही आता था । परन्तु इतना होते हुए भी उन्होने राष्ट्रवाद के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया । उनके एक लेख भारत की एकता से यह भासित होता है कि वह ऐसे सास्कृतिक आधारो पर निर्मित भारत की वस्तुनिष्ठ एकता मे विश्वास करते थे जो सकुचित अर्थों मे धार्मिक तत्वो से सम्बद्ध नही है । उनका विश्वास था कि अपनी समस्त विभिन्नताओ के बावजूद भी भारत मे एकता की भावना सदैव विद्यमान रही है । उन्हे रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा प्रतिपादित सश्लेषित सवमुक्तिवाद (synthetic universalism) मे पूर्ण आस्था थी तथा राष्ट्रवाद के प्रति अपनाये गये उस धार्मिक दृष्टिकोण के साथ कोई लगाव नही था जिसका प्रतिपादन महर्षि दयानन्द विपिनचन्द्र पाल और श्री अरविन्द के द्वारा हुआ था । परन्तु उन्हे इस बात को मानने से कोई आपत्ति नही थी कि राष्ट्रवाद के साथ कुछ भावनात्मक पहलू जुडे हुए होते हैं । उन्होने इस सम्बन्ध मे एक स्थान पर लिखा है, 'राष्ट्रवाद मूलत भूतकालीन उपलब्धियो परम्पराओ तथा अनुभवो की सामुदायिक स्मृति है और आज राष्ट्रवाद पहले की अपेक्षा कही अधिक शक्तिशाली है । जब भी किसी सकट का उदय हुआ है राष्ट्रसकट का उदय हुआ है तथा लोगो को पुरानी परम्पराओ से शान्ति एव शक्ति की प्राप्ति हुई है । आधुनिक युग की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धि यह है कि हमने राष्ट्र के भूत की पुन खोज कर ली है ।

नेहरू जी राष्ट्रो के आत्म निर्णय के अधिकार के प्रबल समर्थक थे । अत वह न केवल भारतीय स्वतन्त्रता के पक्षधर थे, अपितु उनकी मान्यता थी कि विश्व मे किसी भी देश पर किसी अन्य देश का आधिपत्य नही होना चाहिए । 1927 मे ब्रूसेल्स मे साम्राज्यवाद के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (International Congress Against Imperialism) को सम्बोधित करते हुए नेहरू जी ने कहा था कि भारत की समस्या केवल भारत की राष्ट्रीय समस्या नहीं है अपितु वह एक ऐसी समस्या है जिसका ससार के अनेक देशो के साथ सम्बन्ध है । वास्तव मे भारत की स्वाधीनता का सघर्ष विश्व के समस्त गुलाम देशो द्वारा साम्राज्यवाद के विरुद्ध लडे जाने वाले सघर्षों का ही एक हिस्सा है ।

नेहरू जी ने धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद का समर्थन किया । उन्हे सम्प्रदायवाद की किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति पसन्द नही थी चाहे वह सम्प्रदायवाद हिन्दुओ

का हो और या मुसलमानो का। नेहरू जी इस तथ्य से अवगत थे कि राष्ट्रवाद को जब साम्प्रदायिक जामा पहनाया जाता है तो उससे अन्तत साम्राज्यवाद को ही सहायता मिलती है। लखनऊ कांग्रेस मे अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होने 1936 मे कहा था—

'यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रमुख साम्प्रदायिक नेता, हिन्दू अथवा मुसलमान अथवा अन्य, साम्प्रदायिक प्रश्नो के अतिरिक्त सभी मामलो मे राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी है। यह सोचकर तकलीफ होती है कि उन्होने महत्त्वपूर्ण मामलो मे किस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सहायता की है, उन्होंने किस प्रकार नागरिक स्वतन्त्रता के दमन को अपनी स्वीकृति प्रदान की है, और यन्त्रणा के इन वर्षों मे उन्होने किस प्रकार राष्ट्रीय स्वाधीनता की कीमत पर अपने समुदाय के लिए क्षुद्र लाभो को प्राप्त करने का प्रयास किया है। उनके साथ कोई सहयोग नही हो सकता, क्योकि ऐसा करने का अर्थ है प्रतिक्रियावाद के साथ सहयोग।'

उन्होंने प्राक्-स्वाधीन भारत मे पाये जाने वाले साम्प्रदायिक तनावो और संघर्षों का मार्क्सवादी तरीके से आर्थिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्ही के शब्दो मे, 'नये पूँजीपति वर्ग के अधिकाश सदस्य हिन्दू थे। ऐसा इसलिए था क्योकि मुसलमानो की अपेक्षा उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी, और क्योकि उन्होंने इंग्लिश शिक्षा-प्रणाली को ग्रहण कर लिया था जो सरकारी नौकरियो और व्यवसायो मे प्रवेश पाने के लिए एक पासपोर्ट की तरह काम करता था। मुसलमान सामान्यत अपेक्षाकृत गरीब थे। अधिकाश जुलाहे जिनकी स्थिति अंग्रेजो द्वारा भारतीय उद्योगो को नष्ट करने के कारण अत्यन्त दयनीय थी, मुसलमान थे। बंगाल मे जहाँ मुसलमानो की संख्या सबसे अधिक थी, गरीब किसान तथा छोटे भू-स्वामी थे। जमीदार सामान्यत हिन्दू थे और गाँव का बनिया भी जो महाजन का काम भी करता था और गाँव के उपभोक्ता भण्डार के स्वामी का भी। इस प्रकार जमीदार और बनिये को किसान का शोषण करने की स्थिति प्राप्त थी और उन्होने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया। इस तथ्य को ध्यान मे रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसमे हिन्दू मुस्लिम तनाव का मुख्य कारण सन्निहित है।' यही कारण था कि नेहरू जी राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने के लिए तनाव के आर्थिक कारणो को दूर करना चाहते थे। उनके द्वारा समर्थित जमीदारी उन्मूलन कानून तथा सहकारी आन्दोलन को हमे यथार्थ मे इसी सन्दर्भ मे देखने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नेहरू जी संकीर्ण राष्ट्रवादी नही थे। उन्होने किसी सकीर्ण दृष्टिकोण से प्रेरित होकर राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष मे भाग नहीं लिया था। वह यदि भारत की स्वतन्त्रता का समर्थन करते थे, तो उन्हे समूची मानव जाति की स्वतन्त्रता से प्रेम था। अत उन्होने राष्ट्रीयता स्वाधीनता संघर्ष को समूची मानव जाति के मुक्ति-संघर्ष का अग बताया। उनके राष्ट्रवाद का यथार्थ मे अन्तर्राष्ट्रवाद के साथ कोई टकराव नही था। इसलिए फासीवादी और नाजीवादी सकीर्ण एव आक्रामक राष्ट्रवाद से उन्हे सख्त विरोध था। अत यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उन्होने जापानी आक्रमण के विरुद्ध चीन का तथा जर्मनी और

इटली के मुसोलिनी से लड़ जाने वाले फ्रैंको के नेतृत्व में स्पेन के गणतन्त्र के विरुद्ध गृहयुद्ध में स्पेन के गणतन्त्रवादियों का समर्थन किया था। स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री बनने के बाद भी उन्होंने सभी मुक्ति-संघर्षों को समर्थन दिया।

नेहरू जी ने अन्तर्राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में अपनी अवधारणा को आर्थिक आधार पर प्रतिपादित किया और यहाँ भी हम उनके मस्तिष्क पर मार्क्सवादी प्रभाव को अवलोकित कर सकते हैं। उन्होंने लिखा है "जिस बात का प्रयास कम से महसूस नहीं किया जा रहा है वह औद्योगीकरण का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप है। उसने राष्ट्रीय सीमान्तों को तोड़ दिया है उसने प्रत्येक राष्ट्र को चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो दूसरे राष्ट्रों पर आश्रित बना दिया है। राष्ट्रवाद का विचार आज भी उतना ही शक्तिशाली है जितना वह पहले था और उसका पवित्र नाम लेकर आज भी युद्ध लड़े जाते हैं और करोड़ों की हत्या की जाती है। परन्तु वह एक अन्धविश्वास (myth) है जो वास्तविकता से मेल नहीं खाता। विश्व का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो चुका है उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय है बाजार अन्तर्राष्ट्रीय है और यातायात अन्तर्राष्ट्रीय है और मनुष्य के विचार एवं संकीर्ण अन्धविश्वास से प्रभावित हैं जिनकी आज कल जीवन में कोई प्रामाणिकता नहीं है। कोई भी राष्ट्र वास्तव में स्वतन्त्र नहीं है सभी एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यदि स्मानी निष्ठाओं ने नेहरू जी को राष्ट्रवादी बनाया था तो उनके बुद्धिवाद और उनके मानवतावाद ने उनके राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीयवाद में परिवर्तित कर दिया।

5 मूल्यांकन

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के लिए विशेषतः भारतीय राजनीतिक चिन्तन के लिए नेहरू जी के योगदान को कम करके नहीं आंका जा सकता। उनका योगदान विशेष रूप से इस मामले में है कि उन्होंने समाजवादी और उदारवादी परम्पराओं को एक-दूसरे के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया। वस्तुतः उनके इस दृष्टिकोण का अवलोकन उनके समग्र दर्शन में किया जा सकता है। वह लोकतन्त्र के प्रति इसलिए आकर्षित हुए थे क्योंकि उदारवाद ने उनके मस्तिष्क में मानव स्वतन्त्रता एवं गरिमा के प्रति गहरी आस्था को जन्म दिया था। यदि मार्क्सवाद और समाजवाद ने उनके चिन्तन को प्रभावित किया था तो ऐसा इसलिए था क्योंकि उनका विश्वास था कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता उस समय तक निरर्थक है जब तक कि समाज के सभी सदस्यों को आर्थिक स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं करायी जाती। वह सच्चे अर्थों में मानवतावादी थे। वास्तव में उनके मानवतावाद ने ही उन्हें समाजवाद के प्रति आकर्षित किया था।

भारत की तथा संसार की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने उन्हें आधुनिकतावाद का प्रबल समर्थक बना दिया था। इसलिए वह स्त्रियों के अधिकारों के हिमायती थे तथा धर्मनिरपेक्षता के शक्तिशाली पक्षधर। उन्हें पुनरुत्थानवाद (revivalism) से घृणा थी और वह साम्प्रदायिकता के कट्टर शत्रु थे। उनका

विश्वास था कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने के बाद ही भारत मध्ययुगीनवाद, पुरोहितवाद और सामाजिक ठहराव के दायरे से बाहर निकाल सकता है। 'India Today and Tomorrow' शीर्षक से दिये आजाद-स्मृति व्याख्यान-माला में उन्होंने भौतिक विज्ञानों तथा मानवतावादी सहिष्णुता के बीच समन्वय स्थापित करने पर बल दिया था।

निस्सन्देह नेहरू जी का चिन्तन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के विकास की दिशा में निश्चित प्रगति का द्योतक है। उनके जीवन-काल में उनके विचार के परिसूचक सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करते हुए यू० एन० ढेबर ने कहा था, 'नेहरू आगे कोई व्यक्ति नहीं रह गये हैं। कई शताब्दी पहले उन्होंने ऐसा होना बन्द कर दिया था। वह एक संस्था है जो कि सतत बदलने वाली, निरन्तर विकास करने वाली है।' इसलिए नहरू जी को दलगत राजनीतिक दृष्टिकोण से अलग रखकर देखने की आवश्यकता है। वह उन लोगों में से थे जिन्होंने अपने जीवन को उन आदर्शों की पूर्ति के लिए लगा दिया जिन्हें वह मानव जाति के लिए कल्याणकारी समझते थे। परन्तु दुर्भाग्य से कुछ लोगों ने उन पर राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित होकर टिप्पणियां की हैं और उनका अवमूल्यन करने का प्रयास किया है। लेकिन सच बात यह है कि जिन सिद्धान्तों की उन्होंने हिमायत की थी, वे आज भी हमें प्रेरणा प्रदान करते हैं, उन सिद्धान्तों की उपेक्षा करके हम भारतीय लोकतन्त्र को सुदृढ़ नहीं बना सकते। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक दादा धर्माधिकारी का यह कथन उल्लेखनीय है—'लोकतन्त्र की अभिप्राप्ति की दृष्टि से जवाहरलाल नेहरू जिस स्थान पर देश को छोड़ गया है, वहां पर बने रहने के लिए भी हमको कठिन परिश्रम करना पड़ेगा और अगर आगे बढ़ना है तो कम से कम दुगना परिश्रम करना पड़ेगा।'

परिशिष्ट 1

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के प्रमुख तत्त्व

निश्चित रूप से यह निर्धारित करना कि राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ कब और कहाँ से हुआ एक अत्यन्त दुस्तर कार्य है। पाश्चात्य जगत में क्रमबद्ध ढंग से राजनीतिक चिन्तन करने की परम्परा यूनानी लेखकों प्लेटो तथा अरस्तू से आरम्भ हुई। परन्तु इससे पूर्व भी वहाँ किसी न किसी रूप में राजनीतिक चिन्तन होता रहा। स्वयं अरस्तू ने कहा है कि मनुष्य स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी है। अतएव जब से मानव राजनीतिक जीवन व्यतीत करने लगा, तभी से उसे राजनीतिक समस्याओं पर विचार करने की आवश्यकता पड़ गयी। इसका स्वरूप विश्व के विभिन्न भागों में विभिन्न स्वरूपों का रहा। भारत में जब आर्य लोगों का प्रवेश हुआ तो उन्होंने वेदों की रचना की। वे लोग जिस रूप का सामाजिक जीवन व्यतीत करते थे उसके विविध पहलुओं का समस्त ज्ञान वेदों में है। चूँकि वैदिक काल का जीवन आर्यों की राजनीतिक व्यवस्था से भी सम्बद्ध था, अतः वेदों में यत्र-तत्र राजनीति सम्बन्धी विचार भी मिलते हैं। वेदों के पश्चात् संहिताओं, सूत्रों, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों आदि की रचना हुई। इन ग्रन्थों में भी राजनीतिक व्यवस्था-सम्बन्धी अनेक बातों का विवेचन किया गया है। वैदिक काल के पश्चात् महाकाव्य (रामायण, महाभारत) काल तथा बौद्ध एवं जैन धर्म ग्रन्थों की रचना का काल आता है। इन ग्रन्थों के अन्तर्गत भी अनेक स्थलों में राजनीति विषयक चिन्तन मिलता है। महाभारत के शान्तिपर्व में विशिष्ट रूप से राजनीतिक समस्याओं का विवेचन है। महाकाव्यों के पश्चात् धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों, नीतिसारों तथा पुराणों की रचनाएँ समय समय पर होती रहीं। यद्यपि इन शास्त्रों में वर्णित विषय-वस्तु अत्यन्त व्यापक है, तथापि इनमें भी राजनीति सम्बन्धी अध्याय प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों के क्रमबद्ध अध्ययन के परिचायक हैं। इस श्रेणी में कौटिल्य का अर्थशास्त्र जिसका रचना काल लगभग प्लेटो तथा अरस्तू का समकालीन है, भारतीय राजनीतिक चिन्तन परम्परा को एक अद्भुत देन है। ऐतिहासिक समय क्रम की दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का युग लगभग 2500 वर्ष से भी अधिक लम्बी अवधि का है। यह काल वेदों की रचना से लेकर लगभग दसवीं या ग्यारहवीं ईसा की शताब्दी तक का है। इस दीर्घ अवधि में भारत भूमि के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की

राजनीतिक आर्थिक सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ बनती रहीं। उन्हीं के सन्दर्भ में राजनीतिक विचारों में भी परिवर्तन होते रहे। इसलिए यह निर्धारित कर सकना बहुत कठिन है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का कोई निश्चित स्वरूप था। फिर भी इस लम्बी अवधि के अन्तर्गत भारतीय राजनीतिक विचारों के प्रमुख तत्वों को कुछ विशिष्ट श्रेणियों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है।

(1) प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र—प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अन्तर्गत राजनीतिशास्त्र का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करने की प्रवृत्ति नहीं रही थी। विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित विषय वस्तु अत्यन्त व्यापक है जो मानव जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध समस्याओं का विवेचन करती है। उन्हीं के अन्तर्गत राजनीति की समस्याओं का भी विवेचन मिलता है। प्राचीन भारत में ज्ञान को चार विद्याओं में विभक्त माना गया है। यह चार विद्याएं हैं—आन्वीक्षिकी (दर्शनशास्त्र) त्रयी (तीन वेद—ऋक यजु साम में वर्णित ज्ञान) वार्ता (अर्थशास्त्र अर्थात कृषि पशु पालन तथा व्यापार व्यवसाय से सम्बद्ध ज्ञान) तथा दण्डनीति (राजशास्त्र)। दण्ड नीति का उद्देश्य राज्य तथा राजनीति विषयक समस्याओं का विवेचन करना तथा राज्य व्यवस्था को यह दायित्व सौंपना था कि उसके समुचित कार्यान्वयन के द्वारा पूर्वोक्त तीन विद्याओं को संरक्षण तथा समुचित विकास का अवसर प्राप्त हो सके। महाभारत मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) तथा कौटलीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत दण्ड तथा दण्डनीति की उत्पत्ति तथा महिमा का विशद विवेचन किया गया है। स्वयं दण्डनीति (राजनीतिशास्त्र) को धर्मप्रधान अर्थप्रधान एवं नीतिप्रधान तीन वर्गों में वर्णित किया गया है। धर्मशास्त्रों में वर्णित राजनीति जिसे विभिन्न स्मृतियों (मनु याज्ञवल्क्य नारद आदि) में पाया जाता है धर्मप्रधान राजनीति है। इनके अन्तर्गत राजा या राजनीति का दायित्व धर्म का संरक्षण करना तथा धर्म के नियमों के अनुसार अपने व्यवहार का संचालन करना माना गया है। अर्थशास्त्रों (कौटिल्य बृहस्पति आदि) में अर्थप्रधान राजनीति का वर्णन है। इन ग्रन्थों के प्रणेता अर्थ को प्रधानता देते हैं अर्थात राजनीति का उद्देश्य जनता की आर्थिक एवं भौतिक प्रगति करना है ताकि भौतिक चिन्ताओं से मुक्त रहकर जनता धर्माचरण करने में प्रवृत्त रह सके। नीतिशास्त्रों में वर्णित दण्डनीति नीति (सदाचरण) पर बल देती है। कामन्दक तथा शुक्रनीतिसार इस श्रेणी के ग्रन्थों में आते हैं। इस प्रकार दण्डनीति या राजशास्त्र का उद्देश्य मनुष्य जीवन के चार प्रमुख लक्ष्यों (धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष) की प्राप्ति करना माना जाता था। इन चार में से प्रथम तीन लक्ष्यों को त्रिवर्ग की संज्ञा दी गयी है। त्रिवर्ग की प्राप्ति मानव इस जीवन में कर सकता है। अतः राजनीति का उद्देश्य मानव को जीवन के तीन उद्देश्यों (धर्म अर्थ तथा काम) की पूर्ति करना माना जाता था ताकि इन तीन लक्ष्यों को इस जीवन में प्राप्त करके मनुष्य के लिए चतुर्थ उद्देश्य (मोक्ष प्राप्ति) का मार्ग प्रशस्त हो सके। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अन्तर्गत राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक था। प्लेटो तथा अरस्तू के दर्शन में भी राज्य के इन उद्देश्यों का उल्लेख मिलता है। उनके विचारों में भी उत्तम जीवन की प्राप्ति को मानव जीवन का

लक्ष्य माना गया है। उत्तम जीवन में जीवन के उक्त उद्देश्य (त्रिवर्ग की प्राप्ति) अन्तर्निहित माने जा सकते हैं।

(2) राज्य सम्बन्धी धारणाएँ—गार्नर का मत है कि राजनीतिशास्त्र का आरम्भ तथा अन्त राज्य से होता है। इसका अभिप्राय यह है कि राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की विषय-वस्तु राज्य की पारिभाषिक व्याख्या, उसकी उत्पत्ति, विकास, उद्देश्य, कार्यों, संगठन, आदर्शों आदि का विवेचन करना है। इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं के विचार भी पर्याप्त व्यापक रहे हैं। पाश्चात्य देशों में प्लेटो से लेकर आज तक विभिन्न चिन्तकों तथा लेखकों ने विभिन्न रूपों में राज्य की पारिभाषिक व्याख्या की है और राज्य की उत्पत्ति, उद्देश्य और कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में अनेक आदर्शों तथा विचारधाराओं का प्रतिपादन किया है। इन क्षेत्रों में प्राचीन भारतीय विद्वान भी पिछड़े नहीं रहे हैं। पाश्चात्य लेखकों में आधुनिक युग के लेखक प्रो० गार्नर ने चार तत्वों से युक्त राज्य की परिभाषा दी है, जिसे सभी आधुनिक विद्वान् मान्यता देते हैं। प्लेटो तथा अरस्तू ने यूनानी नगर-राज्यों के सन्दर्भ में, सिसरो ने रोमन कानून की धारणा के आधार पर, मध्य युग के विचारकों ने ईसाई धर्म-शिक्षा के आधार पर तथा बोदां ने अपने सम्प्रभुता के सिद्धान्त के आधार पर तथा आधुनिक अन्य विद्वानों ने राजनीति की विभिन्न नई विचारधाराओं के आधार पर राज्य की पारिभाषिक व्याख्या की है।

राज्य की परिभाषा तथा स्वरूप—प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेता महाभारत के काल से लेकर पौराणिक काल तक राज्य की पारिभाषिक व्याख्या करने में एकमत रहे हैं। यह व्याख्या सुविख्यात 'राज्य-सप्तांग सिद्धान्त' के नाम से जानी जाती है। महाभारत के शान्तिपर्व में राज्य के तत्वों के विवेचन के अन्तर्गत राज्य के सात (प्राचीन भारतीय परम्परागत) अंगों का उल्लेख मिलता है। परन्तु सप्तांगी राज्य की विधिवत व्याख्या सर्वप्रथम कौटलीय अर्थशास्त्र में की गयी थी। यह रचना अरस्तू की समकालीन है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सात मूल तत्व या अंग होते हैं—स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड तथा मित्र। ये शरीर के अंगों की भाँति हैं। इनमें से किसी एक को क्षति पहुँचने से सम्पूर्ण को कष्ट होता है। कौटिल्य ने यह भी स्वीकार किया है कि उक्त सात अंगों में से प्रथम पहले की अपेक्षा बाद वाले अंग की हानि कम प्रभावी होती है। कौटिल्य के पश्चात् मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियों, शुक्र तथा कामन्दकीय नीतिसारों, बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र, अग्नि पुराण आदि सभी ग्रन्थों में राज्य के उक्त सात अंगों का उल्लेख किया जाता रहा है। कुछ ग्रन्थों में इन अंगों में से कुछ को अन्य नामों से सम्बोधित किया गया है, यथा जनपद के लिए जन या राष्ट्र, दुर्ग के लिए पुर, दण्ड के लिए बल आदि। परन्तु इनके अभिप्राय में अन्तर नहीं है। सप्तांग राज्य का विवेचन न केवल राज्य के मूल-भूत तत्वों का परिचायक है, अपितु उससे यह बोध होता है कि प्राचीन भारतीय विचारक राज्य के सावयव स्वरूप को मानते थे। शुक्र ने राज्य रूपी वृक्ष के विभिन्न अंगों से इनकी उपमा दी है। अन्यत्र उन्होंने इन अंगों की तुलना शरीर के अंगों से भी की है। इस प्रकार समूचे प्राचीन भारत के राजनीति विषयक ग्रन्थ इस सिद्धान्त

को स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद में भी राज्य के सावयव रूप का उल्लेख है

राज्य की उत्पत्ति—राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दैवी शक्ति तथा समझौते सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी प्राचीन राजनीति विषयक ग्रन्थों में किया गया है। मनुस्मृति राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का, महाभारत दैवी तथा सामाजिक समझौता सिद्धान्त का, बौद्ध ग्रन्थ दिघनिकाय समझौता सिद्धान्त का तथा वैदिक साहित्य शक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में भी सामाजिक समझौता सिद्धान्त मिलता है। यद्यपि राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त सिद्धान्तों की खोज प्राचीन भारत के उपयुक्त ग्रन्थों में वर्णित उपाख्यानों के द्वारा की जाती है तथापि जिस प्रकार के विवरण इन ग्रन्थों में मिलते हैं वे पाश्चात्य देशों में विभिन्न कालों में विविध विचारकों द्वारा दिये गये तर्कों से कई रूपों में भिन्न प्रकृति के हैं। अतः पाश्चात्य देशों में प्रतिपादित इन सिद्धान्तों की तुलना प्राचीन भारतीय विचारों से पूर्णतया समान रूप में नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ हॉब्स तथा लॉक के समझौता सिद्धान्त व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा पर आधारित हैं। परन्तु प्राचीन भारत में प्राकृतिक कानून तथा अधिकारों जैसी धारणा मान्य नहीं थी। वस्तुतः प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य या राजनीतिक समाज की उत्पत्ति का विवेचन नहीं किया अपितु राजा या शासक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त सिद्धान्तों की चर्चा की है। चूंकि प्राचीन भारतीय राज्य तत्त्वतः राजतन्त्र थे अतः राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्तों को राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के रूप में मान लिया जाता है। ऐसी धारणाएं पाश्चात्य देशों में भी कई कालों से व्यक्त की जाती रही थीं। प्राचीन भारतीय विचारकों ने प्लेटो तथा अरस्तू की भांति राज्य को एक नैसर्गिक समुदाय चित्रित करने का प्रयास नहीं किया है। संक्षेप में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में दार्शनिक एवं प्रत्यय मूलक चिन्तन न करके यथार्थ राजनीतिक समाजों की व्यवस्था के बारे में विचार किया है। इस दृष्टि से वे प्रत्ययवादी न होकर यथार्थवादी विचारक थे।

राज्य के उद्देश्य तथा कार्य—राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय विद्वानों ने पाश्चात्य देशों के चिन्तकों की भांति किन्हीं वादों (isms) का प्रतिपादन नहीं किया है। धर्मप्रधान, अर्थप्रधान या नीतिप्रधान राजनीति को पाश्चात्य देशों में प्रचलित विविध वादों के रूप में नहीं माना जाना चाहिए। राज्य की समुचित व्यवस्था का दायित्व राजा के ऊपर था। राजा का प्रमुख दायित्व प्रजारंजन अर्थात् जनता को सुखी जीवन प्रदान करना था। सुखी जीवन का अर्थ त्रिवर्ग की प्राप्ति माना जाता था। त्रिवर्ग की प्राप्ति पर ही मानव जीवन के चारों उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव मानी जाती थी। इस प्रकार राजा तथा उसके अमात्य वर्ग (मन्त्री एवं अन्य प्रशासनिक कर्मचारियों) को प्रजा की खुशहाली का निरन्तर ध्यान रखना पड़ता था। धर्म की प्राप्ति का अर्थ यह था कि प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म, आश्रम धर्म तथा वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करे, अर्थ की प्राप्ति का अभिप्राय जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति था। काम का अभिप्राय सुखी पारिवारिक जीवन

तथा आवश्यक कामनाओं की तृप्ति करना था। इन सब की प्राप्ति राज्य के अन्दर तभी हो सकती थी जबकि राज्य का स्वरूप लोक-कल्याणकारी हो। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने एक लोक-कल्याणकारी के आदर्श का प्रतिपादन किया है। महाभारत, कौटलीय अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में राज्य की आर्थिक-व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्तों का व्यापक विवेचन किया गया है। ये विवरण इस तथ्य के द्योतक हैं कि प्राचीन भारतीय विचारकों की दृष्टि से राज्य का प्रमुख उद्देश्य जनता की बहुँमुखी उन्नति करना था। जनता का कल्याण उसे धर्म, कर्तव्य, आर्थिक समृद्धि, नैतिक आचरण आदि के क्षेत्र में सुखी जीवन प्रदान करने में निहित माना जाता था और यह दायित्व राज्य का था कि वह जनता को सुखी जीवन प्रदान करने का प्रयास करे।

(३) राजनीति तथा धर्म—प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का एक प्रमुख तत्व यह है कि समस्त राजनीतिक धारणाओं को धर्म से सम्बद्ध करके व्यक्त किया गया है अर्थात् प्राचीन भारत में धर्म तथा राजनीति के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध था। परन्तु प्राचीन भारतीय राज्य धर्मतन्त्री नहीं थे। साथ ही भारत के प्राचीन युग के साहित्य में धर्म का अभिप्राय आधुनिक युग में प्रचलित अंग्रेजी भाषा के शब्द religion का पर्याय नहीं माना गया है। 'रिलिजन' शब्द से वर्गगत तथा साम्प्रदायिक भावना का बोध होता है। यह विभिन्न मतावलम्बियों के मध्य एक-दूसरे से पार्थक्य की भावना का संचार करता है, जबकि प्राचीन भारत में धर्म की धारणा व्यापक मानव धर्म की द्योतक है। भारतीय साहित्य में धर्म शब्द की उत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई मानी गयी है, जिसका अर्थ है 'धारण करना'। विश्व में प्रत्येक वस्तु, व्यवस्था, प्राणी आदि का एक विशिष्ट गुण या धर्म होता है। यदि वह उसे धारण करे तो वह सत्य है, अन्यथा असत्य या निरर्थक। धर्म ही सत्य है। आग का गुण ताप है, यदि आग ताप को धारण न करे तो वह असत्य है। इसी प्रकार मानव होने के नाते मनुष्य के अनेक धर्म हैं, राज्य-व्यवस्था के भी धर्म हैं, आदि। उनके द्वारा अपने गुणों अर्थात् धर्मों को धारण करने में ही उनकी सत्यता है, अन्यथा वे झूठ हैं। प्रत्येक वस्तु, व्यवस्था, प्राणी आदि के धर्मों का उल्लेख भारतीय साहित्य में किया जाता रहा है। मानव के तीन प्रमुख धर्म स्वधर्म, वर्णाश्रम धर्म तथा आश्रम धर्म वेदों आदि में वर्णित हैं। मानव को उन्हें के अनुसार जीवन में आचरण करना चाहिए। राजनीतिक समाज की सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह मानव आचरण को उसके धर्मों के अनुरूप बनाये रखे। इस प्रकार प्राचीन भारतीय विचारकों ने धर्म, सत्य, नैतिकता आदि के आधार पर राज्य-व्यवस्था का विवेचन किया है।

मध्ययुगीन यूरोप में भी राजनीति तथा धर्म को परस्पर सम्बद्ध करके राजनीतिक विचार व्यक्त करने की परम्परा अपनायी गयी थी। परन्तु प्राचीन भारतीय तथा मध्ययुगीन यूरोप की राजनीतिक चिन्तन प्रणालियों के मध्य कुछ मौलिक भेद रहे हैं। मध्ययुगीन यूरोप में राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य भीषण संघर्ष के रूप में विकसित हो गया था। राजा तथा पोप दोनों अपने दैवी अधिकार का दावा करने लगे थे। कालान्तर में स्वयं ईसाई चर्च में

फूट पट गयी और अन्तत वह दो प्रमुख चर्चों मे बंट गया था। सत्ता संघर्ष की अवधि में राजा तथा पोप दोनों एक-दूसरे के क्षेत्र मे हस्तक्षेप करने की शक्ति का दावा करने लगे थे। चर्च के विभाजन के फलस्वरूप राष्ट्रीय राज्यों मे आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष होने लगे थे। परिणामस्वरूप धर्म तथा राजनीति की पृथकता का सिद्धान्त वहाँ की राजनीतिक समस्या का अन्तिम समाधान माना जाने लगा था। इसके विपरीत प्राचीन भारत मे धर्म तथा राजनीति घनिष्ठतया सम्बद्ध थे। पुरोहित राजा का एक प्रमुख मन्त्री होता था। धर्म-सम्बन्धी मामलों मे वह राजा का प्रमुख सलाहकार होता था। राजा की सत्ता पूर्णतया धर्म के नियमों के अधीन थी। वह उनकी अपेक्षा नही कर सकता था। धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले राजा का बध कर देने के तथ्यों को महाभारत, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों मे मान्यता दी गयी है। यद्यपि धर्म प्रधान राजनीति के ग्रन्थों में राजा की उत्पत्ति तथा उसके रूप को दैवी मानने की बातें दर्शायी गयी हैं तथापि राजा का दैवी रूप राजपद के सम्बन्ध मे था, न कि उस पद को धारण करने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध मे।

(4) सम्प्रभुता—प्राचीन भारतीय राजनीति के अन्तर्गत आधुनिक सम्प्रभुता सदृश धारणा का नितान्त अभाव था। यद्यपि राजपद को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्रदान की जाती थी, तथापि राजा इस अर्थ मे सम्प्रभु नही था कि उसका आदेश ही कानून माना जाये। कानून के स्रोत धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा राजशासन माने जाते थे। धर्म के नियम जिनके स्रोत वेद, शास्त्र आदि ग्रन्थ थे, अकाट्य माने जाते थे। कोई भी राज्य-व्यवस्था उनका उल्लंघन नही कर सकती थी। लोकाचरण के निमित्त धर्म के नियमों से विरोध न करने वाली परम्पराएँ तथा महापुरुषों द्वारा अपनाये गये आचरण मान्य होते थे। इन सबसे विरोध न रखते हुए शासन-व्यवस्था का नियमन करने के सम्बन्ध में राजा तथा शासक समय-समय पर जो आदेश देते थे वे भी कानून के रूप मे माने जाते थे। इस प्रकार धर्म सबसे बड़ा कानून था। राजसत्ता पूर्णतया उसके अधीन थी। स्वयं राजा धर्म के नियमों से अपनी सत्ता प्राप्त करते थे और उन्ही मे राज्य की सत्ता भी मर्यादित रहती थी। मनु तथा कौटिल्य सदृश राजतन्त्रवादी विचारकों तक ने राजा की सत्ता को धर्म के नियमों से मर्यादित रखने की बातें कही हैं। प्राचीन भारतीय राजनीति के अन्तर्गत यदि सम्प्रभुता जैसी कोई धारणा थी तो यही माना जा सकता है कि धर्म ही सम्प्रभु सत्ता धारण करता था। धर्म को राजनीति से पृथक् करने या धर्म-निरपेक्ष राजनीति का प्रतिपादन करने की न तो प्रवृत्ति थी, न ही ऐसी कोई समस्या थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि धर्म न तो राजनीति स प्रभावित था और न वह धर्म के पुजारी या पुरोहितों का हित था। भारतीय धर्म किसी वर्ग-विशेष का हित न होकर सम्पूर्ण सामाजिक-व्यवस्था का नियामक था।

(5) राज्य का राजतन्त्रवादी स्वरूप—प्राचीन भारत की राज्य-व्यवस्थाएँ मूल रूप से राजतन्त्रात्मक थी। वैदिक काल मे राष्ट्र का प्रधान राजा कहलाता था। राजा का पद पैतृक न होकर निर्वाचित होता था। वैदिक काल मे समिति राज्य की सर्वोच्च राष्ट्रीय व्यवस्थापिका सदृश संस्था थी। वही राजा का निर्वाचन करती

थी। राजा को समिति के सदस्यों के समक्ष शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी और वही समिति राजा का राज्याभिषेक करती थी। वैदिक तथा वेदान्तर कालीन साहित्य में राज्याभिषेक समारोह की विधियों का विशद विवेचन किया गया है। यह व्यवस्थाएं राजसत्ता को मर्यादित करने की परिचायक है। राजा का निर्वाचन हो जाने पर वह आजन्म पदासीन रहता था। परन्तु समिति द्वारा उसे पदच्युत कर दिये जाने तथा पदच्युत राजा को पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित करने अथवा उसके स्थान पर दूसरे राजा को निर्वाचित करने के प्रसंग भी उक्त साहित्य में मिलते हैं। राजपद के रिक्त हो जाने पर नये राजा का निर्वाचन किया जाता था। कालान्तर में राजा के स्थान पर युवराज को नियुक्त करने के दृष्टान्त मिलते हैं। धीरे-धीरे राजा की मृत्यु हो जाने पर उसके ज्येष्ठ पुत्र को राजपद पर प्रतिष्ठापित करने की परम्परा बनने लगी और राजा का पद आनुवंशिक होता गया। परन्तु निर्वाचन का सिद्धान्त समाप्त नहीं हुआ। राजा का उत्तराधिकारी योग्य होने पर ही राजपद ग्रहण कर सकता था। वैदिक काल में राजा के मन्त्रिगण जिन्हें रत्निन् कहा जाता था नये राजा को राजपद प्राप्त करने की स्वीकृति देते थे। महाभारत में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनके अन्तर्गत अयोग्य राजकुमार को राजपद नहीं दिये गये। रामायण का यह प्रसंग उल्लेखनीय है कि जब राजा दशरथ वृद्ध हो गये थे तो उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज बनाने का प्रस्ताव मन्त्रियों तथा पौर जानपदों के समक्ष रखकर उनसे स्वीकृति प्राप्त की थी। कालान्तर में राजपद पैतृक होता गया और उसका सक्रमण ज्येष्ठता के नियम से होने लगा। परन्तु निर्वाचन का सिद्धान्त परोक्ष रूप से माना ही जाता रहा। बाद में यह आनुवंशिक हो गया।

प्राचीन भारत में गणतन्त्री व्यवस्थाएँ भी अनेक प्रदेशों में विद्यमान थी। महाभारत, अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में गणराज्यों के उल्लेख मिलते हैं। गणराज्यों में राज्य के प्रधान तथा शासक को निर्वाचित किया जाता था, परन्तु उन्हें राजा के ही नाम से सम्बोधित करने की परम्परा थी। कुछ गणराज्य दो राजाओं वाले भी बताये गये हैं। कुछ राज्यों के रूप सघात्मक भी थे। परन्तु उन्हें आधुनिक युग के संघों के रूप में नहीं माना जाना चाहिए। वास्तव में वे संघ न होकर परिसंघों के रूप के थे। क्षुद्रक-मालव संघ, अन्धक-वृष्णि संघ आदि ऐसे दृष्टान्त हैं। राज्यों का रूप चाहे राजतन्त्री रहा हो या गणतन्त्री, राज्य-व्यवस्था का सचालन मर्यादित राजतन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार ही होता था। यहाँ तक कि साम्राज्यशाही के युगों में जब सम्राट लोग पर्याप्त शक्तिशाली हो गये थे और राजपद के निमित्त निर्वाचन का सिद्धान्त केवल औपचारिकता रह गया था, सम्राट या राजा निरंकुश नहीं थे। उनके ऊपर सबसे बड़ी मर्यादा धर्म की थी। वे स्थापित धर्म के नियमों का उल्लंघन करके स्वेच्छाचारी शासन करने की हिम्मत नहीं कर सकते थे।

वैदिक काल से लेकर सम्पूर्ण हिन्दू शासनकाल तक राजाओं को मन्त्रि-परिषद् की सलाह से शासन कार्य का सचालन करना पड़ता था। मन्त्रि परिषद के स्वरूप, मन्त्रियों की सख्या, मन्त्रि परिषद् की शक्ति तथा कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में विभिन्न युगों के राजनीतिक साहित्य पूर्णतया एक-सी बातें नहीं कहते और न ही

ऐसा सम्भव हो सकता था। परन्तु बहुत-सी बातों में एकरूपता थी। उदाहरण के तौर पर मन्त्रियों की नियुक्ति राजा करते थे। मन्त्रिपद भी राजपद की भाँति पैतृक परम्परा पर आधारित होते गये। मन्त्रियों की नियुक्ति विशेषता के आधार पर होती थी। राजा मन्त्रियों से व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से परामर्श करते थे। मन्त्रणा की गोपनीयता को बनाये रखने के लिए मन्त्रणा देने वाले मन्त्रियों की सख्या बहुत अधिक न होने की बातें विचारकों ने कही हैं। वैदिक साहित्य में 12 से 15 तक, अर्थशास्त्र में 3 या 4, महाभारत में 37, शुक्रनीतिसार में 8 तथा मनुस्मृति में 7, 8 तक मन्त्रियों की सख्या बताई गई है। चूंकि मन्त्रिगण जन प्रतिनिधि सभा से नहीं लिये जाते थे, अत आधुनिक ससदीय शासन-प्रणालियों की तरह मन्त्रियों के सामूहिक उत्तरदायित्व जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। यद्यपि मन्त्रि परिषद् के सदस्यों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व राजा के प्रति था, तथापि मन्त्रिगण केवल मात्र राजा के परामर्शदाता नहीं होते थे। वे विभिन्न प्रशासनिक विभागों के अध्यक्ष भी होते थे। साथ ही राजा की भाँति उनके ऊपर भी धर्म एव लोक-कल्याण के निमित्त कार्य करने की मर्यादा थी। साथ ही मन्त्रिगण राजा को निरकुश होने के विरुद्ध प्रभावशाली अकुश का कार्य भी करते थे। राज्य सप्ताग सिद्धान्त के अन्तर्गत अमात्य (मन्त्रि-वर्ग) को राज्य का अभिन्न अग माना गया है। उनकी स्थिति राजा (स्वामी) के बाद द्वितीय क्रम म रखी गयी है। प्राचीन भारत मे आज की सी दल-पद्धतियों का पूर्णतया अभाव था। अत मन्त्रि-परिषदों के दलीय स्वरूप के होने या न होने की कोई कल्पना नहीं की जा सकती है।

(6) राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, लोकतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र—राज्य-व्यवस्थाएँ इन चार रूपों मे से किस रूप की हैं, इस बात पर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के अन्तर्गत बहुधा विचार किया जाता रहा है। यदि प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्थाओं पर विचार किया जाये तो यह तो सर्वमान्य बात है कि अधिकांश प्राचीन भारतीय राज्य राजतन्त्री थे। परन्तु वे न तो विशुद्धतया वैधानिक राजतन्त्र थे, न निरकुश राजतन्त्र और न ही उन्हें स्वेच्छाचारी राजतन्त्रों की श्रेणी मे रखा जा सकता है। उन्हें दयावान् स्वेच्छाचारीतन्त्र (benevolent despotism) की सज्ञा भी नहीं दी जा सकती। प्राचीन भारतीय राजनीतिविषयक ग्रन्थों ने राजाओं को राज्य मे सर्वोच्चता की स्थिति प्रदान की है, परन्तु उस सत्ता के प्रयोग मे उनके ऊपर अनेक मर्यादाएँ भी आरोपित की हैं। राजा मन्त्रियों के हाथ की कठपुतली नहीं होते थे, न ही वे मन्त्रियों की उपेक्षा कर सकते थे। राजाओं के अनेक परमाधिकारों के साथ-साथ बहुत मे राजनीतिक तथा नैतिक दायित्व भी थे। उन्हें पूर्ण न करने वाले राजा न केवल इस लोक मे दण्ड के भागी मान जाते थे वरन् परलोक के दण्ड का भी उन्हें भय था। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने राजाओं के निमित्त आचार-संहिता की व्याख्याएँ भी की हैं, ताकि उनका अनुगमन करके वे वास्तव मे प्रजारजन का कार्य करने मे समर्थ हो सकें। प्राचीन भारतीय साहित्य मे कुलीनतन्त्री व्यवस्थाओं का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु इतना अवश्य था कि शासक वर्ग, अर्थात् अमात्यों का चयन कुलीनतन्त्री आधार पर ही हुआ करता था। यहाँ तक कि

मन्त्रि-परिषदों में राजवंश के अतिरिक्त सदस्यों का लिया जाना शास्त्रों के अन्तर्गत मान्य किया गया है। उस युग में कुलीनतन्त्री व्यवस्था के अस्तित्व को इसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है। बहुधा यह प्रश्न उठता है कि क्या प्राचीन भारतीय राज-व्यवस्थाएं लोकतन्त्री थी? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट शब्दों में 'हाँ' या 'ना' के रूप में नहीं दिया जा सकता। यदि लोकतन्त्र को आधुनिक सन्दर्भ में लिया जाये जिसमें वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने गए प्रतिनिधियों की संस्था राज्य की सर्वोच्च सत्ता धारण करती है और वह संस्था अन्ततः निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होती है तथा राजनीतिक दलों की गतिविधियाँ लोकतन्त्र को नियन्त्रित करती हैं, तो सम्भवतः यह मानना पड़ेगा कि प्राचीन भारत में ऐसी लोकतन्त्री व्यवस्थाएँ विद्यमान नहीं थी। परन्तु वैदिककालीन समिति, सभा तथा विदथ लोकतन्त्री संस्थाएँ थी और वे सर्वोच्च सत्ताधारी जनसभायें थी। इसी प्रकार बाद के युग की पौर-जानपद सभाओं को इस रूप में माना जा सकता है। प्रोफेसर के० पी० जायसवाल ने पौर-जानपद सभाओं को आधुनिक युग की संसदों की भाँति चित्रित करने का प्रयास किया है। परन्तु उनके इस सिद्धान्त को बाद के अन्य विद्वानों ने तर्कहीन तथा तथ्यहीन बताया है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेता न तो आधुनिक सम्प्रभुता सदृश धारणा से परिचित थे और न ही उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि प्राचीन भारत में राजा या शासक अपनी सत्ता जनता से प्राप्त करते थे। अतः लोकप्रभुसत्ता, राजनीतिक एवं वैधिक प्रभुसत्ता सदृश धारणाओं का उस युग में अभाव था।

इतना होते हुए भी प्राचीन भारतीय राज-व्यवस्थाएँ अनेक लोकतन्त्री तत्वों से युक्त थीं। लोकतन्त्र के कुछ प्रमुख सिद्धान्त, यथा 'मर्यादित शासन', 'लोक-कल्याणकारी राज्य की मान्यता' तथा 'शासन सत्ता का विकेन्द्रीकरण' प्राचीन भारत में प्रचलित थे। राज्य तथा शासन का अस्तित्व जनता के कल्याण के लिए माना जाता रहा था। इसी उद्देश्य को सम्पन्न करना शासकों का मुख्य उद्देश्य था और इसी उद्देश्य के आधार पर उनकी सत्ता मर्यादित थी। धर्म (कानून) की दृष्टि में सबको समान मानने की धारणा भी विद्यमान थी। राजा तथा अमात्य वर्ग का मर्यादित रहना लोकतन्त्री सिद्धान्त का द्योतक है। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजतन्त्र मर्यादित राजतन्त्रों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं, जो एक लोकतन्त्री सिद्धान्त है। प्राचीन भारत में लोकतन्त्र के अस्तित्व का दूसरा तथ्य स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का होना है। ग्रामीण क्षेत्रों में गाँव पंचायतों की व्यवस्था प्राचीन भारत की अनुपम विशेषता है। यहाँ तक कि आज बीसवीं सदी में भी इनके महत्त्व को स्वीकार करके ऐसी व्यवस्थाएं प्रारम्भ की गयी हैं। ग्रामीण जन-समूह पंचायतों के द्वारा अपनी स्थानीय व्यवस्थाओं को स्वयं सम्पन्न करते थे। उनकी शक्तियों को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त थी। ये पंचायतें न्याय के क्षेत्र में भी व्यापक अधिकारों का प्रयोग करती थी। प्राचीन भारत की पंचायत प्रणाली ग्रामीण जन-समूहों को लोक-तन्त्र का वास्तविक लाभ पहुँचाने में समर्थ थी। इन दृष्टियों से प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्थाओं में अनेक लोकतन्त्री तत्व विद्यमान थे। अधिनायकतन्त्री व्यवस्थाओं

के अस्तित्व का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। उस युग में अनेक महत्त्वाकांक्षी सम्राट हुए हैं। परन्तु उन्हें निरंकुश शासक या अधिनायक नहीं कहा जा सकता। साम्राज्य विस्तार का उद्देश्य आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक शोषण नहीं था। बल्कि राजनीतिक प्रभुत्व का विस्तार करना था। विजित प्रदेश का शासन चलाने में सम्राटों के दायित्व वही हो जाते थे जो अपने राज्य के क्षेत्र के अन्तर्गत थे।

(7) सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यावहारिकता पर बल—पाश्चात्य देशों में अधिकांश राजनीतिक साहित्य चिन्तनात्मक राजनीति का प्रतिपादक होने के कारण सैद्धान्तिक अधिक है। प्लेटो का रिपब्लिक, कुछ अंश में अरस्तू का पॉलिटिक्स, रूसो के ग्रन्थ, आदर्शवादी राजनीतिक विचार, विभिन्न समाजवादी विचारधाराएँ, मध्ययुगीन ईसाई धर्म-शिक्षाओं पर आधारित राजनीति, प्राकृतिक कानून की अस्पष्टता से युक्त राजनीतिक विचार आदि बहुत कुछ अंश में सैद्धान्तिक अथवा स्वप्नलोकी हैं। व्यवहार में इनके अनेक सिद्धान्तों को लागू कर सकना संदिग्ध ही बना रहा। इसके विपरीत प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार मूल रूप से स्वतन्त्र ग्रन्थों में कम व्यक्त किये गये हैं। वेदों, वेदोत्तरकालीन साहित्य, महाकाव्यों, धर्मशास्त्रों आदि की विषय-वस्तु *अत्यन्त व्यापक है। उनमें यत्र-तत्र राजनीति-सम्बन्धी बातें भी लिखी* गयी हैं, जो विशुद्ध रूप से चिन्तनात्मक न होकर व्यावहारिक हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र प्राचीन भारत की राजनीति-सम्बन्धी विषय-वस्तु का व्यापक विश्लेषण करता है। इसी प्रकार शुक्रनीतिसार तथा कामन्दकीय नीतिसार भी राजनीतिक विषयों का व्यापक रूप से विश्लेषण करते हैं। अग्निपुराण को भी इस श्रेणी में रखा जा सकता है। इन समस्त ग्रन्थों की विषय-वस्तु जहाँ तक उसका सम्बन्ध राज्य-व्यवस्था, शासन-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, आदि से है भावनामूलक सिद्धान्तों के रूप में प्रतिपादित नहीं की गयी है। इन ग्रन्थकारों ने राजाओं तथा शासकों को कुछ ऐसे उपदेश दिये हैं, जिनका अनुगमन करते हुए उन्हें शासन-व्यवस्था का संचालन करना चाहिए था। ये सिद्धान्त भारत की परम्परागत संस्कृति, धर्म ग्रन्थों, जनपरम्पराओं एवं तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्यक्त किये जाते रहे हैं। अतः वे कोरे भावनामूलक दार्शनिक विचार न होकर व्यावहारिक राजनीतिक विचार हैं। प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य की धारणा को दार्शनिक तर्कों द्वारा कभी व्यक्त नहीं किया और न ही उनके विचारों में राजनीतिक आदर्शों (स्वतन्त्रता, समानता, राष्ट्रीयता, प्रभुसत्ता आदि) की भावनामूलक व्याख्या करने की प्रवृत्ति रही है। राज्य के स्वरूप तथा कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में भी प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने भावनामूलक चिन्तन नहीं किया। इसलिए प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा को आधुनिक-युगीन किसी विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा (उदारवाद, व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, समाजवाद, आदर्शवाद आदि) के अन्तर्गत वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। सचमुच वह कोई विशिष्टवाद नहीं थी, अपितु व्यावहारिक राजनीति के सम्बन्ध में समय-समय पर विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये विचार थे। उनके कुछ मूलभूत सिद्धान्त सदैव समान रूप से मान जाते रहे थे, यथा राज्य की सप्तांग प्रकृति, राज्य के प्रमुख उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति कराना,

राजाओं के आचरण सम्बन्धी नियम, धर्म को सर्वोच्च स्थिति प्रदान करना, आदि।

(8) राज्य के सम्बन्ध में भावनामूलक चिन्तन करने की अपेक्षा शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में व्यावहारिक बातों का विवेचन—प्राचीन भारत के राजनीतिक साहित्य की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि उसके अन्तर्गत राज्य की विविध शासनिक एवं प्रशासनिक संस्थाओं के संगठन, कार्य-क्षेत्र, अधिकार आदि का पर्याप्त विवेचन किया गया है। इसका अध्ययन उस युग की राजनीतिक परम्पराओं, व्यवहारों, आदर्शों एवं व्यवस्था का ज्ञान करने के निमित्त प्रचुर सामग्री प्रदान करता है। वैदिक साहित्य में राजा, रत्निन्, सभा, समिति, विदथ, राज्याभिषेक, सर्वोच्च पदाधिकारी वर्ग ग्रामीण शासन आदि का उल्लेख उस युग की शासन-प्रणाली के सिद्धान्तों तथा व्यवहारों का ज्ञान कराता है। महाभारत के शान्तिपर्व में जो विवरण भीष्म तथा युधिष्ठिर के संवादों में दिए गए हैं वे भीष्म द्वारा राजा को शासन-संचालन के सम्बन्ध में दिये गये कतिपय उपदेशों के रूप में हैं। रामायण में यत्र-तत्र राजनीतिक संस्थाओं एवं उनकी कार्य विधि के विवरण मिलते हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र तो मूल रूप में एक प्रकार की शासन-संहिता ही है। इसमें राज्य के उद्देश्य, जनपद (राष्ट्र) के संगठन, राज्य के मूलभूत अंगों एवं संस्थाओं के संगठन संचालन तथा कर्तव्यों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में राज्य के विविध प्रशासनिक अंगों, विभागों तथा पदाधिकारियों के संगठन, नियुक्ति अधिकार, कार्य-क्षेत्र, दायित्वों आदि के विवेचन के साथ-साथ अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में व्यापक विवरण दिए गये हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा आचरणों के नियम युद्ध तथा शान्ति के नियम, राज्यमण्डल सिद्धान्त तथा षाड्गुण्य मन्त्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के व्यवहार, गुप्तचर तथा दूत प्रथा, न्याय-व्यवस्था दण्डविधान आदि का इतना विशद विवेचन किया गया है कि यह रचना प्राचीन भारत की राजनीति राजनीतिक संविधान, कानून, न्याय, प्रशासन आदि की एक अद्वितीय संहिता सिद्ध होती है। इन समस्त बातों के विवरण में चिन्तक न किन्हीं भावनामूलक दार्शनिक विचारों को व्यक्त न करके सक्रिय एवं व्यावहारिक राजनीति तथा राज्य की शासन एवं प्रशासनिक व्यवस्था के निमित्त ठोस बातें चित्रित की हैं। शासन-पद्धति का ऐसा व्यापक तथा विशद विवेचन आज तक संसार के किसी अन्य विचारक की लेखनी से व्यक्त नहीं हो पाया है। मनु, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियों, कामन्दक, तथा शुक्र के नीतिसारों, बृहस्पति अर्थशास्त्र आदि में जहाँ कहीं भी राजधर्म या राजनीति का वर्णन किया गया है वह कौटलीय अर्थशास्त्र की परम्परा पर आधारित शासन-व्यवस्था सम्बन्धी व्यावहारिक नियमों का संकलन ही लगता है। यह सत्य है कि आधुनिक युग में शासन-प्रणालियों, शासन-व्यवस्थाओं आदि के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त तथा व्यवहार प्रचलित हैं, वे तब नहीं थे। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था सम्बन्धी नियम अपने युग के निमित्त ही व्यक्त किये गए थे। उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस युग के विचारक व्यावहारिक अधिक थे और सैद्धान्तिक कम।

(9) राजनीतिक विचारों की व्यापकता—प्राचीन भारत की दीर्घकालीन

अवधि मे समय समय पर जिस राजनीतिक साहित्य का सृजन हुआ था उसका अव
लोकन करने से एक स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि इन विचारको ने जहाँ
चिन्तना मक राजनीति एव राज्य तथा शासन सम्बन्धी बातो का केवल मात्र दार्शनिक
चिन्तन करने की परम्परा नही अपनायी प्रत्युत इन्होने व्यावहारिक राजनीति का
व्यापक विवेचन किया है। पाश्चात्य देशो म ईसा की तीसरी तथा चौथी शताब्दी
पूव यूनान मे प्लेटो तथा अरस्तू ने नगर राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध मे चिन्तनात्मक
दर्शन का प्रतिपादन करके यूरोपीय राजनीतिक विचारो के इतिहास का श्रीगणेश
किया था। इसी अवधि म भारत म कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की रचना करके भारतीय
राजनीतिक साहित्य को अपना यह अमूल्य ग्रन्थ प्रदान किया। उक्त यूनानी दार्शनिको
के बारे में कहा जाता है कि तत्कालीन यूनानी नगर राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध मे जो
कुछ ये दोनो विचारक कह गये है उससे अधिक और कुछ कहना शेष नही बचता।
यही बात कौटलीय अर्थशास्त्र के बारे मे भी सत्य है कि भारत की तत्कालीन राजनीतिक
सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे लेखक ने किसी समस्या को अछूता
नही रखा। ग्रामीण नगरीय स्थानीय प्रादेशिक राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय सभी
समस्याओ के सम्बन्ध मे लेखक ने व्यापक विचार किया है और इन समस्याओ के
समुचित समाधान के निमित्त सिद्धान्तो तथा व्यवहारो का प्रतिपादन किया है।
प्रोफेसर अल्तेकर का मत है कि अर्थशास्त्र प्रशासनिक व्यवस्था की सर्वोत्तम रचना
है। तत्कालीन समाज के सन्दर्भ मे प्रशासनिक व्यवहार के सभी पहलुओ का अर्थ
शास्त्र में विशद विवेचन किया गया है। लेखक स्वय तत्कालीन सम्राट चन्द्रगुप्त
मौर्य का एक प्रमुख मन्त्री अन्तरग सलाहकार तथा प्रतिभाशाली राजनयिक एव
विद्वान था। इसके कारण भी अर्थशास्त्र तत्कालीन राजा तथा सम्राटो के लिए एक
व्यापक शासन सहिता के रूप मे लिखा गया था। अर्थशास्त्र के विचारो का प्रभाव
बाद की रचनाओ स्मृतियो तथा नीतिसारो पर पडा। कामन्दक शुक्र मनु आदि
की रचनाओ का काल अर्थशास्त्र की रचना के बाद का माना गया है। इनमे वर्णित
राज्य शासन सम्बन्धी विषय वस्तु अर्थशास्त्र म वर्णित सिद्धान्तो का अनुगमन करती
है। जो कुछ अन्तर बाद की इन रचनाओ के विचारो मे पाया जाता है वह इस
कारण से है कि बाद के युग म राज्य की समस्याए तथा व्यवस्थाए परिवर्तित होती
गयी थी और उनके सन्दर्भ मे कुछ परिवर्तन विचारो मे भी होना स्वाभाविक था।
शुक्रनीतिसार म मन्त्रिमण्डल की रचना तथा प्रणाली का विकसित रूप मिलता है।
सारांश म प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारको ने राज्य शासन प्रशासन सैनिक
व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध न्याय दण्ड आदि का व्यापक विवेचन किया है।

(10) **राज्य तथा नागरिक**—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन एव राज्य की
सांविधानिक प्रणालियो का एक केन्द्रीय तत्त्व राज्य तथा व्यक्ति के मध्य सम्बन्धो के
निर्धारण पर विशेष ध्यान देना रहा है। यदि राज्य सत्ता का इच्छुक है तो व्यक्ति
स्वतन्त्रता का। परन्तु निरकुश सत्ता तथा निरपेक्ष स्वतन्त्रता क्रमश अत्याचारीतन्त्र
तथा अराजकता म परिणत हो सकती है। अतएव दोनो के मध्य समुचित सामजस्य
स्थापित करना प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था की मूल समस्या होती है। आधुनिक

राजनीतिक विचारधाराएँ इन्हीं समस्याओं को लेकर प्रतिपादित हुई है। यद्यपि प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों के अन्तर्गत ऐसी विचारधाराओं का प्रतिपादन नहीं हुआ था, तथापि उस युग के विचारकों ने राज्य तथा व्यक्ति के मध्य सामंजस्य स्थापित करने के सम्बन्ध में भी विचार व्यक्त किये है। आधुनिक राज्यों की सांविधानिक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत कानून द्वारा नागरिकता का निर्धारण करने, नागरिकों तथा अनागरिकों के मध्य भेद करने, दोनों के मूल अधिकारों तथा कर्तव्यों का संविधानों में उल्लेख करने, उनके संरक्षण की कानूनी व्यवस्था करने आदि पर अत्यधिक बल दिया जाता है। परन्तु इन सब व्यवस्थाओं के होते हुए भी किसी आधुनिक राज्य के अन्तर्गत राज्य एवं व्यक्ति के मध्य सम्बन्धों का सही ज्ञान संविधान एवं शासन के वास्तविक व्यवहार, उसकी परम्पराओं तथा जनमत की अभिव्यक्ति के अध्ययन से अधिक स्पष्ट होता है। प्राचीन भारत की राज्य व्यवस्थाएँ आधुनिक ढंग के लिखित संविधानों के आधार पर संचालित नहीं होती थी। प्रत्युत उनका संचालन शास्त्रों में निर्दिष्ट नियमों, जन परम्पराओं एवं राजनीतिक परम्पराओं के अनुसार होता था। इन्हीं के अन्तर्गत प्राचीन भारत में राज्य एवं व्यक्ति के मध्य सम्बन्धों की खोज की जा सकती है।

यद्यपि प्राचीन भारत में राज्य व्यवस्थाएँ मूलतः राजतन्त्री थी तथापि विभिन्न ग्रन्थों में निर्वाचित राजतन्त्रों का भी उल्लेख है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि जनता अर्थात् वयस्क नागरिक राजा के निर्वाचन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किस प्रकार भाग लेते थे। निर्वाचन पद्धति का भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः राजा के निर्वाचन मण्डल के सदस्य किसी न किसी रूप में जनता का अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करते होंगे और ये लोग अभिजात वर्ग के होते होंगे। प्राचीन भारत में गणतन्त्रों का भी उल्लेख समय-समय पर मिलता है। इनके अन्तर्गत भी नागरिक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य कार्यों में भाग लेते होंगे। राजतन्त्रों के अन्तर्गत केन्द्रीय शासन में भले ही नागरिकों का प्रत्यक्ष भाग न रहता हो, तथापि उस युग में स्थानीय स्वायत्त शासन का इतना व्यापक प्रसार हो चुका था कि स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में नागरिकों के सक्रिय भाग लेने के तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता।

जनता अर्थात् नागरिकों के मूल अधिकारों का भी यद्यपि स्पष्टतः उल्लेख नहीं मिलता, तथापि राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप की चर्चा निरन्तर की गयी है और राजा एवं शासन तथा प्रशासन तन्त्र के कर्तव्यों का वर्णन सभी ग्रन्थों में मिलता है। शासकों के ये दायित्व इतने महत्त्वपूर्ण थे कि इनका सफल संचालन न कर सकने वाले राजा या शासकों को पदच्युत करने, अत्याचारी राजा के विरुद्ध जनता द्वारा शस्त्र उठाने, क्रान्ति द्वारा उसे निकाल देने आदि की नीतियों को शास्त्र-गत मान्यता दी गयी है। अतएव जो राजा के कर्तव्य थे वही नागरिकों के अधिकार थे। प्रजा पालन, प्रजा रंजन, धर्म का बनाये रखना, जनता की सम्पत्ति की सुरक्षा, जनता को न्याय प्राप्त करने का अवसर देना आदि राज्य के कर्तव्य थे तो इनकी उपलब्धि का नागरिकों को अधिकार प्राप्त था। इसी प्रकार राज्य के भी कुछ अधिकार थे और वह नागरिकों से इनकी प्राप्ति का आकांक्षी था। राज्य की सुरक्षा

तथा प्रतिरक्षा के लिए प्रत्येक नागरिक को तत्पर रहना तथा राज्य द्वारा ऐसी माँग करने पर उसे पूर्ण सहयोग प्रदान करना व्यक्ति का परम कर्त्तव्य था। नागरिकों से कर या शुल्क प्राप्त करना राज्य का अधिकार था। राज्य में समुचित व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य के कानूनों तथा आदेशों का पालन करना भी जनता का कर्त्तव्य था। राज्य एवं व्यक्ति के मध्य संघर्ष नहीं था प्रत्युत पारस्परिक आदान प्रदान की विधि द्वारा दोनों के अधिकार व कर्त्तव्यों के मध्य सामञ्जस्य बनाये रखने की धारणा शास्त्र सम्मत थी और उसे जनपरम्परा तथा लोकमत की मान्यता भी प्राप्त थी।

प्राचीन भारत में राज्य की सत्ता न तो व्यक्तियों या जनता के प्राकृतिक या अन्य अधिकारों द्वारा मर्यादित मानी जाती थी और न वह इतनी व्यापक मानी जाती थी कि व्यक्ति राज्य में विलीन हो जायें अर्थात राज्य या व्यक्ति को न तो स्वयं साध्य माना जाता था और न एक दूसरे के हितों का साधन। प्रत्युत राज्य तथा व्यक्तियों के परस्पर एक-दूसरे के उद्देश्यों को पूर्ण करने के सम्बन्ध में अनेक अधिकार तथा दायित्व थे। सप्तांग राज्य सिद्धान्त के अन्तर्गत जन या जनपद या राष्ट्र अर्थात जनता को राज्य का अभिन्न अंग माना गया है। शासकों (स्वामी तथा अमात्य) की शक्तियों के ऊपर सबसे बड़ी मर्यादा लोक हित में सम्पूर्ण व्यवस्था का सचालन करने की थी। जनता भी राज्य या राजा के प्रति पूर्ण निष्ठा रखती थी। राज निष्ठा का आधार न तो राजसत्ता का भय था और न ही सत्ता के दैवी स्वरूप का। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं माना जाता था। राज्य एवं जनता दोनों एक-दूसरे के पूरक थे।

परिशिष्ट 2

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन की सामान्य विशेषताएँ

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के ऐतिहासिक विकास-क्रम में यूनानी तथा रोमन राजनीतिक चिन्तन के पश्चात् मध्य युग का काल आता है। इस युग के निर्धारण की सही तिथियों के बारे में मतभेद हो सकते हैं। परन्तु मोटे तौर पर यह युग पांचवी शताब्दी से प्रारम्भ होकर पन्द्रहवी शताब्दी तक का माना जा सकता है। जब रोमन साम्राज्य ट्यूटन जातियों के आक्रमणों से छिन्न-भिन्न कर दिया गया और आरम्भिक चर्च-सस्थापकों ने राजनीतिक समस्याओं के क्षेत्र में अपने विचार व्यक्त करने प्रारम्भ किये तभी से मध्य युग का आरम्भ माना जाता है। सोलहवी शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में मैकियाविली के विचारों से मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन की परम्परा समाप्त होने लगी। मैकियाविली को आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का जनक माना जाता है। लगभग 1000 वर्ष की इस अवधि में राजनीतिक चिन्तन के अन्तर्गत समय-समय पर विविध प्रवृत्तियां एवं धारणाएँ व्यक्त की गयी। परन्तु फिर भी कुछ दृष्टियों से उनमें समरूपता भी पायी जाती है। किसी युग के राजनीतिक चिन्तन पर तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का बहुत प्रभाव पड़ता है। परन्तु साथ ही उन विचारधाराओं को पूर्ववर्ती विचारधाराएँ भी किसी न किसी रूप में प्रभावित करती ही हैं। मध्ययुग का राजनीतिक चिन्तन यूनानी तथा रोमन चिन्तन से भिन्न रूप का होते हुए भी वह उनके प्रभाव से विहीन नहीं है, प्रत्युत् उसमें उनको समाविष्ट कर लेने की प्रवृत्ति बनी रही।

इस समूचे मध्ययुग में यूनानी दार्शनिकों प्लेटो या अरस्तू की सी प्रतिभा वाला कोई मौलिक चिन्तक नहीं हुआ, और न ही इस युग में रोमन साम्राज्य काल की सी सुव्यवस्थित राजनीतिक व्यवस्था रह पायी कि जिसके अन्तर्गत राजनीतिक सस्थाओं तथा व्यवहार के माध्यम से राजनीतिक चिन्तन का प्रतिपादन होता। प्रारम्भ में चिन्तन का यह युग ईसाई धर्म-गुरुओं की शिक्षाओं से प्रभावित रहा। पांचवी सदी के अन्तिम वर्षों से लेकर नवी सदी तक का काल यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अन्धकार का युग कहलाता है। परन्तु इस युग में भी राजनीतिक चिन्तन की सामग्री का अभाव नहीं था। ट्यूटन जातियों ने रोमन साम्राज्य

पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद अपने परम्परागत कानून तथा संस्थाओं के द्वारा राज्य व्यवस्था में नवीनताओं का संचार किया और ये संस्थाएँ अति दीर्घ काल तक यूरोपीय राजनीति को प्रभावित करती रहीं। पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने वाला प्रमुख तत्त्व रोमन चर्च के पोप तथा सम्राटों के मध्य उत्पन्न हुआ सत्ता संघर्ष था। दसवीं शताब्दी से यह संघर्ष और अधिक बढ़ गया। इस प्रकार जैसा प्रोफेसर मैक्बाइन ने लिखा है, 'ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में राजनीतिक चिन्तन मुख्यतया विवादास्पद बना रहा जिसका मुख्य केन्द्र पोप तथा सम्राट के मध्य अधिकार क्षेत्र से सम्बन्धित संघर्ष था।' इस अवधि में इटली में ज्ञान का पुनर्जागरण होने लगा था और प्राचीन यूनान रचनाओं तथा रोमन कानून का पर्याप्त दिलचस्पी से अध्ययन किया जाने लगा था। इस क्षेत्र में ईसाई चर्च से सम्बद्ध कुछ विद्वानों का अभ्युदय हुआ जिन्होंने अपने दर्शन में राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य उच्चता सम्बन्धी संघर्ष में धर्मसत्ता का पक्ष लिया। कालान्तर में विद्वत्तावाद के विकास ने कुछ ऐसी विभूतियों को जन्म दिया जिन्होंने धर्मसत्ता की श्रेष्ठता को राजनीति के क्षेत्र में अवाञ्छनीय बताकर धर्म निरपेक्ष राज-सत्ता की श्रेष्ठता का समर्थन किया, और चर्च को केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही अपने कार्य कलापों को सीमित रखने के विचार व्यक्त किये। इसका एक पहलू चर्च में बढ़ती हुई निरंकुशता, विलासिता एवं लौकिकता को समाप्त करके चर्च सुधार की योजना प्रस्तुत करना था। इस प्रकार यह संघर्ष ही राजनीतिक विचारों का केन्द्रीय तत्त्व बना रहा। मध्ययुग के अन्तिम वर्षों में यूरोप के विभिन्न देशों में पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रभाव घटता गया और इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय राज्यों तथा राष्ट्रीय चर्चों का अभ्युदय होने लगा। चर्च का विभाजन ईसाई जगत की सार्वभौम एकता के छिन्न भिन्न हो जाने तथा राष्ट्रीय राज्यों की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुआ। चर्च सुधार आन्दोलन की असफलता तथा प्रोटेस्टेंट धर्म-सुधार आन्दोलन ने यूरोप की राजनीति तथा राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया। यहाँ से मध्य युग की समाप्ति हो गयी। लगभग 1,000 वर्ष की इस अवधि को यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मध्य युग के नाम से जाना जाता है। इस युग के राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएँ भी उक्त घटना क्रमों के सन्दर्भ में विभिन्न रूपों की रही हैं। इन विशेषताओं को संक्षेप में निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

(1) धर्म प्रेरित राजनीतिक विचार—समूचे मध्य युग में प्राचीन यूनानी दार्शनिक प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति स्वतन्त्र रूप से राजनीतिक चिन्तन करने वाला कोई भी विचारक नहीं हुआ। रोमन साम्राज्य के पतन के कारण रोमन कालीन प्रशासनिक व्यवस्था, विधि-व्यवस्था एवं राजनीतिक संस्थाओं का भी लोप होता गया। इसका यह परिणाम हुआ कि राजनीतिक चिन्तन के विकास में योगदान करने वाली सामग्री की प्रचुरता रोमन काल की तुलना में हीन रही। परन्तु मध्ययुग की राजनीतिक विचारधाराओं को प्रभावित करने में ईसाई धर्म प्रचार तथा चर्च-संगठन का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। साथ ही ट्यूटन संस्थाओं ने भी मध्य युग की राजनीतिक

चिन्तन धारा को प्रभावित किया। जहाँ तक राजनीतिक विचारधारा में धर्म के प्रभाव का प्रश्न है, इसके प्रमुख कारण ईसाई धर्म की उत्पत्ति, प्रारम्भिक चर्च संस्थापकों (सेंट पीटर, सेंट पॉल आदि) के प्रभावशाली व्यक्तित्व का होना, रोमन सम्राटों के द्वारा ईसाई धर्म को अपनाकर उसे राजकीय धर्म घोषित करना, एवं प्रारम्भिक अवस्था में चर्च-संगठन के अन्तर्गत पोपों तथा बिशपों का राजनेताओं की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली तथा विद्वत्तापूर्ण व्यक्तित्व वाला होना था। 410 में जब ट्यूटनों ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करके उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया तो जनता में ईसाई धर्म की शिक्षाओं के प्रति आस्था घटने लगी। उन्होंने यह आरोप लगाया कि जब तक रोमन लोग अपने परम्परागत धर्म को मानते रहे थे तब तक रोम एक नगर-राज्य से विकसित होकर विशाल साम्राज्य बन चुका था। परन्तु रोमनों द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण करने के कारण साम्राज्य का विनाश हुआ। इसी चुनौती के उत्तर में सन्त ऑगस्टाइन ने चर्च तथा ईसाई धर्म के प्रतिरक्षण के निमित्त 'डी सिविटेट डी' नामक प्रसिद्ध रचना लिखी। यह ग्रन्थ मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन की सबसे प्रथम तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके समस्त विचार ईसाई धर्म की आध्यात्मिकता से भरे पड़े हैं। इन्हीं के अन्तर्गत लेखक के राजनीतिक विचार व्यक्त किए गये हैं। दैवी राज्य तथा लौकिक राज्य की धारणा व्यक्त करते हुए सन्त ऑगस्टाइन ने राज्य के स्वरूप और आदर्शवाद का प्रतिपादन करने में प्लेटो-वाद तथा ईसाई धर्म शिक्षाओं का सम्मिश्रण किया है। पोप गिलेसियस प्रथम द्वारा प्रतिपादित दो तलवारों का सिद्धान्त समूचे मध्य युग में सत्ता-संघर्ष का पूर्वगामी सिद्धान्त बना रहा। सत्ता-संघर्ष की अवधि में धर्मसत्ता एवं लौकिक सत्ता की श्रेष्ठता के समर्थक दोनों ईसाई धर्म को मानते थे और दोनों ने ईसा तथा सन्त पॉल की शिक्षाओं का सहारा लिया।[1] परन्तु अपने तर्कों के समर्थन में वे धर्म-ग्रन्थों का निर्वचन पृथक्-पृथक् ढंग से करते रहे। राजसत्ता के समर्थक भी ईसाई धर्म तथा चर्च के विरोधी नहीं थे। परन्तु वे धर्म सत्ता को केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रखना चाहते थे, और उसके राजनीति में प्रविष्ट होने या लौकिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति के विरोधी थे। इसके विपरीत धर्मसत्ता की श्रेष्ठता के समर्थक लौकिक सत्ता को पूर्णतया धर्मसत्ता के अधीन मानते हुए चर्च संगठन की सर्वोच्च सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार करते थे। अतः सत्ता संघर्ष की अवधि में दोनों पक्षों ने अपने ऐसे ही तर्कों को रखकर राजनीतिक समस्याओं के समाधान के निमित्त पूर्णतया ईसाई धर्म की शिक्षाओं का सहारा लिया।

समूचे मध्य युग में धर्मप्रेरित राजनीतिक विचारों के अस्तित्व का एक कारण यह भी था कि ईसाई धर्म के प्रसार काल की प्रारम्भिक अवस्था में चर्च संगठन के अन्तर्गत पोप तथा बिशप बहुत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने न केवल सम्राटों, राजाओं तथा शासकों को ही अपने प्रभाव में ले लिया था, अपितु आम

[1] 'Render unto God what is God's and render unto Caeser what is Caesar's' —Christ

'Powers that be are ordained of God. Whosoever resisteth the power, resisteth the Command of God' —St Paul.

जनता एवं रोमन साम्राज्य पर विजय प्राप्त करने वाली जंगली जातियों के व्यक्तियों के ऊपर भी अपनी शिक्षाओं का प्रभाव जमा लिया था। ट्यूटनों की परम्परागत सामन्तशाही व्यवस्था से चर्च-संगठन को बहुत लाभ पहुँचा था। पोपों की शक्ति इतनी सुदृढ़ हो चुकी थी कि लोम्बार्डों के आक्रमण के समय उन्होंने साम्राज्य की रक्षा करने में सफलता प्राप्त कर ली और पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना करके शार्लमेन के राज्याभिषेक में अपना वरद हस्त बनाकर अपनी श्रेष्ठता का दावा किया। मध्य युग की पूर्व अवधि में सन्त टामस ऐक्विनास पोप ग्रेगरी, जॉन ऑफ सैलिसबरी आदि ने जो विचार रखे थे वे पूर्णतया ईसाई धर्म-ग्रन्थों की शिक्षाओं पर आधारित थे। कालान्तर में जब लौकिक सत्ता की श्रेष्ठता के समर्थकों का पलड़ा भारी होने लगा तो उनमें भी दान्ते जान आफ पेरिस मारसीलियो, विलियम ऑफ ओखम आदि किसी ने भी धर्मविहीन राजनीति का पक्ष नहीं लिया। ये सभी विचारक चर्च से सम्बद्ध व्यक्ति थे और इनका उद्देश्य यही रहा था कि राजनीति में धर्म-संगठन का हस्तक्षेप अनुचित है। चर्च संगठन में जो भ्रष्टाचार तथा विलासिता एवं सामन्तशाही आ गयी थी उसका इन्होंने विरोध किया और राजनीतिक विचारों के प्रतिपादन में धर्म ग्रन्थों की शिक्षाओं को धार्मिक हठधर्मिता के रूप में निर्वाचित न करके उन्हें विवेकपूर्ण ढंग से रखा। राजनीतिक समस्याओं एवं चर्च संगठन के सुधार के सम्बन्ध में इन चिन्तकों ने जिन विचारों को रखा वे धर्मविरोधी नहीं कहे जा सकते। चर्च सुधार आन्दोलन को चर्च या धर्म विरोधी नहीं कहा जा सकता। अब चर्च में फूट पड़ गयी और उसका एकीकरण सम्भव नहीं रह गया तो कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलनों के नेताओं ने भी अपने राजनीतिक विचारों में धर्म को प्रमुखता दी। इस प्रकार समूचे मध्य युग की राजनीतिक विचारधाराओं के चारों ओर धर्म निरन्तर चक्कर काटता रहा। यहाँ तक कि कानून के क्षेत्र में भी दैवी कानून की धारणा निरन्तर बनी रही।

(2) सार्वभौमिकतावाद—बार्कर ने उचित ही कहा है कि सार्वभौमिकतावाद मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन की कुञ्जी है।[1] सार्वभौमिकतावाद के अंकुर यूनानी स्टोइक दार्शनिकों के विचारों में विद्यमान थे। उनकी मानवी समानता की धारणा ने विश्वबन्धुत्व की धारणा के विकास में योगदान किया और रोमन विचारकों सिसरो सेनेका आदि के विचारों में स्टोइक दर्शन का प्रभाव बना रहा। रोमन-विधि-वेत्ताओं तथा शासकों ने अपनी कानून की धारणा के द्वारा भी इस धारणा को पुष्ट किया। जस-नेचुरेल तथा जस-जेंटियम की श्रेणी में कानून के संहिताकरण ने रोमन साम्राज्य की सार्वभौमिकता को बल दिया था। ईसाई धर्म शिक्षा भी मानव भ्रातृत्व को महत्त्व प्रदान करती है। जब रोमन साम्राज्य का पतन हुआ तो ईसाई धर्म-सम्प्रदायों ने यूरोप तथा उत्तरी अफ्रीका के प्रदेशों में ईसाई धर्म का प्रसार करने में सफलता प्राप्त की। पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना से चर्च संगठन की महत्ता बढ़ गयी। कुस्तुनतुनिया के रोमन शासक भी अपने साथ ईसाई धर्म को लाये थे।

[1] "The Keynote of Medieval thought is to be its Universalism."
—E. Barker

रोम में पोप तथा चर्च का प्रभाव बढ जाने से साम्राज्य एवं चर्च दो पृथक् संगठन निर्मित हो गये थे। दोनो का उद्देश्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना था जो राजनीतिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टियो से सार्वभौम हो। भले ही विवाद की अवधि मे संघर्ष इस बात का था कि सम्पूर्ण ईसाई जगत की सार्वभौम सत्ता चर्च के हाथ मे रहे अथवा सम्राट के हाथ मे, तथापि चर्च एवं साम्राज्य दोनों का उद्देश्य सम्पूर्ण ईसाई जगत के एक सार्वभौम समाज की स्थापना करना था। 'रोमन काल की सार्वभौमिकतावाद एवं विश्वबन्धुत्व की धारणा का प्रेत सम्पूर्ण मध्य युग मे प्रभावी बना रहा।'[1] मध्ययुगीन सार्वभौमिकतावाद की धारणा के अन्तर्गत सम्पूर्ण ईसाई जगत को एक एकाकी समाज माना जाता था। परन्तु इसकी सरकार द्विविध थी। इस समाज के लौकिक मामलों के नियमन का दायित्व राज्य पर था तो आध्यात्मिक मामलो का नियमन चर्च-संगठन का दायित्व माना जाता रहा। दोनों सत्ताएँ सह-अस्तित्व के आधार पर कार्य करती थी। यहाँ तक कि राज्य की नागरिकता या राजनीतिक अधिकारो की प्राप्ति के निमित्त ईसाई होना एक अनिवार्य शर्त थी। दोनों सत्ताओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करने वाली किसी मानवीय सम्प्रभु सत्ता के अभाव के कारण ही सत्ता संघर्ष छिड़ा। परन्तु इस सार्वभौम ईसाई समाज के सदस्यों की जीवन प्रणाली का सिद्धान्त एक ही था। जीवन का क्षेत्र चाहे आर्थिक हो, या राजनीतिक या आचारिक, सभी के अन्तर्गत धर्म के सार्वभौम सिद्धान्त 'आध्यात्मिक मोक्ष' की प्रधानता दी जाती थी। गियर्क के शब्दों मे, मध्ययुगीन सार्वभौमिकतावाद के इस पक्ष की विशेषता यह थी कि 'मध्ययुगीन राज्य तथा समाज रूपी धारा के स्रोत एवं संगम मे विविधता होते हुए भी दोनों का बहाव स्थल एक ही था। आध्यात्मिकता तथा धर्म-निरपेक्षता या निरंकुशता तथा लोकतन्त्रवाद आदि से सम्बन्ध रखने वाले संघर्ष तो मात्र उस धारा के वेग को घटाने या बढ़ाने वाले थे, जो उस धारा को केवल एक ही दिशा मे ले जाते थे।'

इस दृष्टि से समस्त मध्य युग के राजनीतिक विचारो मे सार्वभौमिकतावाद की धारणा मानव एकता, विश्वबन्धुत्व, तथा समस्त मानवों के एकमात्र विश्व समाज के निर्माण करने का उद्देश्य रखती थी। ऐसे सार्वभौम विश्व समाज की नियामक सत्ता आध्यात्मिक थी। यह सत्ता दैवी मानी जाती रही। सत्ता-संघर्ष की अवधि मे चर्च-सत्ता की श्रेष्ठता के समर्थक पोप को तथा राजसत्ता की श्रेष्ठता के समर्थक राजा को उस दैवी सत्ता का प्रतिनिधि घोषित करने के सम्बन्ध मे अपने तर्क देते रहे। परन्तु राजनीतिक चिन्तन मे सार्वभौमिकतावाद की प्रवृत्ति बनी रही। यदि टॉमस ऐक्विनास सम्पूर्ण ईसाई जगत की सार्वभौम प्रभुत्व की शक्ति चर्च के पोप को देना श्रेयस्कर समझते थे, तो दान्ते के सार्वभौम विश्व साम्राज्य का सम्राट पोप के अतिरिक्त कोई लौकिक सम्राट होता। परन्तु सम्पूर्ण ईसाई जगत एक सार्वभौम विश्व समाज तथा राज्य बना रहता जिसके समस्त सदस्य जीवन की एक समरूप प्रणाली पर आचरण करते हुए समस्त सदस्यों को भ्रातृत्व की भावना से अपनाते। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत विश्व मे ऐसे विभिन्न राजनीतिक संगठन नही बन पाते जो

[1] 'The ghost of Romans haunted the Middle Ages.'

अपनी सम्प्रभुता के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय कलहो तथा युद्धो से मानव-जाति को सकट म घेरे रहते।

(3) **सत्ता-सघर्ष के विचार**—डनिग तथा गेटल के मत से मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन तत्वत अराजनीतिक था। प्लेटो तथा अरस्तू ने राजनीति के विभिन्न पहलुओ पर जिस रूप म दार्शनिक एव सस्थागत अध्ययन किया था उसका स्वरूप मध्ययुग के राजनीतिक विचारो के अन्तगत नही पाया जाता। इस युग के सभी विचारको के समक्ष धम एक प्रमुख समस्या बना रहा और जब कभी राजनीतिक समस्याओ पर विचार तथा चिन्तन का अवसर आया तो तत्कालीन विचारको के समक्ष यही प्रश्न मुख्य रहता था कि धम तथा राजनीति के मध्य क्या सम्बन्ध होने चाहिए। इसी समस्या को लेकर कानून तथा व्यावहारिक राजनीति के बारे मे विचार व्यक्त किये जाते रहे। प्रारम्भ मे जब ईसाई धर्म की स्थापना हुई तो ईसाई धर्मोपदेशकों को न केवल जनसाधारण के मध्य अपनी शिक्षाओ की व्यापक लोकप्रियता प्राप्त हुई बल्कि बुद्धिजीवियो तथा शासको पर भी उनका पर्याप्त प्रभाव पडा। रोम के शासको द्वारा ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने पर चच अधिकारियो को बहुत लाभ पहुँचा। प्रारम्भ मे लौकिक शासक चच सगठन पर प्रभावी थे और चर्च का मुख्य कार्यक्षेत्र आध्यात्मिकता की शिक्षाओ तक सीमित था। परन्तु कालान्तर मे साम्राज्य के छिन्न भिन्न हो जाने तथा सामन्तशाही पर पोप का प्रभाव हो जाने के कारण पोप की शक्ति मे पर्याप्त विकास हुआ। रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ म चले जाने से रोम म पोप का प्रभाव बहुत अधिक बढ गया। पोप द्वारा शालमेन के राज्याभिषेक तथा पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना किये जाने से पोप की शक्ति और भी अधिक बढ गयी। अब वह राजनीति के विषयो मे भी हस्तक्षेप करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि जब कोई पोप प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला रहा तो वह लौकिक मामलो म सम्राटो के ऊपर हावी हो जाता था। इसी प्रकार यदि कोई सम्राट प्रतिभाशाली हुआ तो उसने पोप की ऐसी गतिविधियो का ही विरोध नही किया, वरन् चच सगठन के अन्दर विशुद्धतया लौकिक मामलो मे भी अपने अधिकार क्षेत्र का दावा करना प्रारम्भ किया। ग्यारहवी शताब्दी म यह क्षत्राधिकार सम्बन्धी विवाद पुन रूप म प्रकट होने लग गया जबकि सम्राट हेनरी तथा पोप ग्रीगरी के बीच सघष छिडा। सघष का आरम्भ चच के पदाधिकारियो की नियुक्ति करने के अधिकार को लकर हुआ।

दोनो पक्षो न पोप गिलेसियस क दो तलवारो के सिद्धान्त तथा आगस्टाइन के दो राज्यो क सिद्धान्तो का अपने अपने तर्कों की पुष्टि मे निर्वचन किया। पोप समर्थको का तक था कि धमसत्ता तथा राजसत्ता रूपी दोनो तलवारें ईसा से प्रत्यक्षत पोप को प्राप्त हुई थी और पोप ने राजसत्ता रूपी तलवार सम्राट को प्रदान की थी। अत सम्राट को सत्ता पोप के द्वारा हस्तान्तरित किये जाने के कारण सम्राट को पोप के अधीन रहना चाहिए। इसी प्रकार पवित्र रोमन साम्राज्य क सम्राट का पोप द्वारा राज्याभिषेक किय जाने का अर्थ भी यही लगाया

गया कि सम्राट को सत्ता पोप से प्राप्त हुई है, अत उसे पोप की अधीनता मे रहना चाहिए। सन्त टॉमस ऐक्विनास ने मानव-जीवन के दो पक्षो लौकिक एव आध्यात्मिक के मध्य आध्यात्मिक पक्ष की श्रेष्ठता को चित्रित किया और बताया कि चूँकि इस श्रेष्ठतर लक्ष्य की प्राप्ति का साधन धर्मसत्ता है और लौकिक उद्देश्य की प्राप्ति का साधन राजसत्ता है, इस दृष्टि से धर्मसत्ता को राजसत्ता से श्रेष्ठतर रहना चाहिए। बाद मे सम्पूर्ण सत्ता-सघर्ष की अवधि के विचारको ने यही तर्क प्रस्तुत किये। दूसरी ओर राजसत्ता की श्रेष्ठता के समर्थको के तर्क मुख्यतया प्रतिरक्षात्मक थे न कि आक्रामक। उनका मत यह था कि दोनो तलवारें ईसा से पृथक्-पृथक् दोनो को (पोप तथा सम्राट) को प्राप्त हुई थी। अत अपने-अपने क्षेत्र मे दोनो सत्ताएँ एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। इस सम्बन्ध मे उन्होने ईसा तथा सन्त पाल के कथनो का उल्लेख किया।[1] उन्होंने बताया कि दोनो तलवारें एक सत्ता द्वारा धारण किया जाना ईसाइयत के विरुद्ध है। अत चर्च-सगठन के अन्तर्गत भी जहाँ पर लौकिक व्यवस्था सम्बन्धी मामले आवें, वहाँ राजसत्ता की बात धर्मसत्ता को माननी पड़ेगी। धर्मसत्ता का कार्यक्षेत्र केवल आध्यात्मिक विषयो तक सीमित रहना चाहिए। अत जहाँ पर सम्राट शक्तिशाली हुए उन्होने पोप को पदच्युत करने के आदेश दिये, दूसरी ओर पोप ने ऐसे सम्राटो को धर्मबहिष्कृत करने के आदेश दे दिये। इस प्रकार मध्य युग मे राजनीतिक विचारो का केन्द्र यही सत्ता-सघर्ष बना रहा। एक ही ईसाई समाज के अन्तर्गत दो प्रकार के शासन सगठनो के मध्य अपनी-अपनी श्रेष्ठता के दावे रखने की प्रवृत्ति राजनीतिक विचारधारा का प्रमुख तत्त्व बना रहा। अत इस अवधि मे स्वतन्त्र तथा विवेकपूर्ण राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन नहीं हो पाया। मध्य युग के प्रारम्भ की अवधि मे पोप समर्थकों का पलड़ा भारी रहा, तो बाद की अवधि मे चर्च के अन्तर्गत भ्रष्टाचार, भौतिकता की अभिवृद्धि, विलासिता आदि ने पोप की शक्ति को क्षीण कर दिया। ज्ञान के नव-जागरण की अवधि मे पहले टॉमस ऐक्विनास के विचारो से धर्मसत्ता की शक्ति को पर्याप्त बल मिला था। परन्तु बाद में मारसीलियो, दान्ते, ओकम के विलियम आदि के विचारो ने पोप की शक्ति को अलोकप्रिय बनाने मे योगदान किया। सुधार आन्दोलन की अवधि मे लोकप्रभुसत्ता की धारणा के विकास ने चर्च-सगठन मे सामान्य परिषद् की महत्ता पर बल दिया। इस प्रकार भले ही मध्य युग का दर्शन अराजनीतिक रहा, तथापि राजनीतिक चिन्तन के विकास मे इसका योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सत्ता सघर्ष के विचारो ने धर्म तथा विश्वास की स्वतन्त्रता, धर्मनिरपेक्ष राजनीति, लोकप्रभुसत्ता तथा प्रतिनिध्यात्मक सरकार की धारणाओं के विकास के निमित्त प्रचुर सामग्री प्रदान की।

(4) सामन्तवाद—मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन की एक मुख्य विशेषता सामन्तवादी व्यवस्था के प्रभाव का होना है। यूनानी राजनीतिक चिन्तन नगर-राज्यों की व्यवस्था का, रोमन राजनीतिक चिन्तन साम्राज्यवादी व्यवस्था का तथा मध्य-युगीन चिन्तन सामन्तवादी व्यवस्था का चिन्तन है। इस व्यवस्था ने तत्कालीन

[1] इसी पुस्तक के पृ० 381 म उद्धृत पाद-टिप्पणी देखें।

राजनीतिक आर्थिक एवं कानूनी सभी विचारों को प्रभावित किया। कार्लाइल का मत है कि सामन्तशाही ने मध्ययुगीन जनसमुदाय के प्रत्येक वर्ग के जीवन को प्रभावित किया जिसमे राजा सम्राट बिशप ऐबट आदि सभी शामिल थे।' कार्लाइल मैक्लाइन आदि विद्वानों का मत है कि सामन्तवाद के स्रोत का सही ज्ञान करना जटिल कार्य है। परन्तु इसका श्रीगणेश ट्यूटन जंगली जातियों के रोमन साम्राज्य पर आक्रमण से हुआ था। इन आक्रमणकारियों ने साम्राज्य के स्थान पर अनेक कबाइली प्रकृति के राज्य स्थापित कर लिये जो राष्ट्रीय राज्यों से बिल्कुल भिन्न प्रकृति के थे। सामन्तशाही पद्धति भूस्वामित्व पर आधारित एक प्रकार की अराजक व्यवस्था है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति का राज्य सदृश किसी विशाल समुदाय से कोई सम्बन्ध नही रहता था। किसी जनसमूह के मध्य सम्पूर्ण भूमि का स्वामी राजा होता था। वह भूमि के खण्डों को कुछ समझौतों के आधार पर सामन्तों को दे दिया करता था। इसी क्रम मे सामन्तों द्वारा उप सामन्तों को और उप-सामन्तों द्वारा निम्नतर वैरनों को तथा अन्तत काश्तकारों को भूमि के टुकड़े कुछ समझौतों व शर्तों के अधीन देने की प्रथा थी। सामन्तों तथा उनके किरायेदारों के मध्य सम्बन्धों का निर्धारण समझौतों के अन्तर्गत हुआ करता था। समझौते के उल्लघन सम्बन्धी विवादों का अन्तिम निर्णय राजा के न्यायालय मे होता था और उस न्यायालय में सामन्त लोग भी बैठते थे। इस प्रकार राज्य नागरिकता, अधिकार कानून आदि की धारणाएँ सामन्तशाही के अन्तर्गत विकसित नही हो पायी। नागरिक दायित्व भूस्वामित्व सम्बन्धी संविदा का पालन करने तक सीमित थे। सामन्तशाही की उच्चोच्च श्रृंखला के अन्तर्गत राजा का दायित्व सामन्तों को प्रतिरक्षण प्रदान करना तथा सामन्तों का दायित्व राजा को सैनिक सहायता प्रदान करना होता था। इस प्रकार सामन्तशाही एक जटिल प्रकार की व्यवस्था थी। इसका आधार सैनिक आर्थिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार का था। राजनीतिक आधार राजत्व न्याय तथा सैनिक व्यवस्था से सम्बद्ध था। राजनीतिक सम्बन्ध वैयक्तिक तथा संविदागत थे। व्यक्तिगत निष्ठा ने राज्यगत निष्ठा का स्थान ले लिया था। इन सब दृष्टियों से सामन्तवादी व्यवस्था अत्यन्त जटिल प्रकृति की थी। मध्य युग की राजनीति के अन्तर्गत जहाँ एक ओर सार्वभौम ईसाई साम्राज्य के निर्माण की विचारधारा व्यक्त की जाती रही वहा दूसरी ओर सामन्तशाही की अराजक व्यवस्था भी बनी रही। ऐसी स्थिति मे यथार्थ राजनीतिक विचारधाराओं के प्रादुर्भाव तथा विकास के अवसर नही रह पाये।

(5) **राजतन्त्र की धारणा**—यद्यपि मध्य युग को राज्य का युग नही कहा जा सकता क्योंकि उस युग के यूरोपीय जन समूह प्राचीन या आधुनिक युग के सदृश राष्ट्रीय राज्यों के रूप में संगठित नही थे और जैसा पहले बताया जा चुका है समूचे मध्य युग में सार्वभौम विश्व राज्य की धारणा बनी रही थी, तथापि राज-नीतिक जन समूहों के मध्य राजत्व या राजतन्त्र की धारणा निरन्तर बनी रही। पवित्र रोमन साम्राज्य जिसे रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है राजतन्त्री व्यवस्था थी। ट्यूटन गाथ, ऐलरिक आदि जातियाँ जिन्होंने प्राचीन

रोमन साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, अपने साथ सामन्तशाही व्यवस्था लायी और मामन्तवादी व्यवस्था भी तत्वत राजतन्त्री व्यवस्था ही थी। चर्च के बढते हुए प्रभाव के अन्तर्गत भी यद्यपि धर्मसत्ता तथा राजसत्ता दोनों समानान्तर चलती रही और सत्ता-सघर्ष की अवधि मे आध्यात्मिक एव लौकिक जीवन के क्षेत्र मे दोनो के मध्य सघर्ष उच्चतर स्थिति का था, तथापि राजतन्त्र का लोप नहीं हुआ था और सन्त पॉल की प्रसिद्ध उक्ति 'हर सत्ता दैवी है', सदैव मान्य रही। इस प्रकार ईसाई धर्म शिक्षा के आधार पर राजत्व का स्वरूप दैवी माना जाता रहा। राजत्व के सम्बन्ध मे निर्वाचित राजतन्त्र तथा आनुवशिक राजतन्त्र दोनो सिद्धान्तो को मान्यता दी जाती रही।

मध्ययुगीन राजतन्त्र की एक विशेषता यह थी कि राजा के 'पद' को प्रतिष्ठा दी जाती थी, न कि पद के धारण करने वाले व्यक्ति को। यह धारणा पोप तथा राजा दोनो के सम्बन्ध मे मान्य थी। यह दूसरी बात है कि कभी कभी इन पदो को धारण करने वाले महत्त्वाकाक्षी अधिकारियो ने व्यक्तिगत निष्ठा प्राप्त करने का प्रयास किया हो। टॉमस ऐक्विनास के विचारो मे निर्वाचित राजतन्त्री व्यवस्था का समर्थन किया गया था। जॉन आफ सैलिसबरी ने तो अत्याचारी राजा के वध करने की नीति का भी समर्थन किया था। दान्ते के विचारो मे जिस सार्वभौम सम्राट की कल्पना की गयी थी उसके सम्बन्ध मे भी सम्राट के पद को, न कि पद धारण करने वाले व्यक्ति को महत्त्व दिया गया था। राजपद के सत्ता-स्रोत के सम्बन्ध मे दो परस्पर विरोधी धारणाएँ विद्यमान थी। एक के अन्तर्गत राजत्व का दैवी अधिकार स्वीकार किया जाता था और दूसरी के अन्तर्गत उसकी सत्ता का स्रोत जनता को माना जाता था। कार्लाइल का मत है कि 'मध्ययुगीन राजनीतिक विचारधारा की एक मूलभूत धारणा यह थी कि जन-समूह समस्त राजनीतिक सत्ता का स्रोत है।' इसी प्रकार बार्कर की भी यह धारणा है कि 'यद्यपि समस्त सत्ता का स्रोत दैवी है, तथापि जिस जनता को राजत्व के प्रतिष्ठापन मे अपनी आवाज व्यक्त करने की शक्ति प्राप्त थी, उसे यह अधिकार भी प्राप्त था कि वह राजा को पदच्युत करने मे अपनी आवाज रख सकती थी।' राजत्व के दैवी अधिकार तथा लोकतान्त्रिक स्वरूप के मध्य विरोधाभास हो सकता है। परन्तु जैसा बार्कर का मत है 'मध्य युग मे इन दोनों के मध्य सामजस्य बना हुआ था।'[1] इसका कारण यह था कि जहाँ ईसाइयत की शिक्षाएँ राजत्व को दैवी स्वरूप प्रदान करती थी, वहाँ जर्मन जन-समूह अपने साथ राजत्व के लोकतन्त्री स्वरूप को अपने साथ लाए थे और उन्होने इस स्वरूप को बनाये रखा।

राजत्व के उपर्युक्त दो स्वरूपो का निष्कर्ष यह निकलता है कि मध्ययुगीन राजतन्त्र निरकुश नही हो सकते थे। दैवी स्वरूप के कारण राजा के ऊपर दैवी कानून, धर्म के कानून एव प्राकृतिक कानून की मर्यादाएँ लगी हुई थी। लोकतन्त्री स्वरूप की धारणा के अन्तर्गत उसे जन-समूह के परम्परागत कानून के अनुसार

[1] 'Reconciliation however paradoxical it may seem, is an essential feature of medieval thought' —Barker

आचरण करना पड़ता था। इस प्रकार राजा कानून के ऊपर नहीं था, अपितु कानून द्वारा उसकी सत्ता मर्यादित थी।[1] समूचे मध्य युग मे राजा की सम्प्रभु सत्ता या निरंकुश सत्ता सदृश धारणाओं का नितान्त अभाव था। राजा कानून का स्रष्टा नहीं था, बल्कि कानून द्वारा राजा की सृष्टि की जाती थी। राजा के अनेक दायित्व थे, जिनके अन्तर्गत जनता की सुरक्षा, कानून को कार्यान्वित करना तथा लोक-कल्याण प्रमुख थे। 'राजा राज्य का प्रधान नहीं था, प्रत्युत् उसका दायित्व कानून के अनुसार शासन का सचालन करना था।[2]

(6) **मध्ययुगीन कानून सिद्धान्त**—ईबनस्टीन ने कहा है कि 'मध्य युग का सभ्यता के कोष के लिए सबसे महान् अनुदाय कानून की सर्वोच्चता की धारणा है जो कि जन-समूह की परम्पराओं पर आधारित था।'[3] मध्ययुगीन कानून की धारणा न तो विशुद्ध रूप से रोमन कानून की धारणा से मिलती है और न आधुनिक काल के कानून की धारणा से। यह रोमन कानून तथा ट्यूटन जातियों के परम्परागत कानून की अन्तर्क्रिया का फल थी। मध्य युग का कानून व्यक्तिगत या कबाइली प्रकृति का था, न कि प्रादेशिक या राष्ट्रीय प्रकृति का। इसे सम्प्रभु का आदेश नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मध्य युग मे सम्प्रभुता की आधुनिक धारणा का अस्तित्व नहीं था। कानून को किसी जन समूह की व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे माना जाता था, और इसीलिए जिस व्यक्ति के ऊपर जन-समूह के शासन का दायित्व रहता, वह उस जन समूह के परम्परागत कानून के अनुसार ही आचरण करने के लिए बाध्य था। कानून के स्रोत जन समूह की इच्छा न होकर जन-समूह के मध्य अति दीर्घकाल से चली आ रही सुस्थापित परम्पराएँ थी। जब जर्मन जातियाँ रोमन लोगों के सम्पर्क मे आ गयी तो कानून का स्वरूप व्यक्तिगत न रहकर प्रादेशिक होता गया। कानून प्रत्यक्षत जन-इच्छा की अभिव्यक्ति भी नहीं था। इस दृष्टि से जन समूह की इच्छा न तो कानून को परिवर्तित कर सकती थी, और न उसका सृजन कर सकती थी। परन्तु कानून को पवित्र, अनन्त तथा स्थायी स्वरूप का माना जाता था। इस प्रकार दैवी कानून या प्राकृतिक कानून अथवा परम्परागत कानून, सभी को जन-समूह का कानून माना जाता था।

यह कानून अलिखित था। रोमन कानून के विपरीत इसका संहिताकरण करने का प्रयास नहीं किया गया। आज भी इंग्लैण्ड मे जिस सामान्य कानून (Common Law) का प्रचलन है, वह मध्ययुगीन कानून की धारणा से प्रभावित रहा है। इस प्रकार जहाँ यूरोप के अन्य देशों में रोमन विधि-व्यवस्था को लोकप्रियता प्राप्त हुई है, वहाँ इंग्लैण्ड में ट्यूटन परम्परागत कानून की प्रथा को मान्यता दी

[1] 'Thus according to M B Foster 'the medieval theory envisaged a kingship limited by the law of nature, limited by the Church, limited by the people.'

[2] 'The king was not the head of the state, as he became in the era of absolute monarchy at the opening of the modern period'—Sabine

[3] 'The great contribution of Middle Ages to the store of civilization is the conception of supremacy of law based upon the custom of the community'
—Ebenstein

गई है। मध्ययुगीन कानून की इस धारणा का एक निष्कर्ष यह निकलता है कि भले ही उस युग मे स्पष्टतया जनता या उसकी इच्छा को कानून का स्रोत न माना जाता रहा हो, तथापि कानून को जन परम्परा पर आधारित मानने की धारणा इस तथ्य की द्योतक है कि कानून के पीछे जन इच्छा विद्यमान थी। जनसमूह का राजा उस कानून का उद्घोषक था, परन्तु उसकी सत्ता भी स्वय उस कानून के द्वारा मर्यादित थी। इस दृष्टि से कानून के शासन तथा कानून की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को माना जाता रहा था। स्वय राजा या शासक की उत्पत्ति कानून के द्वारा होती थी न कि राजा के द्वारा कानून की। राजा या शासक अपनी सत्ता उसी कानून के द्वारा प्राप्त करते थे, जो शासक तथा शासित दोनो पर समान रूप से लागू होता था।

(7) *राज्य की उत्पत्ति*—यूनानी विचारक प्लेटो तथा अरस्तू राज्य को नैसर्गिक सस्था मानते थे। परन्तु इपीक्युरियन तथा स्टाइक दार्शनिको ने राज्य की सविदावादी उत्पत्ति की धारणा बताई थी। रोमन चिंतन के अन्तर्गत भी राज्य की उत्पत्ति को सविदागत ही माना गया था। सिसरो ने कानून तथा उसके लाभो की प्राप्ति के निमित्त सगठित जनसमूह को राज्य बताया था। यह धारणा सविदावादी ही कही जा सकती है। मध्ययुगीन राजनीतिक समाजो के ऊपर रोमन प्रभाव के साथ साथ ईसाइयत की धारणाएँ भी विद्यमान थी। प्रारम्भिक चर्च सस्थापक राज्य को मनुष्य के पापो का परिणाम मानते थे। उनके मत से मानव स्वभावत स्वतन्त्र तथा समान थे। परन्तु अपने पापो के कारण जब मानव पतन की दिशा को बढने लगा तो उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए बलप्रवर्ती सत्ता की आवश्यकता पडी। यही सत्ता राजनीतिक व्यवस्था की परिचायक सिद्ध हुई। अत राज्य की उत्पत्ति नैसर्गिक न होकर अभिसमयगत अथवा सविदागत थी। तेरहवी शताब्दी के ज्ञान के नवजागरण की अवधि मे जब प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओ का पुन अध्ययन प्रारम्भ हुआ तो उस युग मे टॉमस ऐक्विनास ही एकमात्र ऐसा दार्शनिक हुआ है जिसने मानव को स्वभावत एक सामाजिक प्राणी माना था और उसके दर्शन मे पुन अरस्तूवाद का अभ्युदय होने के कारण राज्य को नैसर्गिक सस्था अथवा राजतन्त्र को सर्वाधिक स्वाभाविक शासन का रूप माना गया। एक्विनास के बाद पुन राज्य की उत्पत्ति के सविदागत रूप की चर्चा प्रारम्भ होने लगी और सत्रहवी तथा अठारहवीं सदी मे इस सिद्धान्त का चरमोत्कर्ष हुआ। परन्तु अठारहवी शताब्दी के पश्चात यह सिद्धांत फिर अमान्य हो गया।

(8) *मध्ययुगीन निगम व्यवस्था*—मध्ययुगीन सामाजिक जीवन की एक विशेषता उसका समुदायगत या समूहगत होना है। यहाँ तक कि राज्य तथा चर्च भी ऐसे ही समुदाय माने जाते थे जिनको अपनी पृथक इच्छा तथा व्यक्तित्व थे। इसी प्रकार विभिन्न व्यावसायिक जन समूहो की भी निगमात्मक श्रेणियाँ थी। ये विविध प्रकार के निगम (corporations) तथा श्रेणियाँ (guilds) कानूनी व्यक्तित्व धारण करते थे। मध्ययुगीन निगम सिद्धान्त का सार रोमन निगमात्मक कानून था जिसके अन्तर्गत स्वय राज्य को भी एक कानूनी व्यक्ति माना जाता था। विभिन्न प्रकार की श्रेणियो तथा निगमो का स्वरूप सावयवी था। मध्य युग के अनेक चिन्तको

तथा विचारको ने राज्य के स्वरूप को जीव सावयव के सदृश चित्रित किया है। इनम जान आफ मॅलिमबरी दाते परिम का जान क्यूसा का निकोलस आदि प्रमुख हैं। चच के सम्बन्ध म चच सुधार आन्दोलन (Conciliar Movement) की अवधि म निगम सिद्धान्त का विशेष रूप से समथन किया गया था। इसके अनुसार चच पर विश्वास करने वाले समस्त व्यक्तियो की एक प्रतिनिध्यात्मक परिषद चच सम्बन्धी मामलो म सर्वोच्च सस्था होनी और पोप उसका अध्यक्ष मात्र होना। यही सिद्धान्त राज्य के क्षेत्र मे भी मान्य किया गया जिसके अन्तगत राजा राज्य या शासन का अध्यक्ष मात्र होता। इन समुदायो की सत्ता का स्रोत जनता होती जो समग्र रूप मे सम्प्रभु सत्ता धारण करती। निगम सिद्धान्त के अन्तगत निगमो के सावयव स्वरूप का निष्कष यह था कि अवयव (व्यक्ति) को अवयवी (सम्पूण) के हित म अपने स्वार्थों का उत्सग कर देना चाहिए और सम्पूण के शासन का दायित्व उसके किसी प्रतिनिधिक अभिकर्त्ता (एक या अनेको की परिषद) के हाथ मे होना चाहिए जो अपनी सत्ता सम्पूण जन समुदाय से प्राप्त करेगा। निगम सिद्धान्त ने राज्य म लोकप्रभुसत्ता के सिद्धान्त के विकास का माग प्रशस्त करने मे योगदान किया। बीसवी सदी के बहुलवादियो को मध्ययुग की श्रेणी तथा निगम व्यवस्था से प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई है। इन्ही के आधार पर उन्होने राज्य के एकात्मवादी प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर आक्रमण किया है। इग्लैण्ड को श्रेणी समाजवादी विचारधारा मध्ययुगीन श्रेणी व्यवस्था मे प्रभावित हुई थी। इटली मे बीसवी सदी के फासिस्टवादी राज्य का स्वरूप भी निगमात्मक था। इसे भी मध्य युग के निगम सिद्धान्त से प्रेरणा मिली थी। यह सिद्धान्त कालान्तर मे राज्य एव सरकार के मध्य भेद करने की धारणा मे भी सहायक सिद्ध हुआ।

(9) अन्य विशेषताएँ—उपयुक्त प्रमुख बातो के अतिरिक्त मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन की अन्य विशेषताओ के अन्तगत प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्त उल्लेखनीय है। यह परम्परा टयूटन जातियो म प्रचलित थी। परन्तु मध्ययुगीन प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्त आधुनिक ढग की प्रतिनिध्यात्मक सस्थाओ के सदृश नही था। विभिन्न सस्थाओं के लिए उनके सदस्य अपने प्रतिनिधियो को अपने प्रवक्ता के रूप म चुनकर नही भेजते थे। प्रत्युत किसी भी सस्था मे उसके सदस्यो का प्रतिनिधित्व सस्था के सदस्यो के लिए कल्याणकारी कृत्यो को करने के दायित्वो का माना जाता था। इस दृष्टि स स्वय राजा तक को जनता का प्रतिनिधि ही समझा जाता था। इसी प्रकार चच सगठन के अन्तगत पोप काडिनल बिशप आदि को भी जनता के प्रतिनिधियो के रूप मे माना जाता था। प्रतिनिधियो का दायित्व न्यासधारी (trustee) की तरह का था। मध्य युग के अन्तिम वर्षों मे जब चच सुधार का कनसीलियर आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो सामान्य चच परिषद को ईसाई जन-समूह की प्रतिनिधिक सस्था मानने तथा उसी के द्वारा चच सगठन का नियमन किये जाने की धारणा व्यक्त की गयी। मारसीलियो आफ पॅडुवा तथा विलियम आफ आकम ने इसी सस्था को लोकप्रभुसत्ता की प्रतिनिधिक सस्था के रूप म मान्य किया था। अत ही मध्ययुगीन प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त आधुनिक प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्त

से सगति नही रखता था, तथापि लोकतन्त्र के विकास में मध्य युग के इस सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

मध्य युग मे आधुनिक-कालीन राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की धारणा नही थी। तत्कालीन परिस्थितियो के अन्तर्गत ऐसा सम्भव भी नही था। मध्ययुगीन सार्वभौम राज्य की धारणा के अन्तर्गत राष्ट्रीय राज्य जैसी धारणा के अभाव में सम्प्रभु राज्य की धारणा कल्पनातीत थी। निगमात्मक तथा श्रेणी-व्यवस्था के अन्तर्गत भी सम्प्रभु राज्य की धारणा सगतिपूर्ण नही हो सकती थी। सामन्तवादी व्यवस्था सम्प्रभु राज्य की धारणा से कोई मेल नही खाती। अतएव समूचे मध्ययुग मे मर्यादित शासन का सिद्धान्त बना रहा। शासको की सत्ता पर दैवी कानून, प्राकृतिक कानून तथा परम्परागत कानून की मर्यादा मानी जाती रही। जब मध्य युग के अन्तिम वर्षों में राष्ट्रीय आधार पर राज्यो का निर्माण होने लगा, तभी प्रभुसत्ता की धारणा भी अकुरित होने लगी। मध्य युग की समाप्ति पर सोलहवी शताब्दी में फ्रासीसी दार्शनिक जीन बोदा ने सर्वप्रथम प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार, 'प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च सत्ता है जिस पर कानून का कोई प्रतिबन्ध नही होता है।' परन्तु स्वय बोदा का सिद्धान्त भी मध्य युग के प्रभाव से अछूता नही रहा था। उसने भी राज्य की प्रभुसत्ता के ऊपर दैवी कानून, प्राकृतिक कानून, सावैधानिक कानून तथा परिवार की सम्पत्ति के अधिकारों की मर्यादा आरोपित की थी। स्पष्ट है कि आधुनिक प्रभुसत्ता की धारणा को मध्य युग मे कोई स्थान प्राप्त नही था।

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन की कुछ प्रमुख विशेषताओ का सक्षेप मे ऊपर उल्लेख किया गया है। यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे यूनानी तथा रोमन काल के पश्चात् की मध्ययुगीन अवधि लगभग 1,000 वर्ष की है। इसे विभिन्न राजनीतिक लेखको ने अराजनीतिक युग की सज्ञा दी है। इस युग की एक लम्बी अवधि को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे अन्धकार का युग भी कहा गया है। यद्यपि इस लम्बे युग में कई दार्शनिको ने अपने विचार व्यक्त किए हैं तथापि इस युग का एकमात्र उल्लेखनीय दार्शनिक सन्त टॉमस ऐक्विनास ही हुआ जिसके बारे मे फोस्टर की प्रसिद्ध उक्ति है कि 'उसका दर्शन मध्य युग के समग्र चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है।'[1] ज्ञान के नव जागरण के युग मे एक्विनास के विचार राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि मे सर्वाधिक महत्त्व रखते हैं। उसके विचारो मे पुन यूनानी चिन्तक अरस्तू के विचारो का पुनरुद्भव हुआ था। फिर भी मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन को समझने के लिए तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एव राजनीतिक सस्थाओं, पद्धतियो एव व्यवस्थाओ का ज्ञान मध्य युग के राजनीतिक विचारो की कुंजी है।

[1] 'He represents the totality of Medieval thought'